॥ श्रीहरिः ॥

820

भगवच्चर्चा

(ग्रन्थाकार)

[छहों भाग एक साथ]

हनुमानप्रसाद पोद्दार

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४—१६)

'जिस मेरे भक्तने अपना आत्मा मुझको अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राजाका पद, पातालका राज्य, योगकी सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता। उद्धवजी! मुझे आत्मस्वरूप शिवजी, संकर्षण, प्रिया लक्ष्मीजी और अपना स्वरूप भी उतने प्रिय नहीं हैं, जितने तुम-जैसे अनन्यभक्त प्रिय हैं। ऐसे निरपेक्ष, मननशील, शान्त, निर्वैर और समदर्शी भक्तोंकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं उनके पीछे-पीछे सदा फिरता हूँ।' कैसी महिमा है!

यद्यपि भक्त अपने भगवान्‌को पीछे-पीछे फिरानेके लिये मुक्तिका तिरस्कार कर उन्हें नहीं भजते, उनका तो भगवान्‌के प्रति ऐसा अहैतुक प्रेम हो जाता है कि वे भगवान्‌के सिवा दूसरी ओर ताकना ही नहीं जानते। बस, यह अहैतुक प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, यह जानकर वे मुक्तिका निरादर कर भक्ति करते हैं।

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं—जिनको देखकर निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोंको भी उनकी अहैतुकी भक्ति करनी पड़ती है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

श्रीरामकी पुनः लंका-यात्रा और सेतु-भंग

एक समय भगवान् श्रीरामको राक्षसराज विभीषणका स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि 'विभीषण धर्मपूर्वक शासन कर रहा है कि नहीं। देवविरोधी व्यवहार ही राजाके विनाशका सूत्र है। मैं विभीषणको लंकाका राज्य दे आया हूँ, अब जाकर उसे सँभालना भी चाहिये। कहीं राज्यमदमें उससे अधर्माचरण तो नहीं हो रहा है। अतएव मैं स्वयं लंका जाकर उसे देखूँगा और हितकर उपदेश दूँगा, जिससे उसका राज्य अनन्तकालतक स्थायी रहेगा।' श्रीराम यों विचार कर ही रहे थे कि भरतजी आ पहुँचे। भरतजीके नम्रतासे पूछनेपर श्रीरामने कहा—'भाई! तुमसे मेरा कुछ भी गोपनीय नहीं है, तुम और यशस्वी लक्ष्मण मेरे प्राण हो। मैंने निश्चय किया है कि मैं लंका जाकर विभीषणसे मिलूँ, उसकी राज्यपद्धति देखूँ और उसे कर्तव्यका उपदेश दूँ।' भरतने कभी लंका नहीं देखी थी, इससे उन्होंने भी साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीरामने स्वीकार कर लिया और लक्ष्मणको सारा राज्यभार सौंपकर दोनों भाई पुष्पक विमानपर चढ़ लंकाके लिये विदा हुए। पहले भरतके दोनों पुत्रोंकी राजधानीमें जाकर उनसे मिले और उनके कार्यका निरीक्षण किया, तदनन्तर लक्ष्मणके पुत्रोंकी राजधानीमें गये और वहाँ छः दिन ठहरकर सब कुछ देखा-भाला। इसके बाद भरद्वाज और अत्रिके आश्रमोंको गये। फिर आगे चलकर श्रीरामने चलते हुए विमानपरसे वे सब स्थान दिखलाये जहाँ श्रीसीताजीका हरण हुआ था, जटायुकी मृत्यु हुई थी, कबन्धको मारा था और बालिका वध किया था। तत्पश्चात् किष्किन्धापुरीमें जाकर राजा सुग्रीवसे मिले। सुग्रीवने राजघरानेके सब स्त्री-पुरुषों, नगरोंके समस्त नर-नारियोंसमेत श्रीराम और भरतका बड़ा भारी स्वागत किया। फिर सुग्रीवको साथ लेकर विमानपरसे भरतको विभिन्न स्थान दिखलाते और उनकी कथा सुनाते हुए लंकामें जा पहुँचे, विभीषणको दूतोंने यह शुभ समाचार सुनाया। श्रीरामके लंका पधारनेका संवाद सुनकर विभीषणको बड़ी प्रसन्नता हुई। सारा नगर बात-की-बातमें सजाया गया और अपने मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषण अगवानीके लिये चले। सुमेरुस्थित सूर्यकी भाँति विमानस्थ श्रीरामको देखकर साष्टांग प्रणामपूर्वक विभीषणने कहा—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया, आज मेरे सारे मनोरथ सिद्ध हो गये; क्योंकि आज मैं जगद्वन्द्य अनिन्द्य आप दोनों स्वामियोंके चरण-दर्शन कर रहा हूँ। आज स्वर्गवासी देवगण भी मेरे भाग्यकी श्लाघा कर रहे हैं। मैं आज अपनेको त्रिदशपति इन्द्रकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझ रहा हूँ।' सर्वरत्नसुशोभित उज्ज्वल भवनमें महोत्तम सिंहासनपर श्रीराम विराजे। विभीषण अर्घ्य देकर हाथ जोड़ भरत और सुग्रीवकी स्तुति करने लगे। लंकानिवासी प्रजाकी रामदर्शनार्थ भीड़ लग गयी।

प्रजाने विभीषणको कहलाया—'प्रभो! हमको उस अनोखी रूप-माधुरीको देखे बहुत दिन हो गये। युद्धके समय हम सब देख भी नहीं पाये थे। आज हम दीनोंपर दयाकर हमारा हित करनेके लिये करुणामय हमारे घर पधारे हैं। अतएव शीघ्र ही हमलोगोंको उनके दर्शन कराइये।' विभीषणने श्रीरामसे पूछा और दयामयकी आज्ञा पाकर प्रजाके लिये द्वार खोल दिये। लंकाके नर-नारी श्रीराम-भरतकी झाँकी देखकर पवित्र और मुग्ध हो गये। यों तीन दिन बीत गये। चौथे दिन रावणकी माता कैकसीने विभीषणको बुलाकर कहा—'बेटा! मैं भी श्रीरामके दर्शन करूँगी। उनके दर्शनसे महामुनिगण भी महापुण्यके भागी होते हैं। श्रीराम साक्षात् सनातन विष्णु हैं, वे ही यहाँ चार रूपोंमें अवतीर्ण हैं। सीताजी स्वयं लक्ष्मी हैं। तेरे भाई रावणने यह रहस्य नहीं जाना। तेरे पिताजीने कहा था कि रावणको मारनेके लिये भगवान् विष्णु रघुवंशमें दशरथके यहाँ प्रादुर्भूत होंगे।' विभीषणने कहा—'माता! आप नये वस्त्र पहनकर कंचनथालमें चन्दन, मधु, अक्षत, दधि, दूर्वाका अर्घ्य सजाकर भगवान् श्रीरामके दर्शन करें। सरमा (विभीषणपत्नी)-को आगे कर और अन्यान्य देवकन्याओंको साथ लेकर आप श्रीरामके समीप जायँ। मैं पहले ही वहाँ चला जाता हूँ।'

विभीषणने श्रीरामके पास जाकर वहाँसे सब लोगोंको हटा दिया और श्रीरामसे कहा—'देव! रावणकी, कुम्भकर्णकी और मेरी माता कैकसी आपके चरणकमलोंके दर्शनार्थ आ रही हैं, आप कृपापूर्वक उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करें।' श्रीरामने कहा—'भाई! तुम्हारी माँ तो मेरी 'माँ' ही है। मैं ही उनके पास चलता हूँ, तुम जाकर उनसे कह दो।' इतना कहकर विभु श्रीराम उठकर चले और कैकसीको देखकर मस्तकसे उसे प्रणाम किया तथा बोले—'आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। अनेक पुण्य और महान् तपके प्रभावसे ही मनुष्यको आपके (विभीषण-सदृश भक्तोंकी जननीके) चरण-दर्शनका सौभाग्य मिलता है। आज मुझे आपके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे श्रीकौसल्याजी हैं, वैसे ही मेरे लिये आप हैं।' बदलेमें कैकसीने मातृभावसे आशीर्वाद दिया और भगवान् श्रीरामको विश्वपति जानकर उनकी स्तुति की। इसके बाद 'सरमा' ने भगवान्‌की स्तुति की। भरतको सरमाका परिचय जाननेकी इच्छा हुई, उनके संकेतको समझकर 'इंगितविद्' श्रीरामने भरतसे कहा—'ये विभीषणकी साध्वी भार्या हैं, इनका नाम सरमा है। ये महाभागा सीताकी प्रिय सखी हैं और इनकी सखिता बहुत दृढ़ है।' इसके बाद सरमाको समयोचित उपदेश दिया। फिर विभीषणको विविध उपदेश देकर कहा—'निष्पाप! देवताओंका प्रिय कार्य करना, उनका अपराध कभी न करना। लंकामें कभी मनुष्य आयें तो उनका कोई राक्षस वध न करने पाये।' विभीषणने आज्ञानुसार चलना स्वीकार किया।

तदनन्तर वापस लौटनेके लिये सुग्रीव और भरतसहित श्रीराम विमानपर चढ़े। तब विभीषणने कहा—'प्रभो! यदि लंकाका पुल ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तो पृथ्वीके सभी लोग यहाँ आकर हमलोगोंको तंग करेंगे, इसलिये क्या करना चाहिये।' भगवान्‌ने विभीषणकी बात सुनकर पुलको बीचमेंसे तोड़ डाला और दस योजनके बीचके टुकड़ेके फिर तीन टुकड़े कर दिये। तदनन्तर उस एक-एक टुकड़ेके फिर छोटे-छोटे कई टुकड़े कर डाले, जिससे पुल टूट गया और यों लंकाके साथ भारतका मार्ग पुनः विच्छिन्न हो गया। यह कथा पद्मपुराणसे ली गयी है।

श्रीरामका प्रणत-रक्षा-प्रण

भगवान् श्रीरामकी शरणागतवत्सलता सुप्रसिद्ध है। जब राक्षसराज विभीषण भगवान्‌के शरण जाते हैं और जब सम्मति पूछे जानेपर सेनापति सुग्रीव विभीषणको बाँध रखनेकी राय देते हैं, तब भगवान् श्रीराम, नीतिकी दृष्टिसे सुग्रीवकी सम्मतिका सम्मान करते हुए अपना प्रण सुनाते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

इसके बाद विभीषण आदरपूर्वक श्रीरामके सामने लाये जाते हैं और श्रीराम उनकी सच्ची शरणागतिपर मुग्ध हो अब इच्छा न रहनेपर भी उन्हें लंकाधिपति बना देते हैं। केवल मुँहसे ही 'लंकेश' नहीं कहते, परन्तु **'मम दरसन अमोघ जग माहीं'** कहकर अपने हाथसे

उनके राजतिलक भी कर देते हैं। सुग्रीवको यहाँ बड़ा आश्चर्य होता है। वे सेनापतिकी हैसियतसे सोचते हैं कि अभी लंकापर विजय तो मिली ही नहीं, पहले ही विभीषणको 'लंकेश' बनाकर श्रीरामने बड़ी भारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली है। इससे सुग्रीव राजनीति-कुशलतासे बड़े ही विनम्रभावसे श्रीरामसे एकान्तमें पूछते हैं—'नाथ! विभीषणको तो शरणागतिका फल मिल गया, परन्तु हे स्वामी! यदि कल इसी प्रकार रावण शरण आ जाय तो फिर क्या लंकाका राज्य उसे नहीं दिया जायगा? दिया जायगा तो स्वामीके वचन कैसे रहेंगे और यदि नहीं दिया जायगा तो रावणको सन्तोष कैसे होगा?' भगवान् श्रीराम सुग्रीवका आशय समझकर हँसते हुए कहते हैं—'मित्र! रामका व्रत यही है कि वह जो कुछ एक बार कह देता है उसे पलटता नहीं। लंका तो विभीषणकी ही होगी, यदि रावण आयेगा तो उसके लिये अवध तैयार है—

बात कही जो कही सो कही,
जो कही सो कही फिरि फेरि न आनन।
जो दसकंधर आन मिलै,
गढ़ लंक विभीषन, अवध दसानन॥
भरतहिं बंधु समेत कलाप,
करूँ निज बास मैं हौं गिरि कानन।
पै नहिं पावहिं लंक अबास,
कहौ सतिभाव नरेस दसानन॥

रावण शरण नहीं आया, उसने तो श्रीरामके हाथसे मरनेमें ही अपना सौभाग्य समझा और यही उसके लिये उचित था। विभीषणको जो एक बार भगवान्‌ने अपना लिया तो फिर कभी उनको नहीं भुलाया। आप उनकी सदा सुधि लेते रहे और उन्हें विपत्तियोंसे बचाते रहे।

श्रीराम-रावणका भीषण युद्ध हो रहा है, रावण बहुत क्रुद्ध होकर इतने बाण छोड़ता है कि श्रीरामका रथ एक घड़ीके लिये वैसे ही ढक जाता है जैसे कुहरेसे सूर्य। इसके बाद रावण एक शूल विभीषणपर छोड़ता है, इस शूलके लगते ही विभीषणका मरण निश्चित है; क्योंकि यह अमोघ है। भगवान् श्रीराम इस रहस्यको जानते थे। शक्ति छूटते ही श्रीरामने अपना विरद सँभाला—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

शरणागतकी आर्तिका नाश करनेवाले श्रीराम शरणागत भक्तका अनिष्ट कैसे देख सकते थे? जो सब ओरसे ममता हटाकर श्रीरामके चरणोंको ही ममताका एकमात्र केन्द्र बना लेता है और अपने-आपको सर्वतोभावेन उनके प्रति अर्पण कर देता है, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार, योग-क्षेमकी सारी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसलिये भगवान् उसी क्षण विभीषणको पीछे ढकेलकर भीषण शूलका प्रहार सहनेके लिये छाती सामने करके स्वयं खड़े हो गये। धन्य नाथ! ऐसे शरणागतवत्सल श्रीरामको भूलकर जो आपात-रमणीय भोगोंमें रमते हैं, उनके समान दयनीय और कौन होगा?

एक घटना और सुनिये। एक समय श्रीरामको मुनियोंके द्वारा यह समाचार मिलता है कि लंकापति विभीषण द्रविड़ देशमें कैद हैं। भगवान् श्रीराम अब नहीं ठहर सके, वे विभीषणका पता लगाने और उन्हें छुड़ानेके लिये निकल पड़े। खोजते-खोजते विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँचे, विभीषण वहीं कैद थे। वहाँके लोगोंने श्रीरामको दिखलाया कि विभीषण जमीनके अन्दर एक कोठरीमें जंजीरोंसे बँधे पड़े हैं। श्रीरामके पूछनेपर ब्राह्मणोंने कहा—'राजन्! विभीषणने ब्रह्महत्या की थी, एक अति धार्मिक वृद्ध ब्राह्मण निर्जन उपवनमें तप कर रहा था, विभीषणने वहाँ जाकर उसे पददलित करके मार डाला। ब्राह्मणकी मृत्यु होते ही विभीषणके पैर वहीं रुक गये, वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी चाल बन्द हो गयी। हमलोगोंने इस दुष्ट राक्षसको बहुत मारा-पीटा, परन्तु इस पापीके प्राण किसी प्रकार नहीं निकले। अब हे श्रीराम! आप पधार गये हैं, आप चक्रवर्ती राज-राजेश्वर हैं। इस पापात्माका वध करके धर्मकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर श्रीराम असमंजसमें पड़ गये। एक ओर विभीषणका भारी अपराध है और दूसरी ओर विभीषण श्रीरामका ही एक सेवक है। यहाँपर श्रीरामने ब्राह्मणोंसे जो कुछ कहा वह बहुत ही ध्यान देनेयोग्य है। शरणागत भक्तके लिये भगवान् कहाँतक करनेको तैयार रहते हैं, इस बातका पता भगवान्‌के शब्दोंसे ही लग जायगा। भगवान् श्रीराम स्वयं अपराधीकी तरह नम्रतासे कहने लगे—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।

रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'हे द्विजवरो! विभीषणको तो मैं अखण्ड राज्य और आयु दे चुका, वह तो मर नहीं सकता। फिर उसके मरनेकी ही क्या जरूरत है? वह तो मेरा भक्त है, भक्तके लिये मैं स्वयं मर सकता हूँ। सेवकके अपराधकी जिम्मेवारी तो वास्तवमें स्वामीपर ही होती है। नौकरके दोषसे स्वामी ही दण्डका पात्र होता है, अतएव विभीषणके बदले आपलोग मुझे दण्ड दीजिये।' श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणमण्डली आश्चर्यमें डूब गयी। जिसको श्रीरामसे दण्ड दिलवाना चाहते थे, वह तो श्रीरामका सेवक है और सेवकके लिये उसके स्वामी श्रीराम ही दण्ड ग्रहण करना चाहते हैं। अहाहा! स्वामी हो तो ऐसा हो। भ्रान्त मनुष्यो! ऐसे स्वामीको बिसारकर अन्य किस साधनसे सुखी होना चाहते हो?

तुलसी राम सुभाव सील लखि जौ न भगति उर आई।
तो तोहिं जनमि जाइ जननी जड़ तन तरुनता गँवाई॥

ब्राह्मण उसे दण्ड देना भूल गये। श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंको यह चिन्ता हो गयी कि विभीषण जल्दी छूट जाय और अपने घर जा सके तो अच्छी बात है। वे विभीषणको छोड़ तो सकते थे परन्तु छोड़नेसे क्या होता, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी तो गति रुकी हुई थी। अतएव ब्राह्मणोंने कहा—'राम! इस प्रकार विभीषणको बन्धनमें रखना उचित नहीं है। आप वसिष्ठ-प्रभृति मुनियोंकी रायसे इसे छुड़ानेका प्रयत्न कीजिये।' अनन्तर श्रीरामने प्रधान-प्रधान मुनियोंसे पूछकर विभीषणके लिये तीन सौ साठ गोदानका प्रायश्चित्त बतलाकर उसे छुड़ा लिया। प्रायश्चित्तद्वारा विशुद्ध होकर जब विभीषण भगवान् श्रीरामके सामने आकर सादर प्रणाम करने लगे तब श्रीरामने उन्हें सभामें ले जाकर हँसते हुए यह शिक्षा दी, 'ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये। जिसमें अपना हित हो, वही कार्य करना चाहिये। राक्षसराज! तुम मेरे सेवक हो, अतएव तुम्हें साधुशील होना चाहिये, सर्वत्र दयालु रहना चाहिये।' सारांश, ऐसा कोई कार्य भक्तको नहीं करना चाहिये, जिससे उसके स्वामी भगवान्पर लांछन आवे!

श्रीरामका राजधर्मोपदेश

त्यागमूर्ति धर्मात्मा भरतजी चित्रकूटमें श्रीरामजीके चरणोंपर पड़े हैं, आँसुओंसे उनके चरण धो रहे हैं, भरतका वेश तपस्वियोंका-सा है, अत्यन्त शोकके कारण थोड़े ही दिनोंमें उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है। श्रीरामने प्रेमसे उठाकर भरतको हृदयसे लगा उनका मस्तक सूँघा और गोदमें बैठाकर बड़े प्यारसे उनकी इस दशाका कारण पूछा। पहले तो पिताजीके सम्बन्धमें प्रश्न किये, फिर वे राजधर्मके विषयमें पूछने लगे। श्रीरामजीके प्रश्नोंसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि राजधर्मका क्या स्वरूप है और उस समय राजधर्म कैसा था? श्रीरामजीने भरतको विषादमय देखकर कहा—

हे सौम्य! तुम अभी बालकके समान हो, तुम्हारे हाथसे कहीं राज्य तो नष्ट नहीं हो गया? हे सत्य पराक्रम! तुम पिताजीकी सेवा तो करते हो न? भाई! इक्ष्वाकुकुलके आचार्य, धर्मप्रेमी, विद्वान्, महातेजस्वी महर्षि वसिष्ठजीकी पूजा तो करते हो न? माता कौसल्या, सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली सुमित्रा और आर्या देवी कैकेयी तो तुमसे प्रसन्न हैं न? विनयी, सर्वशास्त्रज्ञ, कर्मकाण्ड-निपुण, असूयारहित, कुलगुरु वसिष्ठजीके पुत्र, जो तुम्हारे पुरोहित हैं, उनका भलीभाँति सत्कार करते हो न? बड़े बुद्धिमान्, वेदविधिके ज्ञाता, अत्यन्त विनयी, गुरुपुत्र सुयज्ञ, जिनकी तुमने अग्निकार्यके लिये नियुक्ति की है, हवनके पूर्व और हवनके पश्चात् तुम्हें उसकी सूचना तो देते हैं न? तुम देवता, गुरुजन, पितर, पिताके समान पूज्य बड़े-बूढ़ेलोग, वैद्य, ब्राह्मण और नौकरोंका यथायोग्य सत्कार तो करते हो न? इसी प्रकार शस्त्रास्त्रके प्रयोग जाननेवाले, अर्थशास्त्रके विद्वान्, राजनीतिविशारद, धनुर्वेदके ज्ञाता सुधन्वा पण्डित आदि सत्पुरुष तुम्हारे द्वारा आदर तो पाते हैं न? तुमने अपने समान विश्वासी, शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन और ऊपरकी चेष्टासे ही मनके भावको समझ जानेवाले लोगोंको तो अपना मन्त्री बनाया है न? क्योंकि शास्त्रज्ञ और मन्त्रकी रक्षा कर सकनेवाले मन्त्रियोंके द्वारा सुरक्षित मन्त्र ही राजाओंकी विजयका मूल कारण है।

'तुम जागनेके समय सोते तो नहीं हो? रातके पिछले पहर उठकर अपने कार्योंकी सिद्धिका उपाय तो

सोचते हो न? अकेले ही तो किसी बातका मनमाना निश्चय नहीं कर लेते? अथवा बहुत-से अयोग्य आदमियोंके साथ मिलकर तो निश्चय नहीं करना चाहते? तुम्हारे स्थिर किये हुए विचारका काम पूरा होनेके पहले ही लोगोंको पता तो नहीं लग जाता? थोड़े प्रयत्नसे बड़ा फल उत्पन्न करनेवाला उपाय निश्चय कर लेनेपर फिर उसके अनुसार कार्य करनेमें विलम्ब तो नहीं करते? तुम्हारे सामन्त राजा तुम्हारे किसी विचारको कार्यके सिद्ध होने या सिद्धिके समीप पहुँचनेके पहले ही जान तो नहीं लेते? तुम्हारे निश्चित विषयोंको तुम्हारे द्वारा या मन्त्रियोंद्वारा कहे जानेसे पूर्व ही अनुमान, तर्क, युक्ति आदिके द्वारा कोई जान तो नहीं लेता? परन्तु तुम और तुम्हारे मन्त्रीगण दूसरोंके निश्चय किये हुए विषयोंको अनुमान, युक्ति और तर्कके द्वारा जान तो लेते हो न? हजारों मूर्खोंकी अपेक्षा एक पण्डितको तुम अपने पास रखना अच्छा समझते हो न? क्योंकि संकटके समय पण्डित ही उत्तमोत्तम उपाय सोचकर राजाका महान् कल्याण करता है। राजा चाहे हजारों-लाखों मूर्खोंको अपने पास रखे, उनसे समयपर कोई सहायता नहीं मिलती; पक्षान्तरमें एक ही बुद्धिमान्, शूरवीर, दक्ष, विचक्षण मन्त्री राजा या राजपुत्रको विशाल समृद्धिकी प्राप्ति करवा सकता है। तुम उत्तम सेवकोंको उत्तम कार्यपर, मध्यमको मध्यम कार्यपर और छोटे सेवकोंको छोटे कामपर यानी जिसके योग्य जो काम हो, उसको उसी कामपर नियुक्त करके सबकी ठीक व्यवस्था तो रखते हो न? बड़े-बड़े कामोंपर भलीभाँति परीक्षा किये हुए, बाप-दादोंके समयके मन्त्रियोंके वंशज, निष्पाप, ऊँचे विचारवाले लोगोंको ही नियुक्त करते हो न? तुम किसीको ऐसा उग्र दण्ड तो नहीं देते, जिससे दुःखी होकर प्रजा या मन्त्री तुम्हारा तिरस्कार करते हों? भाई! जैसे कुलीन स्त्री पर-स्त्रीमें आसक्त पुरुषका तिरस्कार करती है, वैसे ही यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तुमपर कोई अपराध लगाकर तुम्हें यज्ञके योग्य न समझकर तुम्हारा अपमान तो नहीं करते? धनके लोभसे राजाकी बीमारी बढ़ानेवाले वैद्यको राजाके ऐश्वर्यको भ्रष्ट करनेके लिये विश्वासी सेवकोंको फोड़नेवाले सेवकको जो राजा प्राण-दण्ड नहीं देता वह स्वयं ही मारा जाता है। भरत! तुम्हारा सेनापति तुमसे सदा प्रेम करनेवाला, शूरवीर, धीर, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन और चतुर तो है न? युद्धकलामें निपुण, बलवान्, वीरतामें परीक्षा किये हुए प्रधान योद्धाओंको तुम सदा सम्मान-दानसे प्रसन्न तो रखते हो न? सेनाको अन्न और वेतन प्रतिमास ठीक समयपर मिल जाता है न? इस कार्यमें कुछ भी देर तो नहीं होती? क्योंकि सैनिकोंको अन्न और वेतन समयपर न मिलनेसे वे विद्रोही हो उठते हैं, जिससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। तुम्हारे कुलके प्रधान लोग तुमपर प्रेम तो रखते हैं न? वे तुम्हारे हितके लिये समयपर स्वेच्छासे सदा प्राण देनेको तैयार तो रहते हैं न? भाई! अपने ही देशके विद्वान्, चतुर, प्रतिभाशाली, जैसा कहा हो वैसा ही करनेवाले पण्डितोंको ही तुमने दूत बनाया है न?

'भरत! एक-दूसरेको न पहचाननेवाले तीन-तीन गुप्त दूतोंद्वारा तुम अपने राज्यके पन्द्रह और दूसरेके राज्यके अठारह तीर्थोंका पूरा पता तो रखते हो न? १ मन्त्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ रनिवासका रक्षक, ७ कारागृह-अध्यक्ष (जेल-सुपरिंटेंडेंट), ८ खजांची, ९ राज्यकी आज्ञा सुनानेवाला, १० वकील, ११ न्यायकर्ता (जज), १२ व्यवहार-निर्णायक (पंच या जूरी), १३ सेनाको वेतन चुकानेवाला, १४ कर-संग्रहकर्ता (तहसीलदार), १५ नगराध्यक्ष (म्युनिसिपालिटिका चेयरमैन), १६ राष्ट्रान्तःपाल (सीमारक्षक), १७ दुष्टोंको दण्ड देनेवाला और १८ जल, पर्वत और वनोंके किलोंकी रक्षा करनेवाला—ये अठारह तीर्थ हैं। इनमें मन्त्री, पुरोहित और युवराजको अलग कर देनेपर पन्द्रह बचते हैं। इन सबके कार्योंपर राजाको अवश्य निगरानी रखनी चाहिये। शत्रुदमन! देशका अहित करनेवाले जिन लोगोंको तुमने देशसे निकाल दिया है, वे यदि देशमें फिर आ बसते हैं तो तुम उनको दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते? तुम नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते? परलोक-ज्ञानसे शून्य, अनर्थपरायण, पाण्डित्याभिमानी लोगोंसे बहुत बुराई होती है। ऐसे दुर्बुद्धि लोग प्रामाणिक धर्मशास्त्रोंके विद्यमान रहनेपर भी शुष्क तर्क-बुद्धिसे अर्थहीन उपदेश किया करते हैं। भाई! हमलोगोंके वीर पूर्वजोंके द्वारा सेवित यथार्थ अयोध्या (जहाँ युद्धार्थ कोई भी शत्रु नहीं आता) नामवाली और मजबूत दरवाजोंवाली, हाथी, रथ और घोड़ोंसे भरी हुई, अपने-अपने कर्ममें लगे हुए जितेन्द्रिय, उत्साही और उत्तम हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंसे युक्त, अनेक प्रकारके बड़े-बड़े

सुन्दर महलोंवाली, अनेक प्रकारके विद्वान् और धन-ऐश्वर्यसे परिपूर्ण विशाल नगरीकी भलीभाँति रक्षा तो करते हो न? भाई! जिसमें अनेक देव-मन्दिर हैं, अश्वमेधादि यज्ञ करने योग्य अनेक स्थल हैं, जो बुद्धिमान् मनुष्योंसे पूर्ण है, नदी, तालाब आदि जलाशयोंसे युक्त है, जिसमें सभी स्त्री-पुरुष सुप्रसन्न हैं, जहाँ अनेक सभाएँ और उत्सव हुआ करते हैं, अच्छी खेती होती है, पर जो बादलोंपर निर्भर नहीं है, जो गौ आदि पशुओंसे भरा है, जहाँ पशुहिंसा बिलकुल नहीं होती, जहाँ हिंस्र पशु नहीं हैं अर्थात् हिंसक पशुओंने हिंसा छोड़ रखी है, किसीको किसी प्रकारका भय नहीं है, अनेक धातुओंकी खानें हैं, जहाँ पापी मनुष्य नहीं रहते, ऐसा अपने पूर्वजोंद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली देश तुम्हारे शासनमें सुखी तो है न? भाई! अपने देशमें रहनेवाले खेती और गोरक्षापर आजीविका चलानेवाले व्यापारियोंपर तुम प्रेम तो करते हो न? खेती और व्यापारमें लगे हुए वैश्योंकी सारी इच्छाओंको पूर्ण करके तुम उनका भलीभाँति संरक्षण तो करते हो न? देशमें बसनेवाली प्रजाका पालन करना राजाका धर्म है। तुम स्त्रियोंका किसी प्रकार अपमान तो नहीं होने देते हो? स्त्रियोंको भलीभाँति सन्तोष तो कराते हो न? वे तुमसे सुरक्षित तो रहती हैं न? तुम उनके वचनोंपर अति-विश्वास तो नहीं करते? और उन्हींको इष्ट मानकर अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते हो?

'भरत! जहाँ बहुत-से हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसा अपना हाथीवान तो सुरक्षित है न? तुम अच्छे हाथी, हथिनी और घोड़ोंके संग्रहमें तृप्त तो नहीं होते? तुम प्रतिदिन प्रातःकाल राजमार्गोंपर जाकर प्रजाको अपने सुसज्जित शरीरसे दर्शन तो देते हो न? तुम्हारे कर्मचारी निःशंक होकर तुम्हारे सामने बेअदबीसे तो नहीं आते? अथवा तुमसे डरकर या तुम्हें अभिमानी समझकर तुम्हारे सामने आनेमें संकोच तो नहीं करते? कर्मचारियोंको न तो बहुत पास रखना चाहिये और न बहुत दूर ही। बीचका मार्ग ही अच्छा है। भाई! तुम्हारे सब किले धन-धान्य, हथियार, जल, अनेक प्रकारके यन्त्र-शिल्पी और धनुर्धारी वीरोंसे तो भरे हैं न? तुम्हारी आमदनी खर्चसे ज्यादा तो है न? तुम्हारा धन नाचने-गाने और खुशामद करनेवाले अपात्रोंमें तो खर्च नहीं होता? राजाको आमदनीसे खर्च कम करना चाहिये और वह भी प्रजाको अन्न, जल, वायु आदि दैवी वस्तुओंसे यथायोग्य सुख पहुँचानेवाले देवों, प्रजाके सुखाकांक्षी पूज्य पितृगणों, विद्यादान देनेवाले ब्राह्मणों, पूज्य अतिथियों, राज्यरक्षक योद्धाओं, सम्बन्धी और प्रिय मित्रोंके पोषण करनेमें और प्रजाके सुखके कार्योंमें करना चाहिये।

'भाई! तुम्हारे राज्यके न्यायाधीश, किसी सदाचारी साधुपर कोई झूठा अपराध लगनेपर धर्मके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा निर्णय कराये बिना ही धनके लोभसे उसे दण्ड तो नहीं दे देते? अथवा घरके मालिक या तुम्हारे सिपाहीद्वारा पकड़े हुए चोरको, उसके चोर सिद्ध हो जानेपर एवं चोरीका माल पकड़ा जानेपर भी लोभसे छोड़ तो नहीं देते? सारांश कि राजाको यह खयाल रखना चाहिये कि जिसमें उसके राज्यमें निरपराधी प्रजा दण्डित न हो और अपराधी छूट न जाय। भाई! तुम्हारे शास्त्रज्ञ मन्त्रीगण धनी और गरीबके मामलोंमें लोभ छोड़कर निष्पक्ष यथार्थ न्याय तो करते हैं न? क्योंकि राजाके अन्यायके कारण बिना अपराध दण्डित हुए मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे भोग-विलासके लिये राज्य करनेवाले राजाके पुत्र और पशुधनको नष्ट कर डालते हैं। हे प्रिय! तुम वृद्धों, बालकों और प्रधान वैद्योंका दान, स्नेह और मधुर वचनोंसे सत्कार तो करते हो न? इसी प्रकार देवताओं, गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, अतिथियों, देव-मन्दिरों और तपस्या आदि-द्वारा पवित्र हुए ब्राह्मण आदिको प्रणाम तो करते हो न?

'भाई! प्रातःकालका समय धर्मोपार्जनका है, उस समय अर्थोपार्जनके कार्यमें लगकर धर्मका बाध तो नहीं करते? ऐसे ही मध्याह्नकाल राज-काज देखनेका यानी अर्थसंग्रह करनेका है, उस समय धर्मकार्यमें लगकर अर्थका बाध तो नहीं करते? अथवा इन्द्रिय-भोगार्थ, कामके वश हो धर्म, अर्थ दोनोंको बाधित तो नहीं करते हो? समयका उचित विभाग करके ही धर्म, अर्थ और कामका यथायोग्य आचरण करते हो न? भाई! देशके विद्वान् ब्राह्मण और समस्त प्रजाजन तुम्हारा कल्याण तो चाहते हैं न?

'नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, इन्द्रियोंके वश होना, महत्त्वपूर्ण कार्यका अकेले ही विचार करना, विपरीत दृष्टिवाले अयोग्य पुरुषोंकी सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यका आरम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाओंका भेद खोल देना, प्रतिदिन प्रातःकाल नित्यकर्म न करना, सब

ओरके शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना और महापुरुषोंको आते देख सिंहासनसे उठकर उन्हें प्रणाम न करना—ये चौदह राजदोष समझे जाते हैं, तुममें इनमेंसे एक भी दोष तो नहीं है न?

'बुद्धिमान् भरत! दशवर्ग[१], पंचवर्ग[२], सप्तवर्ग[३], चतुर्वर्ग[४], अष्टवर्ग[५] और त्रिवर्ग[६] को तो तुम तत्त्वसे जानते हो न? त्रिविध विद्याकी[७] ओर तो तुम्हारा ध्यान है न? बुद्धिसे इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय[८], षड्गुण[९], दैवी आपत्ति[१०], मानुषी आपत्ति[११], राज-कर्तव्य[१२], बीसवर्ग[१३], पाँच प्रकृति[१४], राजमण्डल[१५], पंचयात्रा[१६], दण्डविधान एवं सन्धि और विग्रह—ये सब नीतिशास्त्रके तत्त्व हैं। इनमें कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ त्याग करने योग्य और कुछ प्रतीकार करने योग्य हैं। तुम इन सबके भेदोंको समझते हुए यथायोग्य ग्रहण, त्याग और प्रतीकार तो करते हो न?

'हे बुद्धिमान्! तुम शास्त्रानुसार तीन-चार निपुण मन्त्रियोंसे एक साथ या उनके मनकी बात जाननेके लिये अलग-अलग राय लेकर तो सारे कार्य करते हो न? वेदोक्त क्रियाओंको करके तुम वेदको सफल तो करते हो न? तुम्हारे सारे राज्यकार्य सफल तो होते हैं न? उत्तम आचरण करके तुम श्रवण किये शास्त्रोंको तो सफल कर रहे हो न? धर्मपरायणा और सन्तानवती होकर स्त्रियाँ तो सफल हैं न? भाई भरत! मेरे कथनानुसार ही तुमने आयु, यश, धर्म, अर्थ और कामको प्रदान करनेवाली सद्‌बुद्धिका आश्रय ले रखा है न? तुम अपने पिता-पितामहादिके व्यवहारके अनुकूल ही व्यवहार करते हो न? क्योंकि वही शुभ और सत्पथा वृत्ति है। तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले तो नहीं खाते? अधिक प्रेम होनेके कारण भोजन चाहनेवाले मित्रोंको यथेच्छ भोजन तो देते हो न? इस प्रकार धर्मानुसार शासन करनेवाला राजा अपनी प्रजाका पालन करके समस्त पृथ्वीपर अपना आधिपत्य स्थापित करता है और मृत्युके अनन्तर स्वर्ग या परमधामको जाता है।' यह वर्णन वाल्मीकिरामायणके आधारपर लिखा गया है।

१-शिकार, जूआ, दिनमें सोना, व्यर्थ बकवाद, अति स्त्री-संग, मदिरा आदि नशैली चीजोंका सेवन, नाचना, गाना, बाजे बजाना और बेमतलब भटकना—यह कामसे उत्पन्न होनेवाला दशवर्ग है।

२-पाँच प्रकारके किले बनाना—समुद्र, नदी, तालाब आदि जलस्थानमें, पर्वतपर या पर्वतोंके बीचमें, वृक्षोंपर या वृक्षोंसे भरे जंगलमें, ऊसर जमीनमें (रणक्षेत्रमें) और हथियारोंके बीचमें—यह पंचवर्ग है।

३-राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किले, खजाना, सेना और सहायक बन्धु—यह सप्तवर्ग है। इनकी परस्पर सहायतासे राज्य सुदृढ़ होता है।

४-साम, दाम, भेद और दण्ड—यह चतुर्वर्ग है।

५-चिढ़ना, दुःसाहस, द्रोह, ईर्षा, असूया, अर्थदोष, वचनकी कठोरता और कठोर दण्ड—यह अष्टवर्ग है। यह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका समूह है।

६-धर्म, अर्थ और काम—यह त्रिवर्ग है। उत्साह, प्रभु और मन्त्रको भी त्रिवर्ग कहते हैं।

७-वैदिक धर्मज्ञान, खेती-व्यापार आदि वृत्तिका ज्ञान और राजनीतिका ज्ञान।

८-यम, नियम, आसन, प्राणायाम और विचार-विवेक आदि योग और ज्ञानके साधन।

९-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय।

१०-अग्नि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, वज्रपात, अनावृष्टि, महामारी आदि।

११-चोर, डाकू, शत्रु, राजद्रोही, अधिकारी, घूसखोर और राज्यलोभी आदि मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाली विपत्तियाँ।

१२-शत्रुपक्षके लोभी, अभिमानी, क्रोधी और डरपोक मनुष्योंको धन-मान देकर, प्रियकार्य कर और भय दिखलाकर वशमें करना।

१३-बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिबहिष्कृत, डरपोक, डरपोक साथियोंवाला, लोभी, लोभी साथियोंवाला, वैरागी, अत्यन्त विषयासक्त, चंचल, देव और ब्राह्मणोंका निन्दक, अभागी, प्रारब्धवादी, अकालपीड़ित, सेनाहीन, अयोग्य स्थानमें निवास करनेवाला, बहुत शत्रुओंवाला, कालपीड़ित और सत्यधर्ममें प्रीति न रखनेवाला—यह बीसवर्ग है। ऐसे शत्रुओंसे सन्धि करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनपर विजय प्राप्त करना सहज है।

१४-मन्त्री, देश, किला, खजाना और दण्ड—यह पाँच प्रकृति है।

१५-विजिगीषु, शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यस्थ और उदासीन—ये द्वादश राजमण्डल हैं।

१६-विगृह्ययान [बड़ी सेना साथ लेकर जाना], संधाययान [जिस शत्रुपर आक्रमण किया था, उससे सन्धि करनेके बाद दूसरे शत्रुपर हमला करने जाना], संभूययान [शूरवीरोंको साथ लेकर जाना], प्रसंगतोयान [जिसपर हमला करने जा रहे थे उसको छोड़कर बीचमें ही दूसरे शत्रुपर हमला करना] और उपेक्ष्ययान [जिसपर चढ़ाई की थी, उसे बलवान् समझकर उसके मित्रपर चढ़ाई करना।]

भगवान् श्रीरामका श्रीलक्ष्मणको उपदेश

अपने पिता महाराज श्रीदशरथजीकी आज्ञा पाकर मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी, श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ अयोध्यासे वनवासके लिये निकल पड़े। वे नाना प्रकारके तीर्थों, पर्वतों और ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंको देखते हुए श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें पहुँचे और उन्होंने ऋषिवरसे प्रश्न किया कि मुझे ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ रहकर मैं अपने जीवनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा कर सकूँ। परमज्ञानस्वरूप लीलातनुधारी भगवान्के प्रश्नको सुनकर ऋषिवरको बड़ा संकोच हुआ। भगवान्ने उन्हें जो यह मान दिया, उससे वह प्रेममग्न हो गये। उन्होंने श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणके साथ अपने हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हुए निवेदन किया कि पंचवटी नामक एक परम पवित्र और रमणीक स्थान है, जहाँपर गोदावरी नदी बहती है, वहींपर दण्डकवनमें आप निवास करें और सब मुनियोंपर दया करें।

दण्डकवन पहले एक प्रसिद्ध तपोवन था। वहाँ अनेक ऋषि-मुनि रहकर तपस्या किया करते थे, परन्तु इधर ऋषिशापसे वह राक्षसोंका निवासस्थान बनकर अत्यन्त भयावह हो रहा था, आनन्दके स्थानमें वहाँ आतंकका राज्य छाया हुआ था। वहाँके लता-वृक्षतक राक्षसोंके कुकृत्य तथा ऋषि, मुनि और ब्राह्मणोंकी दुर्दशा देखकर निरन्तर आँसू बहाया करते थे। ऋषिकी आज्ञा पाकर भगवान् तुरन्त दण्डकवनमें पधारे। उनके पधारते ही मानो वहाँसे भय, शोक, दु:ख एकदम विलीन हो गये और सर्वत्र आनन्दका राज्य छा गया। ऋषि-मुनि निर्भय हो गये; लता, वृक्ष, नदी, ताल आदितक श्रीराम, श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणके चरणकमलोंके दर्शन कर अत्यन्त आनन्दित और शोभायमान हो गये। भगवान्ने गोदावरी-तटपर एक पर्णकुटी बनायी और वे उसमें श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगे।

एक दिन भगवान् सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे; समीप ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसनपर बैठे हुए थे। एक सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्त:करणसे दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्से निवेदन किया—

सुन नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

सारांश यह है कि 'हे सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्के स्वामी! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ। कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं? वह कौन-सी भक्ति है, जिससे आप भक्तोंपर दया करते हैं और ईश्वर तथा जीवमें क्या भेद है, जिससे मेरा शोक, मोह, भ्रम इत्यादि दूर हो जाय और मैं सब कुछ छोड़कर आपकी चरण-रजकी सेवामें ही तल्लीन हो जाऊँ।'

भक्तवत्सल भगवान्ने सरलहृदय, परम श्रद्धालु, एकान्त प्रेमीके कल्याणके लिये संक्षेपमें इस प्रकार उत्तर दिया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

सारांश यह कि 'भाई! मैं और मेरा, तू और तेरा ही माया है, जिसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रखा है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंमें जहाँतक मन जाता है, वहाँतक माया ही जानना चाहिये। इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। इनमें एक अविद्या तो दुष्ट और अत्यन्त दु:खरूप है, जिसके वश होकर जीव भवकूपमें पड़ा हुआ है। दूसरी अर्थात् विद्या, जिसके वशमें समस्त गुण हैं, संसारकी रचना करती है; वह प्रभुकी प्रेरणासे सब कार्य करती है, उसका अपना कोई बल नहीं है।

'तात! जिस मनुष्यमें ज्ञानाभिमान बिलकुल नहीं है, जो सबमें समानरूपसे ब्रह्मको व्याप्त देखता है, जिसने तृणके समान सिद्धियों और तीनों गुणोंको त्याग दिया है, उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये।

'जो अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता, वही जीव है और जो बन्धन और मोक्षका दाता है, सबसे श्रेष्ठ है, मायाका प्रेरक है, वही ईश्वर है!

'वेद कहते हैं कि धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षको देनेवाला है; परन्तु मैं जिससे शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है और वही भक्तोंको सुख देनेवाली है। वह भक्ति स्वतन्त्र है; वह किसी चीजपर अवलम्बित नहीं है; ज्ञान और विज्ञान सब उसके अधीन हैं। तात! भक्ति अनुपम सुखका मूल है और वह तभी प्राप्त होती है जब सन्तलोग अनुकूल होते हैं।

'अब मैं भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ और वह सुगम मार्ग बतलाता हूँ जिससे प्राणी मुझे सहजमें ही पा सकें। पहले तो ब्राह्मणके चरणोंमें बहुत प्रीति होनी चाहिये और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये। इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा और तब मेरे चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जायगा। फिर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन—यह नौ प्रकारकी भक्ति दृढ़ होनी चाहिये और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होना चाहिये। जिसे सन्तोंके चरणकमलोंमें अत्यधिक प्रेम हो, जो मन-वचन-कर्मसे भजन करनेका दृढ़ नियम रखनेवाला हो, जो मुझे ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जानता हो और मेरी सेवा करनेमें डटा रहता हो, मेरा गुण गाते समय जिसके शरीरमें रोमांच हो आता हो, वाणी गद्‌गद हो जाती हो और नेत्रोंसे आँसू गिरते हों और जिसके अन्दर काम, मद, दम्भ आदि न हों, मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ। मन, वचन और कर्मसे जिनको मेरी ही गति है, जो निष्कामभावसे मेरा भजन करते हैं, मैं सदा उनके हृदय-कमलमें विश्राम करता हूँ।'

दशरथके समयकी अयोध्या

यह महानगरी बारह योजन लम्बी थी। इसमें सुन्दर लम्बी-चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। नगरीकी प्रधान सड़कें तो बहुत ही लम्बी-चौड़ी थीं, जिनपर प्रतिदिन जलका छिड़काव होता था, सुगन्धित फूल बिखेरे जाते थे, दोनों ओर सुन्दर वृक्ष लगे हुए थे। नगरीके अन्दर अनेक बाजार थे, सब प्रकारके यन्त्र, मशीनें और युद्धके सामान तैयार मिलते थे। बड़े-बड़े कारीगर वहाँ रहते थे। अटारियोंपर ध्वजाएँ फहराया करती थीं। नगरकी चारदीवारीपर सैकड़ों शतघ्नी (तोपें) लगी हुई थीं, बड़े मजबूत किवाड़ लगे हुए थे, नगरके चारों ओर गहरी खाई थी। अनेक सामन्त, राजा और शूरवीर वहाँ रहा करते थे। व्यापारी भी अनेक रहते थे। नगरी इन्द्रकी पुरीके समान बड़े सुन्दर ढंगसे बसी हुई थी। उसके आठ कोने थे। वहाँ सब प्रकारके रत्न थे और सात मंजिले बड़े-बड़े मकान थे। राजाके महलोंमें रत्न जड़े हुए थे। बड़ी सघन बस्ती थी। नगरी समतल भूमिपर बसी हुई थी। खूब धान होता था और अनेक प्रकारके पदार्थ होते थे। वेद-वेदांगके ज्ञाता, अग्निहोत्री और गुणी पुरुषोंसे नगरी भरी हुई थी। महर्षियोंके समान अनेक महात्मा भी वहाँ रहते थे।

उस समय उस रम्य नगरी अयोध्यामें निरन्तर आनन्दमें रहनेवाले, अनेक शास्त्रोंको श्रवण करनेवाले धर्मात्मा, सत्यवादी, लोभरहित और अपने ही धनमें सन्तुष्ट रहनेवाले मनुष्य रहते थे। ऐसा एक भी गृहस्थ नहीं था जिसका धन आवश्यकतासे कम हो, जिसके पास इहलोक और परलोकके सुखोंके साधन न हों। सभी गृहस्थोंके घर

गौ, घोड़े और धन-धान्यसे पूर्ण थे। कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक तो ढूँढ़े भी नहीं मिलते थे। वहाँके सभी स्त्री-पुरुष धर्मात्मा, इन्द्रियनिग्रही, हर्षयुक्त, सुशील और महर्षियोंके समान पवित्र थे। सभी स्नान करते, कुण्डल-मुकुट-माला धारण करते, सुगन्धित वस्तुओंका लेपन करते, उत्तम भोजन करते और दान देते थे। परन्तु वे सभी आत्मवान् थे, सभी अग्निहोत्र और सोमयाग करनेवाले थे। क्षुद्र विचारका, चरित्रहीन, चोर और वर्णसंकर कोई नहीं था। वहाँके जितेन्द्रिय ब्राह्मण निरन्तर अपने नित्यकर्मोंमें लगे रहते थे। दान देते थे, विद्याध्ययन करते थे, परन्तु निषिद्ध दान कोई नहीं लेता था। अयोध्यामें कोई भी नास्तिक, झूठा, ईर्ष्या करनेवाला, अशक्त और मूढ़ नहीं था। सभी बहुश्रुत थे। ऐसा कोई न था जो वेदके छः अंगोंको न जानता हो, व्रत-उपवासादि न करता हो, दीन हो, पागल हो या दुःखी हो। अयोध्यामें सभी स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा राजाके भक्त थे। चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुष देवता और अतिथिकी पूजा करनेवाले, दुःखियोंको आवश्यकतानुसार देनेवाले, कृतज्ञ और शूरवीर थे। वे धर्म और सत्यका पालन करते थे। दीर्घजीवी थे और स्त्री-पुत्र-पौत्रादिसे युक्त थे। वहाँके क्षत्रिय ब्राह्मणोंके अनुयायी, वैश्य क्षत्रियोंके अनुयायी और शूद्र तीन वर्णोंके सेवारूप सुकर्ममें लगे रहते थे। नगरी राजाके द्वारा पूर्णरूपसे सुरक्षित थी। विद्या-बुद्धि-निपुण, अग्निके समान तेजस्वी और शत्रुके अपमानको न सहनेवाले योद्धाओंसे अयोध्या उसी प्रकार भरी हुई थी जैसे गुफाएँ सिंहोंसे भरी रहती हैं। अनेक प्रकारके घोड़े और बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे नगरी पूर्ण थी। उसका अयोध्या नाम इसीलिये पड़ गया था कि वहाँ कोई भी शत्रु युद्धके लिये नहीं आ सकता था।

अब आजके भारतसे इसका मिलान कीजिये!

रामायणकी प्राचीनता

आजकल कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि रामायणकी रचना महाभारतके बादकी है। यद्यपि निरपेक्षतापूर्वक ग्रन्थोंका अध्ययन करनेपर इस मान्यतामें हठके अतिरिक्त अन्य कोई भी आधार नहीं ठहरता। जिस प्रकार भगवान् रामका काल कौरव-कालसे लाखों वर्ष पहलेका है, उसी प्रकार रामायणकी रचना भी है। रामायणमें जिस मर्यादापूर्ण सत्त्वमयी सभ्यताका वर्णन है, महाभारतमें वैसा नहीं है, इसीसे पता लगता है कि रामायण-कालसे महाभारत-कालकी सभ्यताका आदर्श बहुत नीचा था। गुरुकुल-काँगड़ीके प्रसिद्ध अध्ययनशील श्रीयुत रामदेवजीने लिखा है—'धर्ममय एवं आत्मिक तथा प्राकृतिक सब प्रकारकी उन्नतियोंसे परिपूर्ण रामायणके संक्षिप्त इतिहासको छोड़कर शोकमय हृदयके साथ महाभारतके समयका यत्किंचित् इतिहास लिखना पड़ता है। श्रीरामचन्द्रके पवित्र आचरणके प्रतिकूल युधिष्ठिरके जूआ खेलने आदि कर्मोंका, लक्ष्मण-भरतादिके भ्रातृ-स्नेहके प्रतिकूल युधिष्ठिरके प्रति भीमसेनके अपमानसूचक शब्दोंका, महाराज दशरथकी प्रजाके सम्मुख सीताको कैकेयीद्वारा तपस्विनीके वस्त्र देनेपर प्रजाका एक साथ चिल्ला उठना **'धिक् त्वां दशरथम्'** तथा धृतराष्ट्रकी राजसभामें द्रौपदीकी दुर्दशा होनेपर भी भीष्म, द्रोणादि वीरोंका कुछ भी न कर सकना, कुटिला दासी मन्थराका भी अपमान भरतके लिये असह्य और महारानी द्रौपदीकी दुर्दशामें दुर्योधन-कर्णादिकी प्रसन्नता, सती-साध्वी सीताका पातिव्रत और श्रीरामचन्द्रजीका पत्नीव्रत, उसके प्रतिकूल सत्यवतीके और कुन्तीके कानीन पुत्रोंकी उत्पत्ति और पाण्डवादिके बहुविवाह, श्रीरामचन्द्रजीके वनकी ओर चलनेपर अयोध्यावासियोंका उनके साथ वनगमनके लिये प्रयत्न और युधिष्ठिरके दो बार हस्तिनापुरसे निकाले जानेपर सिवा थोड़े-से नगर-निवासियोंके पाण्डवोंके दुःखके साथ खुल्लमखुल्ला दुःख प्रकट करनेमें अन्योंका कौरवोंके भयसे मौनावलम्बन, श्रीराम और भरतका महान् राज्य जैसे पदार्थको धर्मपालनके सम्मुख तुच्छ समझना और उसे एकका दूसरेके हाथमें फेंकना और दुर्योधनका यह कहना कि **'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव'**, युद्धक्षेत्रमें रावणके घायल हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजीका यह कहना कि घायलका वध करना धर्मविरुद्ध है और शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोणका वध, रथसे उतरे हुए कर्णका वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका ब्राह्मण-कुलोत्पन्न वीरताभिमानी अश्वत्थामाद्वारा वध, कहाँतक गिनायें। ये सब घटनाएँ

हैं—जो स्पष्टरूपसे रामायण और महाभारतके समयकी अवस्थाओंको प्रकट करती हैं। यद्यपि महाभारतके समय रामायणके समयकी भाँति ही अथवा उससे भी अधिक आर्यावर्तमें सम्पत्ति भरी हुई थी और रामायणके समयके वीरोंकी भाँति भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि कतिपय योद्धा वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, वारुणास्त्र, अन्तर्धानास्त्र, ब्रह्मास्त्रादि आग्नेयास्त्रोंकी विद्या भी जानते थे। अश्वतरी नाम अग्नियान जलपर चलता था, आर्यावर्तका दबदबा सारी पृथ्वीपर जमा हुआ था; परन्तु रामायणके रामकी अपेक्षा इस समय धर्मका बहुत ह्रास था……।'

इस अवतरणसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामका और रामायणका काल बहुत ही प्राचीन, शिक्षाप्रद तथा गौरवमय है।

श्रीरामायण-माहात्म्य

सनत्कुमारके प्रति देवर्षि नारदके वचन—

रामायणमहाकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्।
रामचन्द्रगुणोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम्॥

आदिकविकृत रामायण महाकाव्य सर्ववेदार्थसम्मत और सब पापोंका नाश करनेवाला तथा दुष्ट ग्रहोंका निवारण करनेवाला है। यह दुःस्वप्नोंका नाश करनेवाला, मुक्ति-भुक्ति प्रदान करनेवाला रामायण धन्य है।

आदिकाव्य रामायण स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

जिसके पूर्वजन्मके पाप निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं, उस मनुष्यके अवश्य ही रामायणमें अटल महाप्रीति उत्पन्न होती है।

मानव-शरीरमें पाप तभीतक रह सकते हैं, जबतक मनुष्य श्रीमद्रामायणकी कथा सम्यक् प्रकारसे नहीं सुनता।

रामायण सब दुःखोंका नाश करनेवाला, सब पुण्योंका फल प्रदान करनेवाला और सब यज्ञोंका फल देनेवाला है।

जो द्विज रामनाम-रत होकर रामायणमें लवलीन रहते हैं, इस घोर कलियुगमें वे ही कृतकृत्य हैं।

जो मनुष्य नित्य रामायणमें लवलीन रहते हैं, गंगा-स्नान करते हैं और धर्म-मार्गका उपदेश करते हैं, वे मुक्त ही हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं।

जो जितेन्द्रिय और शान्तचित्त हो रामायणका नित्य पाठ करता है, वह उस परम आनन्दधामको प्राप्त होता है जहाँ जानेपर उसे कभी शोक नहीं सताता।

क्षमाके समान कोई सार पदार्थ नहीं, कीर्तिके समान कोई धन नहीं, ज्ञानके समान कोई लाभ नहीं और श्रीरामायणसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

जगत्का हित करनेवाले जो सज्जन रामायणमें लगे रहते हैं, वे ही सर्वशास्त्रार्थमें पण्डित हैं और धन्य हैं।

जिस घरमें नित्य रामायणकी कथा होती है, वह घर तीर्थरूप है और दुष्टोंके पापका नाश करनेवाला है।

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
संसारविषयान्धानां नराणां पापकर्मणाम्॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

रामनाम ही मेरा जीवन है, नाम ही मेरा जीवन है। इस कलियुगमें संसारके विषयोंमें अन्धे हुए पापकर्मी मनुष्योंके लिये दूसरी गति नहीं है, नहीं है (स्कन्दपुराण)।

भगवान् शिवजी कहते हैं—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥
राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥

श्रीरामचरितमानस सच्चा इतिहास है

कहा तो जाता है कि वर्तमान युग बुद्धिप्रधान और उन्नति-सम्पन्न है, परन्तु गम्भीरताके साथ विचार करनेपर पता लगता है कि बुद्धिकी जगह अश्रद्धा और अविश्वासने ले ली है और उन्नतिका स्थान कलह और द्वेषने! जहाँ अश्रद्धा और अविश्वासका विस्तार है, वहाँ हम यह कहते हैं कि यहाँ बुद्धिसे काम लिया जाता है, अविवेक या अन्ध-परम्परासे नहीं और जहाँ द्वेष और कलह है, वहाँ हम समाजमें जागृति और उन्नतिका

आरोप करते हैं। इसी कारण आज हमारी वास्तविकता नष्ट हो रही है और क्रमशः हमारा जीवन कृत्रिम होता चला जा रहा है। श्रद्धा-विश्वासका तिरस्कार करके हम अपने घरमें रखे हुए पारससे लाभ नहीं उठा रहे हैं, यही विधिकी विडम्बना है। इसी कारण आज अपनी सनातन सभ्यता और इतिहासपरसे हमारी आस्था उठती चली जा रही है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और समझदार पुरुष भी आज प्रत्येक सत्यको—यहाँतक कि ईश्वरतकको कवि-कल्पनाका स्वरूप देनेमें ही अपनी शान समझने लगे हैं। यह मानव-जातिका दुर्भाग्य है!

रामायण और महाभारतको सनातनसे हिन्दूजाति अपना गौरवपूर्ण इतिहास मानती चली आ रही है, परन्तु आधुनिक विद्वान् उन्हें इतिहास स्वीकार करनेमें हिचकते हैं। अवश्य ही इसमें उनकी नीयत बुरी नहीं है, परन्तु कालप्रभाव और अविश्वासपूर्ण वायुमण्डलका उनकी बुद्धिपर इतना गहरा असर हुआ है कि उनका लक्ष्य और उनकी विचारधाराकी गति ही पलट गयी है। इसीसे प्रत्येक बातको वे अपनी काल्पनिक कसौटीपर कसकर क्षणोंमें ही काल्पनिक करार दे डालते हैं। रामायणके सम्बन्धमें कुछ विद्वान् स्पष्टरूपसे ऐसा कहते हैं कि 'यह इतिहास नहीं है, काव्यमात्र है। इसमें जिन पात्रोंका वर्णन है वे या तो हुए ही नहीं, यदि हुए हैं तो इस काव्यमें उनका सर्वथा अतिरंजित रूप है। उनको केवल आधार बनाकर काव्य लिखा गया है, इतिहासके रूपमें उनके जीवनकी सत्य घटनाओंका संकलन इसमें नहीं है।' इस प्रकारके विचार रखनेवाले सज्जनोंसे यही प्रार्थना है कि वे इस विषयपर पुनः विचार करें। यदि गम्भीरताके साथ विचार करेंगे और भ्रान्त विचारधाराको शुद्ध कर सकेंगे तो उन्हें अवश्य ही अपनी भूल प्रतीत होगी।

दूसरी श्रेणीमें कुछ सज्जन ऐसे हैं, जो वाल्मीकीय रामायणको तो इतिहास स्वीकार करते हैं, परन्तु गोसाईं तुलसीदासजी महाराजके रामचरितमानसको इतिहास नहीं मानते। वे उसे केवल भक्तिपूर्ण सुन्दर काव्य ही मानते हैं, परन्तु यथार्थमें ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार वाल्मीकीय रामायण सच्चा इतिहास है, उसी प्रकार तुलसीकृत रामचरितमानस भी है। इसपर कहा जा सकता है कि यदि ऐसी ही बात है तो जगह-जगह दोनोंके वर्णनोंमें इतना भेद क्यों है। इसका उत्तर गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वयं ही दे दिया है—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥
राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार॥

'मैं जो यह नयी कथा कहता हूँ, इसको पहले (किसी भी रामायणमें) न सुना हो तो इसे सुनकर आश्चर्य न करें। जो ज्ञानी पुरुष इस विचित्र (पहले कहीं न सुनी हुई) कथाको सुनते हैं, वे यह जानकर आश्चर्य नहीं करते कि संसारमें रामकथाकी कोई सीमा नहीं है। उनके मनमें ऐसा विश्वास रहता है। नाना प्रकारसे श्रीरामचन्द्रजीके अवतार हुए और करोड़ों अपार रामायण हैं। कल्पभेदके अनुसार श्रीहरिके सुन्दर चरित्रोंको मुनीश्वरोंने अनेक प्रकारसे गाया है। हृदयमें ऐसा विचारकर सन्देह न कीजिये और आदरसहित प्रेमसे इस कथाको सुनिये। श्रीरामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं और उनकी कथाओंका विस्तार भी असीम है। अतएव जिनके निर्मल विचार हैं, वे इस कथाको सुनकर आश्चर्य नहीं मानेंगे।'

यह जान रखना चाहिये कि महामुनि वाल्मीकिने जिन रामकी कथाका वर्णन किया है, वे भगवान् विष्णुके अवतार हैं और गोसाईंजीके राम समग्र ब्रह्मरूप परात्पर भगवान् हैं। उन दोनों अवतारोंकी लीलाओंमें अन्तर है और उसीके अनुसार दोनों सत्यवादी महर्षि कवियोंने उनका यथार्थ वर्णन किया है। वाल्मीकि और तुलसीदासजी कवि पीछे हैं, भगवद्भक्त महर्षि पहले। इसलिये वे मिथ्या कल्पनाको इतिहासका स्वरूप दें, ऐसा मानना भूल है। तुलसीदासजीने स्वयं अपने रामचरितमानसको 'इतिहास' कहा है—

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा॥

शिवजी कहते हैं—मैंने यह परम पुनीत इतिहास कहा है, इसके सुननेसे भवबन्धन छूट जाता है और प्रणतकल्पतरु करुणामय श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रेम उत्पन्न होता है।

आधुनिक इतिहासोंसे हमारे इन इतिहासोंकी यही विशेषता है। आधुनिक इतिहासोंके पढ़नेसे केवल घटनाओंका और तारीख-सनोंका ही पता लगता है और प्रायः वे इतिहास किसी-न-किसी सम्पर्कयुक्त व्यक्तिके लिखे होनेसे सर्वथा सत्य भी नहीं होते, परन्तु हमारे रामायण-महाभारतादि इतिहास ब्रह्मज्ञानी, भगवद्भक्त, स्वाभाविक ही सदाचार-परायण, सत्यवादी ऋषियोंके लिखे होनेके साथ ही वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके उपदेशोंसे समन्वित होनेके कारण पढ़नेवालोंको भवपाशसे मुक्तकर उन्हें भगवान्‌का परम प्रेम प्रदान करनेमें समर्थ होते हैं। काव्यकलाका विशेष आनन्द तो घलुएमें मिल जाता है। इसीसे हमारे इतिहासका लक्षण है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

'जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशोंसे समन्वित और प्राचीन (सत्य) घटनाओंसे युक्त हो उसे इतिहास कहते हैं।'

श्रीरामचरितमानस भी ऐसा सत्य घटनाओंसे पूर्ण इतिहास है। इसमें महाकाव्यका रस भरा है, यह इसकी विशेषता है और तमाम दुःखोंका नाश करके परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्तिके साथ ही परात्पर श्रीभगवान्‌के ज्ञान, दर्शन और प्रेमको अनायास ही प्राप्त करा देना इसका सुन्दर फल है।

साधन-भक्तिके चौंसठ अंग

१—श्रीगुरु-चरण-कमलोंका आश्रय-ग्रहण।

२—श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्विषयमें शिक्षा प्राप्त करना।

३—विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना।

४—साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना।

५—भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रश्न करना।

६—श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये भोगादिका त्याग करना।

७—द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्‌के लीलाधामोंमें और गंगादि तीर्थोंमें रहना।

८—जितने व्यवहारके बिना काम न चले, नियमपूर्वक उतने ही व्यवहार करना।

९—एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना।

१०—आँवला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा भक्तोंका सम्मान करना।

ये दस अंग साधन-भक्तिके सहायक हैं और ग्रहण करने योग्य हैं।

११—भगवद्विमुख असाधु पुरुषका संग बिलकुल त्याग देना।

१२—अनधिकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना।

१३—भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कार्योंका आरम्भ न करना।

१४—बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करना। व्याख्या या तर्क-वितर्क न करना। भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना।

१५—व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना।

१६—शोक, मोह, क्रोधादिके वश न होना।

१७—किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान न करना।

१८—किसी भी प्राणीको उद्वेग न पहुँचाना।

१९—सेवापराध और नामापराधसे सर्वथा बचे रहना।

२०—श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा आदिको न सह सकना।

इन दस अंगोंके पालन किये बिना साधन-भक्तिका यथार्थ उदय नहीं होता।

२१—वैष्णव-चिह्न धारण करना।

२२—हरिनामाक्षर धारण करना।

२३—निर्माल्य धारण करना।

२४—श्रीभगवान्‌के सामने नृत्य करना।

२५—श्रीभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करना।

२६—श्रीभगवान्‌की मूर्तिको देखते ही खड़े हो जाना।

२७—श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे-आगे या पीछे-पीछे चलना।

२८—श्रीभगवान्‌के स्थानों अर्थात् उनके धाम और मन्दिरोंमें जाना।

२९—परिक्रमा करना।

३०—श्रीभगवान्‌की पूजा करना।

३१—श्रीभगवान्‌की परिचर्या या सेवा करना।

३२—श्रीभगवान्‌का लीला-सम्बन्धी गान करना।

३३—श्रीभगवान्‌के नाम, गुण, लीला आदिका उच्चस्वरसे कीर्तन करना।

३४—श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना।

३५—श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना।

३६—श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना।

३७—महाप्रसादका सेवन करना।

३८—चरणामृत पान करना।

३९—धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना।

४०—श्रीमूर्तिका दर्शन करना।

४१—श्रीमूर्तिका स्पर्श करना।

४२—आरति और उत्सवादिका दर्शन करना।

४३—श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिका श्रवण करना।

४४—श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना।

४५—श्रीभगवान्‌का स्मरण करना।

४६—श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला, सेवा आदिका ध्यान करना।

४७—सारे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्यदास बन जाना।

४८—दृढ़ विश्वास और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना।

४९—श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना।

५०—अपनी उत्तम-से-उत्तम और प्यारी-से-प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना।

५१—भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना।

५२—सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना।

५३—उनकी तुलसीजीका सेवन करना।

५४—उनके शास्त्रोंका सेवन करना।

५५—उनके पुरियोंका सेवन करना।

५६—उनके भक्तोंका सेवन करना।

५७—अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना।

५८—कार्तिकके व्रत करना।

५९—जन्म और यात्रा-महोत्सव मनाना।

६०—श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवा करना।

६१—रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना।

६२—सजातीय और समान आशयवाले, भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका संग करना।

६३—नाम-संकीर्तन करना।

और

६४—व्रज-मण्डलादि मधुर लीलाधामोंमें वास करना।

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१—सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

२—रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३—श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४—अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५—एक हाथसे प्रणाम करना।

६—परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना।

९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना।

१०—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना।

११—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना।

१२—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना।

१३—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना।

१४—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना।

१५—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना।

१६—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना।

१७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना।

१८—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना।

१९—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना।

२०—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना।

२१—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना।

२२—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना।

२३—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना।

२४—शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्की सेवा-पूजा करना।

२५—श्रीभगवान्को निवेदन किये बिना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६—जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्को न चढ़ाना।

२७—किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्के व्यंजनादिके लिये देना।

२८—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०—गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना।

३१—अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२—किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

१—राजाके अन्नका भक्षण करना।

२—अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

३—नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

४—बाजा या ताली बजाये बिना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना।

५—अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना।

६—पादुकासहित भगवान्के मन्दिरमें जाना।

७—कुत्तेकी जूँठन स्पर्श करना।

८—पूजा करते समय बोलना।

९—पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना।

१०—श्राद्धादि किये बिना नया अन्न खाना।

११—गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना।

१२—निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्की पूजा करना।

१३—दँतवन किये बिना भगवान्के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१४—स्त्री-सम्भोग करके ,, ,,

१५—रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके ,, ,,

१६—दीपका स्पर्श करके ,, ,,

१७—मुर्देका स्पर्श करके ,, ,,

१८—लाल वस्त्र पहनकर ,, ,,

१९—नीला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२०—बिना धोया हुआ वस्त्र पहनकर ,, ,,

२१—दूसरेका वस्त्र पहनकर ,, ,,

२२—मैला वस्त्र पहनकर भगवान्के श्रीविग्रहका पूजा या उनका स्पर्श करना।

२३—शवको देखकर ,, ,,

२४—अधोवायुका त्याग करके भगवान्के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

२५—क्रोध करके ,, ,,

२६—श्मशानमें जाकर ,, ,,

२७—खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर ,, ,,

२८—पशुओंका मांस खाकर ,, ,,

२९—पक्षियोंका मांस खाकर ,, ,,

३०—गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके ,, ,,

३१—कुसुम्ब साग खाकर ,, ,,

और

३२—शरीरमें तैल मलकर ,, ,,

गंगास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्की पूजा करनेसे और भगवान्के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है। भगवान्के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिञ्छ्रद्धया यस्तु कीर्तयेत्।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः॥

'इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका

कीर्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

नामापराध

१—सत्पुरुषोंकी निन्दा करना।

२—शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना।

३—गुरुका अपमान करना।

४—वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना।

५—'भगवान्के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है।' इस प्रकार भगवान्के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना।

६—'भगवान्के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं?' इस प्रकार भगवान्के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना।

७—यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना।

८—श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना।

९—नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना।

और

१०—'मैं' और 'मेरे' के फेरमें पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना।

ये दस नामापराध हैं। नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्तनसे ही मिलता है।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्तन किये जानेपर नाम सारे मनोरथोंको पूरा करता है।'

भगवदनुराग

क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको शास्त्रकारोंने बहुत दुर्लभ बतलाया है, उनका कहना है कि इसी शरीरसे यथोचित उद्योग करनेपर जीवकी अनन्तकालकी सुख-कामना सर्वथा पूर्ण हो सकती है। भगवान्ने कृपा करके इस शरीरमें ऐसा विवेक दिया है, जिससे मनुष्य भले-बुरे और नित्य-अनित्यका विचार कर बुरे और अनित्यका त्याग तथा भले और नित्यका ग्रहण कर सकता है। विवेकके द्वारा वह अपनी अनादिकालकी कामनाको पहचानकर उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा कर सकता है और अन्तमें उसे पा सकता है। जो मनुष्य भगवान्के दिये हुए विवेकसे इस कार्यकी पूर्तिमें लगता है, वही मनुष्य कहलानेयोग्य है। जो पशुओंकी भाँति केवल उदरपूर्ति और भोग भोगनेमें ही लगा रहता है, उसको तो मनुष्याकार पशु ही समझना चाहिये। बात भी ठीक है। मनुष्यमें मनुष्योचित गुण होने ही चाहिये। जो रात-दिन जिस-किसी प्रकारसे पैसा कमाने और उससे शरीर सजाने तथा भोग-सामग्रियोंको जुटानेमें लगे रहते हैं, वे यथार्थ ही मनुष्यके कर्तव्यसे गिरे हुए हैं। जिस बुद्धि-विवेकको भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगाना चाहिये, उसी विवेकका प्रयोग यदि हाड़-मांसके शरीरको सजानेमें, फैशन बनानेमें, विलासिताका सामान इकट्ठा करनेमें और इन्द्रियोंको आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेवाली परन्तु परिणाममें दुःखदायिनी भोग-सामग्रियोंके संग्रह करनेमें किया जाय तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी? परन्तु क्या कहा जाय, यहाँ तो आजकल चारों ओर यही हो रहा है। आज प्रायः सारा ही जगत् केवल भोग-सामग्रियोंके लिये ही जूझ रहा है। जिसके पास भोगके पदार्थ अधिक हों, वही बड़ा आदमी और बड़भागी माना जाता है, चाहे वे पदार्थ उसने कितने भी कुकर्मोंके द्वारा इकट्ठे किये हों और कर रहा हो! यही हालत राष्ट्रोंकी है।

फैशन तथा बाहरी दिखावेके भावने इतनी गहरी जड़ जमा ली है कि आज गृहत्यागी संन्यासियोंके गेरुआ वस्त्रोंमें, उनके दण्ड-कमण्डलुमें, उनकी चरणपादुकाओंमें; धर्माचार्योंके वेश-भूषा और रहन-सहनमें, सादगीका बाना धारण करनेवाले देशभक्तोंके खादीके कुर्ते, चद्दर और चप्पलोंमें और बनावटसे दूर रहनेके लिये निरन्तर वाणी और कलमसे उपदेश करनेवाले महानुभावोंकी वाणी और कलममें—सभीमें फैशन आ गया है। उनकी ऊपरकी सादगी दिलकी सादगीका सच्चा प्रतिबिम्ब

नहीं है। किस प्रकार दूसरे हमें देखकर मुग्ध हों; कैसे कोई हमारी वाणी, कलम, पोशाक, चाल और चाहपर रीझे, हृदयको टटोलकर देखा जाय तो प्राय: अधिकांशके अन्दर ऐसे ही भाव पाये जायँगे। यह सादगीमें छिपी विलासिता है। कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंकी चाह करनेको भगवान्‌ने मिथ्याचार बतलाया है। सच पूछा जाय तो आज जगत्‌में मिथ्याचारका प्रचार बढ़ रहा है। कपट बढ़ रहा है। भोगेच्छाका दमन नहीं, किन्तु उसकी प्रबलता बढ़ रही है और उन्नतिके नामपर उसको बढ़ाया जा रहा है। सांसारिक भोगोंकी इच्छा जितनी ही अधिक बलवती होती है, जितना ही अधिक भोग-पदार्थोंके संग्रहकी भावना बढ़ती है, उतना ही मनुष्य भगवान् और भगवद्भावोंसे दूर होता चला जाता है। हमारे आजके छात्रावास, आश्रम, विद्यालय और गुरुकुल-ऋषिकुलोंसे, प्राचीन त्यागमय संग्रहशून्य छात्रावास, ऋषियोंके आश्रम, विद्यामन्दिर और गुरुकुल-ऋषिकुलोंका मिलान करके देखिये। आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। त्यागका आदर्श भोगके आदर्शके रूपमें बदल गया है। जीवनका लक्ष्य भगवान् न रहकर जगत्‌के भोग—सुख-साम्राज्य, यथेच्छाचरणकी स्वतन्त्रता आदि रह गये हैं। आज मनुष्य कितना विवेकशून्य हो गया है, इसका पता मनीषियोंको इन सब बातोंपर विचार करनेसे अनायास ही लग सकता है।

यह स्थिति बड़ी ही भयावनी है। अभी पता नहीं लगता, परन्तु जब इसका परिणाम सामने आयेगा, तब दु:खकी सीमा न रहेगी। उस परिणामके चित्रकी कल्पना आते ही हृदय काँप उठता है। पता नहीं, विवेकभ्रष्ट मनुष्य कब पुन: विवेकको प्राप्तकर भगवत्-पथका पथिक होगा।

परन्तु पूर्वपुण्य या साधु पुरुषोंके संगसे जिनके मनमें कुछ भी मानव-जीवनके उद्देश्य-सम्बन्धी विवेक जाग्रत् है, उन लोगोंको तो सावधानीके साथ अपने जीवनका मार्ग स्थिर करके उसपर चलना आरम्भ कर ही देना चाहिये। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि चक्कीके पाटोंके बीच पड़े हुए दानोंमें जो दाने बीचकी कीलीके आस-पास लगे रहते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं। इस घोर कालमें भी—जो देखनेमें भ्रमसे प्रगतिका, उन्नतिका और अभ्युदयका-सा प्रतीत होता है—जो मनुष्य भगवान्‌की ओर धर्मकी परायणताको नहीं छोड़ेंगे, वे महान् बुरे परिणामसे अवश्य बच जायँगे।

सबसे पहले विवेकसे निर्णय करके जीवनका लक्ष्य—ध्येय स्थिर कर लेना चाहिये। यह ध्येय परमात्मा है, जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जीवके दु:खोंका अन्त किसी प्रकार किसी उपायसे भी नहीं हो सकता। तदनन्तर उस लक्ष्यके विरोधी सभी कार्योंसे मुँह मोड़ लक्ष्यके सम्मुख होकर चलना आरम्भ कर देना चाहिये। इसीका नाम अभ्यास और वैराग्य है। भगवद्विरोधी सांसारिक विषयोंमें—इस लोक और परलोकके सभी भोग-विषयोंमें अनुरागका सर्वथा त्याग और भगवत्‌के अनुकूल श्रवण, चिन्तन, सेवा, ध्यान आदि सद्‌वृत्तियों और कार्योंका ग्रहण करना चाहिये। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि मनुष्य-शरीर इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी झूठी झाँकी दिखानेवाले भोगोंके लिये नहीं है, झूठी झाँकी इसीलिये कि भोगोंसे कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती, ***'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते।'*** यह शरीर है भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, अतएव भगवत्-प्राप्तिके मार्गमें—चाहे जितने कष्टोंका सामना करना पड़े, चाहे जैसी विपत्तियाँ आयें, इन्द्रियोंके समस्त सुखकर भोग नष्ट हो जायँ, उनका प्राप्त होना सर्वथा रुक जाय, सारे ऐश-आराम सपना हो जायँ, इन्द्रियाँ छटपटायें, जो कुछ भी हो, किसी बातकी भी परवा न करके आगे बढ़ते ही जाना चाहिये, सब कुछ खोकर भी उसे पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जो ममत्व-बुद्धिसे जगत्‌के इन सब पदार्थोंको बचानेकी चेष्टामें लगा रहता है वह परमात्माको नहीं पा सकता; पर जो सबका मोह छोड़कर मनसे सबका नाता तोड़कर विगतज्वर हो भगवत्प्रेमकी अग्निमें कूद पड़ता है, वह अपने सारे पाप-तापोंको उस धधकती हुई प्रेमाग्निमें भस्मकर परम अमृत—परम शान्तिको प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य गृहस्थी छोड़ दे—कर्तव्य-कर्म छोड़ दे; यहाँ गृहस्थ या संन्यासीका सवाल नहीं है, प्रश्न है जगत्‌के त्यागका—जगत्‌के इस मायामय वर्तमान रूपके नष्ट कर देनेका—इस प्रपंचको जला देनेका। इसके स्थानमें भगवान्‌को बैठा दीजिये, जगत्‌की जगह श्रीहरिकी प्रतिष्ठा कीजिये, जगत्-पत्थरको खोकर हरि-हीरेको प्राप्त कीजिये और उसीकी इच्छासे, उसीकी सामग्रीसे और उसीके साधनसे उसके सब

रूपोंमें उसीकी सेवा करते रहिये। फिर कुछ छोड़ने-ग्रहण करनेका सवाल ही नहीं रह जायगा।

यह भावुकता या कल्पना नहीं है, ऐसा किया जा सकता है—हो सकता है। जीवनका ध्येय निश्चित करके विरोधी भोग-पदार्थोंमें वैराग्य कीजिये, फिर आप ही जीवन हरिमय होने लगेगा। फिर हरि-प्रेमकी आगमें कूदनेमें भय नहीं होगा, प्रत्युत उत्साह होगा, जल्दी-से-जल्दी कूद पड़नेके लिये मनमें तलमलाहट पैदा होगी और हम उसमें बिना आगा-पीछे सोचे कूद ही पड़ेंगे; क्योंकि वैराग्यके बादकी यही सीढ़ी है। वैराग्यके बाद भगवदनुराग ही रह जाता है। यह भगवदनुराग ही मनुष्यको भगवत्स्वरूपतक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन है। जिसके हृदयमें भगवदनुरागकी जितनी अधिक मात्रा होती है, वह बाह्य जगत्‌की निम्न प्रकृतिसे ऊँचा उठकर उतना ही अधिक अन्तर जगत्—अध्यात्म-जगत्‌की उच्च भूमिकामें प्रवेश करता है। तब उसे पता लगता है कि इस स्थितिके सामने बहिर्जगत्‌की ऊँची-से-ऊँची स्थिति भी तुच्छ और नगण्य है परन्तु यहीं उसकी दिव्यधाम-यात्राका मार्ग समाप्त नहीं होता, इससे अभी बहुत ऊँचे उठना है और क्रमशः ज्यों-ज्यों ऊँची भूमिकामें प्रवेश होगा, त्यों-ही-त्यों क्रमशः नीचेकी भूमिकाओंका आनन्द, सुख, ऐश्वर्य, शक्ति, मति, ज्ञान आदि सब निम्न श्रेणीके और तुच्छ प्रतीत होते रहेंगे, आखिरी मंजिल तै करनेपर परमात्माके स्वप्रकाशित नित्य विशुद्ध राज्यमें—उस दिव्य धाममें प्रवेश होगा, जहाँका वर्णन कोई कर नहीं सकता, जो इस जगत्‌की किसी भी वस्तुसे तुलना करके नहीं बतलाया जा सकता। यहाँके चन्द्र-सूर्य जहाँ प्रवेश नहीं कर पाते—इसीका इशारा भगवान्‌के इन वाक्योंमें है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८। २०-२१)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

(प्रलयके समय जिस अव्यक्तमें समस्त जगत् लय होता है और पुनः सृष्टि-कालमें जिस अव्यक्तसे उत्पन्न हो जाता है) उस अव्यक्तसे भी अति परे एक दूसरी सनातन सत्-चित्-आनन्दमय अव्यक्त सत्ता है, जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती, इसीसे उसे अव्यक्त और अक्षर कहते हैं, उसीको परम गति कहते हैं, जिसको पाकर कोई लौटते नहीं, (उस स्थितिसे कभी नीचे नहीं उतरते) वह मेरा परम धाम है। उस स्वप्रकाशित परम सत्ताको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न चन्द्रमा और न अग्नि ही। उस परम पदको पाकर कोई वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

श्रुति भी इशारा करती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठ० २। २। १५)

उस स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप सत्ताको सूर्य, चन्द्र, तारा और विद्युत्समूह प्रकाशित नहीं कर सकते। प्रत्युत उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र प्रभृति प्रकाश पाते हैं; क्योंकि उसीके तेजसे यह समस्त जगत् प्रकाशित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

योगी (भगवदनुरागी) पुरुष इस रहस्यको जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान आदिसे जो पुण्य फल होता है, (इनके फलसे जिन उच्च भूमिकाओंमें स्थान मिलता है) उन सबको लाँघकर निश्चय ही सनातन परम धामको प्राप्त होता है।

क्षणभंगुर मनुष्य-देह इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, इसीसे इसको दुर्लभ कहा है; ऐसे वरदानस्वरूप विवेकसम्पन्न मनुष्य-देहको प्राप्त करके यदि कोई उस विवेकको केवल शरीर सजाने और फैशन बनानेमें ही खर्च करे तो वह अत्यन्त ही दयनीय है। इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य-देहसे जीव सन्मार्गमें चलनेपर जैसे उन्नतिके अत्युच्च शिखरपर चढ़ सकता है, वैसे ही कुमार्गमें पड़कर, विषयासक्त होकर, इन्द्रियोंका गुलाम बनकर यह अवनतिके गहरे गड्ढेमें भी गिर सकता है; क्योंकि मनुष्य-जीवन कर्म-योनि है, इस जीवनमें—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

—की उक्ति चरितार्थ होती है। इस जीवनमें जीव पाप-पुण्य, बन्धन-मुक्तिका साधन कर सकता है। अपने विवेक और बलको चाहे जिस कार्यमें खर्चकर उसीके अनुरूप फलका भागी हो सकता है।

यह मनुष्य-विवेकके दुरुपयोगका ही फल है, जो मनुष्येतर प्राणियोंके लिये आज मनुष्य सबसे बड़ा घातक हो गया है। मनुष्यने अपने दैहिक सुखके लिये ही एक-एक इंच भूमिपर, जंगलके प्रत्येक पेड़पर अपना अधिकार कर लिया है, जिससे वन्य पशु-पक्षियोंकी बुरी गति हो रही है। रेल, मोटर, बड़ी-बड़ी मिलें, कारखाने, हवाईजहाज, बड़े-बड़े महल आदि मानवी सुखके सामानोंने इतर प्राणियोंके जीवनको विभीषिकामय और दुःखमय बना दिया है। इन विशाल दानवी कार्योंके प्रारम्भ, विस्तार और संचालनमें कितनी जीवहिंसा होती है, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं! चूल्हे-चक्कीमें होनेवाली प्राणिहिंसाके पापसे मुक्त होनेके लिये नित्य पंच-महायज्ञ करनेवाली आर्यजातिके महापुरुषोंने बड़ी-बड़ी मशीनोंकी चक्कियोंके जीव-घातक कार्योंसे बचनेका क्या उपाय सोचा है, कुछ पता नहीं। यही नहीं, आज मनुष्य-सुखके लिये विविध भाँतिसे जीवोंका संहार किया जा रहा है और उसको आवश्यक कार्य समझकर सभी ओरसे उत्साह प्रदान किया जाता है। रेशमके कारखाने, चमड़ेके कारखाने, जूतोंके कारखाने और विदेशी दवाइयोंके कारखाने आदिको देखने-सुननेसे इस बातका पता चल सकता है। मनुष्यने अपने विवेकका यहींतक दुरुपयोग नहीं किया, अपने ही जलनेके लिये उसने अपने अन्दर भी दुःखकी आग सुलगा दी। विद्या-बुद्धिसे युक्त कहलानेवाले कुछ इने-गिने मनुष्योंने अपने व्यक्तिगत शारीरिक सुखके लिये बड़े-बड़े दानवी यन्त्र और कारखानोंके द्वारा अगणित गरीबोंके मुँहका टुकड़ा छीनकर उन्हें तबाह करना शुरू कर दिया। परिणाममें आत्मकलहका जो युद्ध आज मनुष्य-जातिमें छिड़ गया है, उसका कितना भयानक फल होगा, इस बातको कौन बता सकता है? विवेकके दुरुपयोगसे उत्पन्न उच्छृंखलतासे आज सभी ओर अशान्ति हो रही है। परलोक और भगवान्को भूलकर प्रायः सभी मनुष्य आज अपने-अपने क्षुद्र सुखके लिये छटपटा रहे हैं और मोहान्ध होकर परिणामज्ञानसे शून्य-से हो दानवोचित साधनोंतकको अपना रहे हैं। क्या यही मनुष्य-जीवनका ध्येय है? बड़ी गलती की जा रही है। शीघ्र चेतना चाहिये। मानव-जीवनको पशु या असुर-जीवनमें परिणत न कर इसे देव या भागवत-जीवन बनाना चाहिये। हृदयमें ईश्वरका अधिष्ठान समझकर उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके अनुसार चलना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये, पापकी प्रेरणा हृदयस्थ ईश्वरकी आज्ञा नहीं है। वह तो हमारे हृदयमें छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान प्रभृति असुरोंकी प्रेरणा है, जो भगवान्की विस्मृति कराकर हमें भयानक नरकाग्निमें जलानेके लिये हमारे अन्दर डेरा डाले हुए हैं। इन असुरोंको पहचानकर इनसे बचना चाहिये। वैराग्यके शस्त्रसे इन्हें मारना चाहिये। वैराग्यका उदय—वास्तविक विरागकी उत्पत्ति तभी होगी, जब हमारे जीवनका ध्येय निश्चित हो जायगा, जब हमारी बुद्धि मोहके कलिलसे निकल जायगी। जब उसे सांसारिक उन्नति और सांसारिक सुखोंका वास्तविक स्वरूप दीख जायगा।

इसीके लिये सत्संग, सत्-शास्त्राध्ययन, यम-नियम आदिकी आवश्यकता है। मनुष्य-जीवन बहुत थोड़ा है, प्रतिक्षण हमारे जीवनका नाश हो रहा है, अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ सामने हैं, अतएव बहुत ही शीघ्र उस उपायमें लग जग जाना चाहिये, जिससे हम तुरन्त ही अपने जीवनका ध्येय निश्चित कर उसको पानेके लिये गुरु और शास्त्रकथित मार्गपर आरूढ़ होकर चलना आरम्भ कर दें।

भगवत्-कृपापर विश्वास करके जीवनको उनकी सेवामें लगा दीजिये, फिर देखिये, उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जाती हैं।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

विषय और भगवान्

संसारके विषयोंमें न मालूम कैसी मोहिनी है, देखते और सुनते ही मन ललचाता है, उनकी प्राप्तिके लिये अनेक उचित, अनुचित उपाय किये जाते हैं, मनुष्य मोहवश मन-ही-मन सोचता है कि इनकी प्राप्तिसे सुख हो जायगा, परन्तु उसका विचार कभी सफल होता ही नहीं। कितने ही लोगोंके जीवन तो अभीष्ट विषयकी

प्राप्ति होनेके पूर्व ही पूरे हो जाते हैं। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है, तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरन्त ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। वह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है, तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरन्त ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। वह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो। और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा संसार इसी अभावके फेरमें पड़ा हुआ है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, बुद्धिमान् और चिन्ताशील पुरुष इस अभावकी पूर्तिके लिये ही चिन्तामग्न हैं। युग बीत गये, नाना प्रकारके नवीन-नवीन औपाधिक आविष्कार हुए और रोज-रोज हो रहे हैं; परन्तु यह अभाव ऐसा अनन्त है कि इसका कभी शेष होता ही नहीं। बड़ी कठिनतासे, बड़े पुरुषार्थसे, बड़े भारी त्याग और अध्ययनसे मनुष्य एक अभावको मिटाता है, तत्काल ही दूसरा अभाव हृदयमें न मालूम कहाँसे आकर प्रकट हो जाता है। यों एक-एक अभावको दूर करनेमें केवल एक ही जीवन नहीं, न मालूम कितने जन्म बीत गये हैं, बीत रहे हैं और अभावकी जड़ न कटनेतक बीतते ही रहेंगे। कलमी पेड़की डालोंको काटनेसे वह और भी अधिक फैलता है, इसी प्रकार एक विषयकी कामना पूरी होते ही—उसके कटते ही न मालूम कितनी ही नयी कामनाएँ और जाग उठती हैं। किसी कंगालको राज्य पानेकी कामना है, वह उसकी प्राप्तिके लिये न मालूम कितने जप, तप, विद्या, बुद्धि, बल, परिश्रम आदिका प्रयोग करता है। उसे कर्मकी सफलताके रूपमें यदि राज्य मिल जाता है तो राज्य मिलते ही अनेक प्रकारकी ऐसी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका वह पहले विचार भी नहीं कर सका था। अब उन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिकी कामना होती है और वह फिर वैसा ही दुःखी बन जाता है। इसलिये आवश्यकता है अभावकी जड़ काटकर ऐसी वस्तुको प्राप्त करनेकी, जो नित्य, पूर्ण, सत् और सर्वाभावशून्य हो, जिसे पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता हो, आप्तकाम और पूर्णकाम हो जाता हो, अभावकी आग सदाके लिये बुझ जाती हो। यह सत् और पूर्ण वस्तु केवल परमात्मा है, परन्तु उस परमात्माकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक जगत्के विषयोंका मोह त्यागकर मनुष्य परमात्माको पानेके लिये एकान्त इच्छुक नहीं हो जाता। जो इस परम वस्तुको पानेके लिये व्याकुल हो उठता है, उसके हृदयसे भोगोंकी शक्ति नष्ट हो ही जाती है; क्योंकि जहाँ भगवान्का प्रेम रहता है, वहाँ भोग-कामना उसी प्रकार नहीं ठहर सकती जिस प्रकार सूर्यके सामने अन्धकार नहीं ठहरता।

जो चाहौ हरि मिलनकौ, तजौ विषय विष मान।
हिय में बसै न एक सँग, भोग और भगवान॥

जिन्हें भगवान्के मिलनकी चाह है उन्हें और समस्त इच्छाओंकी जड़ बिलकुल काट डालनी पड़ेगी। परन्तु वह जड़ बड़ी मजबूत है, केवल बातोंसे उसका कटना सम्भव नहीं, उसके काटनेके लिये वैराग्यरूपी दृढ़ शास्त्रकी आवश्यकता है। विषय-वैराग्य हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता। इसके लिये बड़े ही प्रयत्नकी आवश्यकता है। तनिकसे प्रयत्नमें घबरा जानेसे काम नहीं चलेगा। जब संसारके साधारण नाशवान् पदार्थोंको पानेके लिये मनुष्यको बहुत-से त्याग करने पड़ते हैं, तब अविनाशी परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो विनाशी वस्तुमात्रका त्याग कर देना आवश्यक है ही। ऐसा कौन-सा कष्ट है जो अपने इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको नहीं सहना चाहिये। जो थोड़ेमें ही घबरा उठते हैं, उनके लिये इस पथका पथिक बनना असम्भव है। यहाँ तो तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगा देनी पड़ती है। सब कुछ

न्योछावर कर देना पड़ता है उस प्रेमीके चारु-चरणोंपर! महात्मा श्रीकृष्णानन्दजी महाराज कहा करते थे—

एक धनी जमींदारका नौजवान लड़का किसी महात्माके पास जाया करता था, साधु-संगके प्रभावसे उसके मनमें कुछ वैराग्य पैदा हो गया, उसकी महात्मामें बड़ी श्रद्धा थी, वह प्रेमके साथ महात्माकी सेवा करता था। कुछ दिन बीतनेपर महात्माने कृपा करके उसे शिष्य बना लिया, अब वह बड़ी श्रद्धाके साथ गुरु महाराजकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। कुछ दिनतक तो उसने बड़े चावसे सारे काम किये, परन्तु आगे चलकर धीरे-धीरे उसका मन चंचल हो उठा, संस्कारवश पूर्वस्मृति जाग उठी और कई तरहकी चाहोंके चक्करमें पड़नेसे उसका चित्त डाँवाडोल हो गया। उसे महात्माके संगसे बहुत लाभ हुआ था, परन्तु इस समय कामनाकी जागृति होनेके कारण वह उस लाभको भूल गया और उसके मनमें विषाद छा गया। एक दिन वह दोपहरकी कड़ी धूपमें गंगाजलका घड़ा सिरपर रखकर ला रहा था, रास्तेमें उसने सोचा कि मैंने कितना साधु-संग किया, कितनी गुरु-सेवा की, कितने कष्ट सहे, परन्तु अभीतक कोई फल तो नहीं हुआ। कहीं यह साधु ढोंगी तो नहीं है? इतने दिन व्यर्थ खोये!*

यह विचारकर उसने घड़ा जमीनपर रख दिया और भागनेका विचार किया। गुरु महाराज बड़े ही महात्मा पुरुष थे और परम योगी थे। उन्होंने शिष्यके मनकी बात जानकर उसे चेतानेके लिये योगबलसे एक विचित्र कार्य किया। उनकी योगशक्तिसे मिट्टीके जड घड़ेमेंसे मनुष्यकी भाँति आवाज निकलने लगी। घड़ेने पुकारकर पूछा, 'भाई! तुम कहाँ जा रहे हो?' शिष्यने कहा, 'इतने दिन यहाँ रहकर सत्संग किया, परन्तु कुछ भी नहीं मिला, इससे इसे छोड़कर कहीं दूसरी जगह जा रहा हूँ।' घड़ेमेंसे फिर आवाज आयी, 'जरा ठहरो, मेरी कुछ बातें मन लगाकर सुन लो, मैं तुम्हें अपनी जीवनी सुनाता हूँ, उसे सुननेके बाद जाना उचित समझना तो चले जाना।' शिष्यके स्वीकार करनेपर घड़ा बोलने लगा—'देखो, मैं एक तालाबके किनारे मिट्टीके रूपमें पड़ा था, किसीकी भी कुछ भी बुराई नहीं करता था, एक जगह चुपचाप पड़ा रहता था, लोग आकर मेरे ऊपर मल-त्याग कर जाते, सियार-कुत्ते बिना बाधा पेशाब करते। मैं सभी कुछ सहता, मनका दुःख कभी किसीके सामने नहीं कहता। मेरा किसीके साथ कोई वैर नहीं था, तो भी न मालूम क्यों एक दिन कुम्हारने आकर मुझपर तीखी कुदालका वार किया, मेरे शरीरको जहाँ-तहाँसे काटकर अपने घर ले गया। वहाँ बड़ी ही निर्दयतासे मूसलोंकी मार-मारकर मेरा चकनाचूर कर डाला, पैरोंसे रौंदकर मेरी बड़ी ही दुर्दशा की। फिर वह एक चक्रमें डालकर मुझे घुमाने लगा, बड़ी मुश्किलसे जब घूमनेसे पिण्ड

* जो साधक थोड़ेमें ही बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त करनेकी आशा कर बैठता है उसके मनकी इस प्रकारकी दशा समय-समयपर हुआ करती है, यह साधनमें विघ्न है, ऐसे समय घबराकर साधनको छोड़ नहीं बैठना चाहिये। धीरता और दृढ़ताके साथ बिना उकताये साधन किये जाना ही साधकका कर्तव्य है, सच्चे साधकको तो यह विचारनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती कि मेरी उन्नति हो रही है या नहीं। जो हरिभजन और गुरुशुश्रूषाके बदलेमें उन्नति चाहता है और उन्नतिकी कामनासे ही हरिभजन और गुरुशुश्रूषा करता है, वह तो हरिभजन और गुरुशुश्रूषारूपी सहज धर्मको—प्रेमके परम कर्तव्यको उन्नतिके मूल्यपर बेचता है, वह सौदागर है, हरिभक्त और शिष्य नहीं। भक्त और शिष्यका तो केवल यही कर्तव्य है कि गुरूपदिष्ट मार्गसे निष्कामभावसे विशुद्ध प्रेमके साथ स्वाभाविक ही साधन करता रहे। मैं साधन कर रहा हूँ ऐसी भावना ही मनमें न आने दे। ऐसी भावनासे अपने अन्दर साधनपनका अभिमान उत्पन्न होगा और साधनके फलकी स्पृहा जाग्रत् हो उठेगी, ईश्वरेच्छासे इच्छित फल न मिलने या विपरीत परिणाम होनेपर उसके मनमें साधन और साधन बतलानेवाले सद्गुरुके प्रति शंका और अश्रद्धा हो जायगी, जिसका फल यह होगा कि वह साधनसे गिर जायगा। सच्चे साधकको फलकी चिन्ता ही न करनी चाहिये, फलकी बात भगवान् जाने, उसे फलसे कोई मतलब नहीं, अनुकूल हो तो हर्ष नहीं और प्रतिकूल हो तो शोक नहीं। भगवान् कहते हैं—

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।'

—जिस वस्तुको लोग प्रिय समझते हैं उसकी प्राप्तिमें तो वह हर्षित नहीं होता और जो वस्तु लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ही अप्रिय है, उसको पाकर वह दुःखित नहीं होता। वह तो जानता है केवल अनन्यभावसे भजन करना, उसे लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक, सिद्धि-असिद्धि और मोक्ष-बन्धनसे कोई लेन-देन नहीं। यदि भजन होता है तो वह सभी अवस्थाओंमें सदा परम सुखी है। उसके मनमें यदि कोई विपत्ति है, तो यही है कि जब किसी कारणवश प्रभुका स्मरण छूट जाता है—

'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'

—वह तभी भयानक मनःपीड़ासे छटपटाता है। जब उसे प्रियतमकी पलभरकी विस्मृति हो जाती है, तब—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

छूटा, तब मैंने सोचा कि अब तो इस विपत्तिसे छुटकारा होगा, परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। कुम्हारने कुछ देरतक पीटकर मुझे कड़ी धूपमें डाल दिया और फिर जलती हुई आगमें डालकर जलाने लगा। अन्तमें वह मुझे एक दूकानपर रख आया, मैंने समझा कि अब तो छूट ही जाऊँगा, लेकिन फिर भी नहीं छूट सका। वहाँ मुझे जो कोई भी लेने आता, ठोंककर बजाये बिना नहीं हटता, यों लोगोंकी थप्पड़ खाते-खाते मेरे नाकोंदम हो गया। इस प्रकार कितना ही काल बीतनेपर मैं इस साधुके आश्रममें पहुँच सका हूँ, यहाँ मुझे पवित्र गंगाजलको हृदयपर धारणकर भगवान्‌की सेवा करनेका मौका मिला है। इतने कष्ट, इतनी भयानक यातनाएँ भोगनेके बाद कहीं मैं परम प्रभुकी सेवामें लग सका हूँ। जीवनभर महान् दुःखोंकी चक्कीमें पिसनेपर ही आज विश्वनाथकी चरण-सेवाका साधन बनकर धन्य हो सका हूँ। भाई! उन्नतिके—यथार्थ उन्नतिके ऊँचे सिंहासनपर चढ़नेवालेको प्रथम बाधा-विघ्नजनित भयानक निराशाके थपेड़े, अटल, अचलरूपसे सहने पड़ते हैं, शून्यताके घोर जलशून्य मरुस्थलको स्थिर धीरभावसे लाँघकर आगे बढ़ना पड़ता है। इस अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर फिर कोई भय नहीं है। अतएव मेरे भाई! तुम निराश न होओ, जितना दुःख या कष्ट आये, जितनी ही अधिक निराशा, शून्यता, अभाव और अन्धकारकी काली-काली घटाएँ जीवनाकाशमें चारों ओर फैल जायँ, उतना ही तुम भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकोगे। यातनाकी अग्निशिखा जितनी ही अधिक धधकेगी, तुम उतने ही शान्ति-धामके समीप पहुँचोगे।' घड़ेके सदुपदेशसे शिष्यकी आँखें खुल गयीं, उसने अपनी पूर्वस्थितिके साथ वर्तमान स्थितिकी तुलना की तो उसे साधना और गुरुसेवाका प्रत्यक्ष महान् फल दिखायी दिया। वह घड़ेको उठाकर गुरुकी कुटियाको चल दिया और वहाँ पहुँचकर गुरुके चरणोंमें लोट गया।

इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि हमें यदि सत्, चित्, आनन्द, नित्य निरंजन परमात्माको प्राप्त करना है तो किसी भी विपत्ति और कष्टसे घबराना नहीं चाहिये। संसारी विपत्तियाँ और कष्ट तो इस मार्गमें पद-पदपर आयेंगे। वास्तवमें अपने मनसे सारे भोगोंका सर्वथा नाश ही कर देना पड़ेगा। विरागकी आगमें विषयोंकी पूर्णाहुति दे देनी पड़ेगी। भगवान् तो कहते हैं—

यस्तु मां भजते नित्यं वित्तं तस्य हराम्यहम्।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥
संतापेष्वेषु कौन्तेय यदि मां न परित्यजेत्।
ददामि स्वीयपदं च देवानामपि दुर्लभम्॥

'जो मेरा प्रेमसे भजन करता है, मैं उसके वित्तको (उसकी सम्पत्तिको) हर लेता हूँ (सम्पत्तिसे केवल रुपये ही नहीं समझने चाहिये, जिसका मन जिस वस्तुको सम्पत्ति समझता है वही उसकी सम्पत्ति है—जैसे लोभी धनको, कामी स्त्रीको और मानी मानको सम्पत्ति मानता है) और उसका भाइयोंसे, घरवालोंसे विच्छेद करवा देता हूँ, इससे वह बड़े ही दुःखसे जीवन काटता है। इतना सन्ताप प्राप्त होनेपर भी जो मेरा त्याग नहीं करता, प्रेमसे मेरा भजन करता ही रहता है, उसे मैं अपना देव-दुर्लभ परमपद प्रदान कर देता हूँ।' श्रीमद्भागवतमें एक दूसरी जगह भगवान् कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्भजते जनः॥
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते॥

(१०।८८।८—११)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके सारे धन (रत्न-धन, स्वर्ण-धन, गो-धन, कीर्ति-धन) आदिको शनैः-शनैः हर लेता हूँ, तब उस दुःखोंसे घिरे हुए निर्धन मनुष्यको उसके स्वजन लोग भी छोड़ देते हैं। यदि फिर भी वह घरवालोंके आग्रहसे धन कमानेका कोई उद्योग करता है तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग व्यर्थ हो जाते हैं। तब वह विरक्त होकर मत्परायण भक्तोंके साथ मैत्री करता है, तदनन्तर उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसे मुझ परमसूक्ष्म, सत्-चैतन्य-घन, अनन्त परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसीलिये लोग मेरी आराधनाको कठिन समझकर दूसरोंको भजते हैं और उन शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले दूसरोंसे राज्यलक्ष्मी पाकर उद्धत, मतवाले और असावधान होकर अपने उन वरदान देनेवालोंको भूलकर उन्हींका अपमान करने लगते हैं।'

इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिनके पास धन है, उनपर भगवत्‌की कृपा और उन्हें भगवत्प्राप्ति होती ही नहीं। अवश्य ही जबतक धनका अभिमान है और धनमें आसक्ति है, तबतक भगवत्कृपा और भगवत्प्राप्ति

नहीं होती। जिन्होंने अपना माना हुआ सर्वस्व भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दिया, जिनकी सारी अहंता-ममतापर भगवान्‌का अधिकार हो गया, वे अवश्य ही धन रहते हुए भी अकिंचन हैं, ऐसे धनी अकिंचनोंपर भगवान्‌की कृपा अवश्य ही है। त्याग मनसे ही होना चाहिये। परन्तु जो लोग मनसे त्याग नहीं करते, जिनके अहंकार और ममत्वकी बीमारी बहुत बढ़ी हुई होती है, उन्हींके लिये भगवान् कृपाकर उपर्युक्त दिव्यौषधिकी व्यवस्था कर उन्हें रोगसे छुड़ाते हैं।

अतएव भगवान्‌के विधान किये हुए प्रत्येक फलमें मनुष्यको आनन्दका अनुभव होना चाहिये। जो हमारे परम पिता हैं, परम सुहृद् हैं, परम सखा हैं, परम आत्मीय हैं, उनकी प्रेमभरी देनपर जो मनुष्य मन मैला करता है, वह प्रेमी कहाँ है, वह परमात्माकी प्राप्तिका साधक कहाँ है, वह तो भोगोंका गुलाम और कामका दास है। ऐसे मनुष्यको नित्य, परम सुखरूप समस्त अभावोंका सदाके लिये अभाव कर देनेवाले **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक कष्ट और विपत्तिको भगवान्‌के आशीर्वादके रूपमें आदरपूर्वक सिर चढ़ाना चाहिये और सब विषयोंसे मन हटाकर सच्ची लगनसे एक चित्तसे उस परम सुहृद् परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

हमलोग बहुत ही भूलमें हैं जो सर्वाधार भगवान्‌को छोड़कर बाह्य विनाशी वस्तुओंके पीछे भटक-भटककर अपना अमूल्य मानव-जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कामनाके इस दासत्वने—आठों पहरके भिखमंगेपनने हमें बहुत ही नीचाशय बना दिया है। हम बड़े ही अभिमानसे अपनेको 'महत्त्वाकांक्षा' वाला प्रसिद्ध करते हैं, परन्तु हमारी वह महत्त्वाकांक्षा होती है प्रायः उन्हीं पदार्थोंके लिये जो विनाशी और वियोगशील हैं। असत् और अनित्यकी आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा कदापि नहीं है। हमें उस अनन्त, महान्‌की आकांक्षा करनी चाहिये, जिसके संकल्पमात्रसे विश्व चराचरकी उत्पत्ति और लय होता है और जो सदा सबमें समाया हुआ है। जबतक मनुष्य उसे पानेकी इच्छा नहीं करता, तबतक उसकी सारी इच्छाएँ तुच्छ और नीच ही हैं। इन तुच्छ, नीच इच्छाओंके कारण ही हमें अनेक प्रकारकी याचनाओंका शिकार बनना पड़ता है। यदि किसी प्रकार भी हम अपनी इन इच्छाओंका दमन न कर सकें तो कम-से-कम हमें अपनी इन इच्छाओंकी पूर्ति चाहनी चाहिये—भक्तराज ध्रुवकी भाँति—उस परम सुहृद् एक परमात्मासे ही। माँगना ही है तो फिर उसीसे माँगना चाहिये, उसीका 'अर्थार्थी' भक्त बनना चाहिये, जिसके सामने इन्द्र, ब्रह्मा सभी हाथ पसारते हैं और जो अपने सामने हाथ पसारनेवालेको अपनाकर उसे बिना पूर्णताकी प्राप्ति कराये, बिना अपनी अनूप-रूप-माधुरी दिखाये कभी छोड़ना ही नहीं चाहता। परम भक्तवर गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोग सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सिरमौरहि॥
ताको कहाइ, कहै तुलसी, तूँ लजाहि न मागत कूकुर-कौरहि।
जानकी-जीवनको जनु ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि॥
जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सच्चा भिखारी

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सारा संसार भिखारी है, सदासे भिखारी है, कुछ परमात्माके प्रेम-पागलोंको छोड़कर संसारमें ऐसा कोई नहीं जिसे कुछ भी न चाहिये। कोई भी अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है, इसीलिये जीव सदासे भिक्षापरायण है; परन्तु उसकी भीखकी झोली कभी भरती नहीं। वह माँग-माँगकर जितना ही झोलीमें डालता है उतनी ही उसकी झोली खाली होती जाती है। अतएव उसका भिखारीपन कभी नहीं मिटता। कारण यही है कि वह माँगना नहीं जानता, वह उनसे माँगता है जो स्वयं भिखारी हैं या उन वस्तुओंको माँगता है जो सदा

अभावमयी हैं। इसलिये मित्रो! यदि माँगते-माँगते थक गये हो, अपमान सहते-सहते तुम्हारे प्राण व्याकुल हो उठे हों तो एक बार उस जानकीजीवन श्रीरामसे माँगकर देखो! प्रसिद्ध परमहंस स्वामी कृष्णानन्दजीने एक बार कहा था—

असली भिखारी जगत्में द्वार-द्वारपर तभीतक भटकता है, जबतक कि उसकी भीखकी झोली पूर्ण परमात्माके कृपाकणोंसे नहीं भर जाती। भीखके लिये ही भगवान्ने हमें अन्तःकरणरूपी भीखकी झोली दी है, परन्तु हम भीख माँगना नहीं जानते। इसीसे संसारके कीचड़से सने हुए घृणित चावलोंकी कनीसे ही झोली भर रहे हैं। जिस पवित्र अन्नसे अमृतपूर्ण भोजन बन सकता है, उसका तो एक कण भी हमें नहीं मिला। आओ भिखारी! एक बार कल्पतरुके नीचे खड़े हो मनचाही चीज माँग लो! सदाके लिये माँग लो! अपने रीते जीवन-कमण्डलुको अमृतरससे भर लो। 'माँ' 'माँ' पुकारकर, 'प्राणप्रिय प्रियतम' पुकारकर, 'जगत्-पति' के नामसे पुकारकर वाणी सफल कर लो! उस त्रिभुवन-मोहनरूपकी माधुरीधारासे नयनोंको धो डालो, दर्शनकी तृष्णा मिटा लो। अपने मन, प्राण और इन्द्रियसमूहके प्रत्येक परमाणुको सुधासिन्धुके बिन्दुपानसे मतवाला बना दो। माँग लो, इस मनुष्य-शरीरके रहते-रहते ही। फिर सूअर होकर माँगना न पड़े, वहाँ तो विष्ठाकी ही भीख मिलेगी। अरे मनुष्य! जल्दी करो, 'नीके दिन बीते जा रहे हैं।' मनुष्य-वृत्तियोंसे पूर्ण अन्तःकरणरूपी पात्रमें ही उस राजराजेश्वरसे मनकी वस्तु माँगकर सदाके लिये तृप्त हो जाओ! अपने इस पवित्र पात्रको उसके प्रसादसे भर लो। तुम्हारी अनन्तकालकी कमी और कामना सदाके लिये पूरी हो जायगी। अच्छे अवसरकी प्रतीक्षामें जन्मको न गँवाओ।

भिखारीपर ही भगवान्की कृपा हुआ करती है। दीनता ही भगवान्की कृपादृष्टिको आकर्षित करती है, अभाव ही भावशक्तिका आह्वान करता है। सर्वशून्य दरिद्रता ही दयाके पूर्ण प्रकाशका प्रधान कारण है। अतएव सच्चा भिखारी बन सकना दुर्दशाकी बात नहीं, किन्तु बड़े सौभाग्यका विषय है परन्तु प्रकृत भिक्षुक बनना बहुत ही कठिन है। ऐसा होनेके लिये अभिमानको भगा देना पड़ता है, अहंकारको चूर्ण कर देना पड़ता है। जिसका हृदय अभिमानसे भरा है वह क्या कभी यथार्थ अभावग्रस्त भिखारी बन सकता है? अभिमानसे अभिभूत हृदयमें क्या कभी दीनता टिक सकती है? महाप्रभु कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना॥

तृणकी अपेक्षा भी दीन और वृक्षके समान सहनशील बनकर भगवान्की सेवा करनी चाहिये। बड़ी कठिन बात है। इसीसे लोग इस पथपर नहीं चल सकते।

वास्तवमें भिखारी होना, नम्र बनना, निरभिमान होना जितना कठिन है, भगवान्को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। एक सच्ची घटना है। एक आधुनिक सभ्यताभिमानी बाबू साहब बीमार हुए, बहुत तरहसे इलाज करवाया गया, परन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक, वैद्यक, हकीमी आदि सभी तरहके इलाज हुए परन्तु रोग दूर नहीं हुआ। अन्तमें श्रद्धालु गृहिणीकी सलाहसे देवकार्य करना निश्चय हुआ। पण्डितजीने सूर्यकी उपासना बतलायी। कहा कि 'बाबूजी प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यनारायणको साष्टांग प्रणाम करके अर्घ्य दें।' बाबूने कहा, 'साष्टांग प्रणाम कैसा होता है, मैं नहीं जानता, आप दिखला दें।' पण्डितजीको तो अभ्यास था ही, उन्होंने पृथ्वीपर लेटकर साष्टांग प्रणामकी विधि बतला दी। इस प्रणामका ढंग देखकर बाबू बड़े असमंजसमें पड़ गये, परन्तु क्या करें, बड़े कष्टसे घुटने नीचे किये, माथा भी कुछ झुकाया परन्तु जमीनपर पड़नेकी कल्पना आते ही वे दुःखी हो गये। उन्होंने उठकर पण्डितजीसे कहा—'महाराज! बीमारी दूर हो या न हो, मुझसे ऐसा बेढंगा प्रणाम नहीं होगा।' सारांश यह कि, जिसके शरीर-मन-प्राण अभिमानके विषसे जर्जरित हैं, वह देवताके चरणोंमें अपना सिर क्यों झुकायेगा? जगत्में जो पार्थिव अभिमान फूट निकला है, महारुद्रके संहार-शूलका दर्शन किये बिना वह मुरझायेगा नहीं। ऐसे अभिमानका त्याग करना जितना कठिन है, भगवान्को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। जो चीज बहुत दूर होती है, उसीका मिलना कठिन होता है। भगवान् जगत्-प्रभु तो तुम्हारे निकटसे भी निकट देशमें रहते हैं, परन्तु वे तुम्हारे पास क्यों आवें? तुम तो स्वयं ही प्रभु (अहं) बन रहे हो। जगत्प्रभुके लिये तुमने जो हृदयासन बिछा रखा है, वह तो बहुत ही क्षुद्र है। इतने छोटे आसनपर वे और तुम दोनों एक साथ नहीं बैठ सकते।

इसीसे गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
'तुलसी' कबहुँ कि रहि सके, रबि रजनी इक ठाम॥

जहाँ श्रीराम रहते हैं, वहाँ काम या विषय-परायण 'अहम्' नहीं रह सकता और जहाँ यह काम निवास करता है, वहाँ राम नहीं रहते। सूर्य और रात्रि कभी एक साथ रह सकते हैं? अतएव 'मैं' और 'भगवान्' दोनों अन्धकार-प्रकाशकी भाँति एक साथ नहीं रह सकते। 'मैं' इस पदको हटाना पड़ेगा। तभी 'वे' यहाँ पधारकर विराजित हो सकेंगे। वे तो दुर्लभ नहीं हैं। साधक! झूठमूठ ही भगवान्‌को दुर्लभ बताकर उनपर कलंक क्यों लगाते हो? वे तुम्हारे हृदय-देशमें निवास करनेके लिये आते हैं, परन्तु दरवाजा बन्द पाकर लौट जाते हैं, तुम्हारे हृदय-कपाट खुले नहीं रहते, इसीसे ध्यानके समय श्रीराधाकृष्णकी मूर्ति-से वे तुम्हारे 'सामने' खड़े रहते हैं। यह कलंक असलमें हमारा है, उनका नहीं।

भीख ही ऐश्वर्य-शक्तिको बुलाती है। जो '**भिक्षायां नैव नैव च**' कहते हैं, वे भ्रमसे ऐसा कहते हैं। यथार्थ भिखारी बन जानेपर तो ऐश्वर्य-शक्ति दौड़ी हुई आकर उसका आश्रय लेती है। इसीसे तो जगद्धात्री अन्नपूर्णा राजराजेश्वरी भिक्षुकप्रवर महादेवकी गृहिणी बनी हैं। महापण्डित महाप्रभुने भिखारी बनकर ही—कन्था-कौपीन धारण करके ही—तर्काभिमान चूर्ण करके ही अमूल्य 'नीलकान्त-मणि' को प्राप्त किया था। यह भिक्षा ही उसके राज्यकी व्यवस्था है। पूर्ण दीन, पूर्ण निरभिमानी हुए बिना वह प्रियतम नहीं मिल सकता है। दीन बनकर यही समझना होगा कि 'मेरा' कुछ भी नहीं है—वही मेरा सर्वस्वधन है। 'मैं' कुछ भी नहीं हूँ, विराट्‌रूपसे विश्वमें एकमात्र वही विराजित है। वास्तवमें वही तो सबकी सत्ता (आत्मा)-रूपसे स्थित है। तुम और मैं (देहेन्द्रियादि जडपिण्ड) पीछेसे आकर उसको भगानेवाले कौन हैं? हमें इतना घमण्ड किस बातपर है? यह मनुष्यकी देह मिट्टीसे ही पैदा हुई है और एक दिन पुनः मिट्टी ही हो जायगी। फिर अभीसे मिट्टी क्यों नहीं बन जाते। भगवान्‌के सखा अर्जुनने मिट्टी होकर ही—दीन बनकर कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इसीलिये गीताका अमृतमय उपदेश देकर भगवान्‌ने उसके ज्ञानचक्षु खोल दिये। पूर्ण दीनतामय भावके सूक्ष्म सूत्रका अवलम्बन करके ही भावस्वरूप भगवान् प्रकट होते हैं। पापियोंके अत्याचारसे जब पृथ्वीपर दीनता छा जाती है, पुण्यका जब पूर्ण अभाव हो जाता है, तभी भगवान्‌का अवतार होता है। साठ हजार शिष्योंको साथ लेकर जिस समय ऋषि दुर्वासा वनमें पाण्डवोंकी कुटियापर पहुँचे, उस समय द्रौपदीके सूर्यप्रदत्त पात्रमें अन्नका एक कण भी नहीं था। उस पूर्ण अभावके समय—पूरी दीनताके कालमें—द्रौपदीने पूर्णरूप प्रभुको कातरस्वरसे पुकारकर कहा था—'हे द्वारकाधीश! इस कुसमयमें दर्शन दो! दीनबन्धो! विपत्तिके इस तीरहीन समुद्रमें तुम्हें देखकर कुछ भरोसा होगा।' द्रौपदीकी आर्त-प्रार्थना सुनकर जगत्-प्रभु स्थिर नहीं रह सके। ऐश्वर्यशालिनी रुक्मिणी और सत्यभामाको छोड़कर भिखारिणी दरिद्रा द्रौपदीकी ओर दौड़े। द्वारकाके अतुलनीय ऐश्वर्यस्तम्भको भेदकर अरण्यवासी पाण्डवोंकी पर्णकुटीरमें विभूतिस्वरूपकी प्रखर प्रभा प्रकाशित हो गयी। द्रौपदीने कहा, 'नाथ! क्या इतनी देर करके आना चाहिये?' भगवान् बोले, 'तुमने मुझको द्वारकाधीशके नामसे क्यों पुकारा था, प्राणेश्वर क्यों नहीं कहा? जानती नहीं हो, द्वारका यहाँसे कितनी दूर है? इसीसे आनेमें देर हुई है।'

जो हमारे प्राणोंके अन्दरकी प्रत्येक क्रियाको जानते हैं, उनके सामने माँगनेके लिये मुँह खोलना बुद्धिमानी नहीं है। भीखकी झोली बगलमें लेकर दरवाजेपर खड़े होते ही वे दया करते हैं। बस, हमें तो चुपचाप उनकी सेवा करनी चाहिये। हम दीन-हीन कंगाल हैं, द्वारपर पड़े रहना ही हमारा कर्तव्य है। उनका कर्तव्य वे जानते हैं, हमें उसके लिये क्यों चिन्ता करनी चाहिये? सेवकका दुःख-दर्द दूर करना चाहिये, इस बातको प्रभु स्वयं सोचेंगे, हमें तो मनमें भी कुछ नहीं कहना चाहिये। यही निष्काम भिखारीकी भाषा है। यथार्थ भिखारी तो प्रभुके दर्शन पानेके लिये ही व्याकुल रहता है। उनका दर्शन होनेपर माँगनेकी नौबत ही नहीं आती, सारे अभाव पहले ही मिट जाते हैं, समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। भिखारीकी घास-पातकी झोंपड़ी अमूल्य रत्नराशिसे भर जाती है। फिर माँगनेका मौका ही कहाँ रहता है? श्रीमद्भागवतमें कथा है—

सुदामा पण्डित लड़कपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे—दोनों मित्र एक ही गुरुजीके यहाँ साथ ही पढ़ा

करते थे। विद्या पढ़ लेनेपर दोनोंको अलग होना पड़ा। बहुत दिन बीत गये। परस्पर कभी मिलना नहीं हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके राजराजेश्वर हुए और गरीब सुदामा अपने गाँवमें भीख माँगकर काम चलाने लगे। सुदामाकी गृहस्थी बड़ी ही कठिनतासे चलती थी। एक दिन उनकी स्त्रीने कहा—'आप इतने बड़े पण्डित होकर भी कुछ कमाई नहीं करते। फिर इस विद्यासे क्या लाभ होगा?' सुदामा बोले, 'ब्राह्मणी! मेरी विद्या इतनी तुच्छ नहीं है कि मैं उसे केवल नगण्य धन कमानेमें लगाऊँ?' इसपर ब्राह्मणी बोली, 'अच्छी बात है आप इसे धन कमानेमें मत लगाइये! परन्तु आप कहा करते हैं 'श्रीकृष्ण मेरे बालमित्र हैं', सुना है वे इस समय द्वारकाके राजा हैं, उनसे मिलनेपर तो सहज ही आपको खूब धन मिल सकता है।' सुदामाने कहा, 'तुम तो खूब सलाह दे रही हो! भगवान्से मेरी मित्रता है, इसलिये क्या मैं उनसे धन माँगूँ? मुझसे ऐसा नहीं होगा। मैं भक्तिको इतनी छोटी चीज नहीं समझता, जो तुच्छ धनके बदलेमें उड़ा दी जाय! तुम पगली हो गयी हो इसीसे ऐसा कह रही हो।' ब्राह्मणी बोली, 'स्वामिन्! मैं कहाँ कहती हूँ कि आप उनके पास जाकर धन माँगें। मैं तो यही कहती हूँ, जब वे आपके बालसखा हैं, तब एक बार उनसे मिलनेमें क्या हानि है? आप उनसे कुछ भी माँगियेगा नहीं।' स्त्रीके बहुत समझाने-बुझानेपर सुदामाने सोचा कि चलो, इसी बहाने मित्रके दर्शन तो होंगे और वे वहाँसे चल पड़े। थोड़ेसे चिउड़ोंकी कनी पल्ले बाँध ली।

सुदामाजी द्वारकाजी पहुँचे। वहाँके बड़े-बड़े सोनेके महलोंको देखकर उनकी आँखें चौंधिया गयीं। श्रीकृष्णके महलपर पहुँचकर उन्होंने द्वारपालसे कहा कि, 'जाओ, अपने स्वामीसे कह दो कि आपके एक बालसखा मिलने आये हैं।' महलोंकी छटा देखकर गरीब ब्राह्मण सोचने लगा कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे भूल तो नहीं गये होंगे, परन्तु अन्तर्यामीसे कुछ भी छिपा नहीं था। उनको पता लग गया कि पुराने प्राणसखा सुदामा द्वारपर खड़े हैं। भगवान् पलंगपर लेट रहे थे, श्रीरुक्मिणीजी चरण-सेवा कर रही थीं। भगवान् चमककर उठे और दरवाजेपर खड़े हुए बाल-बन्धुको आदरके साथ अन्दर लिवा लानेके लिये दौड़े। पटरानियाँ भी पीछे-पीछे दौड़ीं।

साधक! तुम उनकी ओर एक पैर आगे बढ़ोगे तो वे तीन पैर बढ़ेंगे। उनकी अतुल दया ऐसी ही है। सखाको साथ लेकर भगवान् अन्तःपुरमें पधारे। पटरानियोंने मिलकर सुदामाके चरण धोये। उन्हें पलंगपर बिठाकर भगवान् स्वयं चमर डुलाने लगे। भगवान्ने प्रेमसे कहा, 'सखे! बहुत दिन बाद तुम मिले हो, मेरे लिये क्या लाये हो?' सुदामाने लज्जासे सिर नीचा कर लिया। इतने बड़े धनीको चिउड़ोंकी टूटी कनी देते सुदामाको बड़ा संकोच हुआ, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उनकी बगलसे पुटलिया छीन ली और लगे चिउड़ा फाँकने। भक्तके प्रेमभरे उपहारकी वे उपेक्षा क्यों करते? भगवान्ने एक मुट्ठी फाँककर ज्यों ही दूसरी हाथमें ली, त्यों ही भगवती रुक्मिणीजीने उन्हें रोक लिया। भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे। तदनन्तर वे बोले—भक्तमाल-रचयिता महाराजा श्रीरघुराजसिंहजी कहते हैं—

ऐसे सुनि प्यारी बचन, जदुनन्दन मुसकाइ।
मन्द मन्द बोले बचन, आनँद उर न समाइ॥
ब्रजमें यशोदा मैया मन्दिरमें माखन औ
मिश्री मही मोहन त्यों मोदक मलाई है।
खायो मैं अनेक बार तैसे मथुरामें आइ,
व्यंजन अनेक मोहि जननी जेंवाई है।
तैसे द्वारिकामें जदुवंशिन के गेह-गेह,
सहित सनेह पायो भोजन में लाई है।
रघुराज आजलों त्रिलोकहुमें मीत ऐसी,
राउर के चाउर ते पाई ना मिठाई है॥
खायो अनेकन यागन भागन मेवा रमा कर वागन दीठे,
देवसमाजके साधुसमाजके लेत निवेदन नाहि उबीठे।
मीत जु साँची कहौ रघुराज इते कस वै भये स्वाद ते सीठे,
पायो नहीं कतहूँ अस मैं जस राउर चाउर लागत मीठे॥

सुदामाके चिउड़ोंकी महिमा वर्णन करनेके बाद सभी सुदामाजीकी सेवामें लग गये। कुछ दिन मित्रके घर रहनेके बाद सुदामाने विदा माँगी। भगवान्ने संकोचसे अनुमति दे दी। ब्राह्मण खाली हाथों लौट चले। घरके पास पहुँचकर ब्राह्मणने देखा तो झोपड़ी नहीं है। वहाँ एक बड़ा सुन्दर महल बना हुआ है। ब्राह्मण सुदामाने सोचा, किसी राजाने जमीन छीनकर महल बनवा लिया होगा। ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई। फूसकी मड़ैया और पतिव्रता ब्राह्मणी भी गयी। इतनेमें सुदामा देखते हैं कि उनकी स्त्री महलके झरोखेमें खड़ी उन्हें पुकार रही है। ब्राह्मणने सोचा, दुष्ट राजाने ही स्त्रीको भी हर लिया है, पर वह बुला क्यों रही है?

ब्राह्मण डरकर दौड़े। बड़ी कठिनतासे नौकर उन्हें समझा-बुझाकर घरमें ले गये। गृहिणीने बहुत ही नम्रतासे चरणोंमें प्रणाम करके कहा, 'प्राणेश्वर! डरें नहीं! यह अतुल सम्पत्ति आपकी ही है, आपके मित्रने यह आपको भेंट की है।' सुदामा बोले, 'मैंने तो उनसे कुछ माँगा ही नहीं था।' ब्राह्मणीने कहा, 'आपने प्रत्यक्ष नहीं माँगा, इसीसे उन्होंने आपको प्रत्यक्षमें कुछ भी नहीं दिया।' अन्तर्यामी यों ही किया करते हैं। ब्राह्मणकी दोनों आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। प्राणसखाके प्रेमकी स्मृतिसे सुदामा भावावेशसे विह्वल हो गये।

जगत्! देख जाओ, आज इस कंगालके ऐश्वर्यको देख जाओ! जो कल राहका भिखारी था, वही आज रत्नसिंहासनपर आसीन है। देख जाओ! आज पर्णकुटीरमें त्रिभुवनव्यापिनी माधुरी छा रही है। संसार! तुम जिस भिखारीको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे, जिसको पद-दलित समझते थे, देख जाओ, आज वही भिखारी दीनताके रूपको भेदकर अखिल विश्वब्रह्माण्डमें वरणीय हो गया है।

भिखारी! जगत्की चुटकियोंकी ओर न देखो। जगत्के अपमानकी ओर दृष्टि मत डालो। विविध विपत्तियोंसे डरकर मत काँपो। तुम अपना काम अचल चित्तसे किये जाओ। जितने ही बाधा-विघ्न और संकट बढ़ेंगे, उतना ही यह समझो कि तुम्हें गोदमें लेनेके लिये जगज्जननीका हाथ तुम्हारी ओर बढ़ रहा है। स्नेहमयी माता पुत्रको गोद लेनेसे पहले अँगोछेसे उसके शरीरको रगड़-रगड़कर साफ करती है। साधक! इसी प्रकार जगज्जननी भी तुम्हें गोदमें लेनेसे पूर्व एक बार रगड़ेगी। इस रगड़से घबराना नहीं—डरना नहीं। यह समझना कि, इस वेदनासे तुम्हारी यम-वेदना विध्वंस हो गयी है। इस कष्टसे तुम्हारा सारा कष्ट नष्ट हो गया है, अतएव साधक! हताश न होना!

चोर-जार-शिखामणि

व्रजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपांगनानां च दुकूलचौरम्।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि॥

अहिमकरकरनिकरमृदुमुदितलक्ष्मी-
सरसतरसरसिरुहसदृशदृशि देवे।
व्रजयुवतिरतिकलहविजयिनिजलीला-
मदमुदितवदनशशिमधुरिमणि लीये॥

एक सज्जन पूछते हैं—'गोपालसहस्रनाम' में भगवान्का एक नाम 'चोर-जार-शिखामणि' आया है। चोरी और जारी दोनों ही अत्यन्त नीच वृत्तियाँ हैं। भगवान्के भक्तकी तो बात ही दूर, जब साधारण विवेकवान् पुरुष भी 'चोरी-जारी' से बचे रहते हैं, तब फिर भगवान्में चोरी-जारीका होना कैसे सम्भव है? और यदि उसमें चोरी-जारी नहीं है तो फिर उनको चोर-जारोंका मुकुटमणि कहना क्या उन्हें गालियाँ देना नहीं है? और यदि वास्तवमें भगवान्में चोरी-जारीका होना माना जा सकता है तो फिर वे भगवान् कैसे हुए और उनके आदर्शसे दुनियाके लोग डूबे बिना कैसे बचेंगे? मेरी समझसे बुरी नीयतसे किसीने उनका यह नाम रख दिया है। इस सम्बन्धमें आपका मत जानना चाहता हूँ।

इसके उत्तरमें अल्पमतिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। प्रश्नकर्ता महोदयको इससे कुछ सन्तोष हुआ तो अच्छी बात है। नहीं तो, इसी बहाने कुछ समय भगवच्चर्चामें बीतेगा और इस सुअवसरकी प्राप्तिके कारण प्रश्नकर्ता महोदय हैं, इसलिये मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

यह बात सर्वथा सत्य है कि 'चोरी' और 'जारी' बहुत ही नीच वृत्तियाँ हैं और ऐसी वृत्तियाँ जिन लोगोंमें हैं, वे कदापि विवेकवान् और सदाचारी नहीं हैं। भक्तमें ऐसे दुर्गुण रह ही नहीं सकते और भगवान्में तो इनकी कल्पना करना भी मूर्खताकी सीमा है। इतना होनेपर भी 'गोपालसहस्रनाम' में आया हुआ श्रीभगवान्का यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम न तो भगवान्को गाली देनेके लिये है और न किसीने बुरी नीयतसे ही इस नामको गढ़ लिया है। दृष्टिविशेषके अनुसार भगवान्में इस नामकी पूर्ण सार्थकता है और इसका रहस्य समझ लेनेपर फिर कोई शंका भी नहीं रहती।

सबसे पहले भगवान्का स्वरूप समझना चाहिये। स्वरूपभूत दिव्यगुणविशिष्ट भगवान्में लौकिक गुणोंका—जो प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणके विकार हैं—सर्वथा अभाव है, इसलिये वे निर्गुण हैं। भक्तोंके परम आदर्श, लोकसंग्रहके

आचार्य और विश्वके भरण-पोषणकर्ता, होनेसे वे समस्त सात्त्विक गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं, इसलिये वे अशेष सद्गुणालंकृत हैं और प्रकृतिके द्वारा अखिल जगत्-रूपमें इन्हींका प्रकाश होनेके कारण वे समस्त सदसद्गुणसम्पन्न हैं। भगवान् ही समस्त विश्वके निमित्त और उपादान कारण हैं। इस दृष्टिसे संसारके सभी भाव उन्हींसे उत्पन्न होते हैं,[१] सभी भावोंका सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। इतना होनेपर भी उनके स्व-स्वरूपमें कोई दोष नहीं आता। उनके द्वारा सब कुछ होनेपर भी वे किसीके बन्धनमें नहीं हैं।[२]

किसी दृष्टिविशेषके हेतुसे उन्हें यदि संसारसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि संसारमें जो कुछ है, सभी भगवान्का है; क्योंकि वे 'सर्वलोकमहेश्वर'[३] हैं और संसारमें जितने भी पुरुष हैं, सबके देहमें 'देही' या आत्मारूपसे वे ही स्वयं विराजित हैं।[४] इस दृष्टिसे समस्त संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वपर अधिकार करनेसे और समस्त स्त्रियोंके पति होनेसे भी उनपर न तो परधनापहरणका दोष आ सकता है और न औपपत्यका ही।

परन्तु यहाँ सर्वलोकमहेश्वर और विश्वात्मारूपमें स्थित भगवान्के सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है, यहाँ तो प्रश्नकर्ता महोदय विश्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वरसे भिन्न समझकर उन साकार-मंगलविग्रह भगवान्के सम्बन्धमें पूछते हैं, जो धर्मसंस्थापनार्थ ही धरातलपर अवतीर्ण होते हैं। उनका कहना है कि 'धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् क्या ऐसा कोई भी कार्य कर सकते हैं जो स्वरूपतः धर्मविरुद्ध हो और जिससे शुभ आदर्श नष्ट होनेके साथ ही धर्मस्थापनाके स्थानपर धर्मकी हानि होती हो।'

इसके उत्तरमें यों तो यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य ही है कि भगवान्पर माया-जगत्के धर्मका कोई बन्धन लागू नहीं पड़ता, वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ करते हैं, वही उनका धर्म है। और वे जो कुछ कहते हैं वही शास्त्र है। अवश्य ही उनकी क्रियाका अनुकरण करना हर एकके लिये न तो उचित है और न सम्भव ही है; क्योंकि भगवान्की क्रिया भगवान्के स्वधर्मानुकूल होती है। जीवमें भगवत्ता न होनेसे वह भगवान्के धर्मका आचरण नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण आग पी गये, वे वरुणलोकसे नन्दको ले आये, यमराजके यहाँसे गुरुपुत्रको लौटा लाये, उन्होंने दिनमें ही सूर्यको छिपा दिया, बाललीलामें कनिष्ठिका अँगुलीपर पहाड़ उठा लिया और अपने चरित्रोंसे ब्रह्माको भी मोहित कर दिया। जीव इनमेंसे कोई-सा भी कार्य नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान्की क्रियाका अनुसरण भी मनुष्य नहीं कर सकता। हाँ, उनकी वाणीका—उनके उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये और इसीमें जीवोंका कल्याण है!

ऐसा होनेपर भी साकार-मंगलविग्रह भगवान्की लीलामें वस्तुतः ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जो शास्त्रविरुद्ध हो या जिसे हम चोरी-जारी या किसी पापकी श्रेणीमें रख सकते हों। मोहवश मूढ़ लोग उनके स्वरूपको न समझनेके कारण ही उनकी क्रियाओंपर दोषारोपण कर बैठते हैं।[५] तब फिर इस 'चोरी-जारी' का क्या अर्थ है? अब इसीपर संक्षेपमें विचार करना है। यों तो वेदोंमें भी भगवान्को **'स्तेनानां पतये नमः'** चोरोंके सरदार कहकर प्रणाम किया गया है। भगवान् श्रीरामको भी प्राचीन सद्ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामस्वरूपके अनुभवी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ***'लोचन सुखद विश्व-चितचोरा'*** कहा है। परन्तु प्रधानरूपसे यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम भगवान् श्रीकृष्णके लिये ही

१- ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि ....॥ (गीता ७।१२)
अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, सबको तू मुझसे ही (उत्पन्न) जान।

२- न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। (गीता ९।९)
अर्थात् हे अर्जुन! वे कर्म मुझको नहीं बाँधते।

३- सर्वलोकमहेश्वरम्। (गीता ५।२९)

४- अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गीता १०।२०)
अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ।

५- अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (गीता ९।११)
'सब भूतोंके महेश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ मनुष्य ही मानव-शरीरधारी मुझ भगवान्को न पहचानकर मुझे तुच्छ समझते हैं।'

प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भागवतके अनुसार यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**। गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे बारम्बार अपनेको साक्षात् सर्वाधिपति सच्चिदानन्दघन परात्पर तत्त्व घोषित किया है और इन भगवान्का, 'चोर-जार-शिखामणि' नाम रखा गया है उन व्रजगोपियोंके द्वारा, जिनके चरणोंकी पावन धूलि पानेके लिये देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव तिर्यगादि योनि और लता-गुल्मादि जड शरीर धारण करनेमें भी अपना सौभाग्य समझते हैं[१] और स्वयं भगवान् जिनका अपनेको ऋणी घोषित करते हैं।[२]

गोपियोंके घर माखन खाकर और यमुनातटपर उनके वस्त्रोंको कदम्बपर रखकर भगवान् श्रीकृष्ण 'चोर' कहलाये और शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको गोपियोंमें आत्मरमणकर भगवान् 'जार' कहलाये। परन्तु इस माखन-चोरी, चीर-चोरी और रास-रमणके प्रेमराज्य-सम्बन्धी रहस्यका किंचित् भी तत्त्व समझमें आ जाय तो फिर यह बात भलीभाँति जान ली जाती है कि न तो यह 'चोरी' वस्तुतः चोरी ही है और न वह 'रमण' कोई परस्त्रीसंगरूप व्यभिचार ही है।

शब्दोंको लेकर झगड़नेकी बात तो दूसरी है। तत्त्वज्ञ लोग शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया करते, वे प्रसंगानुकूल उनके अर्थोंपर ध्यान देते हैं। वेदोंमें और गीतामें भी अच्छे भावोंमें 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है। भगवान् स्वयं एकसे अनेक होनेकी 'कामना' करते हैं।[३] धर्मसे अविरुद्ध 'काम' को वे अपना स्वरूप बतलाते हैं।[४] गोपियोंके दिव्य प्रेमको शास्त्रमें 'काम' कहा गया है।[५] श्रुतियोंमें और गीतामें 'रति' शब्द आता है।[६] गीतामें 'रमन्ति' शब्द भी आया है।[७] परन्तु इन सबका अर्थ ही दूसरा है। एक 'जन्म' शब्दको ही लीजिये।[८] गीतामें भगवान्के लिये 'जन्म' शब्द आता है। भगवान् अजन्मा हैं परन्तु वे स्वयं अर्जुनसे कहते

१-तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—'भगवन्! मुझे इस धरातलपर व्रजमें विशेषतः गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि मिल जाय जिससे मैं गोकुलवासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, जिन गोकुलवासियोंका जीवन आप भगवान् मुकुन्दके परायण है, जिनकी चरण-रजको अनादिकालसे अबतक श्रुति खोज रही है [परन्तु पाती नहीं)।'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६२)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥ (श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

श्रीउद्धवजी कहते हैं—

'अहो! इन गोपियोंकी चरण-रजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ हो जाऊँ; (जिससे उन गोपियोंकी चरण-रज मुझे भी प्राप्त हो) क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेयोग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको प्राप्त किया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं। मैं उन श्रीनन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरण-रेणुको बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनका भगवान्की लीला-कथाओंका पान त्रिभुवनको पवित्र करता है।'

२- न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥ (श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रियाओ! तुमने घरकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इसी साधुकार्यका बदला मैं देवताओंकी आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम अपनी ही उदारतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर सकती हो।'

३-'सोऽकामयत्' (तैत्तिरीय० २। ६)

४-'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!' (गीता ७। ११)
अर्थात् हे अर्जुन! धर्मसे अविरुद्ध 'काम' मैं हूँ।

५-'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्।'

६-'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।' (मुण्डक० ३। १। ४)
'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (गीता ३। १७)

७-'तुष्यन्ति च रमन्ति च' (गीता १०।९)

८-'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि······ ' (गीता ४।५)
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (गीता ४। ९)

हैं, मेरे कई जन्म हो चुके हैं साथ ही यह भी कहते हैं कि मेरे जन्मके तत्त्वको जाननेवाला 'जन्म' से छूट जाता है। जरा सोचना चाहिये, जिसके 'जन्म' के तत्त्वको जाननेवाला जन्मसे छूट जाता है, उसका जन्म क्या उसी जातिका जन्म है, जिस जातिका उस जन्मसे छूटनेवाले साधारण मनुष्यका जन्म होता है? वह अजन्माका जन्म है। दिव्य जन्म है। जन्म होनेपर भी वस्तुतः वह जन्म नहीं है। इसी प्रकार भगवान्‌का 'काम' उनकी 'चोरी', उनकी 'जारी', उनकी 'रति', उनका 'रमण' आदि सभी दिव्य हैं। जिन भगवान्‌का अनन्य भजन करनेवाले मनुष्य गुणातीत हो जाते हैं, उन नित्य निर्गुण भगवान्‌में बहिरंगा प्रकृतिके मलिन विकाररूप दुर्गुणोंकी कल्पना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

तब फिर ये क्या हैं? ये हैं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता दिव्य लीलाएँ, जो दिव्य व्रजधाममें, दिव्य व्रजवासियों और दिव्य व्रजबालाओंके साथ दिव्य देहमें दिव्यरूपसे होती हैं। इनमें न प्राकृत चोरी है, न प्राकृत रमण है और न प्राकृत देह है। अधिक क्या, वहाँकी प्रकृति ही प्राकृत नहीं है। इसीलिये यह रहस्य हमारी प्राकृत बुद्धिके ध्यानमें नहीं आता। हमारी बुद्धि बहिरंगा प्रकृतिके कार्यरूप समष्टिबुद्धिका एक अत्यन्त स्थूल रूप है, जो स्वयं प्रकृतिसम्भूत अज्ञानसे इतनी आच्छादित है कि अपने कारणरूप बहिरंगा प्रकृतिका भी रहस्य नहीं जान सकती, फिर इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत दिव्यराज्यके खेलको यह बुद्धि कैसे समझ सकती है? इसीलिये ऐसे शब्दोंको पढ़-सुनकर हमारी बुद्धिमें मोह होता है और हम श्रीभगवान्‌को अपने ही सरीखे प्राकृत शरीरधारी मनुष्य मानकर और उनकी दिव्य लीलाओंको प्राकृत मनुष्योचित लौकिक क्रिया समझकर उनपर दोषारोपणकर, मोहवश उनका अनुकरण करने जाकर या पापबुद्धिकी प्रेरणासे उनकी दिव्य लीलाओंकी आड़में अपने पापका समर्थन करनेकी चेष्टा कर घोर नरककुण्डमें गिर पड़ते हैं! यह हमारा ही अज्ञान है। अप्राकृत भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंका रहस्य अप्राकृत स्थितिमें पहुँचनेपर ही कोई जान सकता है। इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् ही पराभक्तिके द्वारा अपने स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है।* यह दुर्लभ स्थिति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। इस स्थितिमें पहुँचनेपर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका जो यथार्थ प्रत्यक्ष होता है, वे मन-वाणीके अगोचर भगवत्स्वरूपमय होती हैं, उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

हाँ, प्रेमराज्यके बाह्य स्तरकी कुछ स्थूल बातें, जो भगवत्कृपासे शुद्धान्तःकरणवाले पुरुषोंकी समझमें किसी अंशमें आ सकती हैं, उन्हींपर विचार किया जा सकता है और उनके अनुसार गोपियोंके घरमें दधि-माखनकी चोरीलीलाको हम भगवान्‌की 'भक्तपूजा-ग्रहण-लीला', वस्त्रचोरीको 'आवरण-हरण-लीला' और रास-रमणको अत्यन्त गोपनीय 'प्रेम-मिलन-लीला' कह सकते हैं।

भला, क्या कोई कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने किसी दिन भी किसी ऐसी गोपीके घरमें घुसकर माखन चुराया था जो उस माखनको अपनी चीज समझती थी और जो भगवान्‌के द्वारा उसके चुरा लिये जानेपर दुःखी होती थी? श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णभावित-मति गोपिकाओंका तन-मन-धन सभी कुछ श्यामसुन्दर प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी

अर्थात् 'अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इसको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको ही पाता है।'

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। (गीता १८। ५४-५५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी आकांक्षा करता है, वह सब भूतोंमें समभावसे ब्रह्मको देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मेरे स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपमें जानता है!'

देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखा करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपिका यह अभिलाषा करती थी कि 'मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छींकेपर रखूँ जितनेपर श्रीकृष्णका हाथ आसानीसे पहुँच सके; फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ।' रातभर गोपी इसी विचारमें रहती। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही बिलोकर माखन निकालकर छींकेपर रखती। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये वह सब कामोंको छोड़कर सबसे पहले दही बिलोती और छींकेपर माखन रखनेके बाद श्रीकृष्णकी प्रतीक्षामें व्याकुल हुई मन-ही-मन सोचती—'हा! आज प्राणधन क्यों नहीं आये, इतना विलम्ब क्यों हो गया! क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी न करेंगे?' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लज्जा छोड़कर राहकी ओर ताकती। 'श्यामसुन्दर आ रहे हैं या नहीं'—सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान बीतता। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक रूपोंमें एक ही साथ ऐसी प्रत्येक गोपीके घर पधारकर भोग लगातेको सुखी देखकर सुखी होते और अपने सुखसे भक्तके सुखको अनन्तगुना बढ़ा देते!

अब आप ही बतलाइये, क्या इसका नाम चोरी है? जिस चोरीको स्मृतियोंमें अपराध माना गया है, दूसरेके धनपर मन ललचानेवाले कामनाके गुलाम विषयासक्त पामर प्राणी जिस घृणित चोरीको अपना पेशा मानते हैं, क्या उस चोरीसे इस चोरीकी किसी अंशमें भी तुलना हो सकती है? बड़े पुण्य-बलसे अनन्त जन्मोंके अनन्त सुकृतोंके फलस्वरूप भगवच्चरणोंमें मनुष्यकी मति होती है और उस निर्मल मतिसे साधना करते-करते भगवत्कृपासे कभी किसी भक्ति-विशेषके द्वारा ही भगवान्‌के प्रति सर्वस्व समर्पित होता है, तब कहीं गोपिकाओंके इस महान् आदर्शकी कोई छाया उसमें आती है। फिर स्वरूपभूता गोपिकाओंके साथ भगवान्‌की इस प्रेमलीलाको मामूली चोरी समझना बुद्धिभ्रमके सिवा और क्या हो सकता है?

दूसरी चोरी भगवान् श्रीकृष्णने यमुना-तटपर उन महाभाग्यवती गोपकुमारियोंके वस्त्रोंकी की, जो कात्यायनी देवीकी साधना करके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णको प्राणनाथ रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। गोपियोंका भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना करना भी प्रेमराज्यकी एक लीला ही थी। स्वरूपभूता गोपिकाओंको श्रीकृष्ण कब अप्राप्त थे? प्रेमका मार्ग दिखलानेके लिये—प्रेमराज्यमें प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, कितने त्यागकी इसमें आवश्यकता है, इसीका दिग्दर्शन करानेके लिये ये सब लीलाएँ थीं! जिस प्रेमराज्यकी माधुरी भक्तोंको चखानेके लिये साक्षात् रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णने दिव्य परिकर और अपने दिव्यधामसहित अवतीर्ण होकर व्रजमें मधुर प्रेमलीलाएँ की थीं, उन्हींमें वस्त्रहरण भी एक अनोखी लीला थी। यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे निकलकर दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश किये बिना आनन्दसिन्धु रसराज श्रीकृष्णकी इस लीलाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता। विषयमोहसे आवृत लौकिक दृष्टिसे तो भगवान्‌की इस दिव्य लीलामें दोष ही दिखलायी देगा और ऐसे लोगोंके लिये इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि 'श्रीकृष्ण उस समय छः वर्षके बहुत छोटे बालक थे। किसी बुरी नीयतसे गोपियोंके वस्त्रोंको चुराना उनके लिये बन ही नहीं सकता अथवा श्रीकृष्णने नदीमें नंगी होकर नहानेकी कुप्रथाको दूर करनेके लिये ऐसा किया था और इसीलिये उनसे कहा भी कि वस्त्रहीन होकर नहानेमें देवताओंका अपमान होता है;* ऐसा नहीं करना चाहिये। परन्तु प्रेममार्गके साधक भक्तोंके लिये यही बात नहीं है। उनके लिये तो भगवान् सर्वत्यागका सारे आवरणोंको हटाकर अपने सामने आनेका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते

* 'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।' (श्रीमद्भा० १०। २२। १९)

हैं। भगवत्-तत्त्वके ज्ञानमें—मल और विक्षेपरूपी दो बड़े प्रतिबन्धकोंके नाश होनेपर भी—जबतक आवरण रहता है, तबतक बहुत बड़ी बाधा वर्तमान रहती है। आवरणका नाश सहजमें नहीं होता। अज्ञान इस सुकौशलसे जीवकी बुद्धिको ढके रखता है कि वह किसी तरह भी भगवान्के सामने निरावरण—बेपर्द होकर जानेकी अनुमति नहीं देती! इस वस्त्र-हरणकी लीलामें भक्तके बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकारके आवरण नष्ट हो जानेका तत्त्व निहित है। आनन्द-सौन्दर्य-सुधा-निधि रसराजका चिदानन्द-रसमय रूप ही ऐसा मधुर है कि उसके सामने आनेपर किसी प्रकारकी सुधि नहीं रहती। देह-गेह, लज्जा-संकोच, मान-अपमान, अपना-पराया, लोक-परलोक—सभी कुछ उस अनुपम रूपसरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं। फिर बाह्य वस्त्रोंके आवरणकी तो बात ही क्या है? गोपियोंमें बाह्याभ्यन्तर भगवान्के साथ कोई आवरण था—यह बात नहीं है। जिन श्रीकृष्णके एक बार सच्चे हृदयसे स्मरणमात्र करनेसे मायाके समस्त बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं, अज्ञानका मोटा पर्दा हमेशाके लिये फट जाता है, उन भगवान्का साक्षात् संग प्राप्त करनेवाली—उनके तत्त्वका नित्य अनुभव करनेवाली—उनकी दिव्य प्रेमलीलाओंमें सहायता करनेके लिये ही, उन्हींकी इच्छासे प्रकट होनेवाली उन्हींकी अपनी स्वरूपभूता दिव्य शक्तिसे विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकट हुई गोपिकाओंमें किसी आवरणकी कल्पना करना तो भगवदपराध ही है। गोपिकाओंकी और भगवान्की ये लीलाएँ तो प्रेममार्गीय भक्तोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिकारूपमें हुई हैं! जिस प्रेमके प्राकट्यमें तन-मनकी कुछ भी सुधि नहीं रहनी चाहिये, जिस प्रेमके दिव्य देशमें प्रेमास्पदके सामने उसकी प्राप्तिमें व्यवधानरूप या प्रेममें कलंकरूप कोई भी आवरण नहीं रहना चाहिये, उस प्रेममें गोपिकाओंको आवरणरहित बनानेकी चेष्टामें भगवान्का वस्त्र-हरण-लीला करना कैसे दूषित हो सकता है? जब साधारण लौकिक प्रेममें भी प्रेमी और प्रेमास्पदमें किसी आवरणकी गुंजाइश नहीं, तब एक ही भगवान्के द्विविधरूप रसराज और महाभावके पूर्ण मिलनमें वस्त्रावरणकी बाधा कैसे रह सकती है? प्रेमसाम्राज्यके सम्राट्, प्रेमतत्त्वके मूलाधार दिव्यप्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने कौन पर्देमें रह सकता है? अणु-अणुमें व्यापक विभु परमात्मा श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अंग कैसे छिपाकर रखा जा सकता है? मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश अन्तर्यामीको न पहचानकर ही उनसे छिपने-छिपानेकी व्यर्थ चेष्टा किया करता है। परन्तु भक्त अपने आपेको उन्हींकी चीज मानकर उनके सामने खोल देता है और जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें उसे किसी कारणसे संकोच होता है, वहाँ भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसको निरावरण कर अपने और उसके बीचके व्यवधानको पूर्णतया दूर करके दृढ़ आलिंगनके साथ उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबोकर रसमय बनानेके उद्देश्यसे जबरदस्ती उसके आवरणको हर लेते हैं। यही वस्त्रहरणलीलाका स्थूल रहस्य है। क्या इस लीलामें किसी भी समझदार पुरुषको बुरी नीयतका सन्देह हो सकता है? क्या इस आवरण-भंगलीलाको कोई विज्ञ पुरुष चोरी कह सकते हैं?

भगवान् तो इतना ही नहीं करते, वे सबसे पहले तो भक्तके मनको चुरा लेनेका प्रयत्न करते हैं और जो भक्त भगवान्को अपना मन देना चाहता है, अन्तमें उस मनको वे चुरा ही लेते हैं! जिसका मन चोरी गया वह फिर उस मनचोरसे अलग कैसे हो सकता है? इसीलिये गोपियोंकी लीलामें गोपियोंका श्रीकृष्णमें निरन्तर निवास दिखलाया जाता है। भक्तराज लीलाशुक चोरशिरोमणि बालकृष्णके लिये कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको! उस पथसे न जाना, वह गली बड़ी भयानक है। वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रखे जो तमालके तुल्य नीलवर्णका एक दिगम्बर बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रको ही अवधूत है, असलमें तो वह अपने समीपसे निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता।' धन्य है इस चोरको और इसकी चित्तहरनी चोरीको!

अबतक तो चोरीके महत्त्वपर विचार हुआ, अब जारके अर्थपर कुछ विचार करना है। यह बात तो पहले कही ही जा चुकी है कि सब जीवोंके आत्मा होनेके कारण भगवान्में कभी औपपत्यकी—जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती; परन्तु यहाँ साकार दिव्य मंगल-विग्रह भगवान्को जो 'जारशिखामणि' कहा गया—इसीपर

विचार करना है। भगवत्सम्बन्धी रसोंमें प्रधान रस पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) माधुर्य। इन पाँच रसोंका प्रयोग लौकिक प्रेममें भी होता है, परन्तु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे ये पाँचों रस भक्तिके या भगवत्-प्रेमके उत्तरोत्तर बढ़े हुए पाँच भाव बन जाते हैं। इन पाँचोंमें सबसे ऊँचा रस है—माधुर्य। माधुर्यमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारों ही रहते हैं। यह रस प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप होनेसे अत्यन्त ही स्वादु है। इस रसके रसिकलोग भोग-मोक्ष सबको तृणवत् त्यागकर भगवत्प्रेममें मतवाले रहते हैं। इसीसे इसका नाम मधुर है। शान्तरसमें शुद्धान्तःकरणकी भगवदभिमुखी वृत्तिका विकासमात्र होता है। दास्यमें भगवत्सेवाका तो अधिकार है, परन्तु भगवान् इसमें ऐश्वर्यशाली हैं, स्वामी हैं, सेव्य हैं और भक्त दीन है, दास है और सेवक है। इसमें कुछ अलगाव-सा है; भय और संकोच-सा है। परन्तु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निकटतम निजजन होते चले जाते हैं। सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट-सा और प्रेम प्रकट-सा रहता है। वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी कभी-कभी छाया-सी आती है—भक्तमें स्नेहका विकास रहता है और माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर—अपनी विभूतिको मिटाकर प्रियतम कान्तरूपमें भक्तके सामने प्रकट रहते हैं। इस रसमें न प्रार्थना है, न कामना है, न भय है और न संकोच है। समयविशेषपर प्रसंगानुकूल व्यवहारमें पूर्वोक्त चारों रसोंके दर्शन होनेपर भी प्रधान रस मधुर ही रहता है। प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतमका हूँ; उसका सब कुछ मेरा है और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोड़कर और कुछ है ही नहीं। इस रसमें भगवान्‌की जो सेवा होती है वह मालिककी नहीं, प्रियतमकी होती है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही प्रेमीको अपार सुख है, इसलिये सेवा भी अपार ही होती है। इस माधुर्यभावमें दो प्रकार हैं—स्वकीया और परकीया। अपनी स्त्रीके साथ विवाहित पतिका जो प्रेम होता है उसे स्वकीयाभाव कहते हैं और अन्य स्त्रीके साथ जो परपुरुषका प्रेमसम्बन्ध होता है उसे परकीयाभाव कहते हैं। लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुखकी प्रधानता होनेके कारण परकीयाभाव पाप है, घृणित है और नरकका कारण है; अतएव सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि लौकिक परकीयाभावमें अंग-संगकी घृणित कामना है और प्रेमास्पद 'जार' पुरुष है, परन्तु भगवत्प्रेमके दिव्य कान्ताभावमें परकीयाभाव स्वकीयाभावसे कहीं श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें अंग-संगकी या इन्द्रियसुखकी कोई आकांक्षा नहीं है और प्रेमास्पद 'जार' नहीं, परन्तु पति-पुत्रोंके, अपने और समस्त विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् हैं। स्वकीयाभावमें भी पतिव्रता पत्नी अपना नाम-गोत्र, मन-प्राण, धन-धर्म, लोक-परलोक—सभी कुछ पतिके अर्पणकर जीवनका प्रत्येक क्षण पतिकी सेवामें ही बिताती है, परन्तु उसमें चार बातोंकी परकीयाकी अपेक्षा कमी होती है। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी अत्यन्त उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा, प्रियतममें किसी भी दोषका न दीखना और कुछ भी न चाहना—ये चार बातें निरन्तर एक साथ निवास होनेके कारण स्वकीयामें नहीं होतीं, इसीलिये परकीयाभाव श्रेष्ठ है। भगवान्‌से नित्यमिलनका अभाव न होनेपर भी परकीयाभावकी प्रधानताके कारण गोपियोंको भगवान्‌का क्षणभरका अदर्शन भी असह्य होता था।[१] वे हर एक काम करते समय निरन्तर श्रीकृष्णका चिन्तन करती थीं[२] और श्रीकृष्णकी प्रत्येक क्रिया उन्हें ऐसी दिव्य गुणमयी दीखती थी कि क्षणभरके लिये भी उनसे उनका चित्त हटाये नहीं हटता था। अवश्य ही यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह परकीयाभाव केवल व्रजमें अर्थात् लौकिक विषयवासनासे सर्वथा विमुक्त

१-अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

गोपियाँ कहती हैं—'श्यामसुन्दर! जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर शामको जब वनसे लौटते समय हम घुँघराली अलकावलियोंसे सुशोभित आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होते हैं (क्योंकि पलक पड़ना हमें सहन नहीं होता)।'

२- या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए शिशुओंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू लगाते समय प्रेमभरे हृदयसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुण-गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

दिव्य प्रेमराज्यमें ही सम्भव है! इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीयाभावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहिं वास॥

सर्वोच्च मधुर रसके उच्चतम परकीयाभावका उल्लास व्रजको अर्थात् दिव्य प्रेमराज्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसलिये इस प्रेमराज्यके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्ण व्रजको छोड़कर इस रूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

गोपियोंका श्रीकृष्णप्रेम इस परकीयाभावका था। इसीसे उनके लिये '**जारबुद्ध्यापि संगताः**' कहा गया है।' जारबुद्धि अर्थात् जारभाव था, न कि विषय-वासनायुक्त कामप्रेरित घृणित मनोविकार!

भगवान्‌की अन्तरंगा शक्तियोंमें 'ह्लादिनी शक्ति' सर्वप्रधान है। यही भगवान्‌की 'स्वा प्रकृति', 'आत्ममाया' या योगमाया है। भगवान्‌का रसराजरूपमें प्राकट्य इसी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे हुआ है। वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्‌के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है, दिव्य लीलामें स्वयं भगवान् ही अपने सौन्दर्य और माधुर्यका दिव्य रसास्वादन करनेके लिये ह्लादिनी शक्तिसे महाभावरूपिणी श्रीराधाके रूपमें प्रकट होते हैं और उसीसे विभिन्न लीलाओंके लिये असंख्य शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं, जो रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधाकी प्रेमलीलामें श्रीराधाकी सहचरी होकर रहती हैं। श्रीराधा-कृष्णके प्रेममिलनमें इन सबका संयोग रहता है और यही श्रीगोपियाँ हैं। इन गोपियोंका दिव्य वंशीध्वनिसे शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको भगवान् आवाहन करते हैं। भगवान्‌के आवाहनको सुनकर भला किससे रहा जा सकता है? जिन गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिया है वे '**कृष्णगृहीतमानसाः**' गोपियाँ उस दिव्य अनंगवर्धन वंशीसंगीतको सुनकर—जो जिस अवस्थामें थीं—उसी अवस्थामें प्रियतमसे मिलनेके लिये भाग निकलती हैं; परन्तु स्थूल देहसे नहीं। उनका वह देह तो वहीं रह जाता है जिसको प्रत्येक गोप अपने पास सोया हुआ देखता है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)

अर्थात् व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पासमें ही सोयी हुई देखा।

ये सब जाती हैं दिव्य भावदेहसे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे परे केवल व्रजप्रेमलीलाके सम्पादनार्थ ही प्रकट हुआ था और उन्हीं दिव्य भावदेहोंमें सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, दिव्य, चिदानन्दमय मंगलविग्रह भगवान् योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा करते हैं और प्रत्येक भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपीके साथ एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर रासक्रीडा करते और आत्मारामरूपसे रमण करते हैं। वह रमण किस प्रकारका होता है। इसपर मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। १७)

'जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकारसे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया।' यह है संक्षेपमें भगवान्‌के जाररूपकी स्थूल व्याख्या! भला, इस दिव्य प्रेमलीलाको—परमात्माकी और जीवात्माकी या भगवान् और भक्तकी इस आदरणीय मिलनलीलाको कोई व्यभिचार कह सकता है?

केवल दही, माखन और वस्त्र ही नहीं, समस्त गोपियोंके सम्पूर्ण मन-प्राणको चुरा लेनेके कारण और एक-दोके साथ नहीं किन्तु असंख्य देहोंमें, असंख्य आत्मारूपसे निवास करनेवाले परमात्माके खेलकी भाँति, अगणित चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्मरमण करनेके कारण रसानुभूतिको प्राप्त भाग्यवती गोपियोंने डंकेकी चोट भगवान् श्रीकृष्णको 'चोर-जार-शिखामणि' कहा और ठीक ही कहा!!

अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने भगवान्‌की इस दिव्यलीलाको लौकिक चोरी-जारी मानकर इसका दुरुपयोग किया और अब भी कर रहे हैं, परन्तु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्‌के दिव्यभावमें कोई अन्तर पड़ सकता है और न गोपियोंका ही कुछ बिगड़ सकता है! हाँ, बुरी नीयतसे कवितामें, भावोंमें, आचरणमें, उपदेशमें और समझनेमें इसका दुरुपयोग करनेवाले नर-नारी अवश्य ही पापके भागी और नरकगामी होते हैं।

श्रीवृषभानुनन्दिनीसे प्रार्थना

सच्चिदानन्दघन दिव्यसुधा-रस-सिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन राधावल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य निवास है प्रेमधाम व्रजमें और उनका चलना-फिरना भी है व्रजके मार्गमें। यह मार्ग चित्तवृत्तिनिरोध-सिद्ध महाज्ञानी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये अत्यन्त दुर्गम है। व्रजका मार्ग तो उन्हींके लिये प्रकट होता है, जिनकी चित्तवृत्ति प्रेमघन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंकी ओर नित्य निर्बाध प्रवाहित रहती है—जहाँ न निरा निरोध है और न उन्मेष ही, बल्कि दोनोंकी चरम सीमाका अपूर्व मिलन है। इस पथपर अबाध विहरण करती हुई वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीश्रीराधारानीका दिव्य वसनांचल विश्वकी विशिष्ट चिन्मय सत्ताको कृतकृत्य करता हुआ नित्य खेलता रहता है, किसी समय उस वसनांचलके द्वारा स्पर्शित धन्यातिधन्य पवन-लहरियोंको अपने श्रीअंगसे स्पर्श पाकर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ-गति श्रीमधुसूदनपर्यन्त अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानीके प्रति हमारे मन, प्राण, आत्मा सबका नमस्कार!

यस्याः कदापि वसनांचलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥

जो सबके हृदयान्तरालमें नित्य-निरन्तर साक्षी और नियन्तारूपसे विराजमान रहनेपर भी सबसे पृथक् गोपवधूटी-विटरूपमें वर्तमान रहते हैं, जो समस्त बन्धनोंको तोड़कर सर्वथा उच्छृंखलताको प्राप्त हैं, जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शंकर, शुक, नारद और भीष्मादि **'महतो महीयान्'** पुरुषोंको भी नहीं है, अतएव वे हार मानकर मौन हो जाते हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविमुक्त, नित्य-स्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तमको भी जो श्रीराधिका-चरण-रेणु इसी क्षण वशमें करनेकी अनन्तशक्ति रखता है, उस अनन्तशक्ति श्रीराधिका-चरण-रेणुका हम अपने अन्तस्तलसे बार-बार भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं।

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

विश्वप्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें विन्दुरूपसे जो विदग्धभाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप (सौन्दर्य) और केलिरस (माधुर्य) वर्तमान है—रासेश्वरी नित्य-निकुंजेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी उन्हीं सातों रसोंकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इस प्रकार नित्यानन्दरसमय सप्त-समुद्रवती श्रीराधिका श्यामसुन्दर आनन्दकन्दके नित्य दिव्य रमणानन्दमें अनादिकालसे ही उन्मादिनी हैं—नित्य कुलत्यागिनी हैं। इन्हींके सहज सरल स्वच्छभावके शुद्ध रससे, इन्हींके भावानुरागरूप दधिमण्डसे, इन्हींकी वात्सल्यमयी दुग्ध-धारासे, इन्हींकी परम स्निग्ध घृतवत् अपार कृपासे, इन्हींकी लावण्य-मदिरासे, इन्हींके छबिरूप सुन्दर मधुर इक्षुरससे और इन्हींके केलिविलासविन्यासरूप क्षारतत्त्वसे समस्त अनन्त विश्वब्रह्माण्ड नित्य अनुरंजित, अनुप्राणित और ओत-प्रोत हैं। ऐसी अनन्त विचित्र सुधारसमयी, प्राणमयी, विश्वरहस्यकी चरम तथा सार्थक मीमांसामूर्ति श्रीवृषभानुनन्दिनीका दिव्य स्फुरण जिसके जीवनमें नहीं हो पाया, उसका सभी कुछ व्यर्थ—अनर्थ है। देवी राधिके! अपने ऐसे दिव्य स्फुरणसे मेरे हृदयको कृतार्थ कर दो।

वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
र्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥

श्रीराधिके! वह शुभ सौभाग्य-क्षण कब होगा, जब तुम्हारे नाम-सुधा-रसका आस्वादन करनेके लिये मेरी जिह्वा विह्वल हो जायगी, जब तुम्हारे चरणरचिह्नोंसे अंकित वृन्दारण्यकी वीथियोंमें मेरे पैर भ्रमण करेंगे—मेरे सारे अंग उसमें लोट-लोटकर कृतार्थ होंगे, जब मेरे हाथ केवल तुम्हारी ही सेवामें नियुक्त रहेंगे, मेरा हृदय तुम्हारे चरण-पद्मोंके ध्यानमें लगा रहेगा और तुम्हारे इन भावोत्सवोंके परिणामरूप मुझे तुम्हारे प्राणनाथके चरणोंकी रति प्राप्त होगी—मैं तुम्हारे ही सुख-साधनके लिये तुम्हारे प्राणनाथकी प्रणयिनी बननेका अधिकार प्राप्त करूँगा।

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला
पादौ तत्पदकाङ्क्षितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदये तस्याः पदं ध्यायतात्
तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः॥

श्रीराधाजी कौन थीं ?

प्रश्न—१.'ऐसा कहा जाता है कि श्रीराधाजी श्रीभगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति या आदिशक्ति हैं। अगर श्रीभगवान्‌की आदिशक्ति श्रीराधाजी हैं तो श्रीरुक्मिणीजी कौन शक्ति हैं? हम-जैसे लोग जैसे श्रीसीताजीको आदिशक्ति मानते हैं, वैसे ही श्रीरुक्मिणीजीको भी। श्रीराधाजीका नाम श्रीमद्भागवतमें कहीं नहीं है। अगर आदिशक्ति थीं तो ये भगवान्‌के साथ क्यों नहीं रहीं? लौकिक रीतिसे इनसे विवाह होना चाहिये था।'

प्रश्न—२.'गोपियोंका प्रेम शुद्ध कामरहित था या कैसा?'

उत्तर—आपके प्रश्नोंका उत्तर देना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मेरे विश्वासके अनुसार श्रीराधाकृष्णतत्त्व सर्वथा अप्राकृत है, इनका विग्रह अप्राकृत है, इनकी समस्त लीलाएँ अप्राकृत हैं, जो अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि-शरीरसे अप्राकृत पात्रोंमें हुई थीं।* अप्राकृत लीलाको देखने, सुनने, कहने और समझनेके लिये अप्राकृत नेत्र, कर्ण, वाणी और मन-बुद्धि चाहिये। अतएव मुझ-सा प्राकृत प्राणी, प्राकृत मन-बुद्धिसे कैसे इस तत्त्वको जान सकता है और कैसे प्राकृत वाणीमें उसका वर्णन कर सकता है? अतएव इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ भी लिख रहा हूँ, उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मैं जो कहता हूँ यही तत्त्व है, इससे परे और कुछ नहीं है; न यह मानना चाहिये कि मैं किसी मतविशेषपर आक्षेप करता हूँ या किसी तार्किकका मुँह बन्द करनेके लिये ऐसा लिखता हूँ अथवा आग्रहपूर्वक अपना विश्वास दूसरोंपर लादना चाहता हूँ। मेरा यह कहना कदापि नहीं है कि मेरी लिखी बातोंको पाठक मान लें। यह तो सिर्फ अपने विश्वासकी बात—शास्त्र और सन्तोंद्वारा सुनी हुई—अपने कल्याणके लिये लिखी जा रही है। जिन सज्जनने ये प्रश्न किये, उनका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ; क्योंकि इसी बहाने मुझ क्षुद्रका थोड़ा-सा समय श्रीभगवान्‌की चर्चामें चला गया। मैं प्रश्नोत्तर और तर्कके लिये कोई बात नहीं लिख रहा हूँ। अतएव मेरी प्रार्थना है कि पाठकगण तर्क-बुद्धिका आश्रय कर मुझसे इसके सम्बन्धमें कोई प्रश्नोत्तरकी आशा कृपया न रखें। विवादमें तो मैं अपनी हार पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि मैं इस विषयपर तर्क करना ही नहीं चाहता। अवश्य ही मेरे विश्वासका बदलना तो अन्तर्यामी प्रभुकी इच्छापर ही अवलम्बित है।

परिपूर्णतम, परमात्मा, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके सागर, दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराममें कोई भी भेद नहीं मानता और इसी प्रकार भगवती श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी और श्रीसीताजी आदिमें भी मेरी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। भगवान्‌के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला-विग्रहोंमें विभिन्न नाम-रूपोंसे उनकी ह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही है। नाम-रूपोंमें पृथक्ता दीखनेपर भी वस्तुत: वे सब एक ही हैं। स्वयं श्रीभगवान्‌ने ही श्रीराधाजीसे कहा है—

यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा।
वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती॥
भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया।
धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी॥
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती।
द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती॥
त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती।

× × ×

रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड, अ० १२६)

'हे राधे! जिस प्रकार तुम गोलोक और गोकुलमें श्रीराधिकारूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वतीके रूपमें विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो। तुम ही धर्मपुत्रकी कान्ता लक्ष्मी-स्वरूपिणी शान्ति हो। तुम ही भारतमें कपिलकी प्रिय कान्ता सती भारती हो, तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो। तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही मिथिलामें सीता हो। तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपमें रावणने हरण किया था।'

भगवान्‌के दिव्यलीलाविग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमें आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही है। श्रीभगवान्

* श्रीभगवान्‌के देहादि यदि उस मायाके कार्य पंचमहाभूतोंसे निर्मित प्राकृत होते जो माया आवरणरूपा है, तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण भगवान्‌के सौन्दर्य, उनके अंग-गन्ध, उनकी चरण-धूलिके लिये लालायित न होते।

अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये अथवा उसका नवीन रूपोंमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपने आनन्दको प्रेमविग्रहोंके रूपमें प्रकट करते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। भगवान्‌के उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रह रूपा श्रीराधारानीजी हैं और यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। अतएव श्रीराधिकाजी प्रेममयी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। आनन्दरससारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधारानी हैं। अतएव श्रीराधा और श्रीकृष्णका विछोह कभी सम्भव ही नहीं। न श्रीराधाके बिना कभी श्रीकृष्ण रह सकते हैं और न श्रीकृष्णके बिना श्रीराधाजी। श्रीकृष्णके दिव्य आनन्दविग्रहकी स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रहरूपा श्रीरामजीके निमित्तसे है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही श्रीराधाके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससारविग्रह होनेसे ही श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और वह नित्य-निरन्तर आनन्दरससार, रसराज, अनन्त ऐश्वर्य—अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यनिधि, सच्चिदानन्दसान्द्रांग, अविचिन्त्यशक्ति, आत्मारामगणाकर्षी, प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती रहती हैं। इस ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, सहेली, सहचरी और दूती आदि रूपोंसे श्रीराधाकृष्णकी सेवा किया करती हैं; श्रीराधाकृष्णको सुख पहुँचाना और उन्हें प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र कार्य होता है। इन्हींका नाम श्रीगोपीजन है।

नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रह, पूर्णब्रह्म परमात्मामें सुखेच्छा कैसे हो सकती है? यह प्रश्न युक्तिसंगत प्रतीत होनेपर भी इसीको सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव और प्रेम परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं हैं। प्रेमाश्रयका भाव प्रेम-विषयमें और प्रेम-विषयका भाव प्रेमाश्रयमें अनुभूत हुआ करता है। श्रीगोपीजन प्रेमका आश्रय हैं और श्रीकृष्ण प्रेमके विषय हैं। श्रीगोपियोंका अप्राकृत दिव्य भाव ही परब्रह्ममें दिव्य सुखेच्छा उत्पन्न कर देता है। प्रेमका महान् उच्च भाव ही उस पूर्णकाममें कामना, नित्यतृप्तिमें अतृप्ति, क्रियाहीनमें क्रिया और आनन्दमयमें आनन्दकी वासना जाग्रत् कर देता है। अवश्य ही यह सुखेच्छा, कामना, अतृप्ति, क्रिया या वासना जड इन्द्रियजन्य नहीं है, इस मर्त्य जगत्‌की मायामयी वस्तु नहीं है; क्योंकि वह दिव्य आनन्द और दिव्य प्रेम अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी सदा अभिन्न हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०, कृष्णखण्ड, १४। ५८-५९)

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथिवीमें गन्ध रहती है उसी प्रकार मैं सदा तुममें रहता हूँ।'

यही बात भगवान् श्रीराम और मिथिलेशकुमारी श्रीसीताजी, भगवान् श्रीमहाविष्णु और जगज्जननी महालक्ष्मी, भगवान् श्रीशंकर और महामाया श्रीगौरीदेवीके विषयमें समझनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण और माता श्रीरुक्मिणीके लिये भी यही बात है। अब रही श्रीराधिकाजीके विवाहकी बात, सो इस रूपमें इनका लौकिक विवाह कैसा? वृन्दावन-लीला ही लौकिक लीला नहीं है। लौकिक लीलाकी दृष्टिसे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही श्रीकृष्ण व्रजका परित्याग कर मथुरा पधार गये थे। इतनी छोटी अवस्थामें स्त्रियोंके साथ प्रणयकी बात ही कल्पनामें नहीं आती और अलौकिक जगत्‌में दोनों सर्वदा एक ही हैं। फिर भी भगवान्‌ने ब्रह्माजीको श्रीराधाजीके दिव्य चिन्मय प्रेमरससारविग्रहका दर्शन करानेका वरदान दिया था, उसकी पूर्तिके लिये एकान्त अरण्यमें ब्रह्माजीको श्रीराधिकाजीके दर्शन कराये और वहीं ब्रह्माजीके द्वारा रसराज और महाभावकी विवाहलीला भी सम्पन्न हुई। ये विवाहिता श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके संग रहती हैं। अवश्य ही छिपी रहती हैं। श्रीकृष्णकृपा होनेपर ही किन्हीं प्रेमी महानुभावको इस 'जुगल जोड़ी' के दुर्लभ दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम प्रकटरूपमें नहीं आया है, यह सत्य है; परन्तु वह उसमें इसी प्रकार छिपा हुआ है जैसे शरीरमें आत्मा। प्रेमरससार-चिन्तामणि श्रीराधाजीका अस्तित्व ही आनन्दरससार श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमलीलाको प्रकट करता है। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ श्रीराधा नहीं हैं—यह कहना ही नहीं बनता। तार्किकोंको नहीं, भक्तों और

शास्त्रके सामने सिर झुकानेवालोंको तो भगवान्के ये वाक्य सदा स्मरण रखने चाहिये—

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम्॥
अज्ञानादावयोर्निन्दां ये कुर्वन्ति नराधमाः।
पच्यन्ते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृ० १५। ६७—७०)

'जो नराधम हम दोनोंमें (श्रीकृष्ण और श्रीराधामें) भेद-बुद्धि करता है, वह जबतक चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तबतकके लिये कालसूत्र नामक नरकमें रहता है। उसके पहलेके सात और पीछेके सात पुरुष अधोगामी होते हैं और उसका कोटि जन्मार्जित पुण्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है। जो नराधम अज्ञानवश हमलोगोंकी निन्दा करता है, वह पापात्मा भी चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक घोर नरक भोगता है।'

अब रही गोपियोंके प्रेमके शुद्ध होनेकी बात। इसपर रासपंचाध्यायीका यह श्लोकार्द्ध स्मरण करना चाहिये—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

'छोटे बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेला करते हैं, वैसे ही रमेश भगवान्ने भी व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा की।' लीलारसमय आनन्दकन्द भगवान् स्वभावसे ही प्रेमवश हैं। अतएव उन्होंने प्रेमभावसे ही अपनी आनन्दस्वरूपा शक्ति द्वारा अपने ही प्रतिबिम्बरूप प्रेमस्वरूपा महाभागा गोपियोंके साथ क्रीड़ा की। उनका तो यह आत्मरमण था और गोपियोंका इसमें श्रीकृष्णसुख ही एकमात्र उद्देश्य था। अतएव प्रेममयी गोपी और आनन्दमय श्रीकृष्णकी यह लीला सर्वथा कामगन्धशून्य थी। गोपियोंका प्रेम अत्युच्च पराकाष्ठाका भाव था। इसीसे उसे 'रूढ़ महाभाव' कहते हैं। इसमें निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छाके संस्कारकी भी कल्पना नहीं थी। यह इस जगत्की काम-क्रीड़ा नहीं थी। यह तो दिव्य आनन्दमय, पवित्र प्रेममय जगत्की अति दुर्लभ रहस्यमय लीला थी, जिसका रसास्वादन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और सिद्ध महात्मागण भी लालायित थे और कहा जाता है कि इसीलिये उन्होंने व्रजमें आकर पशु-पक्षियों तथा वृक्ष-लता-पताके रूपमें जन्म लिया था। श्रीगोपियोंके इस कामशून्य प्रेमभावको, श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि श्रीराधारानीके महाभावको और निजानन्दमें नित्यतृप्त परमात्मामें सुखेच्छा क्यों उत्पन्न होती है और कैसे उन्हें प्रेमरूपा शक्तियोंके साथ लीला करनेमें सुख मिलता है, इस बातको समझने-समझानेका अधिकार श्रीकृष्णगतप्राण, भजनपरायण, प्रेमी रसिक भक्तोंको ही श्रीकृष्णकृपासे प्राप्त होता है। मुझ-जैसा विषयी मनुष्य इसपर क्या कहे-सुने? मेरी तो हाथ जोड़कर सबसे यही प्रार्थना है कि अपने मनकी मलिनताका आरोप भगवान्के पवित्र चरित्रोंपर कोई कदापि न करें और शंका छोड़कर जिसको भगवान्का जो नाम-रूप प्रिय लगता हो, जिसकी जिसमें रुचि हो, भगवान्के दूसरे नाम-रूपको उससे नीचा न समझकर बल्कि अपने ही इष्टदेवका एक भिन्न स्वरूप समझकर, अनन्यभावसे अपने उस इष्टकी सेवामें लगे रहें।

परा और अपरा विद्या

पराशर मुनिने ऋषि मैत्रेयसे कहा—मैत्रेयजी! बुद्धिमान् पुरुष आध्यात्मिकादि तीनों तापोंको जानकर ज्ञान-वैराग्यद्वारा आत्यन्तिक लयको प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे शारीरिक दुःखके अनेक प्रकार हैं—मस्तकरोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, अर्श, श्वास, शोथ, छर्दि, चक्षुरोग, अतिसार, कुष्ट और जलोदर आदि भेदसे बहुत प्रकारसे शारीरिक क्लेश होते हैं। मानस दुःखोंमें काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्षा और मात्सर्यादिसे उत्पन्न अनेक भेद हैं। द्विजश्रेष्ठ! इन विविध दुःखोंको आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पशु, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, बिच्छू, राक्षस आदि भूत-प्राणियोंसे जिन दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, उनका नाम आधिभौतिक ताप है। सर्दी, गरमी, वायु, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात आदिसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको आधिदैविक ताप कहते हैं।

मुनिराज! इनके अतिरिक्त गर्भवास, जन्म, जरा (बुढ़ापा), अज्ञान, मृत्यु और नरकादिमें हजारों प्रकारके दुःख हैं। बहुत-से मलद्वारा ढके हुए गर्भमें सुकुमार शरीरको उदरके

कीड़े काटते हैं, जेरसे लिपटा हुआ वह बालक माताके खाये हुए खट्टे, कड़वे, तीखे, गरम और नमकीन भोजनके द्वारा अत्यन्त कष्टसे जीता है। हाथ, पैरको पूरी तरह फैला नहीं सकता, मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, श्वासहीन रहनेपर भी सचेतनभावसे पूर्वजन्मके कर्मोंका स्मरण करता हुआ पराधीनतामें समय बिताता है।

इसके बाद जन्म होनेके समय मल, मूत्र, शुक्र, रुधिरद्वारा लिपटकर वह प्राजापत्य नामक वायुसे बड़ी ही पीड़ाको प्राप्त होता है, उसी समय अत्यन्त प्रबल सूति नामक वायु उसके मुखको नीचेकी ओर कर देती है, तदनन्तर वह जीव बड़े क्लेशसे माताके पेटसे योनिद्वारा बाहर निकलता है।

मुनिसत्तम! जीव जन्म होते ही मूर्च्छित हो जाता है, फिर बाहरकी वायुके लगनेसे क्रमशः उसमें चेतना आती है और पूर्वसंस्कारोंको भूल जाता है, तब वह काँटोंसे बिंधे हुए और आरेसे विदीर्ण किये हुए कृमिकी तरह जमीनपर पड़ जाता है। उसमें अपने-आप करवट बदलने और देह खुजलानेतककी शक्ति भी नहीं होती। दुग्धपानादि आहारके लिये भी वह पराधीन ही रहता है। मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, कीड़े और मच्छर काटते हैं पर उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह इन दुःखोंसे अपनेको छुड़ा सके। इस प्रकार जन्म और बालकपनमें जीव अनेक प्रकारसे आधिभौतिकादि दुःख भोगता है।

अज्ञानान्धकारसे आच्छादित विमूढ़ अन्तःकरणका वह मनुष्य, 'मैं कहाँसे आया हूँ, कौन हूँ, कहाँ जाऊँगा और मेरा क्या स्वरूप है आदि' कुछ भी नहीं जानता। 'मैं किस बन्धनसे संसार-कारागारमें कैद हूँ? इसका कोई कारण है या बिना ही कारण मुझे यह दुःखोंकी राशि भोगनी पड़ती है? मुझे क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये? क्या बोलना और क्या नहीं बोलना चाहिये? क्या धर्म है और क्या अधर्म है? किस तरह कौन-सा पथ अवलम्बन करना चाहिये और किस कार्यमें क्या दोष तथा क्या गुण है?' ऐसी अनेक चिन्ताओंसे ग्रस्त वे शिश्नोदर-भोगपरायण पशुसदृश मूढ़ मनुष्य अज्ञानवश नाना प्रकारके भोग भोगते रहते हैं।

अज्ञान तमोगुणका स्वभाव है, इससे जडता उत्पन्न होती है, जडता और प्रमादसे शास्त्रोक्त कर्म नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ जडतारहित प्रवृत्तिसे होता है, परन्तु मूर्ख मनुष्य जडताकी अधिकतासे क्रमशः कर्मलोप कर देते हैं। कर्मलोपसे नरकोंकी प्राप्ति होती है। अतएव मूर्ख मनुष्य इस लोक और परलोकमें केवल दुःख ही भोगते हैं।

जवानी अज्ञानजनित जडता और प्रमादमें बीत जाती है, तदनन्तर देहके जरा-जर्जरित होनेपर अंग शिथिल हो जाते हैं, दाँत गिर पड़ते हैं, मांस ढीला होकर स्नायु और नाड़ियोंसे ढक जाता है, आँखें बैठ जानेसे नजर कम पड़ जाती है, नाकोंसे रोम बाहर निकल आते हैं। शरीर सदा काँपने लगता है, देहकी हड्डियाँ बाहर चमकने लगती हैं, शरीर कुबड़ा हो जाता है, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, आहार कम हो जाता है और क्रमशः शरीरकी सभी चेष्टाएँ संकुचित हो जाती हैं। तबतक वह अन्धप्राय मनुष्य बहुत ही कष्टसे उठने, बैठने, सोने और चलने-फिरनेमें समर्थ होता है। उसके मुँहसे हमेशा लार टपका करती है।

इन्द्रियोंपर अधिकार न रहनेसे वह मृत्युके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे अनुभूत पदार्थोंका भी स्मरण नहीं रहता। एक शब्दके उच्चारणमें ही वह थक जाता है, श्वास-खाँसीकी यन्त्रणासे नींदका सुख सदाके लिये नष्ट हो जाता है। दूसरेके उठाने-बैठानेसे वह उठ-बैठ सकता है। ऐसी हालतमें स्त्री-पुत्र-नौकर आदि सभी उसका अपमान करने लगते हैं। उसकी पवित्रता जाती रहती है, परन्तु आहार-विहारकी तृष्णा बनी रहनेसे घर-परिवारके लोग उसकी हँसी उड़ाते और उसे अपने लिये क्लेशका कारण समझने लगते हैं। जवानीके भोगोंको पूर्वजन्मके भोगोंकी तरह याद करके वह लम्बे-लम्बे श्वास लेता है, पर कोई उपाय नहीं चलता। यों कष्ट सहते-सहते मृत्युकाल आ जाता है।

तब गला घुटने लगता है और हाथ टूट-से जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, बारम्बार मूर्च्छा होने लगती है। ऐसी अवस्थामें वह 'मेरे धनका क्या होगा? मेरे पीछे मेरे स्त्री-पुत्रोंकी क्या दशा होगी? मेरे नौकरोंकी क्या हालत होगी? मेरा धन-ऐश्वर्य लोग खा जायँगे।' इस प्रकारकी ममताजनित चिन्तासे व्याकुल हो जाता है। मर्मभेदी महारोगरूपी यमराजके दारुण बाणोंसे उसके देहकी हड्डियाँ टूट जाती हैं, आँखें उलट जाती हैं, तालु, कण्ठ और होठ सूख जाते हैं। उस समय वह भीषण यन्त्रणासे बारम्बार हाथ-पैर पीटता है, कण्ठ रुक जाता है, श्वासकी गति ऊर्ध्व हो जाती है, गलेमें कफ अटक

जानेसे 'घुर-घुर' शब्द होने लगता है; भूख-प्याससे वह अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। अन्तमें यम-किंकरोंके दीखनेसे भयभीत हो उठता है। मृत्युसमय प्राणियोंको इस प्रकारके अनेक कष्ट होते हैं।

मृत्युके बाद पापी मनुष्योंको यमदूत बाँधकर अनेक तरहसे पीड़ा देते हैं, नाना प्रकारके भयंकर मार्ग देखने पड़ते हैं, फिर यमराजके दर्शन होते हैं। गरम बालू, अग्नि, यन्त्र और शस्त्रादिद्वारा नरकोंकी भयानक यातना भोग करनी पड़ती है। यमदूत करौतसे काटते हैं, जलते हुए कड़ाहेमें डाल देते हैं, कुठारसे आघात करते हैं, जमीनमें गाड़ देते हैं, शूलीपर चढ़ा देते हैं, बाघके मुखमें डाल देते हैं, गृध्रोंसे शरीर नुचवाते हैं, हाथियोंके पैरोंतले रुँदवाते हैं, उबलते हुए तैलमें डाल देते हैं, क्षार और कादेसे लिपेट देते हैं, ऊपरसे नीचे डालते हैं और फेंकनेके यन्त्र द्वारा दूर फेंक देते हैं। इस प्रकार नारकी जीवोंको नरकोंमें नाना प्रकारसे इतनी यातना दी जाती है कि जिनकी कोई गिनती नहीं हो सकती।

द्विजराज! केवल नरकमें ही दुःख है सो बात नहीं है, स्वर्गवासी पुण्यात्मा पुरुष भी पतनके भयसे सदा दुःखी रहते हैं। इस प्रकार कर्मफल भोगनेपर जीव फिर गर्भमें आकर जन्म ग्रहण करता है तथा पुनः उसी तरह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्मते ही, कोई लड़कपनमें, कोई जवानीमें, कोई प्रौढ़ अवस्थामें और कोई वृद्ध होकर मृत्युके मुखमें चला जाता है। जैसे कपासका बीज कपाससे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार यह जीव भी जीवनभर नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त रहता है। अर्थके उपार्जन, पालन और नाशमें तथा प्रियजनोंकी विपत्तिमें मनुष्यको नाना प्रकारसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

मैत्रेय! जो सब पदार्थ मनुष्यको पहले प्रीतिकर मालूम होते हैं, वे ही परिणाममें दुःखके कारण हो जाते हैं। स्त्री, स्वामी, भृत्य, घर, धन, परिवार और जमीन आदिद्वारा मनुष्यको जितना क्लेश होता है, सुख उसकी उपेक्षा बहुत ही थोड़ा हुआ करता है। इन सब दुःखरूप सूर्यके तापसे तापितचित्त मनुष्योंको मुक्तिरूपी वृक्षकी शीतल छायाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं मिल सकता! गर्भ, जन्म, जरा आदिसे उत्पन्न इन त्रिविध दुःखोंकी एकमात्र परम औषध भगवत्-प्राप्ति ही है—'**भैषज्यं भगवत्प्राप्तिः।**' अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको उस भगवत्-प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।—

'**तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः।**'

महामुने! भगवत्-प्राप्तिमें कर्म और ज्ञान दोनों ही हेतु हैं। ज्ञान दो प्रकारका है—एक आगमशास्त्रसे उत्पन्न और दूसरा विवेकसे उत्पन्न। इनमें आगमसे उत्पन्न ज्ञानसे शब्दब्रह्म और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानद्वारा परमब्रह्म जाननेमें आता है। जैसे दीपकसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही शास्त्रजन्य ज्ञानसे शब्दमय ब्रह्मके जाननेपर कुछ अंशोंमें तो अज्ञानका नाश होता है, परन्तु जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका पूर्ण नाश हो जाता है, इसी प्रकार विवेकजन्य ज्ञानसे परमब्रह्मको जान लेनेपर सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है।

मनु महाराजने कहा है—'ब्रह्म दो प्रकारका है; प्रथम शब्दमय और दूसरा परम। शब्दब्रह्मका ज्ञान हो जानेके बाद परब्रह्मका होता है। विद्या भी कर्म और ज्ञानरूपसे दो प्रकारकी है; आथर्वणी श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है। पराविद्याद्वारा अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होती है। ऋग्वेदादिमयी विद्या ही पराविद्या है। अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, नित्य, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, हस्तपादादिरहित, विभु, सर्वगत, भूत-समूहोंका बीजरूप होनेपर भी अकारण तथा व्याप्य और व्यापक सभी रूपोंमें मुनिगण ज्ञानचक्षुसे जिसका दर्शन करते हैं, वही परब्रह्म है। मोक्षकी इच्छावाले पुरुष उसीका ध्यान करते हैं। उसीको वेदोंने अत्यन्त सूक्ष्म और विष्णुका परमपद बतलाया है!

परमात्माकी इसी मूर्तिको भगवान् कहते हैं। भगवान् शब्द इस आदि और अक्षर परमात्माका ही वाचक है। इसी प्रकारसे मुनियोंको जो तत्त्वज्ञान होता है वही परम और वेदमय है। द्विज! वह परब्रह्म शब्दसे अगोचर होनेपर भी उसकी पूजाके लिये 'भगवत्' शब्दद्वारा उसका कीर्तन किया जाता है। विशुद्ध और समस्त कारणोंके कारण महाविभूतिशाली उस परब्रह्ममें ही 'भगवत्' शब्दका प्रयोग होता है। 'भगवत्' शब्दमें 'भ' के दो अर्थ हैं, सबका भरण करनेवाला और सबका आधार, 'ग' का अर्थ गमयिता और स्रष्टा। दोनों अक्षर मिलनेसे 'भग' बनता है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यको भग कहते हैं। 'व' अक्षरका अर्थ यह है कि 'अखिल जगत्के आत्मभूत इस परमात्मामें ही सब भूतप्राणी निवास करते हैं। साधुश्रेष्ठ! इस प्रकारके अर्थवाला यह महान् 'भगवत्' शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेवके सिवा अन्य किसीके लिये प्रयुक्त नहीं हो

सकता। उस परब्रह्मसे ही इस 'भगवत्' शब्दकी सार्थकता है।' वह समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, अगति, गति और विद्या, अविद्याको जानता है, इसीसे उसे 'भगवान्' कहते हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्गुण 'भगवत्' शब्दद्वारा ही वाच्य हैं। वह परमात्मा सब भूतोंमें निवास करता है और सबके आत्मस्वरूप उस वासुदेवमें ही सब भूत निवास करते हैं। प्राचीनकालमें खाण्डिक्यके द्वारा पूछे जानेपर केशिध्वजने 'वासुदेव' नामका यथार्थ अर्थ यही बतलाया था कि "समस्त भूतप्राणी उसमें निवास करते हैं और वही समस्त भूतोंमें जगत्के धाता-विधातारूपसे विराजमान है, इसीलिये उस प्रभुका नाम 'वासुदेव' है।"

महामुने! वह परमात्मा स्वयं सम्पूर्ण आवरणोंसे मुक्त रहकर अखिल विश्वके आत्मरूपसे सब भूतोंकी प्रकृति, विकार, गुण और दोष आदि त्रिभुवनमें जो कुछ भी है, सबमें व्याप्त हो रहा है। समस्त कल्याण-गुण-स्वरूप वह परमात्मा अपनी शक्तिके कणमात्रसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको आवृतकर, अपनी इच्छासे अनेक प्रकारके रूप धारण करके जगत्का अनन्त कल्याण कर रहा है। जो तेज, बल, ऐश्वर्य तथा महाबोधस्वरूप है, अपने वीर्य और शक्तिका एकमात्र आधार है, परात्पर है, जिसमें क्लेशका लेश भी नहीं है, वही ईश्वर व्यष्टि और समष्टिरूप है, वही व्यक्त और अव्यक्तरूप है, वही सबका स्वामी और सर्वत्रगामी है, वही सर्ववेत्ता और सबका शक्तिस्वरूप है और उसीका नाम परमेश्वर है।

जिस ज्ञानके द्वारा इस प्रकारके निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमेश्वरको जाना और देखा जा सकता है, वही ज्ञान है और उसीका नाम परा विद्या है। जो इससे विपरीत है सो अज्ञान है और उसीको अपरा विद्या कहते हैं। (विष्णुपुराणके आधारपर)

महायोग-तत्त्व

प्राचीन कालकी बात है, राजा धर्मध्वजके दोनों कुमारोंके केशिध्वज और खाण्डिक्य-जनक नामक दो तेजस्वी पुत्र थे। राजकुमारोंने सब प्रकारकी विद्या और कलाएँ सीखी थीं। कुमार केशिध्वज अध्यात्मशास्त्रके बड़े पण्डित हुए और खाण्डिक्य कर्मरहस्यके ज्ञाता हुए। दोनों भाइयोंमें परस्पर विजयेच्छा रहती थी। समयपर केशिध्वजने खाण्डिक्यको जीतकर नगरसे बाहर निकाल दिया। पराजित खाण्डिक्य अपने पुरोहित, मन्त्री और परिवारके कुछ लोगोंको साथ लेकर दुर्गम वनमें जा बसे। इधर केशिध्वज अविद्याद्वारा होनेवाली मृत्युसे बचनेके लिये विविध प्रकारके यज्ञ करने लगे।

एक समय केशिध्वज वनमें यज्ञ कर रहे थे, उन्हें समाधिमें स्थित जानकर एक व्याघ्रने उनकी धर्म-धेनुको मार डाला। राजाको इस दुर्घटनाका पता लगनेपर उन्होंने पश्चात्ताप करते हुए यज्ञकी पूर्तिके लिये अपने पुरोहितोंसे गोहत्याके प्रायश्चित्तका विधान पूछा। पुरोहितोंने कहा कि 'इस विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते, आप कशेरू मुनिसे पूछिये।' कशेरूसे पूछनेपर उन्होंने भार्गव शुनक मुनिका नाम बतलाया। राजाने शुनकके पास जाकर पूछा, तब शुनक बोले कि 'राजन्! तुम्हारे द्वारा पराजित तुम्हारे शत्रु खाण्डिक्यके सिवा इस समय पृथ्वीमें कशेरू, मैं या अन्य कोई भी ऐसा कर्मके तत्त्वको जाननेवाला नहीं है जो तुम्हें प्रायश्चित्तका यथार्थ विधान बतला सके। तुम चाहो तो उनके पास जाकर पूछ सकते हो।' यज्ञका विघ्न दूर करनेकी इच्छासे केशिध्वजने कहा कि 'मुने! मैं इस कार्यके लिये अभी खाण्डिक्यके पास जाता हूँ। यदि वे मुझे अपना शत्रु समझकर मार डालेंगे तब तो मुझे आत्मबलिदानके फलस्वरूप यज्ञका फल यों ही मिल जायगा। यदि वे मुझे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त बतला देंगे तो मैं तदनुसार करके यज्ञकी पूर्ति कर दूँगा।'

यों कहकर महामति राजा केशिध्वज कृष्णाजिन पहनकर रथपर सवार हो तुरन्त उस वनकी ओर चले, जहाँ खाण्डिक्य अपने परिवारसहित निवास करते थे। खाण्डिक्य अपने शत्रुको दूरसे अपनी ओर आते देखकर, उसकी दुर्भावना समझकर बड़े क्रोधित हुए। क्रोधसे लाल-लाल आँखें करके पुकारकर कहने लगे—'केशिध्वज! क्या तुम इसीलिये कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) धारण करके आये हो कि इसको देखकर मैं तुम्हें नहीं मारूँगा? तुमने और मैंने न मालूम कितने कृष्णचर्मधारी मृगोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा होगा। अतएव इस वेषके कारण मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता।' केशिध्वजने

कहा—'मैं आपको मारनेके लिये नहीं आया हूँ, सन्देहकी निवृत्तिके लिये आपसे कुछ पूछने आया हूँ, आप किसी प्रकारका सन्देह न करें और क्रोध तथा बाणको त्यागकर मेरे प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करें।'

केशिध्वजके ये वचन सुनकर बुद्धिमान् खाण्डिक्य अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको एकान्तमें ले जाकर उनसे परामर्श करने लगे। मन्त्रियोंने कहा—'महाराज! ऐसा अवसर कब मिलेगा? शत्रु आपके हाथोंमें आ गया है, अब तो इसका काम तमाम ही कर डालना चाहिये। इस वैरीके मरते ही सारी पृथ्वी आपके अधीन हो जायगी!' खाण्डिक्यने उनके वचन सुनकर गम्भीरतासे कहा—'निःसन्देह इसके मरनेसे पृथ्वीपर एकाधिपत्य हो जायगा, परन्तु ऐसा करनेसे मेरा परलोक बिगड़ जायगा। मेरी समझसे पृथ्वीके राज्यकी अपेक्षा परलोकमें विजयी होना—जीव-जीवनका उच्चतर अवस्थामें पहुँच जाना कहीं अधिक महत्त्वका विषय है; क्योंकि—

परलोकजयोऽन्ततः स्वल्पकालो महीजयः।

परलोकका जय अनन्तकालके लिये होता है, पर पृथ्वीकी विजय तो अल्पकालस्थायी होती है, अतएव .....'**एनं न हिंसिष्ये यत्पृच्छति वदामि तत्।**' मैं इसे मारूँगा नहीं, यह जो कुछ पूछेगा सो बतलाकर इसे विदा करूँगा।' धन्य धर्मपरायणता और साधुता!

खाण्डिक्य-जनक अपने शत्रु केशिध्वजके पास जाकर शान्ति और प्रेमसे कहने लगे 'आपको जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछिये, मैं आपको यथार्थ उत्तर दूँगा।' केशिध्वजने धर्म-धेनुके वधकी घटना सुनाकर उसके प्रायश्चित्तका विधान पूछा, खाण्डिक्यने बड़ी सरलतासे विस्तारपूर्वक विधान बतला दिया। केशिध्वजने वहाँसे अपनी यज्ञभूमिमें लौटकर यथाविधि प्रायश्चित्त और क्रमशः यज्ञकी समस्त क्रियाएँ कीं। यज्ञ समाप्त होनेपर राजाने सब ऋत्विक् और सदस्योंका पूजन-सम्मान किया, अतिथियोंको अनेक प्रकारसे विविध दान देकर प्रसन्न किया। तब भी राजाके मनमें शान्ति नहीं हुई। इसका कारण सोचते-सोचते केशिध्वजके मनमें यह भावना हुई कि 'मैंने प्रायश्चित्तका विधान बतलानेवाले खाण्डिक्यको अभी गुरुदक्षिणा नहीं दी, इसीसे मेरा मन अशान्त है।' इस विचारके पैदा होते ही केशिध्वज फिर खाण्डिक्यके निवासस्थानकी ओर चले। इस बार भी खाण्डिक्यने नीतिके अनुसार उसपर सन्देह करके शस्त्र उठाये, परन्तु केशिध्वजने वहाँ जाते ही नम्र वचनोंमें खाण्डिक्यसे कहा—'खाण्डिक्य! मैं आपकी कोई बुराई करने नहीं आया हूँ, आप क्रोध न करें। आपके उपदेशसे मेरा यज्ञ भलीभाँति पूर्ण हो चुका है, मैं अभी गुरु-दक्षिणा नहीं दे सका, उसीको देने आया हूँ, आपकी जो इच्छा हो सो माँग सकते हैं।'

केशिध्वजकी यह बात सुनकर खाण्डिक्यने अपने मन्त्रियोंसे सम्मति पूछी, उन्होंने कहा, 'राजन्! आप इससे सारा राज्य माँग लीजिये। बिना ही युद्धके जहाँ राज्यकी प्राप्ति होती हो वहाँ बुद्धिमान् पुरुष राज्य ही लिया करते हैं।' मन्त्रियोंकी इस उक्तिपर महामति खाण्डिक्य हँस पड़े और कहने लगे, 'मित्रो! आप अन्य सभी कार्योंमें मुझे उचित परामर्श दिया करते हैं, परन्तु परमार्थ वस्तु क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस बातको आपलोग विशेषरूपसे नहीं जानते। क्या मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये ऐसे अवसरपर थोड़े दिनोंतक रहनेवाले राज्यकी कामना करना उचित है? '**स्वल्पकालं महीराज्यं मादृशैः प्रार्थ्यते कथम्।**' आपलोग देखिये, मैं उससे क्या माँगता हूँ। इतना कहकर खाण्डिक्यने केशिध्वजके पास जाकर कहा—'भाई! क्या सचमुच तुम मुझे गुरु-दक्षिणा दोगे?' केशिध्वजने दृढ़तासे कहा—'हाँ, अवश्य दूँगा।' तब खाण्डिक्य कहने लगे—केशिध्वज!

भवानध्यात्मविज्ञानपरमार्थविचक्षणः ॥
यदि चेद्दीयते मह्यं भवता गुरुनिष्क्रयः।
तत्क्लेशप्रशमायालं यत् कर्म तदुदीरय॥

'अध्यात्म-विज्ञानरूप परमार्थ ज्ञानमें आप प्रवीण हैं, यदि आप गुरु-दक्षिणा देना चाहते हैं तो मुझे वह उपाय बतलाइये, जिससे मेरे समस्त क्लेश सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जायँ।'

केशिध्वजने कहा—'आप मुझसे निष्कण्टक राज्य क्यों नहीं चाहते? क्षत्रियोंको तो राज्यके समान और कोई पदार्थ इतना प्रिय नहीं होता।' खाण्डिक्य कहने लगे—'केशिध्वज! मूर्ख मनुष्य जिसके लिये सदा लालायित रहते हैं, ऐसे विशाल राज्यको मैंने क्यों नहीं माँगा, इसका कारण आपको बतलाता हूँ।

'प्रजाका पालन करना और धर्मयुद्धमें राज्यके शत्रुओंका संहार करना ही क्षत्रियोंका धर्म है। मेरा राज्य आपने छीन लिया है, इससे प्रजापालन न करनेका दोष इस समय तो मुझपर कुछ भी नहीं है, परन्तु यदि राज्य ग्रहण

करके न्यायपूर्वक उसका पालन न किया जायगा तो मुझे अवश्य पापका भागी होना पड़ेगा। इसके सिवा भोग-पदार्थोंकी इच्छा न करनेमें एक हेतु यह भी है कि क्षत्रिय कभी माँगकर राज्य नहीं लिया करते, यह सज्जनोंका सिद्धान्त है। फिर राज्यकी प्राप्तिमें वास्तवमें सुख ही कौन-सा है? जो मूर्ख अहंकाररूपी मदिरा पीकर पागल हो रहे हैं या जिनका मन ममताके मायाजालमें फँस रहा है, वे ही राज्यका लोभ किया करते हैं, मैं ऐसे राज्यसे कोई लाभ नहीं समझता, इसीलिये मैंने इस अविद्याके अन्तर्गत राज्यकी कामना नहीं की।'

खाण्डिक्यके इन वचनोंसे प्रसन्न होकर केशिध्वजने उन्हें साधुवाद देते हुए कहा—'खाण्डिक्य-जनक! मैं प्रजापालन आदि अविद्याकी क्रियाओंद्वारा काम-क्रोधादिसे छूटनेके लिये राज्यका पालन तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करता हूँ और भोगद्वारा पुण्योंका क्षय कर रहा हूँ। ईश्वरेच्छासे आपके मनमें विवेक जाग्रत् हो गया है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। मैं आपको अविद्याका स्वरूप बतलाता हूँ। कुलनन्दन! अनात्ममें आत्मबुद्धि और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसको अपनी समझना, ये दो अविद्या-वृक्षके बीज हैं। दुष्टबुद्धि जीव मोहरूपी अन्धकारसे आच्छन्न होकर पाँच भूतोंसे बने हुए इस स्थूल शरीरको ही आत्मा समझते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीसे जब आत्मा सर्वथा अलग है, तब ऐसा कौन बुद्धिमान् और प्राज्ञ मनुष्य होगा जो इस पंचभूतात्मक शरीरको आत्मा और शरीरद्वारा भोग किये जानेवाले घर, जमीन, धन, ऐश्वर्य आदि भोगोंको अपना समझे? जब शरीर ही अपना नहीं है, तब उसके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्रादिको अपना समझकर बुद्धिमान् मनुष्यको कभी मोहमें नहीं पड़ना चाहिये।

'मनुष्य इस देहके भोगके लिये ही सारे कर्म करता है, यह देह जब आत्मासे भिन्न है तब जीवका इस देहमें आत्मबुद्धि करना केवल संसारमें बन्धनके लिये ही होता है। जैसे मिट्टीके घरकी रक्षाके लिये मिट्टी और जलसे उसपर लेप किया जाता है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी अन्न-जलके द्वारा रक्षित होता है। इस तरह जब पंचभूतात्मक भोगोंद्वारा इस पंचभूतमय शरीरकी ही रक्षा और तृप्ति होती है तब जीवका इसमें गर्व करना व्यर्थ है।

'वासनाकी धूलिसे लिपटा हुआ यह जीव हजारों जन्मोंतक इस संसारमें भटकता हुआ केवल परिश्रमको ही प्राप्त होता है। संसारमें भटकनेवाले इस भ्रान्त पथिकको यह वासनारूपी धूलि जब ज्ञानरूप गरम जलसे धुल जाती है तभी उसकी मोहरूपी थकावट दूर होती है। मोह-श्रम मिटनेपर जीवका अन्त:करण स्वस्थ होता है और तभी इसे अनन्य अतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें यह निर्वाणमय सुखस्वरूप निर्मल आत्मा सदा मुक्त ही है, दु:ख-अज्ञान आदि मल तो प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं। परन्तु जैसे थालीके जलसे अग्निका कोई साक्षात् सम्बन्ध न होनेपर भी थालीके सम्बन्धके कारण जलमें उष्णता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृतिके संगसे यह अव्यय आत्मा भी अभिमानादि द्वारा दूषित होकर प्रकृतिके धर्मोंका भोग करता हुआ प्रतीत होता है। यही अविद्याके बीजका स्वरूप है, इस अविद्यासे उत्पन्न क्लेशोंके नाशके लिये योगके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है।'

इतना सुनकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे कहा—'महाभाग! आप उस योगके तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, कृपाकर मुझे वह योगतत्त्व बतलाइये।' इसपर केशिध्वज कहने लगे—'खाण्डिक्य! जिस योगमें स्थित हो मुनिगण ब्रह्ममें लीन होकर संसारमें फिर कभी नहीं आते।' मैं उस योगका स्वरूप बतलाता हूँ, मन लगाकर सुनिये—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा॥

मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है, तब बन्धनका और जब विषयोंका त्याग कर देता है, तब यही मुक्तिका कारण बन जाता है। ज्ञानके साधक मुनिगण इस मनको विषयोंसे हटाकर मुक्तिके लिये उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगाते हैं। श्रेष्ठ! जैसे चुम्बक पत्थरसे स्वाभाविक ही लोहेका आकर्षण होता है, उसी प्रकार मनके द्वारा निरन्तर चिन्तन किये जानेपर ब्रह्म भी योगीको अपनी ओर स्वाभाविक ही खींच लेता है। मनकी यह गति आपके ही यत्नपर निर्भर करती है। मनकी गतिका ब्रह्मके साथ संयोग कर देना ही 'योग' कहलाता है। इस प्रकारके योगकी साधना करनेवाले व्यक्तिको ही योगी और मुमुक्षु कहते हैं। योगयुक्त पुरुष पहले 'युंजान' कहलाता है। तदनन्तर वह क्रमश: समाधिसम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। युंजान

योगी यदि किसी कारणवश इस जन्ममें सिद्धिको प्राप्त नहीं होता तो उसका मन दोषरूप विघ्नसे रहित होनेके कारण वह जन्मान्तरमें पूर्वके अभ्यास-बलसे मुक्त हो जाता है। परन्तु समाधिसम्पन्न योगी तो इसी जन्ममें मुक्तिको प्राप्त होता है, कारण उसके समस्त अदृष्ट योगकी अग्निके द्वारा बहुत ही शीघ्र भस्म हो जाते हैं।

'योगीको चाहिये कि वह अपने मनको तत्त्वज्ञानके उपयोगी बनानेके लिये निष्कामभावसे ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि नियमोंका अवलम्बन कर संयतचित्तसे स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करते हुए मनको निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरके चिन्तनमें लगाये रखे। यही दस प्रकारके यम-नियम हैं। इनका सकामभावसे पालन करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और निष्काम आचरण करनेवालेको मुक्ति मिलती है। भद्र आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनका अवलम्बन करके सद्‌गुणी पुरुषको यम-नियमसे सम्पन्न होकर वशमें किये हुए चित्तसे योगका अभ्यास करना चाहिये।

'अभ्याससे प्राण नामक वायुको वशमें करनेवाली क्रियाका नाम प्राणायाम है। प्राणायाम सबीज और निर्बीज भेदसे दो प्रकारका है। जब प्राण और अपान वायु सद्विधानसे परस्परको जीत लेते हैं, तब इन दोनोंके संयमित हो जानेपर कुम्भक नामक तीसरा प्राणायाम होता है। योगी जब पहले-पहल प्राणायामका अभ्यास करते हैं, तब भगवान्‌का स्थूल रूप ही उनके चित्तका अवलम्बन रहता है। योगीको चाहिये कि वह क्रमशः प्रत्याहारपरायण होकर शब्द, स्पर्शादि विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंका निग्रह करके उन्हें चित्तका अनुसरण करनेवाली बना ले, इन अत्यन्त चंचल स्वभाववाली इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, तबतक योगी योगकी साधनामें समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार प्राणायामद्वारा प्राणवायुको और प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके योगीको कल्याणका आश्रय लेकर अपना चित्त भलीभाँति स्थिर करना चाहिये।'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! जिस कल्याणके आश्रयसे चित्तके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं वह क्या वस्तु है सो कृपा करके मुझे समझाइये।' केशिध्वज कहने लगे—'राजन्! ब्रह्म ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह स्वभावतः ही दो प्रकारका है—मूर्त और अमूर्त, जिसको पर और अपर भी कहते हैं। इस जगत्‌में तीन प्रकारकी भावनाएँ होती हैं—एक ब्रह्मभावना, दूसरी कर्मभावना और तीसरी ब्रह्म-कर्मभावना। सनन्दन आदि ऋषिगण ब्रह्मभावनावाले हैं, देवताओंसे लेकर जड़-चेतन समस्त प्राणी कर्मभावनावाले हैं और हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्म दोनों भावनाएँ हैं। जिसका जैसा ज्ञान और अधिकार है उसकी वैसी ही भावना हुआ करती है।

'भेद-ज्ञानके हेतु कर्म जबतक बने रहते हैं तभीतक जीवोंको विश्व और परमात्मामें भेद दीखता है। जिस ज्ञानसे सारे भेद मिट जाते हैं, जो ज्ञान सत्तामात्र है, जो मन, वाणीसे अगोचर है और जिसको केवल आत्मा ही जानता है उसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। वही अज, अक्षर तथा अरूप विष्णुका नित्य और परमरूप है और वह समस्त विश्वरूपसे विलक्षण है। आरम्भमें योगी उस परमरूपका चिन्तन नहीं कर सकते, इसीलिये उन्हें परमात्माके विश्वगोचर स्थूल रूपका चिन्तन करना चाहिये। हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, वायु, वसु, रुद्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, यक्ष और दैत्य आदि समस्त देवयोनियाँ—मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी और वृक्ष आदि अगणित प्राणी, उनके कारण और प्रधान आदितक एकपाद, द्विपाद, बहुपाद अथवा अपाद चेतन और अचेतन सभी त्रिविध भावनात्मक परमात्मा हरिका मूर्त रूप है। यह समस्त चराचर विश्व उस परब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी शक्तिसे समन्वित है।

'भगवान्‌की यह शक्ति तीन प्रकारकी है—(१) विष्णुशक्ति, (२) अपरा क्षेत्रज्ञशक्ति और (३) कर्म नामक अविद्याशक्ति, जिससे आवृत होकर सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञशक्ति भी संसारके समस्त तापोंका भोग करती है। इस अविद्याशक्तिके द्वारा ढकी रहनेके कारण ही क्षेत्रज्ञशक्ति सब भूतोंमें समान होनेपर भी न्यूनाधिकरूपसे दिखायी देती है। प्राणहीन पदार्थोंमें वह बहुत ही कम प्रमाणमें दीख पड़ती है, स्थावरोंमें उससे कुछ अधिक दीखती है, साँपोंमें उससे अधिक, पक्षियोंमें उससे अधिक, मृगोंमें उससे अधिक, मनुष्योंमें रहनेवाले पशुओंमें उससे अधिक, पशुओंसे मनुष्योंमें अधिक, मनुष्योंसे नागोंमें अधिक, उनसे गन्धर्वोंमें अधिक, गन्धर्वोंसे यक्षोंमें, यक्षोंसे देवताओंमें, देवताओंसे इन्द्रमें, इन्द्रसे प्रजापतिमें और प्रजापतिसे भी अधिक क्षेत्रज्ञशक्तिका विकास हिरण्यगर्भमें पाया जाता है। ये सभी उस अशेषरूप भगवान्‌के ही रूप हैं; क्योंकि ये सभी आकाशकी भाँति उन्हींकी शक्तिद्वारा व्याप्त हैं।

'अब उस ब्रह्मके दूसरे रूपका ध्यान बतलाता हूँ, बुद्धिमान् लोग इस रूपको सत् और अमूर्त कहा करते हैं। जिस रूपमें पूर्वोक्त समस्त शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं यही विश्वरूपका स्वरूप है। भगवान्के और भी अनेक रूप हैं। देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदिकी चेष्टासे जो सब रूप प्रकट होते हैं, जिन्हें भगवान् जगत्के उपकारके लिये लीलासे धारण करते हैं ऐसे रूपोंकी समस्त चेष्टाएँ स्वतन्त्र होती हैं, किसी कर्मके अधीन होकर नहीं होतीं। योगी साधकको अपनी चित्तशुद्धिके लिये सारे पापोंके नाश करनेवाले विश्वरूपके उसी रूपका चिन्तन करना चाहिये। जैसे वायुके जोरसे बढ़ी हुई, धधकती हुई अग्नि सूखे घासको क्षणभरमें भस्म कर डालती है, वैसे ही चित्तमें स्थित भगवान् विष्णु भी योगियोंके सारे पापोंको भस्म कर देते हैं। इसलिये समस्त शक्तियोंके आधार उन परमेश्वरमें ही चित्त स्थिर करना चाहिये, इसीका नाम विशुद्ध धारणा है।

'सर्वव्यापी आत्माका भी आश्रय और तीनों भावनाओंसे अतीत वह परमात्मा ही मुक्तिके लिये योगियोंके चित्तका एकमात्र शुभ अवलम्बन है। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्मयोनि देवताओंका आश्रय शुद्ध नहीं है। भगवान्का मूर्तरूप चित्तको दूसरे विषयोंसे निःस्पृह कर देता है। कारण, चित्त उसीकी ओर दौड़ता है, इसीलिये इसको धारणा कहते हैं।

'अनाधार विष्णुके अमूर्त रूपको चित्त सहसा धारण नहीं करता, इसीसे उसके मूर्त रूपका चिन्तन करना चाहिये, वह मूर्तरूप इस प्रकारका मनोहर है—जिसका सुन्दर प्रसन्नमुख है, कमलकी पँखड़ियोंके समान नेत्र हैं, सुन्दर कपोल हैं, विशाल और उज्ज्वल मस्तक है, लम्बे कानोंमें मनोहर कर्णभूषण शोभित हो रहे हैं, सुन्दर कण्ठ है, चौड़ा वक्षःस्थल श्रीवत्सके चिह्नसे अंकित है, गम्भीर नाभि और उदरपर त्रिवली सुशोभित हैं, आजानुलम्बित आठ या चार भुजाएँ हैं, ऊरु और जंघाएँ समभावसे स्थित हैं, हाथ और पैर सुस्थिर हैं, निर्मल पीत वस्त्र और शार्ङ्गधनुष, गदा, खड्ग, शंख, चक्र, अक्ष तथा वलय धारण किये हुए हैं। भगवान्की ऐसी पवित्र विष्णुमूर्तिमें जबतक मन रम न जाय तबतक मनका संयम करके चिन्तन करते ही रहना चाहिये। जब कहीं भी जाने-आने, बैठने-उठने या स्वेच्छापूर्वक किसी भी कार्यके करते समय भी चित्तसे भगवान्का यह रूप न हटे, तब धारणाकी सिद्धि समझनी चाहिये।

'इसके बाद साधकको शंख, गदा, चक्र और शार्ङ्ग आदिसे रहित अक्षसूत्र धारण की हुई भगवान्की प्रशान्त मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उस मूर्तिमें धारणा स्थिर होनेपर किरीट, केयूररहित मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर उसी भगवान्की मूर्तिके एक-एक अवयवका चिन्तन करना चाहिये। इसके बाद योगीको उस अवयवी भगवान्में प्रणिधान करना चाहिये।

'दूसरे विषयोंमें सर्वथा निःस्पृह होकर जब साधक केवल भगवान्के रूपमें ही अनन्यभावसे तन्मय हो जाता है, तब उसीको ध्यान कहते हैं। यह ध्यान, यमादि छः प्रकारके अंगोंद्वारा सम्पादित होता है। इसके बाद समाधि होती है। समस्त कल्पनाओंसे सर्वथा रहित होकर केवल स्वरूपमें ही स्थित रहनेको समाधि कहते हैं, यह समाधि ध्यानके द्वारा प्राप्त होती है।

'समाधिके अनन्तर भगवत्-साक्षात्काररूप विज्ञानसे ही परब्रह्मरूप प्राप्य विषयकी प्राप्ति होती है, अब पूर्वोक्त त्रिविध भावनासे अतीत परमात्मा ही प्राप्त होता है। मुक्तिमें क्षेत्रज्ञ कारण और ज्ञान करण है; इन दोनोंके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्त होते ही जीव कृतकृत्य होकर जन्म-मृत्युसे छूट जाता है—परमात्माकी भावनामें विभोर जीव परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवको अज्ञानसे ही भेद-ज्ञान हुआ करता है। समस्त पदार्थोंके भेदजनक ज्ञानका सम्पूर्णरूपसे विनाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मके भेदकी चिन्ता कौन करे? खाण्डिक्य! यही योग है, इसीको जानकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयास कर सकता है। मैंने संक्षेप और कुछ विस्तारसे यह महायोग आपको बतलाया, अब कहिये, मुझे और क्या करना होगा?'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! आपने मुझे यह महायोग बतलाकर सब कुछ दे दिया है, आज आपके उपदेशसे मेरे चित्तका सभी मल नष्ट हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं जो यह 'मेरा', 'मेरा' कहता हूँ सो सर्वथा मिथ्या है। 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा व्यवहार होता है, परन्तु वास्तवमें यह अविद्या ही है। परमार्थ वाणीके अगोचर होनेसे जबानकी चीज नहीं है। केशिध्वज! आपने मुझको मुक्ति देनेवाला यह महायोग बतलाकर मेरा बहुत ही उपकार किया है, अब आप अपने कल्याणके लिये घर पधारिये।'

तदनन्तर केशिध्वज खाण्डिक्यके द्वारा पूजित होकर अपने घर लौट आये। खाण्डिक्यने यम-नियमादिकी साधनाके द्वारा परमात्मामें चित्त लगाकर अन्तमें निर्मल परब्रह्मको प्राप्त किया। इधर केशिध्वज भी भोगोंके द्वारा अदृष्टका क्षय करके निष्काम कर्म करते हुए निर्मलचित्त होकर परमसिद्धिको प्राप्त हो गये। (विष्णुपुराणके आधारपर)

भोग और त्याग

आधुनिक मनोविज्ञानके विश्लेषण (New Psycho-analysis)-का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करनेकी भरपूर चेष्टा कर रहा है कि 'भोगोंको अतिमात्रामें भोग लेनेसे ही शान्ति मिलती है और तभी भोगोंसे हमारी विरति होती है। इस मतके अनुसार मनुष्य भोगोंसे भागकर उनसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। भाग जानेपर भी वह बार-बार उनमें फँसेगा, इसलिये आवश्यक है कि भोगोंको खूब भोगकर, उनका खूब अनुभव करके, उनके आनन्द और उपभोगकी अतिमात्राके कारण विरसताका भी अनुभव करके उन्हें सदाके लिये छोड़ दिया जाय। भोगोंका अतिभोग ही सच्ची विरक्ति ला सकता है न कि उसके प्रति अज्ञान या अवहेलना।'

दूसरा मत जो हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन कालसे चला आ रहा है और जिसकी घोषणा हमारे शास्त्र और सन्त डंकेकी चोट कर रहे हैं—यह है कि भोगोंके त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है; भोगोंकी कोई इति नहीं। अस्तु उनसे अलग हो जाना ही, उनको त्याग देना ही कल्याणकामियोंके लिये सर्वथा उचित तथा उपादेय है। इस मतके लोगोंका कथन यह है कि भोगोंकी अतिसे क्षणिक विरति भले ही हो, पर बार-बार मन उनमें फिर भी जा सकता है।

दोनों ही मत अपने-अपने विचारसे ठीक हैं; क्योंकि एक बात तो दोनोंमें ही है और वही मुख्य है—वह है शान्तिकी इच्छा। किसी प्रकार हो, लोग शान्तिकी खोजमें हैं, शान्ति चाहते हैं और उसी शान्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग तथा मत स्थापित करते हैं। भगवान्‌ने गीताजीमें शान्ति-प्राप्तिके बहुत-से उपाय विभिन्न अधिकारियोंके लिये बतलाये हैं, उनमेंसे एक यह है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२। ७१)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतलायी हैं—जो पुरुष (१) सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, (२) सर्वथा ममतारहित होकर, (३) अहंकाररहित और (४) स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त करता है और जब भीतर शान्ति नहीं है, चित्त अशान्त है, तब सुख कहाँ—**'अशान्तस्य कुतः सुखम्?'** मनमें किसी कामनाका उदय होना ही यह सूचित करता है कि कोई अभाव है। अभावके बोधमें ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही अशान्ति है—दुःख है। कामना दो प्रकारकी होती है—(१) प्रतिकूल वस्तु है तो उसका नाश हो जाय, (२) अनुकूल वस्तु नहीं है तो वह मिल जाय। ये दो प्रकारके अभाव होते हैं—एकमें प्रतिकूलके नाशका अभाव है, दूसरेमें अनुकूलके न होनेसे अभाव है, यह अभावका बोध ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। जहाँतक कामना है, वहाँतक अभावका अनुभव है। अभाव ही प्रतिकूलता और प्रतिकूलता ही अभाव है। अतः जहाँतक इन कामनाओंका नाश नहीं हो जाता, वहाँतक शान्ति नहीं मिल सकती।

कामनाके नाशके लिये ही उपर्युक्त दोनों मार्ग हैं—भोगोंको भोगना, अतिमात्रामें भोगना, इतना कि भोगते-भोगते उनकी ओरसे मन ऊब जाय—हट जाय और दूसरा यह कि भोग-कामनाको उगने ही नहीं देना, आरम्भसे ही भोगोंका त्याग कर देना। दृष्टिभेदसे दोनों ही ठीक हैं। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिको हर समय बार-बार दी जायगी तो वह कभी-न-कभी उससे अवश्य ही ऊब जायगा। यदि किसी व्यक्तिको खीर खानेकी इच्छा है तो उसे हर समय यदि केवल खीर ही खानेको दी जाय तो वह ऊब उठेगा, खीरसे घबरा जायगा। इसी प्रकार स्त्री-सुख है। यदि किसी पुरुषको खाने-पीनेको कुछ भी न दिया जाय और रात-दिन केवल स्त्री-सम्भोगकी ही छुट्टी दे दी जाय तो वह उससे शीघ्र ही ऊब उठेगा। भोगोंको अतिमात्रामें पानेसे उनसे स्वाभाविक ही अरुचि होती है।

परन्तु एक बात स्मरण रखनेकी है और वह यह कि कामनाके प्रधानतया दो रूप होते हैं—वासना और

इच्छा। जबतक मनमें वासना है, तबतक इच्छा भी होगी ही। वासना सूक्ष्म है, इच्छा स्थूल है। जबतक वासना नष्ट नहीं होती, तबतक यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ समय बाद वह स्थूल रूपमें इच्छा बनकर फिर जाग उठे। खीर अधिक खा लेनेसे आज हमारी तृप्ति हो जाती है और उस समय उससे हमारी अरुचि हो जाती है; हम और नहीं चाहते; पर यदि हमारे मनसे उसकी वासना न मिटी तो कुछ दिनों बाद फिर खीरके स्वादका स्मरण आयेगा और हम उसे पाना चाहेंगे। ठीक यही बात स्त्री-सम्भोगकी भी है। आज उसकी अतिमात्राके कारण उससे भले अरुचि हो जाय, पर महीने-दो-महीनेमें फिर वह वासना धर दबायेगी और उस समय पहलेकी विरतिका स्मरणतक भी नहीं होगा। चित्त जब मुरझाया हुआ होता है, उस समय मनमें ऐसा भासता है कि भीतर भोगकी गन्ध भी नहीं है, पर अवसर और अनुकूल संयोग पाते ही दबी हुई वासना उदय हो ही जाती है। बीमारीकी हालतमें चित्त भोगोंसे हटता है, पर बीमारी बीतनेके बाद फिर वही चाट। अघा जानेपर एक बार विषयोंसे जो उपरति होती है, वह विषयोंसे हमारी स्थायी विरक्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वासनाका सर्वथा नाश हो गया होता तो फिर वह उगती कहाँसे? भोगोंको अधिक भोग लेनेसे मनमें जो तात्कालिक विरति होती है, वह स्थायी नहीं कहला सकती।

इसी प्रकार बलात् भोगोंके त्यागकी बात है। उनका हम हठसे त्याग करते हैं। जबतक वासनाका त्याग नहीं होता, तबतक मन उनपर चलता रहता है। जहाँ उस निग्रहका नियम ढीला हुआ कि फिर मन उसी वस्तुपर चला जाता है। भोगोंका अधिक भोग तथा हठपूर्वक त्याग दोनोंसे ही—जबतक चित्तमें वासना है, तबतक स्थायी और सच्ची विरति या उपरति प्राप्त नहीं होती, अतः तबतक शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकते। वासनाका मूल नहीं कटता—किसी कारणसे वह दब-सी जाती है, पर फिर उभर आती है। बहुत बार हम उसे नियमोंके द्वारा दबा देते हैं; पर मन बरबस बार-बार उधर ही जाता है। दोनोंमें ही कामनाका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जबतक अविद्याका—मोहका नाश नहीं होता, तबतक भोगोंका त्याग न हठपूर्वक त्यागसे ही हो सकता है, न अधिक भोगसे ही।

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि 'वासना-नाशके लिये फिर दोनोंमें—अतिभोग और भोगत्यागमें—सही मार्ग कौन-सा है? कौन-सा ऐसा पथ है, जिसके द्वारा हम वासनाका यथार्थतः त्याग कर सकते हों और जो बराबर सुरक्षित हो।' इसके उत्तरमें इतना तो डंकेकी चोट कहा जा सकता है कि 'त्यागका मार्ग' ही श्रेष्ठ है। यही हमारे शास्त्रोंका निचोड़ है, यही हमारे सन्त-महापुरुषोंकी अनुभवपूर्ण अमर वाणी है। भोगोंके भोगनेसे और अधिक प्राप्तिसे भले ही शरीर दुर्बल हो जाय, पर भोगोंकी कामना मिट जाती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब शरीर अशक्य हो जाय और चित्त व्याकुल हो, तब भले ही कामनाका अभाव-सा प्रतीत हो; परन्तु जहाँ शक्ति हुई कि पुनः वे ही कामनाएँ और भी भयानक रूपमें सामने आ जाती हैं। भोगोंसे भोग-कामनाका उपशमन कभी नहीं होता!

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते।

राजा ययातिने बहुत भोग भोगे, परन्तु भोगोंसे तृप्ति हुई ही नहीं, तब हारकर कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमंगलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३—१६)

'जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त है, उस पुरुषके मनको पृथ्वीमें जितने भी भोग्यपदार्थ—धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, सब मिलकर भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। विषयके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती, वरं जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगोंकी प्राप्तिसे भोगवासनाएँ भी प्रबल हो जाती हैं। जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ राग-द्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये फिर सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं। विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्भवस्थान है, मन्दबुद्धि मनुष्य बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो

जाता है, पर तृष्णा नित्य तरुणी ही बनी रहती है। अतः जो कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना)-का त्याग कर देना चाहिये।'

ज्यों-ज्यों मनचाही चीज मिलने लगती है, त्यों-त्यों मनचाहीकी सीमा और आगे बढ़ती है। यदि भोगोंकी प्राप्तिमें ही वास्तविक तृप्ति होती तो किसी भी अवस्थामें तो मनुष्य यह कहता कि 'अब और नहीं चाहिये।' पर देखनेमें आता है कि करोड़पति-अरबपतिमें भी वही हाहाकार है, वही अशान्ति है, वही 'अभी कुछ और' की पुकार बनी हुई है। जबतक अविद्याका नाश नहीं होता, तबतक शान्ति कहाँ?

संसारके समस्त सुख-भोग, समृद्धि-वैभव पाकर भी यह जीव तृप्त नहीं होता इसका क्या कारण है? हम सम्राट् भी हो जायँ फिर भी इच्छाओंकी इति नहीं—इसमें क्या हेतु है? यह जीव सच्चिदानन्द है। आत्माका सनातन अंश है, नित्य पूर्ण है, इसकी तृप्ति अपूर्णसे कैसे होगी? यह जिस अवस्थाको प्राप्त करता है, जहाँ भी यह जाता है, सम्राट् होनेपर भी यह देखता है कि वहाँ पूर्णता नहीं। देवराज इन्द्र बन जानेपर भी पूर्णताका बोध नहीं होता। वहाँ भी अतृप्त रहता है। जीवकी यह 'आत्यन्तिक अतृप्ति' यह सूचित करती है कि यह उस अवस्थाकी खोजमें है जो नित्य, सत्य, परिपूर्ण, अज, अविनाशी, शाश्वत, सनातन है। जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती। यदि भोगोंसे ही वासना मिट जाय तब तो इस सिद्धान्तमें ही बाधा आ जायगी। क्या जीव अपूर्णसे कभी तृप्त होगा? असलमें जीवके लिये इन अपूर्ण वस्तुओंकी प्राप्ति और उनमें रति पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है। 'असत्‌में सद्बुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अपवित्रमें पवित्रबुद्धि' ही तो अविद्याके लक्षण हैं। जब यह असत्, अपवित्र और दुःखरूपी वस्तु पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है, तब फिर इसीके बलपर—अविद्याका सहारा लेकर जीव अपनी शाश्वती परमानन्द-स्थितिको कैसे प्राप्त करेगा? हमें तो अपने घर पहुँचना है, यदि राहकी ही किसी वस्तुपर हमारा मन लुभा गया और उसीमें हम रम गये, राहमें ही रह गये तो मार्ग छूटा, घरकी ओर बढ़नेसे रुके और घरसे अलग ही रह गये। इसीलिये तो संसारशिखरपर खड़े होकर सन्त-महात्मा हमें चेताते हैं—'घर लौटो, राहमें न भटको! यह संसार दुःखालय है, अशाश्वत है, अनित्य है, असुख है, इसमें न भरमो।' भगवान्‌ने कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

'इस क्षणभंगुर और सुखरहित संसारको पाकर मुझे भजो।' तुम्हारा मार्ग न छूटे। रास्ता छोड़कर अन्यत्र न भटक जाओ। दुःखका यह भण्डार है, क्षणभर भी ठहरनेवाला नहीं है! सावधान! भोगोंमें ही जब सुखका, तृप्तिका बोध होने लगेगा, तब मनुष्य वहीं ठहर जायगा। इसका परिणाम? परिणाम तो स्पष्ट है—वह आत्मासे वंचित रह जाता है। 'घर' नहीं पहुँचता, बीचमें ही रुक जाता है और भोगोंमें तृप्ति कहाँ? ज्यों-ज्यों भोग मिलते हैं, वासना बढ़ती जाती है। इसीलिये सन्त कहते हैं—इन्हें छोड़ो—**'विषयान् विषवत्त्यज!'** भोगोंको विषके समान त्याग दो! भोगोंसे तृप्ति नहीं होती, हो नहीं सकती।

हमारे मनमें जो स्फुरणा होती है, उसका कारण है—हमारी संचित कर्मराशि। संचित है क्रियमाणकी पूँजी। क्रियमाणकी तहपर तह लग जाती है—कर्मोंकी बड़ी भारी तह लग गयी। इसी कर्मराशिका नाम संचित है, इस संचितसे कुछ सार लेकर प्रारब्ध बनता है। क्रियमाण और प्रारब्धका यही स्वरूप है। स्फुरणा उसी संचितकी अधिक होती है, जो नवीन होता है। जो कर्म आदमी वर्तमानमें करता है उसीका नया संचित बनता है। संचितसे स्फुरणा (कर्मप्रेरणा) उत्पन्न होती है और बार-बार जैसी स्फुरणा होती है प्रायः वैसा ही नया कर्म बनता है। नया कर्म ही संचित बन जाता है, उसीकी फिर स्फुरणा होती है। यों चक्र चलता जाता है। इससे पुराने संचितके पुराने संस्कार दब जाते हैं। जैसे गोदाममें जो माल सबके बाद रखा जाता है, निकालते समय सबसे पहले वही निकलता है। इसी प्रकार अन्तरमें जो अनन्त कर्मराशिकी तह-पर-तह लगी है, उनमेंसे उसीकी स्फुरणा पहले होती है, जो सबसे आगेकी या ऊपरके स्तरका कर्म होता है। जैसे गोदाममें नीचे प्याज दबा है, ऊपर और आगे केसर-कपूर भर दिया जाय तो प्याजकी गन्ध दब जाती है और केसर-कपूरकी आती है। इतना होनेपर भी कभी-कभी वायुके झोंकेसे नीचे दबे प्याजकी भी गन्ध आ जाती है। वैसे ही वर्तमानके शुभ-कर्मोंकी शुभ स्फुरणा होनेपर भी मनमें संचित अशुभ-कर्मोंकी अशुभ स्फुरणा भी कभी-कभी हो ही जाती है। पर यदि मनुष्य लगातार शुभका ही संचय करता जाय तो पुराने

कर्म बहुत नीचे दब जाते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह बराबर शुभ संगमें रहे और शुभको पकड़े रहे। तो इस प्रकार धीरे-धीरे उसके सारे बुरे कर्म और भाव दबकर नये शुभ और पुण्य भाव उदय होंगे। नवीन कर्म पुरुषार्थप्रधान है। बार-बार सत् पुरुषार्थ करे। यों करते रहनेसे आगे चलकर शुभका एक ऐसा सुन्दर चक्र बन जायगा कि फिर अशुभ होगा ही नहीं और जब शुभ खूब बढ़ जायगा, तब ज्ञानाग्नि उत्पन्न होगी ही। जैसे केसर-कपूरकी प्रचुरता होनेपर कभी रगड़ लगकर आग उत्पन्न हो ही जाती है। ज्ञानाग्नि शुद्ध अन्तःकरणमें ही उत्पन्न होती है। ज्ञानाग्नि सारी भली-बुरी कर्मराशिको भस्मकर मनुष्यको सच्ची निष्कर्मता प्रदान करती है। गोदाममें आग लग गयी, बुरा-भला सब भस्म हो गया। यदि हम त्यागके मार्गपर रहें तो सारा जीवन त्यागमय हो जाता है। यदि भोगमें रहें तो फिर नये-नये भोगोंका परिचय, उनमें रुचि, वासना, आसक्ति और उनकी कामना मनमें बढ़ती जाती है और परिणामस्वरूप मनमें उन्हींका संस्कार दृढ़ होता है। इससे निश्चय ही नये-नये पाप होते हैं। मनुष्यको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि पाप होनेमें कारण प्रारब्ध नहीं, कामासक्ति है। अर्जुनके पूछनेपर कि 'इच्छा न होनेपर भी मनुष्यसे बलात् कराये हुएकी भाँति पाप कौन करवाता है?' भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'अर्जुन! यह रजोगुण (रागात्मक वृत्ति—आसक्ति)-से उत्पन्न काम (कामना) ही क्रोध है। यह कभी न अघानेवाला (भोगोंसे सदा अतृप्त रहनेवाला) और महान् पापी (पापोंका उत्पादक) है, इस सम्बन्धमें तू इसीको वैरी समझ।' पापोंकी जड़ है बस, भोगकामना।

भगवान्‌ने बतलाया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

('मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें भगवत्परायण न कर दिया जायगा तो) मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें भी कामना उत्पन्न होगी, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध होगा (और कामना सफल होनेपर लोभ)। क्रोध (या लोभ) बढ़ते ही महान् मूढ़भाव उत्पन्न होगा और मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, स्मृतिके भ्रंश हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेकशक्तिका नाश हो जायगा और बुद्धिके नाश होनेसे यह श्रेयसाधनसे सर्वथा भ्रष्ट हो जायगा।' इस प्रकार विषयके स्मरणमात्रसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। अच्छे-अच्छे संस्कारवाला पुरुष भी विषयोंके चिन्तनमें लग जाय तो वह महापापी हो जायगा और उधर महापापी भी चित्तके द्वारा विषयोंका चिन्तन छोड़कर भगवान्‌के चिन्तनमें लगे तो वह शीघ्र ही पुण्यात्मा हो जायगा—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है।' विषयोंके चिन्तनमात्रसे अशान्ति एवं सर्वनाशका द्वार खुल जाता है और भगवान्‌के स्मरणमात्रसे आनन्द और शान्तिका अमृत बरस पड़ता है। यह है महान् अन्तर। विषयोंके चिन्तनका अर्थ है—सर्वनाश। भगवान्‌के शरणका अर्थ है—आत्माको परम शान्तिकी प्राप्ति। भोगका अर्थ है—बार-बार मरना, बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना। त्यागका अर्थ है—मृत्युसे आत्यन्तिक निवृत्ति, भगवत्प्राप्ति!

इस प्रकार भोगोंसे भोगका नाश कैसे होगा? **'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ?'** बहादुरीके साथ, निष्ठा और लगनके साथ भोगोंका त्याग करना चाहिये। भोगविषयोंका त्याग लोगोंको दिखानेके लिये—दम्भके लिये न हो, ईमानदारीसे होना चाहिये। साधन दूसरी वस्तु है तथा साधनका दम्भ दूसरी। लोगोंको दिखलानेके लिये जो कुछ होता है, मान-सम्मानकी आशासे जो कुछ किया जाता है, उसे दम्भ समझना चाहिये। त्यागका स्वाँग त्याग नहीं है। महिमा तो सच्चे त्यागकी है। निश्छल, निष्कपट त्याग ही त्याग है।

त्याग होना चाहिये यथार्थ, सच्चा। ऊपरसे त्याग हो और मनमें चिन्तन चलता रहे, कामनाकी आग बुझे नहीं तो वह दम्भाचार होगा। भोगत्यागका असली अर्थ है—भोगकामनाका त्याग। उस त्यागसे तुरन्त शान्ति मिलती है। संसारमें रहनेवालेसे भोगका सर्वथा त्याग तो होगा ही नहीं। पर राग-द्वेषरहित होकर वशमें किये हुए

मन-इन्द्रियोंसे जो संयमित (शास्त्रविहित, परिमित और नियमित) विषयोंका भोग होता है, उससे प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता और निर्मलता) प्राप्त होता है तथा उस प्रसादसे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

दुःखनाशके अमोघ उपाय

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख भी अखण्ड, पूर्ण और नित्य चाहते हैं, परन्तु मोहवश उसकी खोज करते हैं संसारके पदार्थोंमें, जो स्वयं अपूर्ण, खण्ड और अनित्य हैं। भगवान्ने उनको सुखरहित और अनित्य अथवा दुःखालय और अशाश्वत बतलाया है। सो सत्य ही है। जो वस्तु अपूर्ण, खण्ड और अनित्य होती है, वह कभी सुख नहीं दे सकती। फिर जगत्में जो हम सुख देखते हैं, वह क्या है? वह है भ्रान्ति। असलमें तो 'विषयोंमें सुख है,' ऐसी कल्पना ही भ्रम है। भगवान्ने भोगोंको दुःखयोनि बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'अर्जुन! ये जो इन्द्रियोंके स्पर्शसे उत्पन्न भोग हैं, सब दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें कभी प्रीति नहीं करता।'

वस्तुतः जगत्के सुख-दुःख सब केवल अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर ही हैं। जहाँ अनुकूलताका बोध है, वहाँ सुख है और जहाँ प्रतिकूलताका बोध है, वहाँ दुःख है। किसी स्थिति, घटना या वस्तुमें सुख-दुःख नहीं हैं। एक आदमीकी मृत्यु होती है। उसमें जिनका ममत्व है, वे प्रतिकूलताका अनुभव करके रोते हैं और जिनकी शत्रुता है, वे अनुकूलताके बोधसे हँसते हैं और आनन्द मनाते हैं। नारदजी पूर्वजन्ममें जब वे दासीपुत्र थे और बहुत छोटी उम्रके—केवल पाँच वर्षके थे, तब उनकी आश्रयभूता एकमात्र माताको साँपने डस लिया। माता मर गयी, इसपर नारदजीको दुःख नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि 'माता मेरे भजनमें एक प्रतिबन्धक थी। भगवान्ने बड़ा अनुग्रह किया जो माताका देहान्त हो गया।' वे माताके इकलौते पुत्र थे परन्तु अनुकूलताकी भावनासे वे दुःखी नहीं हुए। नरसी भक्तके इकलौते और अत्यन्त प्यारे जवान पुत्रकी मृत्यु हो गयी। नरसीजीने उसमें अनुकूलताका अनुभव किया और दुःखी न होकर वे गाने लगे—'*भलुं थयुं भाँगी जँजाल। सुखे भजीशुँ श्रीगोपाल।*' 'अच्छा हुआ जंजाल टूट गया, अब सुखसे श्रीगोपालजीका भजन करूँगा।' लगभग कुछ वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेके 'अलीपुर बम केस' में जिसमें श्रीअरविन्द तथा उनके भाई श्रीवारीन्द्रकुमार घोष आदि अभियुक्त थे, नरेन्द्र गोस्वामी नामक एक युवक सरकारी गवाह बन गया था। उसको जेलमें ही एक दूसरे अभियुक्त श्रीकन्हाईलाल दत्तने मार डाला। कन्हाईलालको फाँसीकी सजा हुई। पर उसको अपने इस कार्यपर इतना अधिक सन्तोष और आनन्द था कि फाँसीकी सजा सुनायी जाने और फाँसी होनेके बीचके दो-तीन सप्ताहके समयमें ही उसका कई पौण्ड वजन बढ़ गया। कहाँ तो मौतके नामसे खून सूख जाता है, कहाँ मृत्युकी तिथि निश्चित हो जानेपर भी खून बढ़ गया। गोस्वामीको मारना पाप था या पुण्य, यह पृथक् प्रश्न है। पर कन्हाईलालने अपनी इस मृत्युमें इतनी अधिक विलक्षण अनुकूलताका बोध किया और इतना अधिक सुखका अनुभव किया कि जिसने उसका इतना खून बढ़ा दिया। अतएव किसी घटनामें सुख-दुःख नहीं है। वह तो अनुकूलता और प्रतिकूलताके भावमें ही है।

एक ध्यानका अभ्यास करनेवाला साधक कोठरी बन्द करके बैठता है और कहता है कि 'बाहरसे ताला लगा दिया जाय। तीन घण्टे कोई खोले नहीं।' वह अन्दर बैठकर मनको रोकने और इष्टका ध्यान करनेकी कोशिश करता है। यद्यपि नया साधक होनेसे उसका मन टिकता नहीं, पर वह इसमें सुखका अनुभव करता है और उसी कोठरीकी बगलकी दूसरी कोठरीमें एक आदमीको उसकी इच्छाके विरुद्ध बन्द कर दिया जाता है। वह बड़ा दुःखी होता है और कहता है कि 'तुरन्त मुझे बाहर निकाल दिया जाय।' बन्द करनेवालोंको वह

दुर्वचन कहता है, शाप देता है। दोनोंकी बाहरी स्थिति बिलकुल एक-सी है। दोनों ही एक-सी जगह बन्द हैं। दोनोंके ही मन चंचल हैं, पर एक अनुकूलताका बोध करता है, दूसरा प्रतिकूलताका। इसीके अनुसार वे दोनों सुख-दुःखका भी पृथक्-पृथक् अनुभव करते हैं।

एक आदमी अपने विपुल धनैश्वर्यका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करता है और दूसरेका धन छीनकर उसे वैरी लोग घरसे निकाल देते हैं। दोनों समान धनहीन हैं। पर पहला प्रसन्न है, दूसरा दुःखी है। इसका कारण वही अनुकूलता-प्रतिकूलताका बोध है। इससे सिद्ध है कि यहाँके सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूलभावमें ही हैं। एक भूखा आदमी है, बढ़िया-बढ़िया भोजन-पदार्थ बने हैं। वह खानेको लालायित है। खाने बैठता है, बड़ा स्वाद, बड़ा सुख मिलता है। भर पेट खा लिया, खूब अघा गया। अब वही पदार्थ यदि कोई उसे जबर्दस्ती खिलाना चाहता है तो उसे गुस्सा आ जाता है। वह उद्विग्न हो जाता है। पहले अनुकूलभाव था, तब सुख मिला। प्रतिकूल होते ही दुःख हो गया। अतः सुख-दुःख वस्तुमें नहीं हैं।

यह भी निश्चित है कि यहाँकी प्रत्येक अनुकूलता अनेकों प्रकारकी प्रतिकूलताओंको साथ लेकर आती है। एक अभावकी पूर्ति दसों नये अभावोंकी उत्पत्ति करनेवाली होती है। यहाँकी वस्तुमात्र ही—स्थितिमात्र ही अपूर्ण, अनित्य, क्षणभंगुर, वियोगशील और किसी अन्य वस्तु या स्थितिसे निम्न स्तरकी है। जहाँ यह परिस्थिति है वहाँ प्रतिकूलता रहेगी ही और प्रतिकूलता रहेगी तो दुःख भी रहेगा ही। अतः कोई यह चाहे कि मैं जगत्‌में सारी परिस्थितियोंको सदा अपने अनुकूल बना लूँगा और परम सुखी हो जाऊँगा तो यह सर्वथा असम्भव है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। विचारके द्वारा प्रत्येक प्रतिकूलताको उपर्युक्त नारदजी और नरसीजीकी भाँति अनुकूलतामें परिणत कर लेना पड़ेगा, तभी सुख होगा और ऐसा करना मनुष्यके अपने हाथकी बात है। स्वरूपतः बाह्य परिस्थितिको बदल देना तो बहुत ही कठिन है, निश्चित प्रारब्ध होनेपर तो असम्भव-सा ही है; परन्तु विचारके द्वारा दुःखको सुखरूपमें परिणत करके सुखी हो जाना सहज है और अपने अधिकारमें है। इसके कई तरीके हैं, जो सभी सत्यके स्वरूप हैं।

१—वेदान्तकी दृष्टिसे जगत् स्वप्नवत् है। मायासे ही यह सत्य भास रहा है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
(१५।३)

'इसका स्वरूप जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं और इसका न आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी तरहसे स्थिति ही है।' सिनेमा देख रहे हैं। नाना प्रकारके दृश्य दिखलायी दे रहे हैं। आवाज सुनायी पड़ रही है। परन्तु कोई चाहे कि इन देखी हुई वस्तुओंको पर्देके पास जाकर मैं ले लूँ तो उसे सर्वथा निराश होना पड़ता है। वहाँ सिवा सादे पर्देके और कुछ है ही नहीं अथवा जैसे स्वप्नकी सृष्टिके पदार्थ और वहाँकी घटनाएँ जागनेपर नहीं मिलतीं, पर जबतक स्वप्न है, तबतक यह पता नहीं लगता कि यह स्वप्नकी सृष्टि कबसे बनी है और यह कबतक रहेगी। वहाँ तो यह नित्य ही मालूम होता है, पर सचमुच उसकी वहाँ कुछ भी प्रतिष्ठा—स्थिति नहीं है। स्वप्न टूटा कि कुछ नहीं। अतएव जगत्‌के समस्त सुख-दुःख स्वप्नकी सृष्टिके सुख-दुःखोंकी भाँति असत् हैं, जागनेपर जैसे स्वप्नके देखे हुए पदार्थोंकी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानमें इनकी भी सत्ता नहीं है, इसलिये इन घटनाओंको लेकर सुखी-दुःखी होना मूर्खता है। एक ही अखण्ड परिपूर्ण परमात्मसत्ता है, वह नित्य सत्य सच्चिदानन्द-घन है। उसमें न जन्म है न मृत्यु, न सुख है न दुःख, न लाभ है न हानि। वह सदा सम, एकरस और कूटस्थ है। इस प्रकारके विचारसे दुःखका नाश हो जाता है। संसारकी स्थिति कुछ भी हो इस प्रकारके निश्चयवाले पुरुषको सुख-दुःख कभी नहीं होता। श्रीगीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

'वह प्रिय (जिसको लोग प्रिय या सुख कहते हैं)-को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता। अप्रिय (जिसको लोग अप्रिय या दुःख कहते हैं)-को प्राप्त करके वह उद्विग्न नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, उसके सब सन्देह मिट गये हैं, वह ब्रह्मको जान गया है और ब्रह्ममें स्थित है।'

वह निरतिशय आत्यन्तिक आनन्दका अनुभव करता है। आनन्दरूप ही हो जाता है। फिर उसके लिये दुःख रहता ही नहीं।

ऐसी स्थिति न हो, तबतक विचारपूर्वक ऐसी धारणा करे। इस धारणासे ही दुःखका नाश हो जाता है।

२—जगत्‌में जीवोंके लिये फलस्वरूपसे जो कुछ भी प्राप्त है, सब सर्वशक्तिमान्, जीवोंके परम सुहृद् भगवान्‌के नियन्त्रणमें और उनके विधानसे होता है। मंगलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मंगलमय है। देखनेमें चाहे कितना ही भयंकर हो, पर वास्तवमें वह कल्याणमय ही है। निपुण डॉक्टर जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करते हैं। छुरियोंसे अंगको काटते हैं। दर्द भी होता है। पर डॉक्टर यह क्रूर कार्य करते हैं रोगीके मंगलके लिये तथा रोगी यदि विश्वासी और समझदार है तो वह इस निष्ठुर पीड़ादायक कर्ममें भी डॉक्टरकी दया मानकर प्रसन्न होता है और उसका कृतज्ञ होता है। इसी प्रकार हमारे परम सुहृद् मंगलमय भगवान् भी कभी-कभी हमारे मंगलके लिये ऑपरेशन किया करते हैं। इस बातपर हमें विश्वास हो जाय तो फिर दुःख रहेगा ही नहीं। छोटे बच्चेको माँ रगड़-रगड़कर नहलाती है, बच्चा रोता है, पर माँ उसके शरीरका मैल उतारकर उसे स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाकर नये कपड़े पहनाने और सजानेके लिये ही यह आयोजन करती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमें निर्मल और पवित्र बनानेके लिये पापोंका फल—कष्ट भुगताया करते हैं। इसमें भी उनका वात्सल्य और कारुण्य भरा रहता है। इस दृष्टिसे यदि हम विश्वासपूर्वक विचार करें तो फिर दुःख नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती और हम हरहालतमें भगवान्‌के मंगलविधानका दर्शन करके भगवान्‌के मंगलमय करकमलका स्पर्श पाकर आनन्दमुग्ध रह सकते हैं।

३—जगत्‌में वास्तवमें दो ही तत्त्व हैं—भगवान् और भगवान्‌की लीला। 'जो कुछ है, सब भगवान् हैं,' और 'जो हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला हो रही है।' एवं लीलामय और लीलामें वैसे ही अभेद है जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिमें अथवा सूर्य और सूर्यके प्रकाशमें। अतः हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, सब हमारे प्रियतम भगवान्‌की लीला ही हो रही है। इस लीलाका संस्पर्श वस्तुतः लीलामय भगवान्‌का ही संस्पर्श है। विश्वासपूर्वक इस प्रकारका भाव हो जानेपर दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक सुख-दुःख-संज्ञक भोगोंमें लीलाविहारी भगवान्‌का मंगलमय स्पर्श प्राप्त होता रहता है, जिससे नित्य नव-नव आनन्दरसकी धारा बहती रहती है।

ये तीनों ही बातें सिद्धान्ततः सत्य हैं। जगत् स्वप्नवत् है—केवल ब्रह्म ही व्याप्त है। जगत्‌में सब कुछ मंगलमय भगवान्‌के मंगल विधानसे मंगल ही हो रहा है और जगत्‌में भगवान् ही अपने-आपसे आप ही खेल रहे हैं। तीनोंका ही तात्त्विक स्वरूप एक ही है। यह वस्तुतः सत्यको सत्यमें देखना है, जो मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसीका फल भगवत्प्राप्ति या पूर्ण सुखरूप मोक्ष है।

इस प्रकार अशेष दुःखोंसे छूटकर मनुष्य भगवत्कृपासे अपनी इसी आयुमें अखण्ड और पूर्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है। इच्छा, विश्वास और तत्परता होनी चाहिये।

नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिके स्वरूप, लक्षण तथा परिणामका विशद वर्णन करते हुए अन्तमें कहा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(१६।२१)

'काम, क्रोध और लोभ। ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।'

पर हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि यही तीनों आज हमारे जीवनके अवलम्बन-से हो रहे हैं। कोई भी क्षेत्र इनके बुरे प्रभावसे अछूता नहीं बचा है। इन्हींके कारण आज सारा समाज बड़ी तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है। इसीलिये इतनी अशान्ति, कलह, दुःख और पीड़ा है।

प्रथम तो वर्तमान सरकारने प्रजापर इतने अधिक कर लगा दिये हैं कि उनके बोझसे सब दब गये हैं और किसी भी उपायसे उस कर-भारसे बचना चाहते हैं। कुछ वर्षों पहलेकी बात है—एक बड़े व्यापारी सज्जनने कहा था कि ''हमलोग शौकसे झूठ-कपट

नहीं कर रहे हैं। इतना भारी कर लगा है कि उसे यदि पूरा चुकाने जायँ तो खर्च जोड़कर अमुक प्रतिशत उलटा घाटा रहता है। यह तो वैसी ही बात है जैसे कोई डाकू घर-बार लूटनेके लिये सदल-बल घरमें आ घुसा हो और उसका सामना करके बचनेकी आशा न हो; तब जैसे उससे बचानेके लिये घरका धन, जेवर-जवाहरात आदि छिपा लिया जाता है और उससे विनयपूर्वक असत्य कहा जाता है कि 'हमारे घरमें तो कुछ है ही नहीं, देख लो।' ठीक वैसे ही इस अन्यायपूर्ण करसे बचनेके लिये हमलोगोंको मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है।'' यद्यपि उनकी इस युक्तिका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता। किसी भी स्थितिमें छल, कपट और चोरीका समर्थन आस्तिक तथा धर्मभीरु पुरुषके लिये इष्ट नहीं है। इधर तो आय-करमें कुछ कमी भी हुई है, तथापि यह बात ऐसी नहीं है जो बिलकुल उड़ा दी जाय। आजकल जिस प्रकारसे नये-नये कर लगाये जा रहे हैं, हर एक बातमें प्रजाको पराधीन बनाया जा रहा है, खुला व्यापार मानो रहा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें छिपाकर धन कमाने और रखनेकी प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सचमुच आजके नैतिक पतनमें यह भयानक कर-भार भी एक प्रधान कारण है।

दूसरा कारण है—नियन्त्रण या कण्ट्रोल। महात्मा गाँधीजीने इसकी बुराइयोंको समझा था और वे रहते तो अबतक यह नियन्त्रणकी विशाल माया-नगरी कभीकी उजड़ गयी होती। नियन्त्रणकी बुराइयोंको अधिकारी लोगोंमेंसे अधिकांश जानते हैं; परन्तु नियन्त्रण बने रहनेमें ही सबका स्वार्थ है, इसलिये विविध युक्तियोंसे नियन्त्रणकी आवश्यकता बतलायी जाती है। यद्यपि हम उन बातोंको प्रमाणित नहीं कर सकते पर हमें अच्छी तरह ज्ञात है कि नियन्त्रणके कारण ही चोरबाजारी अधिक होती है। इस विभागके बहुत-से उच्च अफसर तथा इन्सपेक्टर आदि अपनेको प्रलोभनसे नहीं बचा सकते और वे उचित-अनुचित सभी तरीकोंसे व्यापारियोंसे रुपये लेते हैं। फलतः व्यापारियोंको चोरबाजारी करनेमें उत्साह और सुविधा मिल जाती है और कहीं-कहीं तो उन्हें (उनके कथनानुसार) आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है; क्योंकि ऐसा किये बिना वे उन अधिकारियोंकी माँग पूरी नहीं कर पाते। कई जगह तो व्यापारियोंसे इन लोगोंकी नियत मासिक रकम बँधी होती है। कई जगह अमुक प्रतिशत देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकारसे व्यापारी और अधिकारी मिलकर यह पाप करते हैं। अब तो इन्हें इसका ऐसा चसका लग गया है जो किसी भी कानूनसे रुकना बड़ा कठिन है।

मनुष्य जबतक पापको पाप समझता है, तबतक वह पापसे डरता है। कभी परिस्थिति या किसी लोभविशेषके कारण वह पाप कर भी लेता है तो पीछे पश्चात्ताप करता है। पर जब पापसे घृणा हट जाती है और उसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका बोध होने लगता है—पापमें पुण्यबुद्धि हो जाती है, तब पापसे बचना बहुत ही कठिन हो जाता है। फिर तो पापके नित्य नये-नये तरीके निकलते रहते हैं। इस प्रकार पापको पुण्य, अधर्मको धर्म या अन्यायको न्याय मानते-मानते बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न हो जाती है कि फिर सभी चीजें उसे उलटी दीखने लगती हैं—'**सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी**' (गीता १८। ३२)। ऐसा कामोपभोगपरायण लोभग्रस्त तामस मनुष्य या समाज क्रमशः मानवताको खोकर दानव या असुर बन जाता है, फिर ऐसा कोई भी जघन्य कार्य नहीं जो वह नहीं कर सकता और समाजमें जब प्रमुख माने जानेवाले लोग इस प्रकारके बन जाते हैं, तब दूसरे लोग भी उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं और समाजमें उनको कोई बुरा नहीं कहता। खुले चोर और डाकुओंको समाज बुरा बतलाता है और उनसे घृणा करता है, जो उचित ही है। पर ये छिपे चोर और डाकू—जो खुले चोर-डाकुओंसे कहीं भयानक और समाजका अधःपात करनेवाले हैं—क्योंकि वे चोर-डाकू तो कभी-कभी चोरी-डकैती करते हैं पर ये तो दिन-रात व्यापार और अधिकारकी आड़में भयानक-से-भयानक दुष्कर्म करते रहते हैं और समाजमें श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे लोगोंमें भी वैसे ही करनेकी प्रवृत्ति पैदा करते हैं—समाजमें प्रतिष्ठा और उच्च पद प्राप्त करते हैं।

आज हमारी प्रायः ऐसी ही दशा हो रही है। समाजमें आज उसीका मान और आदर है जो धन कमा लेता है, फिर वह चाहे किसी भी बुरे-से-बुरे साधनसे कमाता हो। एक ऊँचे अफसरने एक बार कहा था कि 'मैं रिश्वत नहीं लेता, इससे मेरे ऊपर तथा नीचेके अधिकारी मुझको मूर्ख तो मानते ही हैं, अपने मार्गका

काँटा समझते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि मैं किसी प्रकार दोषी साबित होकर यहाँसे निकाल दिया जाऊँ।' एकाधिक ऐसे अफसरोंको हम जानते हैं, जो रिश्वत न खानेके कारण अपने ऊपरके अफसरोंको खुश नहीं रख सके और इसी कारण उनपर कई प्रकारकी विपत्तियाँ आयीं। उनकी उन्नति रुक गयी, उन्हें मुअत्तिल किया गया, उनको अपने स्तरसे नीचे गिराया गया तथा उनपर कई तरहके अपराध लगाये गये और हजार प्रयत्न करनेपर भी उनका कष्ट दूर नहीं हुआ। वे मूर्ख और विक्षिप्त तो कहलाये ही, शरारती भी कहलाये।

इसी प्रकार व्यापारी जगत्में भी जो सचाईसे काम करता है, छल-कौशलसे अनाप-शनाप पैसा नहीं कमा सकता, उसे बन्धु-बान्धव तथा आस-पासके लोग मूर्ख बतलाते हैं और विद्वान् बुद्धिमान् होनेपर भी उस बेचारेको अपनी निन्दा सुननी पड़ती है तथा पाँच आदमियोंमें झेंपना पड़ता है। यह दोष यहाँतक गहरा चला गया है कि जो लोग गीता-रामायण पढ़ते हैं, अपनेको ज्ञानी या भक्त मानते हैं, जो धर्मात्मा, उदार और दानशील माने जाते हैं तथा जो प्रसिद्ध देशभक्त, समाज-सेवक और नेता समझे जाते हैं, वे लोग भी इस महान् दोषको दोष नहीं मानते और जीवन-यापनके लिये मानो आवश्यक मानकर इसे खुशीसे अपनाते हैं।

ईश्वर, परलोक तथा पापका डर तो शास्त्रोंमें अश्रद्धा होनेसे चला गया। समाजका डर भी जाता रहा; क्योंकि प्रायः समाजभरमें यह पाप फैल गया, अतः कौन किसको बुरा कहे। बचा कानून, सो उसका डर भी अब प्रायः नहीं रहा; क्योंकि मेल-मिलापसे वह भी दूर हो जाता है। क्या कहा जाय। दिनोंदिन बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं और इस ओर प्रायः बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है तथा जिनका ध्यान है वे कुछ कर नहीं सकते या करनेमें प्रमाद करते हैं। इस प्रकार पापमें गौरवबुद्धि हो जानेके कारण क्या-क्या होने लगा है, इसपर जरा विचार कीजिये—

(१) रिश्वतखोरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, अवश्य ही उसके रूप और ढंग बदलते रहते हैं।

(२) डरा-धमकाकर, पकड़नेकी धमकी देकर या पकड़कर भी रुपये वसूल किये जाते हैं। पकड़ा-धकड़ी जितनी अपराध मिटानेके लिये नहीं होती, उतनी अपने स्वार्थसाधनके लिये होती है। यथार्थ तथा बड़े अपराधी कम पकड़े जाते हैं। बड़े अपराधियोंपर आतंक जमानेके लिये छोटे ही अधिक शिकार होते हैं।

(३) व्यापारीलोग करसे बचने तथा भाँति-भाँतिकी अनीतिको छिपानेके लिये रिश्वत देते तथा झूठे बहीखाते बनाते हैं।

(४) भारतके बाहरसे आनेवाली और बाहर भेजी जानेवाली चीजोंपर जो समय-समयपर प्रतिबन्ध लगाये तथा उठाये जाते हैं, उसमें कई बार तो ऐसे छिपे कारण होते हैं, जो सर्वथा अनीतिपूर्ण हैं। कुछ बड़े व्यापारियोंको सप्ताहों पहले इसका पता लग जाता है कि अमुक तारीखको अमुक वस्तुपर प्रतिबन्ध लगेगा या उठेगा। वरं यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि कभी-कभी तो किसी एक या अधिक व्यापारियोंके लिये ही प्रतिबन्ध लगता या उठता है और वे प्रतिबन्ध लगने या उठनेकी नियत तारीखसे पहले-पहले ही उक्त चीज प्रचुर मात्रामें खरीद या बेच लेते हैं। फिर अकस्मात् घोषणा हो जाती है, जिससे बाजारमें उथल-पुथल मच जाती है। फलतः वे व्यापारी लाखों-करोड़ोंका अनुचित लाभ उठाते हैं और बेचारे अनजान हजारों छोटे व्यापारी मारे जाते हैं! इस चीजको हम प्रमाणित नहीं कर सकते, पर वे अधिकारी और व्यापारी अपनी-अपनी छातीपर हाथ रखकर इसकी सचाईको जान सकते हैं। भगवान् तो जानते ही हैं।

(५) नीच स्वार्थ और लोभके वश होकर लोग, जहाँ सम्भव होता है, बिना किसी हिचकके असली चीजोंके साथ नकली चीजें मिला देते हैं, यहाँतक कि नकली चीजोंको ही असली बताकर बेचते हैं। आटेमें इमलीके बीजोंका चूर्ण बहुत मिलाया जाता है। घीमें तो जमाया हुआ (वनस्पति) तैल मिलाया ही जाता है। कहीं-कहीं लोग चर्बीतक मिलाते हैं। पिछले दिनों सरसोंके साथ भटकटैयाके बीज मिलाकर तेल पेरा गया था, जिससे हजारों आदमी बेरी-बेरी रोगसे पीड़ित हो गये थे। इसी प्रकार चावल, दाल, चीनी आदिमें भी मिलावट होती है। पथ्यके लिये रोगियोंको शुद्ध सागूदानातक नहीं मिलता। शीशियोंपर झूठे लेबल चिपकाकर नकली दवाइयाँ बेची जाती हैं। ऐसे खाद्य-पदार्थ और ओषधियोंका सेवन करके चाहे कितने ही लोग मर जायँ, कमानेवालोंको इसकी परवा नहीं है, वे तो इसको व्यापारका एक अंग मानते हैं।

(६) अच्छा नमूना दिखलाकर घटिया माल देना,

तौलमें कम देना या अधिक ले लेना, रूई या पाटको जलसे भिगोकर उनका वजन बढ़ा देना, बाजार तेज हो जानेपर बेचे हुए मालको देनेसे इनकार कर जाना और मन्दा होनेपर खरीदा हुआ माल न लेना—आदि बातें तो आज व्यापारकी चतुराई समझी जाने लगी हैं। उच्च सम्मानप्राप्त बड़े-बड़े उद्योगपति तथा व्यापारी इनको गौरवके साथ करते हैं।

(७) धर्म और ईश्वरके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगने और उनका धन, शील आदि अपहरण करनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। कई लोग तो अपनेको भगवान् कहकर पुजवाते हैं।

(८) शिक्षाविभाग और डाक-तार विभागतकमें रिश्वत चलने लगी है और न देनेपर काम बिगड़ जाता है। कोर्ट और रेलवे आदिमें तो माँग-माँगकर ली-दी जाती है।

(९) राजनीतिक क्षेत्रमें बढ़ती हुई दलबन्दियाँ, एक-दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न, दूसरोंको गिराकर अपनेको ऊपर उठानेकी कोशिश; परनिन्दामें, दूसरेकी अवनतिमें और दु:खमें सुखका अनुभव, लूट-मार, दूसरोंको व्यर्थ हानि पहुँचानेकी इच्छा, हिंसा तथा क्रोधमें गौरव-बुद्धि, दलोंका बाहुल्य, धार्मिक क्षेत्रका पारस्परिक विद्वेष और स्वेच्छाचार आदि अनर्थ दिनोंदिन बढ़ते ही जा रहे हैं!

(१०) सिनेमा, रेडियो तथा गन्दे साहित्यके द्वारा जनतामें कामवासनाकी वृद्धि हो रही है और फलत: उच्छृंखलता तथा चारित्रिक पतन बढ़ रहा है। भले-भले घरोंके पुरुष और स्त्रियोंमें बड़ी तेजीसे चरित्रका नाश हो रहा है और इस चरित्रनाशमें कहीं-कहीं तो गौरवका अनुभव किया जा रहा है!

(११) विद्यार्थी-जगत्में उच्छृंखलता बढ़ रही है। शिक्षकों और विद्यार्थियोंके सम्बन्ध अत्यन्त अवांछनीय हो रहे हैं। गुरु-शिष्यकी पवित्र मर्यादा प्राय: नष्ट हो गयी है और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता तथा द्वेषके भाव बढ़ रहे हैं। चरित्र-नाश भी बड़ी तेजीसे हो रहा है!

(१२) तरुणी कुमारियों और नवयुवकोंकी सहशिक्षासे भी चरित्रकी पवित्रताका बड़ा ह्रास और नाश हुआ है तथा उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। कहाँ तो जगज्जननी सीताजीने पुत्रके समान सेवक ब्रह्मचारी हनुमान्जीका स्पर्श करना अस्वीकार कर दिया था और कहाँ आज अबाध संसर्गको प्रोत्साहन दिया जा रहा है, सो भी शिक्षाके पवित्र नामपर!

(१३) खान-पानमें हर किसीका जूँठा खानेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है और इससे सुधार बताया जा रहा है! रेलोंमें, होटलोंमें और घरोंमें भी काँच तथा चीनी-मिट्टीके बर्तनोंका प्रचार, जूते पहने हुए ही भोजन करना, किसी भी जातिके और कैसे भी गन्दे रहनेवाले आदमीके हाथोंसे खाना, जूँठे हाथों जूँठी चम्मचसे खानेकी सामग्री लेना, एक ही बर्तनमें रखे हुए फल-मेवा-पान आदि पदार्थोंको बहुत-से लोगोंका मुँहमें हाथ या अँगुली देकर खाना, एक ही थाली या पत्तलमें बहुतोंका साथ खाना, जूँठे बर्तनोंमें ही चाय, सोडा, जल आदि पीना, बर्तनोंको केवल धो भर लेना, मांस-मदिरासे भी परहेज न करना, अण्डोंका भोजनके रूपमें प्रयोग करना, खाकर हाथ-मुँह न धोना, कुल्ले न करना और चलते-चलते खाना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे पवित्रताका नाश तो होता ही है, तरह-तरहकी बीमारियाँ भी फैलती हैं!

भ्रष्टाचार और अनाचारके ये थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं। न मालूम ऐसे कितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दोष हमारे अन्दर आज आ गये हैं। इन सबका कारण है—घोर विषयासक्ति और तज्जनित काम, क्रोध तथा लोभका आश्रय। भगवान् और धर्मको भूल जानेपर मनुष्य असंयमी तथा यथेच्छाचारी होकर पतित हो जाता है और भ्रमवश उस पतनको ही उत्थान मानने लगता है! आज हमारे समाजकी यही दशा हो रही है। इस पतनके प्रबल प्रवाहको शीघ्र ही न रोका गया तो पता नहीं यह हमें कहाँ ले जायगा!

इसको रोकनेके उपाय हैं—धर्म तथा भगवान्में श्रद्धा उत्पन्न करना, भगवान्से प्रार्थना करना, परलोक और पुनर्जन्ममें विश्वास बढ़ाना, सद्ग्रन्थोंका प्रचार करना, त्याग तथा प्रेमकी पवित्र भावनाएँ फैलाना, संयमका महत्त्व समझना, अहिंसा और सत्यका क्रियात्मक प्रसार करना, स्वार्थबुद्धिका नाश हो ऐसी शिक्षा देना, स्वयं नि:स्वार्थभावसे सबकी सेवा करके आदर्श उपस्थित करना, स्कूल-कॉलेजोंमें धार्मिक शिक्षाका अनिवार्य करना तथा वैराग्य और सच्ची भावनासे विषयासक्तिका नाश करना इनमेंसे जिनसे, जिस क्षेत्रमें, जितना कुछ हो सके, वही सचाईके साथ भगवान्पर विश्वास रखकर करना चाहिये।

महापापीके उद्धारका परम साधन

प्रश्न—'मैं बड़ा ही पापी हूँ। जीवनभर मैंने पाप किये हैं। परधन-हरण, व्यभिचार, हिंसा, ब्राह्मण-साधुओंका अपमान, माता-पिताको कष्ट देना और सबसे वैर करना आदि कोई भी ऐसा पाप नहीं, जो मैंने बड़े चावसे चित्त लगाकर न किया हो। इस प्रकारके पाप ही मेरे जीवनके मुख्य काम रहे हैं। मैं ऊपरसे बड़ा भक्त बना रहता था, लोगोंको उपदेश करता था, पर अन्दर-ही-अन्दर पापोंकी बात सोचता और करता था। अब भी पापोंसे छूट नहीं पाया हूँ। मुझे अपनी करतूतोंपर बड़ा पछतावा है। मैं नरकोंके भयसे सदा काँपता रहता हूँ। घुल-घुलकर हृदयसे रोता हूँ कि हे भगवन्! मेरा निस्तार कैसे होगा? मुझ नीचको कौन अपनायेगा? हाय! क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं प्रभुकी कृपा और उनके प्रेमको प्राप्त कर ही नहीं सकता? कोई उपाय हो तो बतलाइये!

उत्तर—'उपाय क्यों नहीं है? ऐसा कौन जीव है जिसके लिये प्रभुकी कृपाका द्वार बन्द हो? प्रभु ही यदि पापीको नहीं अपनायेंगे तो कौन अपनायेगा? वे पतितपावन हैं, बड़े ही दयालु हैं। तुम भैया! घबराओ नहीं। तुमपर तो उनकी कृपा बरसने लगी है—तभी तो तुम्हें अपनी करतूतोंपर पछतावा हो रहा है, तभी तो तुम नरकके भयसे काँपते, निस्तारके लिये रोते और प्रभुकृपा तथा प्रभुप्रेमको प्राप्त करनेके उपाय पूछते हो! जिस कृपाने तुम्हें ऐसी वृत्ति दी है, वही कृपा तुम्हारा निस्तार करेगी, वही तुम्हें भगवान्से भी मिला देगी! उस कृपापर विश्वास करो। मनमें निश्चय कर लो कि एकमात्र भगवान् ही ऐसे परम दयालु हैं, जो पापियोंको अपनाते हैं। स्नेहमयी माता जैसे अपने बच्चेकी गन्दगी अपने हाथों साफ करती है, वैसे ही भगवान् अपने ही हाथों अपने जनके महापापोंका नाश करके उसे अपने हृदयसे लगा लेनेयोग्य पवित्र बना लेते हैं और बड़े हर्षसे हृदयसे लगा लेते हैं! भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, उनकी कृपासे पापोंका समूल नाश हो जायगा, उनकी भक्ति प्राप्त होगी और उनकी सेवाका अधिकार मिल जायगा।' 'बस, एक वे ही ऐसे हैं, वे ही मेरे परम आश्रय हैं, वे ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं, उनके सिवा मुझे कहीं भी ठौर नहीं।' इस प्रकार निश्चय करके उनके भजनमें लग जाओ, फिर देखते-ही-देखते तुम्हारा तमाम कायापलट हो जायगा। तुम महान् साधु और भगवान्के अनन्य भक्त बन जाओगे। एक तुम्हीं क्यों, सच पूछो तो इस घोर कलियुगमें आज ऐसे कितने लोग हैं जो कुसंगमें पड़कर मनको मथ डालनेवाली प्रबल इन्द्रियोंके गुलाम होकर भी पाप-पथसे बिलकुल बचे हों? ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने जवानीकी गधापचीसीमें बुरे काम न किये हों और जिनका जीवन आदिसे अन्ततक निष्पाप, सर्वथा शुद्ध और परम पावन रहा हो? जिनका जीवन ऐसा पवित्र है, वे निश्चय ही परम पूज्य हैं, उनके चरण-रजकणको प्राप्त करनेवाला भी पावन हो सकता है परन्तु ऐसे लोग बिरले ही हैं। अधिकांश जनसंख्या तो आज ऐसी ही है, जो पापके कीचड़में फँसी है। ऊपरसे भले ही साफ मालूम हो, ऐसी दशामें उन लोगोंको अवश्य ही भाग्यवान् और भगवान्के बड़े कृपापात्र समझना चाहिये, जो अपने बुरे कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं, उनसे छूटनेका प्रयास करते हैं और भगवान्की कृपा तथा प्रेमकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठते हैं। दयालु भगवान् यही तो चाहते हैं। उनकी कृपा-सुधा-वृष्टिकी प्राप्तिके लिये इतना ही पर्याप्त है। पापोंका सच्चा प्रायश्चित्त हृदयके पश्चात्तापमें है और भगवान्की उस कातर प्रार्थनामें है—जिसमें अपनी बेबसीका सच्चा हाल बतलाकर भगवान्से कृपादान करनेके लिये रोया जाता है!

तुम पश्चात्ताप करो, रोओ, भगवान्से क्षमा-प्रार्थना करो और सबसे आवश्यक बात है, भगवान्की कृपापर विश्वास करके, एकमात्र उन्हींको अपना परम रक्षक, सच्चा स्वामी, परम बन्धु, परम धन, परम इष्ट और परम आश्रय मानकर उनके भजनमें लग जाओ। बीत गयी सो बीत गयी; जो बुरे-भले कर्म बन गये सो बन गये। अब जितनी उम्र बाकी है, उसे भगवान्को सौंप दो। प्रत्येक श्वासमें उनका नाम जपो, उनका पावन स्मरण करो, प्रत्येक कार्य उनकी पूजाके लिये करो। फिर वे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेंगे। देर नहीं होगी। देखते-ही-देखते तुम महान् पवित्र और उनके परम प्रेमी बन जाओगे। उनकी प्रतिज्ञाको याद करो—

श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त पापी भी अनन्यभाक् होकर (एकमात्र मुझको ही अपना रक्षक, स्वामी, आश्रय और परम इष्टदेव मानकर) मुझको भजता है (मेरे शरण होकर मेरे ही परायण होकर परम दृढ़ विश्वासके साथ हृदयकी निर्भरताके साथ मुझको पुकारता है) वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है (उसने दृढ़रूपसे यही निश्चय कर लिया है कि एकमात्र परम शरण्य श्रीभगवान्के भजनके सिवा अब मुझे और कुछ भी नहीं करना है) ऐसे निश्चयवाला वह बहुत शीघ्र (देखते-ही-देखते) धर्मात्मा बन जाता है और नित्य रहनेवाली (भगवत्-प्राप्तिरूप) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा (पापकर्मसे सर्वथा न छूटा हुआ भी उपर्युक्त प्रकारसे मुझको ही एकमात्र परम आश्रय और परम रक्षक मानकर मेरा भजन करनेवाला) भक्त कभी नष्ट नहीं होता (अर्थात् कल्याणके मार्गसे कभी नहीं गिरता—वह मेरी कृपासे सर्वथा निष्पाप बनकर और मेरे द्वारा सुरक्षित होकर शीघ्र ही मुझको प्राप्त हो जाता है)।'

भगवान्की इस अमर आश्वासन-वाणीपर विश्वास करो और अपनेको उनके चरणोंपर डालकर निश्चिन्त हो जाओ। यही परम साधन है, जो बड़े-से-बड़े पापीका क्षणोंमें उद्धार कर देता है।

चातककी प्रेम-साधना

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो), चाहे जन्मभर उदासीन रहो—कभी न बरसो; परन्तु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है।

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥

हे चातक! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वातिनक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है, घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥

अपने प्यारे मेघका नाम रटते-रटते चातककी जीभ लट गयी और प्यासके मारे सब अंग सूख गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि तो भी चातकके प्रेमका रंग तो नित्य नया और सुन्दर ही होता जाता है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी आते ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तोल नहीं हो सकता (उसकी थाह नहीं लगायी जा सकती)।

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निबाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है; इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है?

पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, कड़क-कड़ककर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके झकोरे देकर अपना बड़ा भारी रोष प्रकट करता है; परन्तु चातकको अपने प्रियतमका दोष देखकर क्रोध नहीं होता (उसे दोष दीखता ही नहीं), बल्कि इसमें भी वह अपने प्रति

मेघका अनुराग देखकर उसपर रीझ जाता है।

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जौ चातक मत लेहु॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना और फिर भी प्रियतमसे प्रेमका नित्य नवीन होना (बढ़ना)—तीनों बातें तभी शोभा देती हैं, जब चातकके मतका अनुसरण किया जाय।

तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रेमके मानकी रक्षा करना और प्रेमको भी निबाहना चातकको ही शोभा देता है। स्वाती-नक्षत्रमें भी यदि बूँद [मेघकी ओर निहारते हुए उसके मुखमें सीधी न पड़कर] टेढ़ी पड़ती है तो वह उसका निरादर करके प्रेमके नियमको निबाहता है। (चोंचको टेढ़ी करनेमें दूसरी ओर ताकना हो जायगा और इससे उसके प्रेममें व्यभिचार होगा, इसलिये वह प्यासा रह जाता है, परन्तु मुँह टेढ़ा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि वह टेढ़ी चोंच करके पीता है तो उसका मान घटता है। वह भिखमंगा नहीं है, प्रेमी है; देना हो तो सीधे दो, नहीं तो न सही।)

तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक एक ही अद्वितीय माँगनेवाला है और बादल भी एक ही (अद्वितीय) दानी है। बादल इतना देता है कि पृथ्वीके सब बर्तन (झील, तालाब आदि) भर जाते हैं, परन्तु चातक केवल एक घूँट ही पानी लेता है।

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें कीर्ति तो केवल अनन्यप्रेमी चातकके ही भाग्यमें है, जिसकी दीनता संसारमें किसी भी दूसरे स्वामीने नहीं सुन पायी।

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जातक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि॥

पपीहा और मेघके प्रेमका परिचय प्रत्यक्ष ही नये ही ढंगका है; याचक (मँगता) तो संसारभरका ऋणी होता है, परन्तु इस प्रेमी पपीहेने दानी मेघको अपना ऋणी बना डाला।

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी मागनेहि को बारिद बिन देइ॥

पपीहा न तो मुँहसे माँगता है, न जलका संग्रह करता है और न सिर झुकाकर लेता ही है (ऊँचा सिर किये ही 'पिउ' 'पिउ'- की टेर लगाया करता है)। ऐसे मानी माँगनेवाले चातकको मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है?

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

जगत्‌में इस जीवनदाता दानी मेघने किस-किसको नहीं जिलाया? परन्तु अपने प्रेमी याचक चातकके प्रेमको पहचानकर तो यह मेघ उलटा स्वयं उसीका ऋणी हो गया।

साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु॥

साधनमें सभी कष्ट सहते हैं और फलकी प्राप्ति सभीके लिये सुखदायिनी होती है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि चातककी-सी रीझ [प्रेम] और मेघकी-सी बुद्धि किसी बिरले ही बुद्धिमान्‌की होती है। [चातक मेघपर इतना रीझा रहता है कि कष्ट सहनेपर भी उससे प्रेम बढ़ाता ही है और मेघकी ऐसी बुद्धि—गुणज्ञता है कि वह दाता होकर भी ऋणी बन जाता है।]

चातक जीवन दायकहि जीवन समयँ सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥

चातकके जीवनदाता मेघके प्रेमकी सुन्दर रीति तो उसके जीवनकालमें ही देखनेमें आती है; परन्तु [अनन्य प्रेमी] चातकका प्रेम एवं विश्वास तो अलख (अज्ञेय) है। तुलसीदासजी कहते हैं कि वह तो किसीके लखनेमें ही नहीं आता (अर्थात् उसका प्रेम तो मरते समय भी बना रहता है)।

जीव चराचर जहँ लगें है सब को हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥

संसारमें जितने चर-अचर जीव हैं, मेघ उन सभीका हितकारी है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि उस मेघके प्रति स्वाभाविक स्नेह तो एक चातकके ही चित्तमें बसा हुआ है।

डोलत विपुल बिहंग बन पिअत पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥

वनमें बहुत-से पक्षी डोलते हैं और वे पोखरियोंका

जल पिया करते हैं; परन्तु हे नित्य नवीन प्रेमी चातक! चौदहों लोकोंको अपने निर्मल यशसे उज्ज्वल तो एक तू ही करता है।

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥

कोयल, मोर और चकोर मुँहके तो मीठे होते हैं, परन्तु मनके बड़े मैले होते हैं (बोली तो बड़ी मीठी बोलते हैं, पर कीट-सर्पादि जीवोंको खा जाते हैं) परन्तु हे नवल चातक! विश्वभरमें उज्ज्वल यश तो तेरा ही छाया हुआ है।

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हंसका निवासस्थान (मानसरोवर), वेष (रंग-रूप), बोली, चाल और [नीर-क्षीरका विवेक रखनेवाला तथा मोती चुगनेकी टेकवाला] मन—सभी सुन्दर हैं; परंतु प्रेमकी कीर्ति तो सबसे बढ़कर विस्तृत और निर्मल चातककी ही है।

प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह॥

संसारके लोग [विषयीजन] कहते हैं कि चातक पापी है, क्योंकि मेघ ऊसरतकमें बरसता है [परन्तु चातकके मुँहमें नहीं बरसता]; पर मेघ इससे यह शिक्षा देता है कि प्रेमकी परीक्षा कठोरतासे नहीं करनी चाहिये (अर्थात् कठोरतामें प्रेम नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; कहीं-कहीं कठोरतामें भी प्रेमका प्रकाश होता है। चातक पापी नहीं है, महान् प्रेमी है; उसके प्रेमका यश मेघकी कठोरतासे बढ़ता है)।

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

न तो चातक ही पापी है और न जीवनदाता मेघ ही मूर्ख है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रह्लादकी दशापर विचार करके समझो कि प्रेमका मार्ग कितना गूढ़ (सूक्ष्म) है। (प्रह्लादको पद-पदपर कष्ट मिलता है और भगवान् उसके कष्टको जानते हुए भी बहुत विलम्बसे प्रकट होते हैं। वह उनकी प्रेमलीला ही है।)

गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी-अपनी गरज सभीको होती है और उसी गरजको (कामनाको) हृदयमें रखकर लोग जहाँ-तहाँ गरज करते (सबसे विनती करते) फिरते हैं। परन्तु चतुर (अनन्य प्रेमी) चातक तो एक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझकर केवल उसीका याचक बना।

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बाजके पंजेमें फँसनेपर चातकको अपने प्रेमके नियमकी पीड़ा (चिन्ता) होती है। [उसे यह चिन्ता नहीं होती है कि मैं मर जाऊँगा, पर इस बातकी बड़ी पीड़ा होती है कि बाजके द्वारा मारे जानेपर] मेरी हड्डियाँ और पाँख [स्वाती-नक्षत्रके मेघजलमें न पड़कर] पृथ्वीके साधारण जलमें पड़ेंगे।

बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पुण्यसलिला गंगाजीमें गिर पड़ा; (परन्तु गिरते ही उस अनन्यप्रेमी) चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि चातकप्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दमतक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं)।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्‍यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‍यो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अण्डेको फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परन्तु अण्डेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस [प्रेमराज्यके] चतुर चातकने तुरन्त उसे पंजेसे पकड़कर जलके बाहर फेंक दिया।

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना बारिधर धार॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक अपने पुत्रको बारंबार यही सीख देता है कि हे तात! [मेरे मरनेपर] प्यारे मेघकी धाराको छोड़कर अन्य किसी जलसे मेरा तर्पण न करना।

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

जीते-जी तो चातकने [प्यारे] मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन नहीं झुकायी (याचना नहीं की)

और मरते समय भी गंगाजलमें अर्धजलीतक न माँगी (मुक्तिका भी निरादर कर दिया)।

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥

रे तुलसीदास! सुन, पपीहेको तो केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; इसीलिये वह बरसातके चारों महीनोंके जलको छोड़कर केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल पीता है।

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन॥

चातक बारहों महीने (मेघसे उसे देखते ही पिउ-पिउकी पुकार मचाकर) जल माँगा करता है, परन्तु पीता है केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल। तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने इससे यह समझा है कि चातक ऐसा करके अपने स्नेही मेघका मन रखता है। (जिससे मेघको यह कहनेका मौका न मिले कि तू तो स्वार्थी है; जब प्यास लगती है तभी मुझे पुकारता है, फिर सालभर मेरा नाम भी नहीं लेता।)

तुलसी कें मत चातकहि केवल प्रेम पिआस।
पिअत स्वाति जल जान जग जाँचत बारह मास॥

तुलसीदासके मतसे तो चातकको केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; क्योंकि सारा जगत् इस बातको जानता है कि चातक पीता तो है केवल स्वाती-नक्षत्रका जल, परन्तु याचक बना रहता है बारहों महीने।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल॥

चातकके हृदयरूपी मोतियोंकी (बहुमूल्य) क्यारीमें प्रेमरूपी वृक्षकी जड़ लगी है। ईश्वर करे स्वाती-नक्षत्रका जल चातकके चित्तमें रहनेवाले प्रेमके लिये अनुकूल हो जाय। (अर्थात् स्वाती-नक्षत्रके जलसे हृदयमें लगी हुई प्रेम-वृक्षकी जड़ भलीभाँति सींची जाय, जिससे प्रेमवृक्ष फूल-फलकर लहलहा उठे!)

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख॥

गर्मियोंके दिन थे; चातक शरीरसे खिन्न था (थका हुआ था), रास्ते चल रहा था; उसका शरीर बहुत गरम हो रहा था। [इतनेमें उसे कुछ पेड़ दीख पड़े, मनमें आया कि जरा विश्राम कर लूँ;] परन्तु अनन्यप्रेमी चातकको मनकी यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि वे वृक्ष [स्वाती-नक्षत्रके जलसे सिंचे हुए न होकर] दूसरे ही जलसे सींचे हुए थे।

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो चातक (चातकप्रेमका दम भरनेवाले) बहुत हैं, परन्तु 'स्वातीके जलके अतिरिक्त अन्य जलसे सींचे हुए वृक्षकी छायासे तो धूप ही अच्छी' ऐसा मानना तो किसी [प्रेम-प्रणको निबाहनेमें] चतुर चातक (सच्चे प्रेमी)- का ही काम है।

एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह॥

चातकका जो रात-दिनका (नित्य चौबीसों घण्टेका) प्रेम है, वही एकांगी प्रेम है। तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा एकांगी प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही उसका आहार है (वह खाना-पीना सब भूलकर उसीकी स्मृतिसे जीता रहता है) और वही उसका शरीर है (वह अपने शरीरकी सुधि भुलाकर उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है)।

भोजन-साधन

१—शुद्ध कमाईका अन्न खाओ; जो पैसा चोरीसे, छलसे, बेईमानीसे, दूसरेके हकको मारकर आया हुआ हो, उससे मिला हुआ अन्न बहुत दूषित होता है और बुद्धिको सहज ही बिगाड़ देता है।

२—हर किसीके साथ न खाओ। बुरे परमाणु तुम्हारे अन्दर आ जायँगे।

३—जूँठा कभी किसीका मत खाओ। रोग बढ़ेगा।

४—नियमित भोजन करो, भूखसे कुछ कम खाओ। अपनी प्रकृतिसे प्रतिकूल चीज मत खाओ।

५—स्वादकी दृष्टिसे मत खाओ—शरीर-रक्षाके लिये सात्त्विक आहार करो।

६—क्रोधी, कामी, वैरी, संक्रामक रोगोंसे आक्रान्त,

गन्दे आचरणवाले, गन्दगीसे सने हुए, हीन जाति और हीन कुलके लोगोंके साथ न खाओ।

७—ऐसी जगह मत खाओ, जहाँ कुदृष्टि पड़ती हो।

८—अतिथि, रोगी, गर्भिणी स्त्री, गुरु, ब्राह्मण, आश्रितजन और गौ, कुत्ते, चींटी, कौए आदिको आदरसे खिलाकर पीछे खाओ।

९—रोज बलिवैश्वदेव करके खाओ।

१०—भगवान्‌को या अपने इष्टदेवको अर्पण करके खाओ। जो भगवान्‌को निवेदन न करके खाता है, वह गन्दी चीज खाता है।

११—जूँठन मत छोड़ो। बिना भूख लगे मत खाओ, जितना आसानीसे पचा सको उतना ही खाओ।

१२—तुम्हारा खाना जिसको भार मालूम होता हो, उसके घर न खाओ। तुम्हारे खानेसे जिसके भोजनमें कमी आ जाती है, उसके यहाँ भी मत खाओ।

१३—भोजन करनेके पहले अन्नको प्रणाम करो, भोजनके समय ध्यान करो कि यह पवित्र भोजन मुझको पवित्र करेगा, बल देगा, ओज देगा और भगवान्‌की भक्ति देगा और प्रत्येक ग्रास भगवान्‌का स्मरण करके मुँहमें लो।

१४—भोजनको अन्तर्यामी भगवान्‌की तृप्तिके लिये करो, यज्ञकी भावनासे करो—जीभके स्वाद या अपनी तृप्तिके लिये नहीं।

१५—बहुत मसाले, खट्टी, चटपटी, बहुत मिठाई आदि न खाओ।

१६—सबको बाँटकर खाओ, चुराकर न खाओ।

१७—पंक्तिमें भेद न करो, अपने लिये बढ़िया लेकर दूसरोंको घटिया चीज मत दो।

१८—रोज स्नान, सन्ध्या, तर्पण, श्राद्ध और बलिवैश्वादि करनेके बाद भोजन करो।

१९—भोजनके समय मौन रहो।

२०—ताँबेके बरतनमें दूध न पीओ, जूँठे बरतनमें घी लेकर न खाओ और दूधके साथ कभी नमक न खाओ।

२१—भोजन खूब चबाकर करो, बहुत जल्दी-जल्दी न खाओ।

२२—पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करो, पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन करना भी बुरा नहीं है। जिसके माता-पिता जीवित हों वह दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन न करे। उत्तरकी ओर मुँह करके भोजन नहीं करना चाहिये।

२३—दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँहको पहले खूब धोकर भोजन करो। भोजनके बाद हाथ-मुँह धोना, कुल्ले करके मुँह साफ करना, दाँतोंमें लगे हुए अन्नको निकालकर फिर मुँह धोना चाहिये। भोजनके बाद मुँह साफ करनेके लिये पान खाना बुरा नहीं है।

२४—एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा आदिके दिन उपवास करो।

शरण-साधन

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

'जो एक बार भी शरण होकर कह देता है कि मैं आपका हूँ, उसे मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।'

ये शब्द मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है 'राम एक बार जो कह देते हैं, बस वही करते हैं, दूसरी बार उसे बदलते नहीं—**रामो द्विर्नाभिभाषते।**'

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार एक बार भी जो भगवान्‌की शरण हो जाता है, उसीको भगवान् अपना लेते हैं और अभय कर देते हैं।

शरण होनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्य साधनोंके द्वारा पहले निष्पाप हो ले और फिर भगवान्‌की शरणमें जाय। न यही जरूरी है कि वह उत्तम वर्ण, उत्तम कुल, उत्तम गुण और उत्तम आचारोंसे सम्पन्न हो। कोई भी, कैसा भी क्यों न हो, भगवान् सभीको अपनी कल्याणमयी गोदमें आश्रय देनेको सदा तैयार हैं। बस, दो ही बात होनी चाहिये—एक तो भगवान्‌में और उनकी शरणागतवत्सलतामें पूरा

विश्वास और दूसरी अपनेको सब ओरसे असहाय—सारे सहारोंसे रहित दीन-हीन मानकर, किसी भी दूसरी ओर न ताककर निर्भरताके साथ उनके श्रीचरणोंमें डाल देनेकी सच्ची लालसा।

भगवान्‌की कृपा और शरणागतवत्सलतापर विश्वास जबतक न होगा, तबतक एकमात्र उनके चरणोंका आश्रय पकड़नेमें हिचक रहेगी। जहाँ सन्देह है, वहाँ निर्भरता नहीं हो सकती। इसलिये पहली बात है—विश्वास और दूसरी बात है अन्य सारे अवलम्बनोंके प्रति अनास्था; फिर पाप तो भगवान्‌की शरणमें आते ही वैसे ही नष्ट हो जायँगे जैसे सूर्योदयकी सूचनासे ही अन्धकारका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यके सामने कभी अन्धकार आ नहीं सकता, वैसे ही शरणागतके समीप पाप नहीं आ सकते। रही ताप या दुःखोंकी बात—सो जब परम आनन्दमय प्रभुकी शरण प्राप्त हो जाती है, तब वहाँ ताप रह ही कैसे सकते हैं? ताप तो विषयोंको आश्रय करके ही रहते हैं और विषयोंके आश्रयी नर-नारियोंको ही सदा जलाया करते हैं। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय ले लिया है, वे तो उस परम शान्ति और अचल शीतलताके साम्राज्यमें जा पहुँचते हैं, जहाँ दुःख-तापके लिये प्रवेशका अधिकार ही नहीं है।

नीच महापापी हो चाहे, चाहे हो अति हीन मलीन।
भीषण नरक-कुंडका कीड़ा पड़ा सड़ रहा हो अति दीन॥
जो शरण्य स्वामीको अपना एकमात्र रक्षक पहचान।
जा पड़ता सत्वर चरणोंमें सच्चे मनसे अपने जान॥
नहीं देखते जाति-पाँतिको, नहीं देखते पापाचार।
शील-मान-कुल नहीं देखते, नहीं देखते कुव्यवहार॥
केवल मनके भाव और नीयतपर देते हैं प्रभु ध्यान।
रख लेते तुरंत निज आश्रय उसको अपना निज-जन जान॥
अपने हाथों बड़े स्नेहसे पाप-ताप-मल धोते आप।
अपने हाथों गले लगाकर हर लेते सारा संताप॥
मिल जाती फिर पूर्ण विमल मति पराशान्ति अति परमानन्द।
करुणावरुणालय नित निज सेवामें रखते आनँदकन्द॥

शरणागत भक्तके न शोक रह सकता है न विषाद, न दुःख न ताप, न चिन्ता न भय। उसे कुछ करना भी नहीं पड़ता। सब काम भगवत्कृपाकी शक्तिसे अपने-आप हो जाते हैं। शरणागतिमें कोई शर्त नहीं, कोई कैद नहीं। बस, एक ही शर्त है—एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय जानकर उनकी शरण हो जाना—पुकारकर कह देना—'नाथ! मैं केवल तुम्हारा हूँ, तुम्हारे चरणोंपर आ पड़ा हूँ। दीन-हीन हूँ, पापी-अपराधी हूँ, साधनहीन मलिनमति हूँ, पर तुम्हारा हूँ; एकमात्र तुम्हारी ही कृपापर निर्भर हूँ' फिर तो भगवान् उसे निहाल कर देते हैं—अपनी सेवामें नियुक्त कर लेते हैं। भगवत्कृपासे वह उस आनन्दको अनायास ही पा जाता है जो अनिर्वचनीय है। भगवान् स्वयं घोषणा करके कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। तुम चिन्ता न करो।'

अहिंसा परम धर्म और मांस-भक्षण महापाप

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे॥

(महा०, अनु० ११६। २४-२५)

'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम सत्य है, अहिंसासे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। मांस घास, लकड़ी या पत्थरसे पैदा नहीं होता, वह तो जीवोंकी हत्या करनेपर ही मिलता है। इसलिये उसके खानेमें बहुत बड़ा दोष है।'

उपर्युक्त महाभारतके वचनोंके अनुसार ही प्रायः सभी पुराणों और स्मृतियोंमें अहिंसाकी महिमा और हिंसापूर्ण मांस-भक्षणका निषेध मिलता है, परन्तु मनुष्य इतना स्वार्थी और जिह्वालोलुप है कि वह अपने पापी पेटको भरने और घृणित मांसका स्वाद लेने तथा शिकारका शौक पूरा करनेके लिये निर्दोष प्राणियोंकी हत्या करता

है। शास्त्रोंमें कहा है—'जो मूर्ख मोहवश मांस-भक्षण करता है, वह अत्यन्त नीच है।' जैसे माँ-बापके संयोगसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पशु-हिंसासे अनेक पापयोनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। मांस खानेवाला निर्दय हो जाता है। उस हिंसा-वृत्तिवालेपर किसी जीवका विश्वास नहीं रहता। सबको क्लेश पहुँचानेवाला होनेसे उसे भी जीवनभर क्लेश रहता है और मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें वे सभी प्राणी उसे क्लेश पहुँचाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा पाप और अत्यन्त हानिकर कुकर्म है। मांस खानेवाले लोग संसारमें हैं, इसीलिये प्राणियोंकी हत्या होती है। कसाई मांसखोरोंके लिये ही तो पशुओंको मारता है। अतएव सबसे बड़ा दोषी मांस खानेवाला ही है। जो दूसरोंका मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह किसी भी जन्ममें चैनसे नहीं रहने पाता। जो मनुष्य वध करनेके लिये पशुको लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है, ये सब-के-सब पशुके हत्यारे और मांसखोर ही समझे जाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा अपराध है; क्योंकि इसीके कारण जीवोंको निर्दय कसाइयोंके हाथों मृत्युकी भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। मृत्यु सभीके लिये दु:खदायी होती है। यदि हमें कोई मारना चाहे और मारे तो जितना दु:ख होता है, उतना ही दूसरे प्राणीको भी होता है। इसीलिये प्राणदानसे बढ़कर कोई भी दान नहीं है। जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है कि '**मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।**' अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है। जो मनुष्य मांस, शिकार अथवा यज्ञयाग—किसी हेतुसे भी प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नीच पुरुष नरकगामी होता है और जन्म-जन्ममें दु:ख भोगता है।'

शास्त्र कहते हैं—'जो मनुष्य मांस न खाकर जीवोंपर दया करता है, वह दीर्घजीवी और नीरोग होता है। मांस-भक्षण न करनेसे सुवर्ण-दान, गो-दान और भूमि-दानसे भी अधिक धर्मकी प्राप्ति होती है। जीवोंपर दया करनेके समान इस लोक और परलोकमें कोई भी पुण्यकार्य नहीं है। जो मनुष्य दयापरायण होकर सब प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, उसे वे सब प्राणी भी अभय-दान करते हैं। जो मनुष्य सब जीवोंको आत्मभावसे देखकर किसी भी जीवका मांस जीवनभर नहीं खाता, वह बड़ी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। समस्त धर्मोंका शिरोमणि अहिंसा धर्म है।'

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वा प्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥

(महा०, अनु० ११६। ३८—४१)

'अहिंसा परम धर्म, अहिंसा परम संयम, अहिंसा परम दान, अहिंसा परम तप, अहिंसा परम यज्ञ, अहिंसा परम फल, अहिंसा परम मित्र और अहिंसा परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें अवगाहन किया जाय, सब प्रकारके दानोंका फल प्राप्त हो, तो भी उसकी अहिंसाके साथ तुलना नहीं हो सकती। हिंसा न करनेवालेकी तपस्या अक्षय होती है और वह मानो सदा-सर्वदा यज्ञ ही करता है। हिंसा न करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका माता-पिता ही है।'

भारतके सभी धर्मग्रन्थोंमें मांसकी निन्दा की गयी है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं—जिनसे भारतीयोंका प्राचीन कालमें मांस खाना सिद्ध किया जाता है। सम्भव है, कुछ लोग मांस खाते हों और यह भी सम्भव है कि पीछेसे मांसाहारियोंने ग्रन्थोंमें ऐसी बातें घुसेड़ दी हों। जो कुछ भी हो, मांस-भक्षण प्रत्यक्ष पाप और अत्यन्त घृणित दुष्कर्म है। ऐसा माना जाता है कि इधर भारतीयोंमें मांस-भक्षणकी प्रथा विदेशियोंके, खास करके अंग्रेजोंके आनेके बाद ही विशेषरूपसे चली है, पहले इतनी नहीं थी। हमारी सबसे प्रार्थना है कि हम मांस-भक्षणके दोषोंको समझ लें। इसमें आध्यात्मिक, शारीरिक और आर्थिक सभी प्रकारसे हानि है। इसपर विचार करें और जहाँतक बने मांस-भक्षणका प्रचार रोकनेकी सब प्रकारसे चेष्टा करें।

सरल नाम-साधन

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

प्रश्न—वर्षोंसे चेष्टामें लगा हूँ, बहुतेरे साधु-महात्माओंके दर्शन किये, तीर्थोंमें घूमा, मन्त्रोंके अनुष्ठान किये और नाना प्रकारकी साधनाएँ कीं, पर मेरा यह दुष्ट मन किसी प्रकार भी वशमें नहीं होता। शास्त्र और सन्त कहते हैं कि मनके वशमें हुए बिना भगवान्की प्राप्ति नहीं होती और यह बात तो निर्विवाद ही है कि भगवान्की प्राप्ति हुए बिना जीवन व्यर्थ है। मैं हताश हो गया, मेरा मन वशमें नहीं होता। क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं चाहता हुआ भी भगवान्को नहीं पा सकूँगा? भगवान् क्या दया करके मुझ-सरीखे चंचलचित्तको न अपना लेंगे?

उत्तर—बात यह है, सच्ची लगन हो और दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया जाय तो मनका वशमें होना असम्भव नहीं है। मन वशमें करनेके बहुत-से उपाय हैं और उनके द्वारा मन अवश्य ही वशमें हो भी सकता है; परन्तु भैया! है यह कलियुग, जीवनमें कहीं शान्ति नहीं है। नाना प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मनुष्यका मन सदा घिरा रहता है। इसलिये मन वशमें करनेके साधनमें लगना है बड़ा कठिन और साधनमें लगनेपर भी नाना प्रकारके विघ्नोंके कारण लगन—सच्ची लगन और दृढ़ अभ्यासका होना भी कठिन ही है।

प्रश्न—तो क्या फिर मनुष्य-जीवनकी सफलताका कोई उपाय नहीं है?

उत्तर—है क्यों नहीं? वही तो बतला रहा हूँ। वह ऐसा सुन्दर उपाय है जिससे ब्राह्मणसे चाण्डालतक, परम विद्वान्से वज्रमूर्खतक, स्त्री और पुरुष, सदाचारी और कदाचारी सभी सहज ही कर सकते हैं। वह उपाय है—वाणीके द्वारा भगवान्के नामका रटना। कोई किसी भी अवस्थामें हो, नाम-जप अपने स्वाभाविक गुणसे जपनेवालेका मनोरथ पूर्ण कर सकता है और उसे अन्तमें भगवान्की प्राप्ति करा देता है। और-और साधनोंमें मनके वशमें होने तथा भाव शुद्ध होनेकी आवश्यकता है। भाव [नीयत]-के अनुसार ही साधनका फल हुआ करता है, परन्तु नाममें यह बात नहीं है। किसी भी भावसे नाम लिया जाय वह तो कल्याणकारी ही है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

इसलिये मन वशमें हो चाहे न हो। कैसा भी भाव हो, तुम विश्वास करके, जैसे बने वैसे ही—भगवान्का नाम लिये जाओ और निश्चय करो कि भगवान्के नामसे तुम्हारा अन्त:करण निर्मल हुआ जा रहा है और तुम भगवान्की ओर बढ़ रहे हो। नाम लेते रहे, ताँता न टूटा तो निश्चय ही इसीसे तुम अन्तमें भगवान्को पाकर कृतार्थ हो जाओगे।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(भगवच्चर्चा भाग ५)

ईश्वर

ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है

ईश्वर क्या है? उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है? वे निराकार हैं या साकार? निर्गुण हैं या सगुण? इस जगत्के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? इत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र निश्चित उत्तर न तो कोई आजतक दे सका है और न दे सकता है। आजतक ईश्वरके सम्बन्धमें जितना वर्णन हुआ है, वह सब मिलकर भी ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका निर्देश नहीं कर सकता; क्योंकि ईश्वर मनुष्यकी बुद्धिके परे है, वह परम वस्तु मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं समा सकती। बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे जड और परिच्छिन्न है, वह उस अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, नित्य ज्ञानानन्दघन चेतनका आकलन किस प्रकार कर सकती है? जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है, वह सीमित, प्रमेय और धर्मी वस्तु ही होती है; जो सीमित है, जिसका परिमाण हो सकता है, जो किसी धर्मवाली है, वह वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती; बुद्धि या ज्ञान जिस पदार्थका निरूपण करता है, उस पदार्थका कोई एक निश्चित रूप ज्ञानमें रहता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ सबका प्रकाशक, सबका आधारज्योति नहीं हो सकता। जिसका प्रकाश बुद्धि करती है, वह बुद्धिको प्रकाश देनेवाला कैसे हो सकता है? परमात्मा ईश्वर ज्ञेय नहीं है, प्रमेय नहीं है, प्रकाश्य नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञाता, प्रमाता, चेतनज्योतिरूप सबका प्रकाशक स्वयंप्रकाश है। वह किसी भी बुद्धिका चिन्त्य विषय नहीं है, सारी बुद्धियोंमें चिन्ताप्रवणता उसीसे आती है। वह स्वयं प्रमाणरूप और ज्ञानरूप है। वस्तुतः ऐसा कहना भी उसको सीमाबद्ध करना है—उसका माप करना है। उसे कालातीत-गुणातीत कहना भी उसका परिमाण बाँधना है। इसीलिये मनीषीगण यह कहा करते हैं कि ईश्वरका तत्त्व ईश्वर ही जानता है, वह स्वानुभवरूप है, दूसरा कोई उसे जान ही नहीं सकता, तब वर्णन कैसे कर सकता है? जबतक दूसरा रहता है, तबतक जानता नहीं और दूसरा न रहनेपर वर्णनका प्रसंग ही असम्भव है।

ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये

'ईश्वर अतर्क्य है, अज्ञेय है, वह कभी मनुष्यकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता, संसारकी किसी वस्तुसे तुलना करके वह समझाया नहीं जा सकता, ऐसी स्थितिमें उसे मानने-जानने या उसकी चर्चा और जाननेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ है? जो चीज सिद्ध नहीं हो सकती, दीख नहीं सकती, उससे उदासीन रहना ही बुद्धिमानी है।' यों विचारकर परमात्माकी चर्चा छोड़ देना तो मृत्युसे भी बढ़कर मरण है। परमात्माकी ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वह ज्ञेय न होनेपर भी ज्ञेय-सा बनकर उपासकके अज्ञानावरणको हटा देता है, जिससे वह उसके स्वरूपको पहचानकर कृतकृत्य हो जाता है। इसीलिये उस परमतत्त्वको ज्ञेय मानकर उसकी उपासना करना परम आवश्यक माना गया है।

इसीलिये तत्त्वज्ञ ईश्वरगतप्राण ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने विलक्षण सत्य अनुभवोंको (जो सचमुच ही उन्होंने 'अघटनघटनापटीयसी' शक्तिके आधार और स्वामी भगवान्की कृपासे समय-समयपर प्राप्त किये हैं) तर्क और उक्तियोंके द्वारा सिद्ध कर लोगोंके सामने रखा और यथोचित साधनविधि बतलाकर भगवत्-प्राप्तिका मार्ग सुलभ कर दिया है। दर्शन, पुराण आदिमें इन्हीं साधनोंका उल्लेख है।

ईश्वरका स्वरूप

हमारी बुद्धि जहाँ जाकर थक जाती है और अपनेको आगे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ पाती है, वहींसे भगवत्कृपाका प्रकाश और बल हमारा पथप्रदर्शक और सहायक होकर हमें उस बुद्धिके परे, बुद्धिके अगोचर परम तत्त्वका साक्षात्कार करा देता है। नहीं तो, जो सर्वथा अव्यक्त और अचिन्त्य है, जो एक, केवल, शुद्ध सच्चिदानन्दघन रहते हुए ही अपने सगुणरूपके द्वारा संकल्पमात्रसे विचित्र ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं; सगुण, साकार, दिव्य, नित्य, विग्रहरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपोंसे

विभक्त-से प्रतीत होकर पृथक्-पृथक् सृजन, पालन और संहार करते हैं, जो विविध देशों और कालोंमें विविध स्वरूपोंमें अवतरित या प्रकट होकर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक शक्तिका प्रकाशकर अपनी विश्वविमोहिनी लीलाओंसे जगत्‌को मुग्ध और पावन करते हैं, जो जीवमात्रमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विराजित होकर विभिन्न-से भासते हुए जीवलीलामें वर्तमान रहते हैं। (यहाँ यह समझनेकी बात है कि जिस प्रकार अनन्तकोटि व्यष्टिशरीरोंमें एक ही परमात्मा त्रिगुण-संवलित जीवात्मारूपसे विराजमान है, ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डशरीरोंमें 'विधि-हरि-हर' त्रिगुणमूर्तिसे एक ही परमात्मा विराजमान हैं, त्रिगुणमूर्ति होनेपर भी तीनों एक ही हैं और गुणातीत हैं।) जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें प्रकृतिके विकाररूपसे भासनेवाले जड दृश्य-प्रपंचका भेष धारणकर अपनेको छिपाये हुए हैं और प्रत्येक रूपमें प्रत्येक समय एकरस और पूर्ण हैं, उन परात्पर महाविष्णु, महाशिव, महाप्रजापति, महादेव, महाशक्ति, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि विविध नामों और रूपोंसे आख्यात और पूजित नित्य, अविनाशी, अनन्त, अखण्ड, परमसत्य, परमब्रह्म, सच्चिदानन्दघन, अनन्तशक्ति परात्पर भगवान्‌का जरा-सा आभास भी मनुष्यकी बुद्धिको उसके अपने बलपर कैसे मिल सकता है? जो संतोंके वाक्योंपर विश्वास कर उनके शरणापन्न होता है, जो बुद्धिका अभिमान छोड़कर उनकी कृपाका आश्रित होता है, वही शुद्ध और सूक्ष्मबुद्धि श्रद्धामय पुरुष भगवान्‌की कृपाका बल प्राप्तकर उसके दिव्यलोकमें परमात्म-प्रकाशकी ओर आगे बढ़ता है।

उन परमात्मा महेश्वरके अखण्ड नियमके अनुसार उनकी लीलासे जब उनकी सारी शक्तियाँ सिमटकर साम्यस्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, तब शक्ति और शक्तिकी अभिन्नताके रूपमें एक ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित रहता है। पुनः जब उनकी अनन्त शक्तियाँ विविध विचित्र मूर्ति धारणकर क्रिया करती हैं, तब वही भगवान् ब्रह्म अनेक स्वरूपोंमें प्रकाशित और प्रसरित रहते हैं, वस्तुतः अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो स्थित है और जो लयको प्राप्त होता है, वह सब ईश्वरमें ही होता है। ईश्वरकी ही यह सृष्टि, स्थिति और संहाररूप त्रिविध मूर्तियाँ हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त तरंगोंकी भाँति उन एक ही अनन्त, असीम परमात्म-सागरमें स्थित हैं। वे भगवान् देवोंके देव, ईश्वरोंके ईश्वर, पतियोंके पति और गतियोंकी गति हैं; ये निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी नहीं हैं; साकार भी नहीं हैं, सबमें हैं, सबसे परे हैं, उनके लिये यह कहना या समझना कि 'ये ऐसे ही हैं' वस्तुतः उनका उपहास करना और अपनी अक्लका पर्दाफ़ाश करना है। हमारी बुद्धि जिस ईश्वरका वर्णन करती है, वह तो उनके एक बहुत ही स्वल्पसे अंशका, आभासका या अनुमानका ही वर्णन होता है। वे तो गूँगेके गुड़ हैं; उनका वर्णन कोई कैसे करे? क्षुद्र-सा जल-सीकर जलनिधिकी क्या थाह लगावे? हमारी जो बुद्धि आँखोंके सामने प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थोंकी तहतक भी नहीं पहुँच सकती, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त सर्वलोकमहेश्वर अनन्तशक्ति, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके सम्बन्धमें निश्चयरूपसे क्या कह सकती है? उन ईश्वरके सम्बन्धमें तो सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जगत्‌के महापुरुष उन्हींकी कृपासे प्राप्त अनुभवोंके द्वारा उनकी सत्ता समझाकर हमें उनकी उपासना करनेका उपदेश देते हैं। महापुरुषोंके वचनोंमें विश्वास करनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंके लिये तो ईश्वरका होना सहज ही सिद्ध है, उनके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो ईश्वरसे अधिक प्रत्यक्ष और सर्वप्रमाणसिद्ध हो, परंतु यह सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं। ईश्वरमें विश्वास होना सहज बात नहीं है; ईश्वर-विश्वास भगवान्‌के अन्ताराज्यका पर्दा हटा देता है, जिससे मनुष्य ईश्वरके तत्त्वको समझकर सर्वपाप-ताप-शून्य और कृतकृत्य हो जाता है।

ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-कृपा

जैसे सूर्यके पूर्ण उदय होनेसे पूर्व ही अमावस्याकी घोर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌का पूर्ण विश्वास होनेके पूर्व ही, थोड़े ही विश्वाससे पाप-तापरूपी तम नष्ट हो जाता है। मनुष्य तभीतक पापाचरण करता है और तभीतक संसारके विविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता; 'ईश्वर है' इस विश्वाससे ही मनुष्य निर्निराधार, निर्विकार, निःशंक, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान्‌पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातको जानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु,

योगक्षेमवाहक, विश्वम्भर और परम सुहृद् हैं। ऐसी अवस्थामें वह काम, लोभ या भय किसी कारणसे भी पाप नहीं करता। जब एक पुलिस-अफसरको देखकर मनुष्य कानून-विरुद्ध काम करनेमें हिचकता है, जब किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें मनुष्य सकुचाता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुरु भगवान्‌को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा? जब भगवान् विश्वम्भर और योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं, तब वह अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथको छोड़कर पाप-पथमें क्यों जायगा? जब वह अपने परम सुहृद्, परम दयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्माको सर्वव्यापीरूपसे सर्वत्र देखेगा, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जला सकेगा या पापके मार्गमें ले जायगा? ईश्वरका विश्वासी पुरुष तो वस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर भरोसा करनेवाला बन जायगा, उसे पद-पदपर, पल-पलमें भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष होता रहेगा। जो भगवत्कृपापर निर्भर रहता है, वह किसी कालमें दुःखी नहीं हो सकता। वह प्रत्येक बातमें भगवान्‌का विधान समझकर और भगवान्‌के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रफुल्लित होता रहता है, वह समझता है कि मेरे नाथने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है, वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें है भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें यथार्थ ही यह भाव नहीं आता कि भगवान्‌का कोई विधान कभी जीवके लिये अमंगलरूप होता है। मंगलमय भगवान् अपने ही अंश जीवका अमंगल कभी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं, तब वह अत्यन्त ही दयाके वश हो उसके कल्याणके अर्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा व्यवहार करती है जो बच्चेको बड़ा क्रूर मालूम होता है और वह भूलसे मातासे नाराज भी होता है, परंतु माता उसके नाराज होनेकी कुछ भी परवा न कर अपने उस व्यवहारको नहीं छोड़ती; क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-सुधाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी एक बूँदने ही विश्वकी सारी माताओंके हृदयोंमें पैठकर उनको अनादिकालसे स्नेहमय बना रखा है, अपने प्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दण्ड-विधान किया करते हैं। उनका दण्ड-विधान वैसा ही होता है, जैसे माता बच्चेको आगके समीप जानेसे रोककर उसे अलग कर देती है, नहीं मानता तो कभी-कभी बाँध देती है, अथवा उसके हाथसे छूरी या और कोई ऐसी चीज, जो उसको नुकसान पहुँचानेवाली है और उसने मोहवश ले रखी है, जबरदस्ती छीन लेती है; और बुरे आचरण न छोड़नेपर डराती-धमकाती है। भगवान्‌के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके योग्य शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होनेको बाध्य होना, विषयोंका जबरदस्ती छिन जाना या नाश हो जाना आदि कार्य इसी श्रेणीके हैं। वास्तवमें विषय-भोग—दुनियाके धन-धाम, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ तो मनुष्यको नरकाग्निकी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रचता-पचता है वह दुःख-दावानलमें दग्ध होनेसे नहीं बच सकता। भला, भगवान् जो हमारे परम सुहृद् और परम हितैषी हैं, ये वस्तुएँ हमें क्यों देने लगे? और क्यों हमें इनमें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रदान करने लगे? जो लोग केवल इन वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही भगवान्‌की दया समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ये वस्तुएँ तो हमें संसार-सागरमें डुबोनेवाली हैं, दयालु भगवान् हमें संसार-समुद्रमें ढकेलनेके लिये इनको कैसे दे सकते हैं? माता क्या कभी प्यारी संतानको जान-बूझकर आरम्भमें मीठे लगनेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती है? क्या कभी उसे सोनेकी पिटारीमें रखकर कालनाग सर्प दे सकती है? क्या कभी उसे लाल-लाल लपटोंवाली आगमें झोंक सकती है? फिर भगवान् ही ये विषय-भोग देकर ऐसा क्यों कर सकते हैं? इसीलिये जब ये विषय नहीं रहते, जब विषय-नाशरूप सांसारिक दृष्टिका कोई दुःख आता है, तब भगवान्‌के विश्वासी भक्तोंका चित्त हर्षसे नाच उठता है, वे उसको भगवत्कृपासे ओतप्रोत देखकर उसमें भगवत्कृपाकी माधुरी मूरतिके दर्शनकर शिशुकी भाँति उसको जोरसे पकड़ लेते हैं। उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है, इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि हमपर भगवान्‌की बड़ी भारी दया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान्‌से सांसारिक वस्तु माँगनेवालोंको वह नहीं मिलतीं। मिलती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आती उन्हींके भंडारसे है, परंतु ऐसी चीजोंके माँगनेवाले गलती करते हैं। भगवान्‌पर ही

आस्था रखनेवाले विश्वासी अर्थार्थी भक्त यदि कोई ऐसी चीज माँगते हैं तो भगवान् उन्हें दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी सँभाल भी रखते हैं, जैसे माता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे चाकू दे देती है, पर कहीं लग न जाय इस बातकी ओर सतर्क दृष्टि भी रखती है। भगवान्की दयाके रहस्यको जाननेवाला सच्चा निर्भर भक्त तो ऐसी चीजें माँगता ही नहीं। माँग भी नहीं सकता। उसकी दृष्टिमें इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह तो भगवान्की इच्छामें ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है कि 'भगवन्! मैं सदा तेरे इच्छानुसार बना रहूँ, तेरी इच्छाके विपरीत मेरे चित्तमें कभी कोई वृत्ति ही न उदय हो।' भगवान् मंगलमय हैं, उनकी अनिच्छामयी इच्छा भी कल्याणमयी है, अतएव इस प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मंगलमयी इच्छावाला अथवा सर्वथा इच्छारहित निःस्पृह बन जाता है। वह नित्य-निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसीमें उसको शान्ति मिलती है, जरा-सी देर भी किसी कारणसे भगवान्का विस्मरण हो जाता है तो वह उस मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुल होता है, जो जलसे अलग करते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुनि-मन-मोहिनी छबिको देखता और पल-पलमें पुलकित होता रहता है। सारा विश्व उसे अपने प्रभुसे भरा दीखता है, इससे स्वाभाविक ही वह सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है। किसी भी भेषमें आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहित नहीं कर सकता, उसे किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार संसारके प्रत्येक जीवके भेषमें भक्त अपने भगवान्को पहचानकर उनका सत्कार और हित करता है तथा प्राणपणसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है। जो लोग केवल किसी एक स्थान और मूर्तिविशेषमें ही भगवान्को मानकर अन्यान्य स्थानोंमें उनका अभाव मानते हैं, वे भगवान्के स्वरूपको बहुत छोटा बना देते हैं, वे एक प्रकारसे भगवान्का तिरस्कार करते हैं, ऐसे लोगोंकी पूजासे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा भागवतमें कहा है।

मूर्ति-पूजा

इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये। संसारमें ऐसा कौन है जो किसी-न-किसी प्रकारसे मूर्ति-पूजा नहीं करता; सारा जगत् ही मूर्तिपूजक है। जो अपनेको मूर्तिपूजक नहीं मानते, वे भी अपने किसी गुरु या नेताके चित्र या स्टेच्यू (पाषाण-निर्मित मूर्ति)-को देखकर उसका सम्मान करते हैं। भगवान्को न माननेवाला रूसी भी लेनिनकी मूर्तियोंके सामने सलामी करता है। झंडेका अभिवादन क्या मूर्ति-पूजा नहीं है? झंडा कौन-सा सजीव पदार्थ है? परंतु उसका लोग बड़ा सम्मान करते हैं और उसके तनिक-से अपमानमें अपना और अपने देशका अपमान समझते हैं। समाधि या कब्रपर फूल चढ़ाना, उसे नमस्कार करना क्या मूर्ति-पूजा नहीं है। मातृभूमि—स्वदेश आदि नाम और उनके कल्पित रूपोंपर प्राण दे देना क्या प्रतीकपूजा नहीं है? मुसलमान भाई मूर्तिका खण्डन करके क्या प्रकारान्तरसे मूर्तिको महत्त्व नहीं देते? परंतु इसमें और हिंदू भक्तोंकी मूर्ति-पूजामें बड़ा अन्तर है, हिंदू भक्त पाषाण या धातुकी मूर्तिकी पूजा ही नहीं करता, वह तो केवल अपने प्रभुकी पूजा करता है। मूर्तिमें वह उन्हीं सच्चिदानन्दघन इष्टदेवको देखता है, उसकी दृष्टिमें वह पत्थर, मिट्टी या धातु नहीं है, वही सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी भगवान् हैं जिनके एक अंशमें सारे जड-चेतन विश्व-ब्रह्माण्ड भरे हैं, परंतु जो भक्तपर प्रसन्न होकर यहाँ श्यामसुन्दररूपसे विराजित हो उसकी पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीसे कहीं-कहींपर भगवत्-मूर्तियोंका चलना, बोलना, हँसना, वरदान देना आदि सुना जाता है, जो वास्तवमें सत्य है। मूर्ति चैतन्य होनेपर सहज ही ऐसा होता है। यही 'अर्चावतार' है। भगवान् कब, कहाँ नहीं हैं? वे भक्तके भावसे प्रसन्न होकर चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें अथवा अपने नित्य दिव्य विग्रहस्वरूपमें, चाहे जब प्रकट हो सकते हैं।

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजीके ये वचन हैं, जो सर्वथा सत्य हैं। अग्नि अव्यक्तरूपसे सब चीजोंमें व्याप्त है, परंतु साधन करनेपर किसी भी वस्तुमें वह प्रकट हो सकती है, इसी प्रकार सर्वत्र निराकाररूपसे व्याप्त भगवान् भी भक्तके वश होकर व्यक्त हो जाते हैं। अवतार लेनेका भी यही रहस्य है।

अवतार

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अवतार नहीं ले सकते। परंतु ऐसा कहना भगवान्की सर्वशक्तिमत्तामें

कमी करना है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? इसीसे वे जब जहाँपर आवश्यक समझते हैं, वहीं अपने दिव्य विग्रहको प्रकट करते हैं। एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्‌के अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सबमें पूर्ण भगवत्-शक्ति पूर्णरूपसे निहित है, साक्षात् भगवान् ही जब अवतरित होते हैं—हमारे बीचमें आते हैं, तब उनकी शक्तिमें न्यूनाधिकताका तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता। यह दूसरी बात है कि कहीं वे आवश्यक न समझकर अपनी कम शक्तियोंको प्रकट करें और कहीं अधिकको! कहीं अधिक समयतक लीला करें, कहीं अल्प कालमें ही अन्तर्धान हो जायँ। परंतु इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह सदा एकरस और समान है। उनका निर्गुण ब्रह्मरूप गुणातीत है, उसमें किसी भी गुण या गुणात्मक जगत्‌का भाव नहीं है। उनका विष्णुरूप शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न है, जो भृगुजीकी लात सहकर उनके पैर पलोटनेको तैयार हो जाता है, उनका विश्वरूप अच्छे-बुरे सभी गुणोंसे सम्पन्न है—**'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि'** **'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय'** भगवान् कहते हैं, सारे सात्त्विक, राजस, तामस-भाव मुझसे ही उत्पन्न जानो, हे धनंजय! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार उनके गुणस्वरूप हैं। ब्रह्माण्डोंमें स्थित श्रीविष्णु सत्त्वस्वरूप हैं, श्रीब्रह्मा रजोगुणरूप हैं और श्रीशंकर तामसरूप हैं, यही शंकर जहाँ समष्टि-सदाशिवरूपमें रहते हैं, वहाँ परम कल्याणमय, सत्त्वगुणसे भी ऊँचे उठे होते हैं। इसी प्रकार भगवती काली संहाररूपिणी—तमोमयी हैं, माता शक्ति जगज्जननी सृजनकारिणी—रजोमयी हैं, जगद्धात्री माता उमा पोषणकारिणी—सत्त्वमयी हैं। इनके अतिरिक्त भक्तोंको परम आनन्द देनेवाले, भक्तोंके जीवन-धन, उनकी परम गति, परम आश्रय वे दिव्य अवतार-विग्रह हैं। इनमें लीला और शक्तिके प्रकाशके तारतम्यसे श्रीराम और श्रीकृष्ण दो विशेष हैं। इनमें लीलाकी दृष्टिसे श्रीराम मर्यादाके आदर्श और सत्त्वगुणसम्पन्न हैं और श्रीकृष्ण लीलामय और सर्वगुणसम्पन्न हैं। ये और इसी प्रकार अन्यान्य सभी उन एक ही भगवान्‌के स्वरूप हैं, इनमेंसे जो स्वरूप, जिसको अच्छा लगे, जिसकी जिस स्वरूपमें प्रीति हो, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार सद्‌गुरुकी आज्ञासे उसीको अपने जीवनका ध्येय, परम इष्टदेव मानकर अनन्यभावसे उसीकी उपासनामें प्राणोत्सर्ग कर दे। न दूसरेको बुरा बतावे और न दूसरेकी ओर ललचावे, **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** की भगवदुक्तिको याद रखते हुए संदेह-संशयरहित होकर निश्चल चित्तसे परम श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा अपने इष्टकी ही उपासना, सेवा और चिन्तनमें लगा रहे। श्रीशंकरकी अनन्य उपासिका, अपना अनन्त जीवन सदाके लिये श्रीशिवके चरणोंमें समर्पण कर देनेवाली भगवती उमाकी यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

साकार रूप मायिक नहीं है

कुछ लोग भगवान्‌के साकार, सगुण दिव्य स्वरूपको मायिक बतलाते हैं और यह समझते हैं कि इसकी उपासना मन्द अधिकारियोंके लिये है, जो ऊँचे अधिकारी हैं वे तो इस मायासे परे शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेद-भावसे उपासना करते हैं। शुद्ध ब्रह्मकी अभेदोपासना भी उत्तम है, इसमें कोई संदेह नहीं, परंतु भगवान्‌के साकार दिव्य स्वरूपको मायिक और मन्द अधिकारियोंके सेवनयोग्य ही बतलाना बड़ी भारी गलती है। भगवान्‌ने तो श्रीगीता और श्रीभागवतमें इस दिव्य स्वरूपकी बड़ी महिमा गायी है। बल्कि कुछ भक्तोंके मतमें तो भगवान्‌ने ब्रह्म-शब्दवाच्य निर्विशेष स्वरूपको अपने आधारपर स्थित बतलाया है। कम-से-कम भगवान्‌का स्वरूप दिव्य, नित्य अमायिक है और ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा भी सेव्य है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है। हाँ, उस परम आनन्दमय दिव्य विग्रहकी अवहेलना करनेसे ज्ञानमार्गके उपदेशक उसके महान् सुखसे वंचित अवश्य रह जाते हैं। मायिक माननेवालेके सामने भगवान् उस मुनिमनहारी अपने दिव्य साकार स्वरूपसे प्रकट नहीं होते। इसीसे तो संतोंका यह परम रहस्यमय मत है कि ज्ञानमार्गके पन्थी भगवान्‌के दिव्य साकार स्वरूपके दर्शन नहीं कर सकते। उनके मनमें माया घुसी रहती है, इससे उन्हें जहाँ-तहाँ माया ही दीखती है। वे भगवान्‌में भी मायाका आरोप करते हैं, कोई-कोई साकार, सगुण भगवान्‌को ब्रह्मसे अभिन्न मानकर भी प्रायः कह देते हैं कि यह विद्याकी उपाधिसे युक्त हैं और हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे महान् अमृत-

समुद्रमें डूबे हुएके लिये एक गिलास जल। यह एक गिलास जल भी उस अमृत-समुद्रका ही अभिन्नांश है; परंतु एक तो अलग गिलासमें है (मायामें है), दूसरे अंश है, हम जब पूर्णमें स्थित हैं तो हमें इस उपाधियुक्त अंशसे क्या प्रयोजन है? वास्तवमें यह अहंकारोक्ति है। ऐसा कहना और मानना—अनुचित है, परंतु जो ऐसा मानते हैं, मानें, उनके मानने-न-माननेसे भगवान्के स्वरूपमें कोई हानि-लाभ नहीं होता; अवश्य ही उनकी मूढ़तापर भगवान् हँसते हैं। भगवान्ने कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मूढ़ लोग मेरे इस परम रहस्यको न जानकर कि मैं समस्त विश्व-ब्रह्माण्डोंका अधीश्वर भक्तोंके प्रेमवश और अपनी जगत्-लीलाको व्यवस्थित रखनेके लिये दिव्य विग्रह प्रकटकर दिव्य लीला करता हूँ, मुझ मनुष्य-शरीरधारी भगवान्को नहीं पहचानते हैं। मायासे उनके हृदयमें मोह हो रहा है। मेरी अलौकिकी मायासे तरनेका उपाय मुझ मायापतिकी शरणागति ही है। (गीता ७।१४) परंतु वे लोग मुझको नहीं भजते। मैं जो क्षर जड-संसारसे अतीत अक्षर आत्मासे उत्तम हूँ, (गीता १५।१८) सबकी प्रतिष्ठा हूँ, (गीता १४।२७) सब पुरुषोंसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हूँ—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१९)

हे अर्जुन! इस प्रकार जो मूढ़तासे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष मुझ पार्थसखा वासुदेव श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सब कुछ जान गया है, वह फिर सर्वभावसे केवल मुझको ही भजता है।

भगवान्को न पहचाननेवाला, शरीरधारी समझकर उनकी अवहेलना करनेवाला 'भगवान्' के शब्दोंमें ही 'मूढ' है और उनको सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम जाननेवाला ही 'असंमूढ' है। भगवान्ने इसको गुह्यतम रहस्य बतलाया है। (गीता १५।२०)

यही भगवान् निराकाररूपसे विश्वमें उसी प्रकार व्याप्त हैं जिस प्रकार सूर्यकी रश्मियाँ निराकाररूपसे जगत्में पसरी हुई हैं। यह दृष्टान्त पूरा भाव नहीं बतला सकता, केवल शाखाचन्द्रन्यायसे समझानेके लिये है। मतलब यह कि भगवान्के साकार विग्रह दिव्य और नित्य हैं और वे महान् रहस्यमय परम तत्त्व हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निराकार तत्त्व उनसे पृथक् है या उनका अपेक्षाकृत लघु स्वरूप है। निराकार ही साकार है, साकार ही निराकार है, निराकार साकारका रश्मि-स्वरूप है, तो साकार भी निराकारका ही प्रकट अग्निकी भाँति व्यक्त स्वरूप है। एक होते हुए ही दोनों स्वरूप नित्य हैं। यद्यपि यथार्थ ज्ञानी और भक्त निराकार-साकारमें वस्तुतः कोई स्वरूपगत भेद नहीं समझते तथापि ज्ञानीको निराकार और भक्तको साकार स्वरूप ही अधिक प्रिय है। ज्ञानी भगवान्के निराकार-स्वरूप ब्रह्ममें मिल जाना चाहता है, और भक्त सदा-सर्वदा भगवान्के साकार विग्रहके चरणोंकी सेवामें ही परमानन्दका अनुभव करता है। इसीसे यह रहस्य माना जाता है कि ज्ञानी ब्रह्म बन सकता है, परंतु (साकार सगुण) भगवान् नहीं बन सकता। जहाँ वह भगवान् बनना चाहता है, वहाँ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें उसे साकार सगुण भगवान्की सेवा और लीलाके आनन्दसे वंचित होना पड़ता है, जो भक्तके लिये सबसे बड़ा दुःख है। इसीलिये भक्त इस वासना-बीजको अपने अंदर बड़ी सतर्कतासे सुरक्षित रखता है कि 'मैं कभी भगवान्की लीलासे अलग न रहूँ।' जन्म-जन्मान्तरकी परवा नहीं करता, कितने ही जन्म हों, किसी भी योनिमें जाना पड़े, परंतु प्यारे भगवान्का हृदयसे कभी बिछोह न हो, श्यामसुन्दर कभी आँखोंसे ओझल न हों, वह प्राणधन प्रियतम मोहन सदा सामने नाचता रहे, उसकी भ्रुकुटिको देखता हुआ मैं सदा अपने जीवनको उसकी रुचिके अनुकूल बिताता रहूँ। जीवन उसकी लीलाका क्रीडनक बन जाय, उसमें अपनापन कुछ रहे ही नहीं। भक्त कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समंजस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२५)

वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा
न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं
सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः॥

(पद्मपुराण)

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपंकजस्याधो जीवितं दीयतां मम॥
मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर।
इच्छामि हि महाभाग कारुण्यं तव सुव्रत॥

(नारदपांचरात्र)

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

(मुकुन्दमाला)

'भगवन्! तुम्हें छोड़कर मुझको ध्रुवलोक, इन्द्रपद, सार्वभौम-राज्य, पाताल-राज्य, योगसिद्धि और अपुनर्भव—मुक्ति आदि किसीकी भी इच्छा नहीं है। देव! आप वरदाता ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, आप सब कुछ दे सकते हैं; परंतु मैं आपसे मोक्ष या मोक्षतकका कोई भी पदार्थ लेना नहीं चाहता। नाथ! आप श्रीगोपालबालमूर्तिसे मेरे मन-मन्दिरमें सदा विराजित रहें, इसके सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। भगवन्! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारोंमेंसे मुझे किसीकी भी इच्छा नहीं है। मेरे इस जीवनको सदा अपने चरणतलमें लुटाये रखें। हे धरणीधर! हे महाभाग! मैं सालोक्य, सारूप्यादि मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता। हे सुव्रत! मैं तो केवल आपकी करुणा चाहता हूँ।

हे नरकान्तक! मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो, चाहे नरकमें हो, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है और तो क्या, मृत्यु-समयमें भी मैं तुम्हारे शरत्कालीन अरविन्दकी अवज्ञा करनेवाले चरणारविन्दका चिन्तन करूँगा।'

इसी परम कल्याणमय वासना-बीजके कारण वह भगवान्‌की नित्य-लीलामें नित्य सम्मिलित रहता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे शून्य होता है या उसे कर्मबन्धनमें बँधे रहना पड़ता है, उसका कर्मबन्धन तो उसी दिन टूट गया था, जिस दिन उसने भगवान्‌को अपने प्राण सौंप दिये थे। ज्ञानकी तो बात ही क्या है, जब ज्ञानके मूल स्रोत भगवान् स्वयं उसके बाहर-भीतर नित्य विहार करते हैं, तब ज्ञान तो उसे स्वयमेव ही प्राप्त है। ज्ञानका चरम फल मुक्ति उसके चरणोंका आश्रय पानेके लिये सदा लालायित रहती है, परंतु वह मुक्तिको पिशाचिनी समझकर उससे दूर रहता है और भक्तिको बड़े प्रेमसे सदा हृदयमें छिपाये रखता है। '**मुक्ति निरादर भगति लुभाने।**'*

भगवान्‌की नित्य-लीला

भगवान्‌की नित्य-लीलामें कभी विराम नहीं है, स्थूल जगत्‌की लीला तो हम सभी देखते हैं, परंतु दुर्भाग्यवश भ्रमसे उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझे हुए हैं। भगवान् तो स्पष्ट इशारा करते हैं कि तुम जगत्‌का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है, 'ऐसा मिलेगा नहीं', '**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते**', हो तो मिले। परंतु हम भगवान्‌की इस उक्तिपर ध्यान ही नहीं देते, और अपने मनःकल्पित स्वरूपको सत्य समझकर तुच्छ विषयोंके पीछे मारे-मारे फिरते और नित्य नया दुःख मोल लेते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्म जगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रधानतया दो स्तर हैं—एकमें स्थूल विश्व-ब्रह्माण्डोंके संचालन-सूत्रोंको हाथमें लिये हुए भगवान्‌की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत क्रिया करती हैं, स्थूल जगत्‌के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अन्तर्जगत्‌की शक्तियोंके जरा-से यन्त्र घुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बाह्य है, दूसरा सूक्ष्म और आभ्यन्तर स्तर है, जिसमें भगवान् अपने परिकरोंसहित नित्य-लीला करते हैं, जो संसारकी समस्त लीलाओंका आधार है और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान्‌की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। सगुण साकार भगवत्-स्वरूपके अनन्य भक्त ही अन्तर्जगत्‌के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार-प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाद दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए अन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान्‌की अत्यन्त गुह्यतम मधुर लीलाएँ होती रहती हैं, इसी सूक्ष्मतम स्तरको विशेष स्तरभेदसे श्रीरामभक्त 'साकेत', श्रीकृष्णभक्त 'गोलोक', श्रीशिवभक्त 'कैलास', परमधाम, महाकारण आदि कहते हैं। यही भगवान्‌का लौकिक-सूर्य-चन्द्रके प्रकाशसे परे, वरं इन सबको प्रकाश देनेवाले दिव्य प्रकाशसे संयुक्त नित्य दिव्यधाम है, इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं।

* भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥
'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें है, तबतक वहाँ भक्ति-सुखका अभ्युदय कैसे होगा?'

यहींकी लीलाओंका कुछ स्थूल अंश और वह भी बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलनिधिके एक जलकणसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पंचवटी और श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारकामें उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय स्वयं भगवान् अपने प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और व्रजमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह नित्यविहार आज भी वहाँ होता है, भाग्यवान् जन देख पाते हैं! वस्तुतः भगवान्के अवतरणके साथ ही उनके नित्यधामका भी अवतरण होता है। उसीमें भगवान्की लीलाएँ होती हैं, इसीसे लीलाधामोंकी इतनी महिमा है!

ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता

जो यथार्थ ज्ञानमार्गके उपासक या सच्चे भक्त हैं, उनके लिये तो यह प्रश्न ही नहीं बन सकता कि 'ईश्वर हैं या नहीं'। उनकी दृष्टिमें यह प्रश्न पागलके प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है। जो चराचर विश्वको भगवान्में और भगवान्को विश्वमें व्याप्त देखते हैं या जिनकी आँखोंके सामने भगवान् ललित त्रिभंग नवीन घनश्यामस्वरूपसे सदा थिरकते रहते हैं, उनके सामने ईश्वरके होने-न-होनेकी चर्चा करना उनका अपमान करना है, ईश्वरको कोई माने या न माने, इससे उनका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं और न ईश्वरका ही कुछ बनता बिगड़ता है। उल्लूके सूर्यको न माननेसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती; ईश्वरके होनेकी बात तो उन लोगोंसे कहनी है जो मनुष्य होकर भी ईश्वरको भूले हुए हैं और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखके अनन्त सागरमें डूबनेवाले हैं। भारतवर्षमें भी अनीश्वरवादी इन्द्रियाराम मनुष्य हुए थे; परंतु यहाँ इस बातका निर्णय ऋषि-मुनियोंने प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर बहुत पहले कर दिया था, लोग प्रायः मान गये थे। कुछ ही समय पूर्वतक भारतमें ऐसे आदमीका खोजनेपर मिलना कठिन था, जो ईश्वरपर अविश्वास रखता हो। श्रीआद्यशंकराचार्य-सदृश वेदान्तके महान् आचार्यसे लेकर ग्रामीण अशिक्षित किसानतक सभी स्त्री-पुरुष सरलभावसे ईश्वर और उनकी लीलाओंमें विश्वास करते थे। इसीलिये हमारे इधरके ग्रन्थोंमें ईश्वर-सिद्धिपर विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह अधिकांश ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें ही मिलता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जब कोई शंका ही नहीं रह गयी थी, तब उसके निराकरणकी क्या आवश्यकता थी? इधर कुछ समयसे विदेशी-भाषा-भावके अत्यधिक संसर्गसे हमारी संस्कृतिमें विकृति आरम्भ हुई और उसीका यह कटु फल है कि आज भारतमें जन्मे हुए भी कुछ लोग ईश्वरको और धर्मको स्वीकार करनेमें सकुचाते हैं, अथ च विद्याबुद्धिमें अपनेको किसीसे कम नहीं मानते। यह जडता अत्यन्त ही दुष्परिणामकारिणी होगी। भगवान् सुबुद्धि दें, जिससे भारत अपने सनातन सत्य आदर्शसे च्युत न हो। आज जो दुःख-कष्टके पहाड़ टूट रहे हैं, इनका बहुत कुछ कारण भगवान्के आश्रयको भुला देना है। और जबतक भगवान्के अधिष्ठानसे शून्य सुखका प्रयत्न जारी रहेगा, तबतक सुख-शान्तिका स्वप्न कदापि सत्य नहीं हो सकता।

सब फल ईश्वर ही देता है

यदि हमें सुख-शान्तिकी अभिलाषा है तो हमारा सर्वप्रथम यही कर्तव्य होना चाहिये कि हम सर्वतोभावेन ईश्वरका आश्रय ग्रहण करें और उनके बलपर शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ें। यह स्मरण रखना चाहिये कि सुख-शान्तिका स्रोत भगवान्के चरणोंसे ही निकलता है। हमें किसी अन्य उपायसे—साधनसे या किसी अन्य देवताकी उपासनासे—जो सुख या सुखोत्पादक भोग मिलते हैं वे भी, वहींसे आते हैं; कारण, खजाना वहीं है। और जिस पदार्थ, मनुष्य या देवतासे मनुष्य विषयोंको प्राप्त करता है, वह पदार्थ, मनुष्य या देवता भी वस्तुतः भगवान् ही है। भगवान्ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

(गीता ७। २०—२२)

'विषयासक्त मनुष्य विषय-भोगोंकी कामनासे ज्ञानसे रहित हो जाते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अपने-अपने स्वभावानुसार भाँति-भाँतिके नियम धारण करते हुए अन्य देवताओंको पूजते हैं। जो भक्त देवताके रूपमें मेरे ही जिस स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उसकी मैं उसी स्वरूपमें श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ, फिर वह मनुष्य श्रद्धाके साथ उसी देवताकी आराधना करता है

और उसीके फलसे उक्त देवस्वरूपके द्वारा उसे इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं, परंतु मिलती हैं मेरे विधानके अनुसार ही यानी उतनी ही, जितनी मेरे उक्त देवस्वरूपके अधिकारमें होती हैं और जितनी प्रदान करनेका उसका अधिकार होता है।'

एक आदमी किसी जिलेके अफसरकी सेवा करके उसे प्रसन्न करता है, जिलाधीश प्रसन्न होकर उसे उतना ही पुरस्कार दे सकता है, जितना देनेका उसको सरकारसे अधिकार मिला हुआ होता है और वह देता भी है राज्यके कोषसे ही। वह जिलाधीश राजाका प्रतिनिधि राजसत्ताका एक अंग है, राज्य-शरीरका एक अवयव है, इससे उसकी पूजा प्रकारान्तरसे राज्याधीश नरेशकी ही पूजा होती है, परंतु वह एक क्षुद्र जिलेके अफसरके रूपकी होती है, इससे उसे वह फल नहीं मिल सकता, जो स्वयं राजाकी सीधी पूजासे मिल सकता है। जिलाधीशका पुजारी राजाके महलका अन्तरंग सेवक नहीं बन सकता, परंतु राजाका सेवक महलके अंदर जानेका अधिकारी हो जाता है। **'मद्भक्ता यान्ति मामपि।'** भगवान्‌ने आगे कहा भी है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

'अर्जुन! श्रद्धालु भक्त जो किसी फल-सिद्धिके लिये दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी वस्तुतः मेरी ही पूजा करते हैं; क्योंकि वे देव-स्वरूप भी मेरे ही हैं, परंतु उनकी वह पूजा अविधिपूर्वक होती है।' भगवान् ही सबके आधार, संचालक, फलदाता, फलभोक्ता स्वामी हैं, इस बातको नहीं जाननेके कारण ही मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर सुखके लिये अन्य देवताओंका एवं अन्यान्य जड उपायोंका आश्रय लेते हैं। इसीसे वे बार-बार दुःखोंमें गिरते हैं **'च्यवन्ति ते।'** देवताओंके उपासक देवलोकमें तो जा सकते हैं, परंतु ईश्वरके अस्तित्वको न मानकर जड प्रकृतिके या केवल अर्थके उपासकोंकी तो बहुत बुरी गति होती है, चाहे वह अर्थोपासना व्यक्तिगत सुखके लिये हो या जाति अथवा राष्ट्रके हितकी कामनासे हो। जहाँ ईश्वरको भुलाकर केवल अर्थ-लाभसे सुख, समृद्धि और अभ्युदयकी इच्छा और चेष्टा होगी, वहाँ पाप-पुण्य या सत्कर्म-दुष्कर्मका विचार नहीं रहेगा, व्यक्तिगत स्वार्थके लिये दूसरे व्यक्तिका और जाति या राष्ट्रके स्वार्थके लिये दूसरी जाति या राष्ट्रका सर्वनाश करनेमें कुछ हिचकिचाहट नहीं होगी, मनुष्य स्वार्थसे अंधा हो जायगा, परिणाममें उसे अन्धतम गति ही मिलेगी! आजके मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें इसी भावका पोषण हो रहा है और इसीसे द्वेष, वैर, हिंसा और हत्याओंकी संख्या बढ़ रही है। ईश्वररहित अहिंसा या सत्य भी शीघ्र ही विकृत होकर प्रकारान्तरसे हिंसा और असत्यका रूप धारण कर लेते हैं; अभिमान, ईर्ष्या, दर्प, असहिष्णुता आदि दोष तो सद्‌गुणका बाना पहिनकर बढ़ते रहते ही हैं। भगवद्भक्तिसे शून्य केवल कुछ बाह्य आचरणोंसे सिद्धि, सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

दैवीसम्पत्तिकी आवश्यकता

इसका यह अर्थ नहीं कि दैवीसम्पत्तिके गुणोंकी भक्तिमें जरूरत नहीं है, प्रत्युत भक्तिकी तो कसौटी ही दैवीगुणोंका प्रादुर्भाव है। ईश्वर-भक्तमें ही दैवीगुण नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर-भक्तिमें दैवीगुणोंकी कोई आवश्यकता नहीं या कोई ईश्वर-भक्त होकर भी दैवीगुणोंसे हीन रह सकता है, वे भ्रम फैलाते हैं। यह बात वैसे ही है, जैसे कोई यह कहे कि सूर्यमें अन्धकार है, या अग्निमें दाहकता नहीं है। जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण अवश्य ही रहते हैं। हाँ, ईश्वर-भक्तिके बिना केवल दैवीगुण चिरकालतक नहीं टिक सकते, किसी कारणसे कुछ आते हैं, परंतु शीघ्र ही उनका विनाश हो जाता है। जहाँ स्थायी दैवीगुण है, वहाँ भक्ति अवश्य है और जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण भी अवश्य होने चाहिये।

ईश्वरवादियोंके पाप

इस बातको न माननेके कारण ही तो बड़ा अनर्थ हो गया। ईश्वरको माननेका दावा करनेवाले लोग दैवीगुणोंकी परवा न करके इस भ्रममें पड़ गये कि दैवीगुण हों या न हों, चाहे हम कितना ही पाप क्यों न करते रहें, ईश्वर-भक्तिसे हमारा सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि ईश्वर-भक्तिसे बड़े-से-बड़े महापातक भी आगमें सूखे ईंधनके समान तत्काल भस्म हो जाते हैं, परंतु जो भक्तिके बलपर पापोंको आश्रय देते हैं, भक्तिके सहारे पाप करते

हैं, ईश्वरके नामपर मनमाना अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार करते हैं, उनके पाप तो वज्रलेप होते हैं। बात-बातमें ईश्वरका नाम करनेवाले लोग जब दम्भसे भर गये, मनमाना पाप करने लगे, ईश्वर-भक्तिके स्वाँगमें अनाचार होने लगा, भक्तका वेश व्यभिचारी लोगोंके कामाचारका साधन बन गया, दूसरोंपर झूठा रोब जमाकर उन्हें फुसलाकर झूठी तसल्ली या आश्वासन देकर उनसे धन ऐंठना, उनसे पूजा प्राप्त करना और उनकी बहिन-बेटियोंपर बुरी नजरोंसे देखना आरम्भ हो गया, मन्दिरों और तीर्थोंपर व्यभिचारके अड्डे बन गये, भगवान्‌की मूर्तितकके गहने पुजारियोंद्वारा ही चुराये जाने लगे, तब स्वाभाविक ही ऐसे ईश्वरवादियोंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा, घृणा और दुर्भावना उत्पन्न हुई और साथ ही यह भी भाव जाग्रत् हुआ कि जब ईश्वर इन लोगोंका कुछ भी नहीं करता जो उसके नामपर इतना जुल्म करते हैं, तब उस ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है? यद्यपि लोगोंका यह निश्चय भ्रमपूर्ण है तथापि गहरा विचार न करनेपर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। आज जो अनीश्वरवादकी लहर बह रही है, इसमें इन भेड़की खालमें घुसे हुए भेड़ियोंने—ज्ञानी और भक्तरूपको कलंकित करनेवाले मनुष्योंने बड़ी मदद की है। यह सब हुआ और हो रहा है, परंतु वास्तवमें बात तो यह है कि ऐसे लोगोंको ईश्वरवादी मानना ही भूल है, जो ईश्वरके नामपर पाप करता है, सर्वव्यापी ईश्वरको मानकर भी पाप करते नहीं सकुचाता, छिपकर पाप करनेमें कोई संकोच नहीं करता, वह वास्तवमें ईश्वरको मानता ही कहाँ है? इनपर लोगोंके आचरणोंसे ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न सच्चे ईश्वरभक्तोंका ही कुछ बिगड़ता है।

हमें क्या करना चाहिये?

ईश्वरमें विश्वास होना यद्यपि बड़े सौभाग्यका विषय है, परंतु यह सौभाग्य हमलोगोंको प्राप्त करना ही पड़ेगा। सत्संग, ईश्वरविश्वासी महात्माओंकी वाणी, सत्-शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-प्रार्थना आदि उपायोंसे ईश्वरमें विश्वास बढ़ता है; इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ अपने आसपास सभी प्रकारका ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें ईश्वर-विश्वास बढ़ानेवाली ही सब चीजें हों। ऐसा करनेमें यदि कोई सांसारिक हानि हो तो उसे ईश्वरका आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि ईश्वरमें अविश्वास करनेसे बढ़कर अन्य कोई भी हानि नहीं है, इससे मनुष्यका जितना पतन होता है, उतना अन्य किसी बातसे नहीं होता।

नित्य नियमपूर्वक भगवान्‌में विश्वास बढ़ानेवाले ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। भगवद्विश्वासी पुरुषोंसे यथावसर मिलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उनके अनुभव और उनकी शिक्षाओंको सत्य समझकर श्रद्धाके साथ उनके बतलाये हुए साधनोंको कार्यान्वित करना चाहिये। ऐसा करते-करते जब भगवत्‌में विश्वास बढ़ जायगा, तब भगवत्कृपाका सूर्य उदय होकर हमारे सारे अन्धकारको दूर कर देगा, फिर हमें सर्वत्र आनन्द, सब ओर शान्ति, सबमें विज्ञानानन्दघन परमात्माका भाव दिखायी देगा। यदि और भी सौभाग्य हुआ तो सारी चेतनता, समस्त आनन्द, सम्पूर्ण प्रेम, अखिल ज्ञान और दिव्य माधुर्यकी घनमूर्ति, नव-जलधर, नवकिशोर, नटवर, ललित त्रिभंगभंगीसे मधुर-मुरलीमें सुर भरते हुए हमारे दृष्टिगोचर होंगे, उस अनन्त सौन्दर्यराशि, स्मित-हास्य, पीतवसन और वनमालाधारी, गोप-गोपिका-परिवेष्टित श्याम मूरतिको देखकर फिर कुछ भी देखना, करना-धरना शेष न रह जायगा। उस दिव्य आनन्द-रस-महोदधिमें डूबकर हम गा उठेंगे—

मुकुटके रंगनिपर इन्द्रको धनुष वारौं,
अमल कमल वारौं लोचन बिसालपर।
कुंडलकी प्रभा पै कोटिक प्रभाकर वारौं,
कोटिक मदन वारौं वदन रसालपर॥
तनके बरन पै नीरद सजल वारौं,
चपला चमकि मनमोहनकी मालपर।
चाल पै मराल वारौं, मेरो तन मन वारौं,
कहा कहा वारि डारौं नंदजूके लालपर॥

भगवान् शिव

शिव एक हैं

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति।
देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः ॥

परात्पर सच्चिदानन्द परमेश्वर शिव एक हैं; वे विश्वातीत हैं और विश्वमय भी हैं। वे गुणातीत हैं और गुणमय भी हैं। वे एक ही हैं और अनेक रूप बने हुए हैं। वे जब अपने विस्ताररहित अद्वितीय स्वरूपमें स्थित रहते हैं, तब मानो यह विविध विलासमयी असंख्य रूपोंवाली विश्वरूप जादूके खेलकी जननी प्रकृतिदेवी उनमें विलीन रहती है। यही शक्तिकी शक्तिमान्में अक्रिय, अव्यक्त स्थिति है—शक्ति है, परंतु वह दीखती नहीं है और बाह्य क्रियारहित है। पुनः जब वही शिव अपनी शक्तिको व्यक्त और क्रियान्विता करते हैं, तब वही क्रीड़ामयी शक्ति—प्रकृति शिवको ही विविध रूपोंमें प्रकटकर उनके खेलका साधन उत्पन्न करती है। एक ही देव विविध रूप धारणकर अपने-आप ही अपने-आपसे खेलते हैं। यही विश्वका विकास है। यहाँ शिव-शक्ति दोनोंकी लीला चलती है। शक्ति क्रियान्विता होकर शक्तिमान्के साथ तब प्रत्यक्ष-प्रकट विलास करती है। यही परात्पर परमेश्वर शिव, महाशिव, महाविष्णु, महाशक्ति, गोकुल-विहारी श्रीकृष्ण, साकेताधिपति श्रीराम आदि नाम-रूपोंसे प्रसिद्ध हैं। सच्चिदानन्द विज्ञानानन्दघन परमात्मा शिव ही भिन्न-भिन्न सर्ग-महासर्गोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अपनी परात्परताको प्रकट करते हैं। जहाँ जटाजूटधारी श्रीशिवरूप सबके आदि-उत्पन्नकर्ता और सर्वपूज्य महेश्वर उपास्य हैं तथा अन्य नाम-रूपधारी उपासक हैं, वहाँ वे शिव ही परात्पर महाशिव हैं तथा अन्यान्य देव उनसे अभिन्न होनेपर भी उन्हींके स्वरूपसे प्रकट, नाना रूपों और नामोंसे प्रसिद्ध होते हुए सत्त्व-रज-तम गुणोंको लेकर आवश्यकतानुसार कार्य करते हैं। उस महासर्गमें भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता भिन्न-भिन्न होनेपर भी सब उन एक ही परात्पर महाशिवके उपासक हैं। इसी प्रकार किसी सर्ग या महासर्गमें महाविष्णुरूप परात्पर होते हैं और अन्य देवता उनसे प्रकट होते हैं; किसीमें ब्रह्मारूप, किसीमें महाशक्तिरूप, किसीमें श्रीकृष्णरूप और किसीमें श्रीरामरूप परात्पर ब्रह्म होते हैं तथा अन्यान्य स्वरूप उन्हींसे प्रकट होकर उनकी उपासनाकी और उनके अधीन सृष्टि, पालन और विनाशकी विविध लीलाएँ करते हैं। इस तरह एक ही प्रभु भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उपास्य-उपासक, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, शासक-शासितरूपसे लीला करते हैं। हाँ, एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, परात्परसे प्रकट त्रिदेव उनसे अभिन्न और पूर्ण शक्तियुक्त होते हुए भी तीनों भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रिया करते हैं तथा तीनोंकी शक्तियाँ भी अपने-अपने कार्यके अनुसार सीमित ही देखी जाती हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि परात्पर महाशिव परब्रह्मके ये सब भिन्न-भिन्न रूप काल्पनिक हैं। सभी रूप भगवान्के होनेके कारण नित्य, शुद्ध और दिव्य हैं। प्रकृतिके द्वारा रचे जानेवाले विश्वप्रपंचके विनाश होनेपर भी इनका विनाश नहीं होता; क्योंकि ये प्रकृतिकी सत्तासे परे स्वयं प्रभु परमात्माके स्वरूप हैं। जैसे परमात्माका निराकार रूप प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार है, इसी प्रकार उनके ये साकार रूप भी प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार हैं। अन्तर इतना ही है कि निराकार रूप कभी शक्तिको अपने अंदर इस प्रकार विलीन किये रहता है कि उसके अस्तित्वका ही पता नहीं लगता और कभी निराकार रहते हुए ही शक्तिको विकासोन्मुखी करके गुणसम्पन्न बन जाता है; परंतु साकार रूपमें शक्ति सदा ही जाग्रत्, विकसित और सेवामें नियुक्त रहती है। हाँ, कभी-कभी वह भी अन्तःपुरकी महारानीके सदृश बाहर सर्वथा अप्रकट-सी रहकर प्रभुके साथ क्रीड़ारत रहती है और कभी बाह्य लीलामें प्रकट हो जाती है, यही नित्यधामकी लीला और अवतार-लीलाका तारतम्य है।

नित्यधामके शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सावित्री, कृष्ण-राधा और राम-सीता ही समय-समयपर अवताररूपसे प्रकट होकर बाह्य लीला करते हैं। ये सब एक ही परम-तत्त्वके अनेक नित्य और दिव्य स्वरूप हैं। अवतारोंमें, कभी तो परात्पर स्वयं

अवतार लेते हैं और कभी सीमित शक्तिसे कार्य करनेवाले त्रिदेवोंमेंसे किसीका अवतार होता है। जहाँ दण्ड और मोहकी लीला होती है, वहाँ दण्डित एवं मोहित होनेवाले अवतारोंको त्रिदेवोंमेंसे, तथा दण्डदाता और मोह उत्पन्न करनेवालेको परात्पर प्रभु समझना चाहिये, जैसे नृसिंहरूपको शरभरूपके द्वारा दण्ड दिया जाना और शिवरूपका विष्णुद्वारा मोहिनीरूपसे मोहित होना आदि। कहीं-कहीं परात्परके साक्षात् अवतारमें भी ऐसी लीला देखी जाती है, परंतु उसका गूढ़ रहस्य कुछ और ही होता है जो उनकी कृपासे ही समझमें आ सकता है!

शिवके रूप कल्पना नहीं हैं

आज श्रीशिवस्वरूपकी कुछ चर्चा करके लेखनीको पवित्र करना है। कुछ लोगोंकी अनुभवहीन समझ, सूझ या कल्पना है कि भगवान् शिवका साकार स्वरूप कल्पनामात्र है। उनके एकमुख, पंचमुख, सर्पभूषित, नीलकण्ठ, मदनदहन, वृषभ, कार्तिकेय, गणेश आदि सभी काल्पनिक रूपक हैं। इसलिये इन्हें वास्तविक न मानकर रूपक ही समझना चाहिये। परंतु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। ये सभी सत्य हैं। जिन भक्तोंने भगवान् श्रीशिवकी कृपासे इन रूपों और लीलाओंको देखा है या जो आज भी भगवत्कृपासे प्राप्त साधन-बलसे देख सकते हैं अथवा देखते हैं तथा साक्षात् अनुभव करते हैं, वे ही इस तत्त्वको समझते हैं और उन्हींकी बातका वस्तुतः कुछ मूल्य है। उल्लूको सूर्य नहीं दीखता—इससे जैसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आती, इसी प्रकार किसीके मानने-न-माननेसे भगवत्स्वरूपका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, माननेवाला लाभ उठाता है और न माननेवाला हानि। एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवान्की प्रत्येक लीला वास्तवमें इसी प्रकारकी होती है, जिससे पूरा-पूरा आध्यात्मिक रूपक भी बँध सके; क्योंकि वे जगत्की शिक्षाके लिये ही अपने नित्य-स्वरूपको धरातलमें प्रकट करके लीला किया करते हैं। वेद, महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, शिवपुराण आदि सभी ग्रन्थोंमें वर्णित भगवान्की लीलाओंके रूपक बन सकते हैं। परंतु रूपक ठीक बैठ जानेसे ही असली स्वरूपको काल्पनिक मान लेना वैसी ही भूल है जैसी पिताके छायाचित्र (फोटो)-को देखकर उसके अस्तित्वको न मानना!

शिवपूजा

कुछ लोग कहते हैं कि शिव-पूजा अनार्योंकी चीज है, पीछेसे आर्योंमें प्रचलित हो गयी। इस कथनका आधार है वह मिथ्या कल्पना या अन्धविश्वास, जिसके बलपर यह कहा जाता है कि 'आर्य-जाति भारतवर्षमें पहलेसे नहीं बसती थी। पहले यहाँ अनार्य रहते थे। आर्य पीछेसे आये।' दो-चार विदेशी लोगोंने अटकलपच्चू ऐसा कह दिया; बस, उसीको ब्रह्मवाक्य मानकर लगे सब उन्हींका अनुकरण करने! शिव-पूजाके प्रमाण अब उस समयके भी मिल गये हैं, जिस समय इन लोगोंके मतमें आर्य-जाति यहाँ नहीं आयी थी। इसलिये इन्हें यह कहना पड़ा कि शिव-पूजा अनार्योंकी है! जो भ्रान्तिवश वेदोंके निर्माण-कालको केवल चार हजार वर्ष पूर्वका ही मानते हैं, उनके लिये ऐसा समझना स्वाभाविक है, परंतु वास्तवमें यह बात नहीं है। भारतवर्ष निश्चय ही आर्योंका मूल निवास है और शिव-पूजा अनादि कालसे ही प्रचलित है; क्योंकि सारा विश्व शिवसे ही उत्पन्न है, शिवमें स्थित है और शिवमें ही विलीन होता है। शिव ही इसको उत्पन्न करते हैं, शिव ही इसका पालन करते हैं और शिव ही संहार करते हैं। विभिन्न तीन कार्योंके लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—ये तीन नाम हैं। जब शिव अनादि हैं, तब शिवकी पूजाको परवर्ती बतलाना सरासर भूल है। परंतु क्या किया जाय? वे लोग चार-पाँच हजार वर्षसे पीछे हटना ही नहीं चाहते। उनके चारों युग इसी कालमें पूरे हो जाते हैं। उनके इतिहासकी यही सीमा है। इससे पहलेके कालको तो वे 'प्रागैतिहासिक युग' मानते हैं। मानो उस समय कुछ था ही नहीं और कहीं कुछ था तो उसको समझने, जानने या लिखनेवाला कोई नहीं था। प्राचीनताको—चारों युगोंको चार-पाँच हजार वर्षकी सीमामें बाँधकर वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त ग्रन्थोंमें वर्णित घटनाओंको तथा उनके ग्रन्थोंको इसी कालके अंदर सीमित मानकर तरह-तरहकी अद्भुत अटकलोंद्वारा इधर-उधरके कुलाबे मिलाकर मनगढ़ंत बातोंका प्रचार करते हैं और इसीका नाम आज नवीन शोध या रिसर्च है। इस विचित्र रिसर्चके युगमें प्राचीनताकी बातें सुनना बेवकूफी समझा जाता है। भला, बेवकूफी कौन करे? अतः स्वयं बेवकूफीसे बचनेके लिये पूर्वजोंको बेवकूफ बनाना चाहते हैं। कुछ

लोग श्रीशिव आदिके स्वरूप और उनकी लीलाएँ तथा उनकी उपासना-पद्धतिका पूरा रहस्य न समझनेके कारण उनमें दोष देखते हैं, फिर इनके रहस्यसे सर्वथा अनभिज्ञ विद्वान् माने जानेवाले अन्यदेशीय आधुनिक शिक्षाप्राप्त प्रसिद्ध पुरुष भगवान्के इन स्वरूपों, लीलाओं तथा पूजा-पद्धतिका जब उपहास करते हैं तथा इन्हें माननेवालोंको मूर्ख बतलाते हैं, तब तो इन लोगोंको आदर्श विद्वान् समझनेवाले एतद्देशीय उपर्युक्त पुरुषोंकी दोषदृष्टि और भी बढ़ जाती है और प्रत्यक्षदर्शी तत्त्वज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित इन ग्रन्थोंसे, इनमें वर्णित घटनाओंसे, इनके सिद्धान्तोंसे लज्जाका अनुभव करते हुए, घरमें, देशमें इन्हें कोसते हैं और बाहर अपने धर्म तथा देशको लज्जा तथा उपहाससे बचानेके लिये उन कथाओंसे नये-नये रूपकोंकी कल्पना कर विदेशी विद्वानोंकी दृष्टिमें अपने धर्म और इतिहासको तथा देवतावादको निर्दोष एवं विज्ञान-सम्मत उच्च दार्शनिक भावोंसे सम्पन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न कर उसके असली तत्त्वको ढँक देते हैं और इस तरह तत्त्वसे सर्वथा वंचित रह जाते हैं। शास्त्ररहस्यसे अनभिज्ञ, अतत्त्वविद् आधुनिक विद्वानोंकी बुद्धिको ही सर्वांशमें आदर्श मानकर उनसे उत्तम कहे जानेके लिये भारतीय विद्वानोंने भारतीय धर्म-ग्रन्थोंमें वर्णित तत्त्व तथा इतिहासोंको एवं भगवान्की लीलाओंको, अपनी सभ्यताके और ग्रन्थोंके गौरवको बढ़ानेकी अच्छी नीयतसे भी जो सर्वथा उड़ाने तथा उनका बुरी तरह अर्थान्तर करने और उन्हें समझानेकी चेष्टा की है एवं कर रहे हैं, उसे देखकर रहस्यविद् तत्त्वज्ञ लोग हँसते हैं। साथ ही इन लोगोंकी इस प्रकारकी प्रगतिका अशुभ परिणाम सोचकर खिन्न भी होते हैं। रहस्य खुलनेपर ही पता लगता है कि हमारे शास्त्रोंमें वर्णित सभी बातें सत्य हैं और हमें लजानेवाली नहीं, वरं संसारको ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देनेवाली हैं। परंतु इस रहस्यका उद्घाटन भगवत्कृपासे प्राप्त योग्य तत्त्वज्ञ सद्गुरुकी कृपासे ही हो सकता है। खेद है कि आजकल गुरुमुखसे ग्रन्थोंका रहस्य जाननेकी प्रणाली प्राय: नष्ट होकर अपने-आप ही अध्ययन और मनमाना अर्थ करनेकी प्रथा चल पड़ी है, जिससे रहस्य-मन्दिरके दरवाजेपर ताले-पर-ताले लगते जा रहे हैं। पता नहीं, इसके परिणामस्वरूप हमारा जीवन कितना बहिर्मुख और जड-भावापन्न हो जायगा।

शिव तामसी देवता नहीं हैं

इनके अतिरिक्त कुछ लोग भगवान् शिवको मानते तो हैं, किंतु उन्हें तामसी देव मानकर उनकी उपासना करनेमें दोष समझते हैं। वास्तवमें यह उनका भ्रम है, जो बाह्य दृष्टिवाले साम्प्रदायिक आग्रही मनुष्योंका पैदा किया हुआ है। जिन भगवान् शिवका गुणगान वेदों, उपनिषदों और वैष्णव कहे जानेवाले पुराणोंमें भी गाया गया है, उन्हें तामसी बतलाना अपने तमोगुणी होनेका ही परिचय देना है। परात्पर महाशिव तो सर्वथा गुणातीत हैं, वहाँ तो गुणोंकी क्रिया ही नहीं है। जिस गुणातीत, नित्य, दिव्य, साकार चैतन्य रसविग्रह-स्वरूपमें क्रिया है, उसमें भी गुणोंका खेल नहीं है। भगवान्की दिव्य प्रकृति ही वहाँ क्रिया करती है और जिन त्रिदेव-मूर्तियोंमें सत्त्व, रज और तमकी लीलाएँ होती हैं, उनमें भी उनका स्वरूप गुणोंकी क्रियाके अनुसार नहीं है। भिन्न-भिन्न क्रियाओंके कारण सत्त्व, रज, तमका आरोप है। वस्तुत: ये तीनों दिव्य चेतन-विग्रह भी गुणातीत ही हैं।

शिव मोक्षदाता हैं

कुछ लोग भगवान् शंकरपर श्रद्धा रखते हैं, उन्हें परमेश्वर मानते हैं, परंतु मुक्तिदाता न मानकर लौकिक फलदाता ही समझते हैं और प्राय: लौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये ही उनकी भक्ति या पूजा करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि परम उदार आशुतोष, भगवान् सदाशिवमें दयाकी लीलाका विशेष प्रकाश होनेके कारण वे भक्तोंको मनमानी वस्तु देनेके लिये सदा ही तैयार रहते हैं, परंतु इससे इन्हें मुक्तिदाता न समझना बड़ा भारी प्रमाद है। जब भगवान् शिवके स्वरूपका तत्त्वज्ञान ही मुक्तिका नामान्तर है, तब उन्हें मुक्तिदाता न मानना सिवा भ्रमके और क्या हो सकता है? वास्तवमें लौकिक कामनाओंने हमारे ज्ञानको हर लिया है, इसीलिये हम अपने अज्ञानका परमज्ञानस्वरूप शिवपर आरोप करके उनकी शक्तिको लौकिक कामनाओंकी पूर्तितक ही सीमित मान लेते हैं और शिवकी पूजा करके भी अपनी मूर्खतावश परम लाभसे वंचित रह जाते हैं। भगवान् शिव शुद्ध, सनातन, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म हैं, उनकी उपासना परम लाभके लिये ही या उनका पुनीत प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही करनी चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धवश होते रहते हैं, इनके लिये चिन्ता

करनेकी आवश्यकता नहीं। शंकरकी शरण लेनेसे कर्म शुभ और निष्काम हो जायँगे, जिससे आप ही सांसारिक कष्टोंका नाश हो जायगा और पूर्वकृत कर्मोंके शेष रहनेतक कष्ट होते भी रहें तो क्या आपत्ति है। उनके लिये न तो चिन्ता करनी चाहिये और न भगवान् शंकरसे उनके नाशार्थ प्रार्थना ही करनी चाहिये। नाम-रूपसे सम्बन्ध रखनेवाले, आने-जानेवाले सुख-दुःखोंकी भक्त क्यों परवा करने लगा? लौकिक सुखका सर्वथा नाश होकर महान् विपत्ति पड़नेपर भी यदि भगवान्का भजन होता रहे तो भक्त उस विपत्तिको परम सम्पत्ति मानता है, परंतु उस सम्पत्ति और सुखका वह मुँह भी नहीं देखना चाहता जो भगवान्के भजनको भुला देते हैं। भजन बिना जीवन, धन, परिवार, यश, ऐश्वर्य—सभी उसको विषवत् भासते हैं। भक्तको तो सर्वथा देवी पार्वतीकी भाँति अनन्य प्रेमभावसे भगवान् शिवकी उपासना ही करनी चाहिये। एक बात बहुत ध्यानमें रखनेकी है, भगवान् शिवके उपासकमें जगत्के भोगोंके प्रति वैराग्य अवश्य होना चाहिये। यह निश्चित सिद्धान्त है कि विषय-भोगोंमें जिनका चित्त आसक्त है, वे परमपदके अधिकारी नहीं हो सकते और उनका पतन ही होता है। ऐन्द्रिय विषयोंको प्राप्त करके अथवा विषयोंसे भरपूर जीवनमें रहकर उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहना जनक-सरीखे इने-गिने पूर्वाभ्यास-सम्पन्न पुरुषोंका ही कार्य है। अनुभव तो यह है कि विषयोंके संग तो क्या, उनके चिन्तनमात्रसे मनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। भगवान् भोलेनाथ विषय माँगनेवालेको विषय और मोक्ष माँगनेवालेको मोक्ष दे देते हैं और प्रेमका भिखारी उनके प्रेमको प्राप्तकर धन्य होता है। वे कल्पवृक्ष हैं। मुँहमाँगा वरदान देनेवाले हैं। यदि उपासकने उनसे विषय माँगा तो वे विषय दे देंगे, परंतु विषय उसके लिये विषका कार्य करेगा और अन्तमें दुःखदायी होगा। कामनासे घिरे हुए विषयपरायण मूढ़ पुरुष ही असुर हैं। ऐसे असुरोंके अनेकों दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, जिन्होंने भगवान् शिवजीकी उपासना करके उनसे विषय माँग लिये और जो यथार्थ लाभसे वंचित रह गये। अतएव भगवान् शिवके उपासकको जगत्के विषयोंकी आसक्ति छोड़कर यथार्थ वैराग्यसम्पन्न होकर परमवस्तुकी चाहना करनी चाहिये, जिससे यथार्थ कल्याण हो। याद रखना चाहिये कि शिव स्वयं कल्याणस्वरूप ही हैं, इससे उनकी उपासनासे उपासकका कल्याण बहुत ही शीघ्र हो जाता है। केवल विश्वास करके लग जानेमात्रकी देर है। भगवान्के दूसरे स्वरूप बहुत छान-बीनके अनन्तर फल देते हैं, परंतु औढरदानी शिव तत्काल फल दे देते हैं।

औढरदानी या आशुतोषका यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि विज्ञानानन्दघन शिवस्वरूपमें बुद्धि या विवेककी कमी है। ऐसा मानना तो प्रकारान्तरसे उनका अपमान करना है। बुद्धि या विवेकके उद्गम-स्थान ही भगवान् शिव हैं। उन्हींसे बुद्धि प्राप्तकर समस्त देव, ऋषि, मनुष्य अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं। अलग-अलग रूपोंमें कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ रहती हैं। शंकररूपमें यही विशेषता है कि वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और भक्तोंकी मनःकामना-पूर्तिके समय भोले-से बन जाते हैं। परंतु संहारका मौका आता है तब रुद्ररूप बनते भी उन्हें देर नहीं लगती।

शिवरूपका रहस्य गहन है

भगवान् शंकरको भोलानाथ मानकर ही लोग उन्हें गँजेड़ी, भँगेड़ी, नशेबाज और बावला समझकर उनका उपहास करते हैं। विनोदसे भक्त सब कुछ कर सकते हैं और भक्तका आरोप भगवान् स्वीकार भी कर ही लेते हैं। परंतु जो वस्तुतः शिवको पागल, श्मशानवासी औघड़, नशेबाज आदि समझते हैं, वे गहरी भूलमें हैं। शंकरका श्मशाननिवास, उनकी उन्मत्तता, उनका विष-पान, उनका सर्वांगीपन आदि बहुत गहरे रहस्यको लिये हुए हैं, जिसे श्रीशिवकी कृपासे शिव-भक्त ही समझ सकते हैं। जैसे व्यभिचारप्रिय लोग भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाको व्यभिचारका रूप देकर प्रकारान्तरसे अपने पापमय व्यभिचार-दोषका समर्थन करते हैं, इसी प्रकार सदाचारहीन, अवैदिक क्रियाओंमें रत नशेबाज मनुष्य शिवके अनुकरणका ढोंग रचकर अपने दोषोंका समर्थन करना चाहते हैं। वस्तुतः शिवभक्तको सदाचारपरायण रहकर गाँजा, भाँग, मतवालापन, अपवित्र वस्तुओंके सेवन, अपवित्र आचरण आदिसे सदा बचते रहना चाहिये—यही शंकरका आदेश है।

कल्याणरूप शिव

भगवान् शिवको परात्पर मानकर सेवन करनेवालेके लिये तो वे परमब्रह्म हैं ही। अन्यान्य भगवत्-स्वरूपोंके उपासकोंके लिये, जो शिवस्वरूपको परमब्रह्म नहीं मानते, भगवान् शिव मार्गदर्शक परमगुरु अवश्य हैं।

भगवान् विष्णुके भक्तके लिये भी सद्गुरुरूपसे शिवकी उपासना आवश्यक है। वैष्णवग्रन्थोंमें इसका यथेष्ट उल्लेख है और साधकोंके अनुभव भी प्रमाण हैं। शक्तिके उपासक शक्तिमान् शिवको छोड़ ही कैसे सकते हैं? शिव बिना शक्ति अकेली क्या करेगी? गणेश और कार्तिकेय तो शिवके पुत्र ही हैं। पुत्रको पूजे और पिताका अपमान करे, यह शिष्ट मर्यादा कभी नहीं हो सकती। सूर्यदेव तो भगवान् शिवके तेजोलिंगके ही नामान्तर हैं। इसके सिवा अन्यान्य मतावलम्बियोंके लिये भी कम-से-कम श्रद्धा-विश्वासरूप शक्ति-शिवकी आवश्यकता रहती ही है। योगियोंके लिये तो परमयोगीश्वर शिवकी आराधनाकी आवश्यकता है ही। ज्ञानके साधक परमकल्याणरूप शिवकी ही प्राप्ति चाहते हैं। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन भी शिवविद्याके ही प्रचारक हैं। तन्त्र तो शिवोपासनाके लिये ही बना है। ऐसी अवस्थामें जिस किसी भी दृष्टिसे शिवको परम परमात्मा, महाज्ञानी, महान् विद्वान्, योगीश्वर, देवदेव, जगद्गुरु, सद्गुरु, महान् उपदेशक, उत्पादक, संहारक—कुछ भी मानकर उनकी उपासना करना सबके लिये कर्तव्य है। और सुख—कल्याणकी इच्छा स्वाभाविक होनेके कारण प्रत्येक जीव कल्याणरूप शिवकी ही उपासना करता है।

लिंग-शब्दका अर्थ

कुछ लोग भगवान् शिवकी लिंगपूजामें अश्लीलताकी कल्पना करते हैं, यह वास्तवमें उनकी मूर्खता, नास्तिकता और अनभिज्ञता ही है। यह सत्य है कि लिंग-शब्दके अनेक अर्थोंमें लोकप्रसिद्ध अर्थ अश्लील है, परंतु वैदिक शब्दोंका यौगिक अर्थ लेना ही समीचीन है। यौगिक अर्थमें कोई अश्लीलता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अश्लीलता प्रसंगसे ही आती है। विषयात्मक वर्णनमें भी जो अश्लील या अनुचित प्रतीत होता है, वही वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक वर्णनोंमें श्लील तथा सर्वथा समुचित हो जाता है।

लिंग-शब्दका साधारण अर्थ चिह्न या लक्षण है। सांख्यदर्शनमें प्रकृतिको, प्रकृतिसे विकृतिको भी लिंग कहते हैं। देव-चिह्नके अर्थमें लिंग-शब्द भगवान् शंकरकी लिंगमूर्तिके ही लिये आता है। अन्य देवप्रतिमाओंको मूर्ति कहते हैं। यह असलमें अरूपका चिह्न है। दूसरोंका आकार मूर्तिमान्के ध्यानके अनुसार होता है, परंतु इसमें आकार या रूपका प्रदर्शन नहीं है। यह चिह्नमात्र है। कोई-कोई इसे परमात्माकी दिव्य ज्योतिका द्योतक स्वरूप मानते हैं, इसीलिये ज्योतिर्लिंग भी नाम है। एक जगह **'लयनाल्लिंगमुच्यते'** कहा है अर्थात् लय या प्रलय होता है उसे लिंग कहते हैं। भगवान् रुद्र ही प्रलय करते हैं, संहारके देवता वही हैं। प्रलयके समय सब कुछ उनमें—शिवलिंगमें समा जाता है और फिर सृष्टिके आदिमें पुनः लिंगसे ही सब कुछ प्रकट होता है। इसलिये लयसे लिंग-शब्दका उदय माना गया है। उसीसे लय या प्रलय होता है और उसीमें सम्पूर्ण विश्वका लय होता है। भगवान् शंकर निर्विकार हैं, इसलिये चिह्नमात्र ही उनका स्वरूप है। भगवान् शिवका कारण स्वरूप निराकार है, अतः शिवलिंग भी किसी विशेष आकृतिसे रहित है, जैसे शालग्राम शिला है। साथ ही सारे जगत्के कर्ता, विधाता, उत्पत्ति-स्थल भी भगवान् शिव ही हैं। देवीपीठ तथा शिवलिंगसे इस सिद्धान्तकी भी सूचना होती है। लिंगका एक अर्थ है 'कारण।' भगवान् शिव समस्त जगत्के कारण हैं, अतः कारणवाचक लिंगके नामसे उनका पूजन होता है। अतः इसमें अश्लीलताकी कल्पना किसी भी दृष्टिसे कदापि नहीं करनी चाहिये और भगवान् शंकरकी भक्तिभावसे शास्त्रानुमोदित पूजा-अर्चा करनी चाहिये।

शिवनिर्माल्य

भगवान् शंकरपर चढ़ायी हुई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये या नहीं, इस सम्बन्धमें तरह-तरहकी बातें कही जाती हैं। सिद्धान्त यह है कि जिन पुरुषोंने शिव-मन्त्रकी दीक्षा ली है, उनके लिये तो शिवजीका नैवेद्य—प्रसाद भक्षण करनेकी विधि है, परंतु जिनके अन्य देवताकी दीक्षा है, उनके लिये निषेध है। शास्त्रमें कहा गया है कि शिवजीपर जो निर्माल्य या नैवेद्य चढ़ता है, वह चण्डेश्वरका भाग है, उसका ग्रहण किसीको नहीं करना चाहिये—**'चण्डाधिकारो यत्रास्ति तद्भोक्तव्यं न मानवैः'** (शिवपुराण-विद्येश्वरसंहिता २२।१६) अर्थात् 'जहाँ चण्डका अधिकार है वहाँ मनुष्यको शिव-नैवेद्यका भक्षण नहीं करना चाहिये।' परंतु वहीं इसी श्लोकमें यह भी कहा है कि जिसमें चण्डका अधिकार नहीं है, उसका भक्तिपूर्वक भक्षण करना चाहिये—**'चण्डाधिकारो नो यत्र भोक्तव्यं तच्च भक्तितः।'** शास्त्रोंमें यह निर्णय किया गया है कि भूमि, वस्त्र, भूषण, सोना,

चाँदी, ताँबा आदिको छोड़कर श्रीशिवजीपर चढ़े हुए पुष्प, फल, मिष्ठान्न, जल—इन सबको, जो शिवदीक्षासे रहित हैं, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिये। पर ये भी यदि शालग्रामजीसे स्पर्श हो जायँ तो ग्रहणके योग्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ शालग्राम-शिलाकी उत्पत्ति होती है—वहाँ उत्पन्न लिंगमें, पारेके लिंगमें, पाषाण, चाँदी या सोनेसे बने हुए लिंगमें, देवता तथा सिद्धोंके द्वारा स्थापित लिंगमें, स्फटिक या रत्ननिर्मित लिंगमें, केसरसे बने हुए लिंगमें तथा सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, परमेश्वर, केदारनाथ, भीमशंकर, विश्वनाथ, त्र्यम्बक, वैद्यनाथ, नागेश, रामेश्वर और घुश्मेश्वर—इन बारह ज्योतिर्लिंगोंमें चढ़ा हुआ शिव-नैवेद्य ग्रहण करनेयोग्य होता है। जिनको शैवी दीक्षा नहीं है, वे भी उपर्युक्त लिंगोंके नैवेद्यको ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इन लिंगोंके निर्माल्यमें चण्डका अधिकार नहीं है।

सारांश यह है कि जिनको शिवदीक्षा नहीं है, परंतु जो शिवजीके भक्त हैं उनके लिये पार्थिव लिंगको छोड़कर सभी शिवलिंगोंपर निवेदित की हुई वस्तुओंको तथा शिवजीकी प्रतिमापर चढ़ाये हुए प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार है। और जो वस्तुएँ शिवलिंगका स्पर्श नहीं करतीं अलग रखकर शिवजीको निवेदन की जाती हैं, वे अत्यन्त पवित्र हैं, उन्हें भी ग्रहण करनेका अधिकार है। शिवजीकी पूजामें नारी तथा शूद्र सभीका अधिकार है, उन्हें केवल वैदिक पूजा नहीं करनी चाहिये।*

भगवती शक्ति

सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वमय, समस्त-गुणाधार, निर्विकार, नित्य, निरंजन, सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, विज्ञानानन्दघन, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वे एक ही अनेक भावों और अनेक रूपोंमें लीला करते हैं। हम अपने समझनेके लिये मोटे रूपसे उनके आठ रूपोंका भेद कर सकते हैं। १—नित्य, विज्ञानानन्दघन, निर्गुण, निराकार, मायारहित, एकरस ब्रह्म; २—सगुण, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त निराकार परमात्मा; ३—सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा; ४—पालनकर्ता भगवान् विष्णु; ५—संहारकर्ता भगवान् रुद्र; ६—श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा, काली आदि साकार रूपोंमें अवतरित रूप; ७—असंख्य जीवात्मारूपसे विभिन्न जीवशरीरोंमें व्याप्त और ८—विश्वब्रह्माण्डरूप विराट्। ये आठों रूप एक ही परमात्माके हैं। इन्हीं समग्ररूप प्रभुको रुचिवैचित्र्यके कारण संसारमें लोग ब्रह्म, सदाशिव, महाविष्णु, ब्रह्मा, महाशक्ति, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, अल्लाह, गॉड, प्रकृति आदि भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे पूजते हैं। वे सच्चिदानन्दघन अनिर्वचनीय प्रभु एक ही हैं, लीलाभेदसे उनके नामरूपोंमें भेद है और इसी भेदभावके कारण उपासनामें भेद है। यद्यपि उपासकको अपने इष्टदेवके नाम-रूपमें ही अनन्यता रखनी चाहिये तथा उसीकी पूजा शास्त्रोक्त पूजन-पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये, परंतु इतना निरन्तर स्मरण रखना चाहिये कि शेष सभी रूप और नाम भी उसीके इष्टदेवके हैं। उसीके प्रभु इतने विभिन्न नाम-रूपोंमें समस्त विश्वके द्वारा पूजित होते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। तमाम जगत्में वस्तुतः एक वही फैले हुए हैं। जो विष्णुको पूजता है, वह अपने-आप ही शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदिको पूजता है और जो राम, कृष्णको पूजता है वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिको। एककी पूजासे स्वाभाविक ही सभीकी पूजा हो जाती है; क्योंकि एक ही सब बने हुए हैं। परंतु जो किसी एक रूपसे अन्य समस्त रूपोंको अलग मानकर औरोंकी अवज्ञा करके केवल अपने

* पुराणप्रसिद्ध शिवलिंग तथा प्राचीन शिवलिंगके पूजनका अधिकार स्त्री-शूद्र सभीको है। 'शिवसर्वस्व' में कहा है—
यस्तु पूजयते लिंगं देवादिं मां जगत्पतिम्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मत्परायणः॥
तस्य प्रीतः प्रदास्यामि शुभाँल्लोकाननुत्तमान्।
स्कन्दपुराणमें है—नमोऽन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते।
स्त्री 'शिवाय नमः' इस मन्त्रसे ही पूजा करे।
हाँ, स्त्री-शूद्रोंके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा कोई नया शिवलिंग स्थापित किया गया हो तो उसकी पूजाका अधिकार स्त्री-शूद्रको नहीं है।

इष्ट एक ही रूपको अपनी ही सीमामें आबद्ध रखकर पूजता है, वह अपने परमेश्वरको छोटा बना लेता है, उनको सर्वेश्वरत्वके आसनसे नीचे उतारता है। इसलिये उसकी पूजा सर्वोपरि सर्वमय भगवान्‌की न होकर एकदेशनिवासी स्वल्प देवविशेषकी होती है और उसे वैसा ही उसका अल्प फल भी मिलता है। अतएव पूजो एक ही रूपको, परंतु शेष सब रूपोंको समझो उसी एकके वैसे ही शक्तिसम्पन्न अनेक रूप!

परिणामवाद

असलमें वह एक महाशक्ति ही परमात्मा हैं जो विभिन्न रूपोंमें विविध लीलाएँ करती हैं। परमात्माके पुरुषवाचक सभी स्वरूप इन्हीं अनादि, अविनाशिनी, अनिर्वचनीया, सर्वशक्तिमयी, परमेश्वरी आद्या महाशक्तिके ही हैं। यही महाशक्ति अपनी मायाशक्तिको जब अपने अन्दर छिपाये रखती हैं, उससे कोई क्रिया नहीं करतीं, तब निष्क्रिय, शुद्धब्रह्म कहलाती हैं। यही जब उसे विकासोन्मुख करके एकसे अनेक होनेका संकल्प करती हैं, तब स्वयं ही पुरुषरूपसे मानो अपनी ही प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करके सगुण, निराकार परमात्मा बन जाती हैं। इसीकी अपनी शक्तिसे गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति उस प्रकृतिमें क्रमशः सात विकृतियाँ होती हैं (महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि, अहंकार और सूक्ष्म पंचतन्मात्राएँ—मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं; परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको विकृति भी कहते हैं) फिर अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रासे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। (इसीलिये इन दोनोंके समुदायका नाम प्रकृति-विकृति है। मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल-प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं) यों वह महाशक्ति ही अपनी प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंके रूपमें यह स्थूल संसार बन जाती हैं और जीवरूपसे स्वयं पचीसवें तत्त्वरूपमें प्रविष्ट होकर खेल खेलती हैं। चेतन परमात्मरूपिणी महाशक्तिके बिना जड प्रकृतिसे यह सारा कार्य कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार महाशक्ति विश्वरूप विराट् पुरुष बनती हैं और इस सृष्टिके निर्माणमें स्थूल निर्माता प्रजापतिके रूपमें आप ही अंशावतारके भावसे ब्रह्मा और पालनकर्ताके रूपमें विष्णु और संहारकर्ताके रूपमें रुद्र बन जाती हैं और ये ब्रह्मा, विष्णु, शिवप्रभृति अंशावतार भी किसी कल्पमें दुर्गारूपसे होते हैं, किसीमें महाविष्णुरूपसे, किसीमें महाशिवरूपसे, किसीमें श्रीरामरूपसे और किसीमें श्रीकृष्णरूपसे। एक ही शक्ति विभिन्न नाम-रूपोंसे सृष्टि-रचना करती हैं। इस विभिन्नताका कारण और रहस्य भी उन्हींको ज्ञात है। यों अनन्त ब्राह्माण्डोंमें महाशक्ति असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनी हुई हैं और अपनी योगमायासे अपनेको आवृतकर आप ही जीवसंज्ञाको प्राप्त हैं। ईश्वर, जीव, जगत् तीनों आप ही हैं। भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों आप ही हैं। इन तीनोंको अपनेहीसे निर्माण करनेवाली, तीनोंमें व्याप्त रहनेवाली भी आप ही हैं।

परमात्मरूपा यह महाशक्ति स्वयं अपरिणामिनी हैं, परंतु इन्हींकी मायाशक्तिसे सारे परिणाम होते हैं। यह स्वभावसे ही सत्ता देकर अपनी मायाशक्तिको क्रीडाशीला अर्थात् क्रियाशीला बनाती हैं, इसलिये इनके शुद्ध विज्ञानानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मरूपमें कदापि कोई परिवर्तन न होनेपर भी इनमें परिणाम दीखता है; क्योंकि इनकी अपनी शक्ति मायाका विकसित स्वरूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा बदलता ही रहता है और वह मायाशक्ति सदा इन महाशक्तिसे अभिन्न रहती है। वह महाशक्तिकी ही स्व-शक्ति है और शक्तिमान्‌से शक्ति कभी पृथक् नहीं हो सकती, चाहे वह पृथक् दीखे भले ही, अतएव शक्तिका परिणाम स्वयमेव ही शक्तिमान्‌पर आरोपित हो जाता है, इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म या महाशक्तिमें परिणामवाद सिद्ध होता है।

मायावाद

और चूँकी संसाररूपसे व्यक्त होनेवाली यह समस्त क्रीडा महाशक्तिकी अपनी शक्ति—मायाका ही खेल है और मायाशक्ति उनसे अलग नहीं, इसलिये यह सारा उन्हींका ऐश्वर्य है। उनको छोड़कर जगत्‌में और कोई वस्तु ही नहीं; दृश्य, द्रष्टा और दर्शन—तीनों वह आप ही हैं, अतएव जगत्‌को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी इस हिसाबसे ठीक ही है।

आभासवाद

इसी प्रकार महाशक्ति ही अपने मायारूपी दर्पणमें अपने विविध शृंगारों और भावोंको देखकर जीवरूपसे

आप ही मोहित होती हैं। इससे आभासवाद भी सत्य है।

माया अनादि और सान्त है

परमात्मरूप महाशक्तिकी उपर्युक्त मायाशक्तिको अनादि और सान्त कहते हैं। सो उसका अनादि होना तो ठीक ही है; क्योंकि वह शक्तिमयी महाशक्तिकी अपनी शक्ति होनेसे उसीकी भाँति अनादि है, परंतु शक्तिमयी महाशक्ति तो नित्य अविनाशिनी है, फिर उसकी शक्ति माया अन्तवाली कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह अन्तवाली नहीं है। अनादि, अनन्त, नित्य,अविनाशी परमात्मरूपा महाशक्तिकी भाँति उसकी शक्तिका भी कभी विनाश नहीं हो सकता, परंतु जिस समय वह कार्यकरण-विस्ताररूप समस्त संसारसहित महाशक्तिके सनातन अव्यक्त परमात्मरूपमें लीन रहती है, क्रियाहीना रहती है, तबतकके लिये वह अदृश्य या सान्त हो जाती है और इसीसे उसे सान्त कहते हैं। इस दृष्टिसे उसको सान्त कहना सत्य ही है।

मायाशक्ति अनिर्वचनीय है

कोई-कोई परमात्मरूपा महाशक्तिकी इस मायाशक्तिको अनिर्वचनीय कहते हैं, सो भी ठीक ही है; क्योंकि यह शक्ति उस सर्वशक्तिमती महाशक्तिकी अपनी ही तो शक्ति है। जब वह अनिर्वचनीय है, तब उसकी अपनी शक्ति अनिर्वचनीय क्यों न होगी?

मायाशक्ति और महाशक्ति

कोई-कोई कहते हैं कि इस मायाशक्तिका ही नाम महाशक्ति, प्रकृति, विद्या, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान आदि है, महाशक्ति पृथक् वस्तु नहीं है। सो उनका यह कथन भी एक दृष्टिसे सत्य ही है; क्योंकि मायाशक्ति परमात्मरूपा महाशक्तिकी ही शक्ति है और वही जीवोंके बाँधनेके लिये अज्ञान या अविद्यारूपसे और उनकी बन्धन-मुक्तिके लिये ज्ञान या विद्यारूपसे अपना स्वरूप प्रकट करती है, तब इनसे भिन्न कैसे रही? हाँ, जो मायाशक्तिको ही शक्ति मानते हैं और महाशक्तिका कोई अस्तित्व ही नहीं मानते वे तो मायाके अधिष्ठान ब्रह्मको ही अस्वीकार करते हैं, इसलिये वे अवश्य ही मायाके चक्करमें पड़े हुए हैं।

निर्गुण और सगुण

कोई इस परमात्मरूपा महाशक्तिको निर्गुण कहते हैं और कोई सगुण। ये दोनों बातें भी ठीक हैं, क्योंकि उस एकके ही तो ये दो नाम हैं। जब मायाशक्ति क्रियाशीला रहती है, तब उसका अधिष्ठान महाशक्ति सगुण कहलाती हैं और जब वह महाशक्तिमें मिली रहती है, तब महाशक्ति निर्गुण हैं। इन अनिर्वचनीया परमात्मरूपा महाशक्तिमें परस्परविरोधी गुणोंका नित्य सामंजस्य है। वे जिस समय निर्गुण हैं, उस समय भी उनमें गुणमयी मायाशक्ति छिपी हुई मौजूद है और जब वे सगुण कहलाती हैं उस समय भी वे गुणमयी मायाशक्तिकी अधीश्वरी और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होनेसे वस्तुतः निर्गुण ही हैं। अथवा स्व-स्वरूपमय अचिन्त्य अनन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित होनेसे वे सगुण हैं और ये दिव्य गुण उनके स्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण वही वस्तुतः निर्गुण भी हैं, तात्पर्य कि उनमें निर्गुण और सगुण दोनों लक्षण सभी समय वर्तमान हैं। जो जिस भावसे उन्हें देखता है, उसको उनका वैसा ही रूप भान होता है। असलमें वे कैसी हैं, क्या हैं, इस बातको वही जानती हैं।

शक्ति और शक्तिमान्

कोई-कोई कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्ममें मायाशक्ति नहीं रह सकती, माया रही तो वह शुद्ध कैसे? बात समझनेकी है। शक्ति कभी शक्तिमान्से पृथक् नहीं रह सकती। यदि शक्ति नहीं है तो उसका शक्तिमान् नाम नहीं हो सकता और शक्तिमान् न हो तो शक्ति रहे कहाँ? अतएव शक्ति सदा ही शक्तिमान्में रहती है। शक्ति नहीं होती तो सृष्टिके समय शुद्ध ब्रह्ममें एकसे अनेक होनेका संकल्प कहाँसे और कैसे होता? इसपर कोई यदि यह कहे कि 'जिस समय संकल्प हुआ, उस समय शक्ति आ गयी, पहले नहीं थी।' 'अच्छी बात है; पर बताओ, वह शक्ति कहाँसे आ गयी? ब्रह्मके सिवा कहाँ जगह थी जहाँ वह अबतक छिपी बैठी थी? इसका क्या उत्तर है?' 'अजी, ब्रह्ममें कभी संकल्प ही नहीं हुआ, यह सब असत् कल्पनाएँ हैं, मिथ्या स्वप्नकी-सी बातें हैं।' 'अच्छी बात है, पर यह मिथ्या कल्पनाएँ किसने किस शक्तिसे कीं और मिथ्या स्वप्नको किसने किस सामर्थ्यसे देखा? और मान भी लिया जाय कि यह सब मिथ्या है तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुद्ध ब्रह्मका अस्तित्त्व किससे है? जिससे वह अस्तित्व है वही उसकी शक्ति है। क्या जीवनीशक्ति बिना भी कोई जीवित रह सकता है? अवश्य ही ब्रह्मकी वह जीवनीशक्ति ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। वही जीवनीशक्ति

अन्यान्य समस्त शक्तियोंकी जननी हैं, वही परमात्मरूपा महाशक्ति हैं। अन्यान्य सारी शक्तियाँ अव्यक्तरूपसे उन्हींमें छिपी रहती हैं—और जब वे चाहती हैं तब उनको प्रकट करके काम लेती हैं। हनुमान्‌में समुद्र लाँघनेकी शक्ति थी, पर वह अव्यक्त थी, जाम्बवान्‌के याद दिलाते ही हनुमान्‌ने उसे व्यक्त रूप दे दिया। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा या परमा शक्ति भी नित्य शक्तिमान् हैं; हाँ, कभी वह शक्ति उनमें अव्यक्त रहती है और कभी व्यक्त। अवश्य ही भगवान्‌की शक्तिको व्यक्त रूप भगवान् स्वयं ही देते हैं, यहाँ किसी जाम्बवान्‌की आवश्यकता नहीं होती। परंतु शक्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीसे ऋषि-मुनियोंने इस शक्तिमान् परमात्माको महाशक्तिके रूपमें देखा।

शक्ति और शक्तिमान्‌की अभिन्नता

इन्हीं सगुण-निर्गुणरूप भगवान् या भगवतीसे उपर्युक्त प्रकारसे कभी महादेवीरूपके द्वारा, कभी महाशिवरूपके द्वारा, कभी महाविष्णुरूपके द्वारा, कभी श्रीकृष्णरूपके द्वारा, कभी श्रीरामरूपके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, और यही परमात्मरूपा महाशक्ति पुरुष और नारीरूपमें विविध अवतारोंमें प्रकट होती हैं। वस्तुतः यह नारी हैं न पुरुष और दूसरी दृष्टिसे दोनों ही हैं। अपने पुरुषरूप अवतारोंमें स्वयं महाशक्ति ही लीलाके लिये उन्हींके अनुसार रूपोंमें उनकी पत्नी बन जाती हैं। ऐसे बहुत-से इतिहास मिलते हैं जिनमें महाविष्णुने लक्ष्मीसे, श्रीकृष्णने राधासे, श्रीसदाशिवने उमासे और श्रीरामने सीतासे एवं इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, राधा, उमा और सीताने महाविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीसदाशिव और श्रीरामसे कहा है कि हम दोनों सर्वथा अभिन्न हैं, एकके ही दो रूप हैं, केवल लीलाके लिये एकके दो रूप बन गये हैं, वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भी अन्तर नहीं है।

शक्तिकी महिमा

यही आदिके तीन युगल उत्पन्न करनेवाली महालक्ष्मी हैं; इन्हींकी शक्तिसे ब्रह्मादि देवता बनते हैं, जिनसे विश्वकी उत्पत्ति होती है। इन्हींकी शक्तिसे विष्णु और शिव प्रकट होकर विश्वका पालन और संहार करते हैं। दया, क्षमा, निद्रा, स्मृति, क्षुधा, तृष्णा, तृप्ति, श्रद्धा, भक्ति, धृति, मति, तुष्टि, पुष्टि, शान्ति, कान्ति, लज्जा आदि इन्हीं महाशक्तिकी शक्तियाँ हैं। यही गोलोकमें श्रीराधा, साकेतमें श्रीसीता, क्षीरोदसागरमें लक्ष्मी, दक्षकन्या सती, दुर्गतिनाशिनी मेनकापुत्री दुर्गा हैं। यही वाणी, विद्या, सरस्वती, सावित्री और गायत्री हैं। यही सूर्यकी प्रभाशक्ति, पूर्णचन्द्रकी सुधावर्षिणी शोभाशक्ति, अग्निकी दाहिकाशक्ति, वायुकी वहनशक्ति, जलकी शीतलताशक्ति, धराकी धारणाशक्ति और शस्यकी प्रसूतिशक्ति हैं। यही तपस्वियोंका तप, ब्रह्मचारियोंका ब्रह्मतेज, गृहस्थोंकी सर्वाश्रम-आश्रयता, वानप्रस्थोंकी संयमशीलता, संन्यासियोंका त्याग, महापुरुषोंकी महत्ता और मुक्त पुरुषोंकी मुक्ति हैं। यही शूरोंका बल, दानियोंकी उदारता, माता-पिताका वात्सल्य, गुरुकी गुरुता, पुत्र और शिष्यकी गुरुजनभक्ति, साधुओंकी साधुता, चतुरोंकी चातुरी और मायावियोंकी माया हैं। यही लेखकोंकी लेखनशक्ति, वाग्मियोंकी वक्तृत्वशक्ति, न्यायी नरेशोंकी प्रजा-पालनशक्ति और प्रजाकी राजभक्ति हैं। यही सदाचारियोंकी दैवी-सम्पत्ति, मुमुक्षुओंकी षट्सम्पत्ति, धनवानोंकी अर्थसम्पत्ति और विद्वानोंकी विद्या-सम्पत्ति हैं। यही ज्ञानियोंकी ज्ञानशक्ति, प्रेमियोंकी प्रेमशक्ति, वैराग्यवानोंकी विरागशक्ति और भक्तोंकी भक्तिशक्ति हैं। यही राजाओंकी राजलक्ष्मी, वणिकोंकी सौभाग्यलक्ष्मी, सज्जनोंकी शोभालक्ष्मी और श्रेयार्थियोंकी श्री हैं। यही पतिकी पत्नीप्रीति और पत्नीकी पतिव्रताशक्ति हैं। सारांश यह कि जगत्‌में तमाम जगह परमात्मरूपा महाशक्ति ही विविध शक्तियोंके रूपमें खेल रही हैं। सभी जगह स्वाभाविक ही शक्तिकी पूजा हो रही है। जहाँ शक्ति नहीं है वहीं शून्यता है। शक्तिहीनकी कहीं कोई पूछ नहीं। प्रह्लाद-ध्रुव भक्तिशक्तिके कारण पूजित हैं। गोपी प्रेम-शक्तिके कारण जगत्पूज्य हैं। भीष्म-हनुमान्‌की ब्रह्मचर्यशक्ति; व्यास-वाल्मीकिकी कवित्वशक्ति; भीम-अर्जुनकी शौर्यशक्ति; युधिष्ठिर-हरिश्चन्द्रकी सत्यशक्ति; शंकर-रामानुजकी विज्ञानशक्ति; शिवाजी-प्रतापकी वीरशक्ति; इस प्रकार जहाँ देखो वहीं शक्तिके कारण ही सबकी शोभा और पूजा है। सर्वत्र शक्तिका ही समादर और बोलबाला है। शक्तिहीन वस्तु जगत्‌में टिक ही नहीं सकती। सारा जगत् अनादिकालसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे निरन्तर केवल शक्तिकी ही उपासनामें लग रहा है और सदा लगा रहेगा।

शक्तिकी शरण

यह महाशक्ति ही सर्वकारणरूप प्रकृतिकी आधारभूता होनेसे महाकारण हैं, यही मायाधीश्वरी हैं, यही सृजन-पालन-संहारकारिणी आद्या नारायणी शक्ति हैं और यही

प्रकृतिके विस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर होती हैं। परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ इन्हींकी हैं अथवा यही दो प्रकृतियोंके रूपमें प्रकाशित होती हैं। इनमें द्वैताद्वैत दोनोंका समावेश है। यही वैष्णवोंकी श्रीनारायण और महालक्ष्मी, श्रीराम और सीता, श्रीकृष्ण और राधा; शैवोंकी श्रीशंकर और उमा, गाणपत्योंकी श्रीगणेश और ऋद्धि-सिद्धि, सौरोंकी श्रीसूर्य और उषा, ब्रह्मवादियोंकी शुद्ध-ब्रह्म और ब्रह्मविद्या हैं और शाक्तोंकी महादेवी हैं। यही पंचमहाशक्ति, दस महाविद्या, नव दुर्गा हैं। यही अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, कात्यायनी, ललिताम्बा हैं। यही शक्तिमान् हैं, यही शक्ति हैं, यही नर हैं, यही नारी हैं, यही माता, धाता, पितामह हैं; सब कुछ यही हैं! सबको सर्वतोभावसे इन्हींके शरण जाना चाहिये।

× × × ×

जो श्रीकृष्णरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। जो श्रीराम, शिव या गणेशरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। और इसी प्रकार जो श्री, लक्ष्मी, विद्या, काली, तारा, षोडशी आदि रूपोंमें उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। श्रीकृष्ण ही काली हैं, माँ काली ही श्रीकृष्ण हैं। इसलिये जो जिस रूपकी उपासना करते हों, उन्हें उस उपासनाको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं जिन भगवान् या भगवतीस्वरूपकी उपासना कर रहा हूँ, वही सर्वदेवमय और सर्वरूपमय हैं; सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं। दूसरोंके सभी इष्टदेव इन्हींके विभिन्न स्वरूप हैं।' हाँ, पूजामें भगवान्के अन्यान्य रूपोंका यदि कहीं विरोध हो या उनसे द्वेषभाव हो तो उसे जरूर निकाल देना चाहिये; साथ ही किसी तामसिक पद्धतिका अवलम्बन किया हुआ हो तो उसे भी अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

तामसीको नरक-प्राप्ति

तामसिक देवता, तामसिक पूजा, तामसिक आचार सभी नरकोंमें ले जानेवाले हैं; चाहे उनसे थोड़े कालके लिये सुख मिलता हुआ-सा प्रतीत भले ही हो। देवता वस्तुतः तामसिक नहीं होते, पूजक अपनी भावनाके अनुसार उन्हें तामसिक बना लेते हैं। जो देवता अल्प सीमामें आबद्ध हों, जिनको तामसिक वस्तुएँ प्रिय हों, जो मांस-मद्य आदिसे प्रसन्न होते हों, पशु-बलि चाहते हों, जिनकी पूजामें तामसिक गंदी वस्तुओंका प्रयोग आवश्यक हो, जिनके लिये पूजा करनेवालेको तामसिक आचारकी प्रयोजनीयता प्रतीत होती हो; वह देवता, उनकी पूजा और उन पूजकोंके आचार तामसी हैं और तामसी पापाचारीको बार-बार नरकोंकी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

तन्त्रके नामपर व्यभिचार और हिंसा

यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ साधनशास्त्रोंमें एक बहुत उत्तम शास्त्र है, उसमें अधिकांश बातें सर्वथा अभिनन्दनीय और साधकको परम सिद्धि—मोक्ष प्रदान करानेवाली हैं, तथापि सुन्दर बगीचेमें भी जिस प्रकार असावधानीसे कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फूलने-फलने भी लगते हैं, इसी प्रकार तन्त्रमें भी बहुत-सी अवांछनीय गंदगी आ गयी है। यह विषयी कामान्ध मनुष्यों और मांसाहारी मद्यलोलुप अनाचारियोंकी ही काली करतूत मालूम होती है, नहीं तो, श्रीशिव और ऋषिप्रणीत मोक्षप्रदायक पवित्र तन्त्रशास्त्रमें ऐसी बातें कहाँसे और क्यों आतीं? जिस शास्त्रमें अमुक-अमुक जातिकी स्त्रियोंका नाम ले-लेकर व्यभिचारकी आज्ञा दी गयी हो और उसे धर्म तथा साधन बताया गया हो, जिस शास्त्रमें पूजाकी पद्धतिमें बहुत ही गंदी वस्तुएँ पूजा-सामग्रीके रूपमें आवश्यक बतायी गयी हों, जिस शास्त्रके माननेवाले साधक हजार स्त्रियोंके साथ व्यभिचारको और अष्टोत्तरशत नरबालकोंकी बलिको अनुष्ठानकी सिद्धिमें कारण मानते हों, वह शास्त्र तो सर्वथा अशास्त्र और शास्त्रके नामको कलंकित करनेवाला ही है। व्यभिचारकी आज्ञा देनेवाले तन्त्रोंके अवतरण लेखकने पढ़े हैं और तन्त्रके नामपर व्यभिचार और नरबलि करनेवाले मनुष्योंकी घृणित गाथाएँ विश्वस्त-सूत्रसे सुनी हैं। ऐसे महान् तामसिक कार्योंको शास्त्रसम्मत मानकर भलाईकी इच्छासे इन्हें करना सर्वथा भ्रम है, भारी भूल है और ऐसी भूलमें कोई पड़े हुए हों तो उन्हें तुरंत ही इससे निकल जाना चाहिये। और जो जान-बूझकर धर्मके नामपर व्यभिचार, हिंसा आदि करते हों, उनको तो जब माँ चण्डीका भीषण दण्ड प्राप्त होगा, तभी उनके होश ठिकाने आयेंगे। दयामयी माँ अपनी भूली हुई संतानको क्षमा करें और उसे रास्तेपर लावें, यही प्रार्थना है।

बलिदान

इसके अतिरिक्त पंचमकारके नामपर भी बड़ा अन्याय-अनाचार हुआ तथा अब भी बहुत जगह हो रहा है, उससे भी सतर्कतासे बचना चाहिये। बलिदान तथा मद्यप्रदान भी सर्वथा त्याज्य हैं। माताकी जो संतान, अपनी भलाईके लिये—मातासे ही अपनी कामना पूरी करानेके लिये, उसी माताकी प्यारी भोलीभाली संतानकी हत्या करके उसके खूनसे माँको पूजती है, जो माँके बच्चोंके खूनसे माँके मन्दिरको अपवित्र और कलंकित करता है, उसपर माँ कैसे प्रसन्न हो सकती है? माँ दुर्गा, काली जगज्जननी विश्वमाता हैं। स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये—धन-पुत्र, स्वार्थ-वैभव, सिद्धि या मोक्षके लिये भ्रमवश निरीह बकरे, भैंसे और अन्यान्य पशु-पक्षियोंके गलेपर छुरी फेरकर मातासे सफलताका वरदान चाहता है, यह कैसी असंगत और असम्भव बात है। निरपराध प्राणियोंकी नृशंसतापूर्वक हत्या करने-करानेवाला कभी सुखी हो सकता है? उसे कभी शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं। दयाहीन मांसलोलुप मनुष्योंने ही इस प्रकारकी प्रथा चलायी है। जिसका शीघ्र ही अन्त हो जाना चाहिये। जो दूसरे निर्दोष प्राणियोंकी गर्दन काटकर अपना भला मनायेगा, उसका यथार्थ भला कभी नहीं हो सकता। यह बात स्मरण रखनी चाहिये। खयाल करो, तुम्हें खूँटेसे बाँधकर यदि कोई मारे या तुम्हारे गलेपर छुरी फेरे तो तुम्हें कितना कष्ट होगा? नन्हीं-सी सुई या काँटा चुभ जानेपर ही तलमला उठते हो। फिर इस पापी पेटके लिये और राक्षसोंकी भाँति मांससे जीभको तृप्त करनेके लिये गरीब पशु-पक्षियोंको धर्मके नामपर—अरे, माताके भोगके नामपर मारते तुम्हें लज्जा नहीं आती? मानो उन्हें कोई कष्ट ही नहीं होता। याद रखो, वे सब तुम्हारा बदला लेंगे। और तब तुम्हें अपनी करनीपर निरुपाय होकर हायतोबा करना पड़ेगा। अतएव सावधान! माताके नामपर गरीब निरीह पशु-पक्षियोंको बलि देना तुरंत बंद कर दो, माताके पवित्र मन्दिरोंको उसीकी प्यारी संतानके खूनसे रँगकर माँके अकृपाभाजन मत बनो।

बलिदान करो

बलिदान जरूर करो, परंतु करो अपने स्वार्थका और अपने दोषोंका। माँके नामपर माँकी दुःखी संतानके लिये अपना न्यायोपार्जित धन दानकर धनका बलिदान करो; माँकी दुःखी संतानका दुःख दूर करनेके लिये अपने सारे सुखोंकी और अपने प्यारे शरीरकी भी बलि चढ़ा दो। न्योछावर कर दो निष्कामभावसे माँके चरणोंपर अपना सारा धन, जन, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य, सत्ता और साधन उसकी दीन-हीन, दुःखी, दलित संतानको सुखी करनेके लिये। तुमपर माँकी कृपा होगी! माँके पुलकित हृदयसे जो आशीर्वाद मिलेगा, माँकी गद्‌गद वाणी तुम्हें अपने दुःखी भाइयोंकी सेवा करते देखकर जो स्वाभाविक वरदान देगी उससे तुम निहाल हो जाओगे। तुम्हारे लोक-परलोक दोनों बन जायँगे। तुम प्रेय और श्रेय दोनोंको अनायास पा जाओगे, माँ तुम्हें गोदमें लेकर तुम्हारा मुख चूमेंगी और फिर तुम कभी उनकी शीतल सुखद नित्यानन्दमय परमधाममय गोदसे नीचे नहीं उतरोगे।

बलिदान करना है तो बलि चढ़ाओ—कामकी, क्रोधकी, लोभकी, हिंसाकी, असत्यकी और इन्द्रियविषयासक्तिकी; माँ तुम्हारी इन चीजोंको नष्ट कर दे, ऐसी माँसे प्रार्थना करो। माँकी चरणरजरूपी तीक्ष्ण-धार तलवारसे इन दुर्गुणरूपी असुरोंकी बलि चढ़ा दो। अथवा प्रेमकी कटारीसे ममत्व और अभिमानरूपी राक्षसोंकी बलि दे दो। तुम कहोगे 'फिर माँके हाथमें नरमुण्ड क्यों है? माँ भैंसेको क्यों मार रही हैं? माँ राक्षसोंका नाश क्यों कर रही हैं? क्या वे माँके बच्चे नहीं हैं? उन अपने बच्चोंकी बलि माँ क्यों स्वीकार करती हैं!' तुम इसका रहस्य नहीं समझते। उनकी बलि दूसरा कोई चढ़ाता नहीं, वे स्वयं आकर बलि चढ़ जाते हैं। अवश्य ही वे भी माँके बच्चे हैं, परंतु वे ऐसे दुष्ट हैं कि माँके दूसरे असंख्य निरपराध बच्चोंको दुःख देकर, उन्हें पीड़ा पहुँचाकर, उनका स्वत्व छीनकर, उनके गले काटकर स्वयं राजा बने रहना चाहते हैं। स्वयं माँ लक्ष्मीको अपनी भोग्या बनाकर मातृगामी होना चाहते हैं, माँ उमासे विवाह करना चाहते हैं, ऐसे दुष्टोंको भी माँ मारना नहीं चाहती, शिवको दूत बनाकर उनके समझानेके लिये भेजती हैं; पर जब वे किसी प्रकार नहीं मानते, तब दयापरवश हो उनका उद्धार करनेके लिये उनको बलिके लिये आह्वान करती हैं और वे आकर जलती हुई आगमें पतंगकी भाँति माँके चरणोंपर चढ़ जाते हैं। माँ दूसरे सीधे बालकोंको

बलिदान

इसके अतिरिक्त पंचमकारके नामपर भी बड़ा अन्याय-अनाचार हुआ तथा अब भी बहुत जगह हो रहा है, उससे भी सतर्कतासे बचना चाहिये। बलिदान तथा मद्यप्रदान भी सर्वथा त्याज्य हैं। माताकी जो संतान, अपनी भलाईके लिये—मातासे ही अपनी कामना पूरी करानेके लिये, उसी माताकी प्यारी भोलीभाली संतानकी हत्या करके उसके खूनसे माँको पूजती है, जो माँके बच्चोंके खूनसे माँके मन्दिरको अपवित्र और कलंकित करता है, उसपर माँ कैसे प्रसन्न हो सकती है? माँ दुर्गा, काली जगज्जननी विश्वमाता हैं। स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये—धन-पुत्र, स्वार्थ-वैभव, सिद्धि या मोक्षके लिये भ्रमवश निरीह बकरे, भैंसे और अन्यान्य पशु-पक्षियोंके गलेपर छुरी फेरकर मातासे सफलताका वरदान चाहता है, यह कैसी असंगत और असम्भव बात है। निरपराध प्राणियोंकी नृशंसतापूर्वक हत्या करने-करानेवाला कभी सुखी हो सकता है? उसे कभी शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं। दयाहीन मांसलोलुप मनुष्योंने ही इस प्रकारकी प्रथा चलायी है। जिसका शीघ्र ही अन्त हो जाना चाहिये। जो दूसरे निर्दोष प्राणियोंकी गर्दन काटकर अपना भला मनायेगा, उसका यथार्थ भला कभी नहीं हो सकता। यह बात स्मरण रखनी चाहिये। खयाल करो, तुम्हें खूँटेसे बाँधकर यदि कोई मारे या तुम्हारे गलेपर छुरी फेरे तो तुम्हें कितना कष्ट होगा? नन्हीं-सी सुई या काँटा चुभ जानेपर ही तलमला उठते हो। फिर इस पापी पेटके लिये और राक्षसोंकी भाँति मांससे जीभको तृप्त करनेके लिये गरीब पशु-पक्षियोंको धर्मके नामपर—अरे, माताके भोगके नामपर मारते तुम्हें लज्जा नहीं आती? मानो उन्हें कोई कष्ट ही नहीं होता। याद रखो, वे सब तुम्हारा बदला लेंगे। और तब तुम्हें अपनी करनीपर निरुपाय होकर हायतोबा करना पड़ेगा। अतएव सावधान! माताके नामपर गरीब निरीह पशु-पक्षियोंको बलि देना तुरंत बंद कर दो, माताके पवित्र मन्दिरोंको उसीकी प्यारी संतानके खूनसे रँगकर माँके अकृपाभाजन मत बनो।

बलिदान करो

बलिदान जरूर करो, परंतु करो अपने स्वार्थका और अपने दोषोंका। माँके नामपर माँकी दुःखी संतानके लिये अपना न्यायोपार्जित धन दानकर धनका बलिदान करो; माँकी दुःखी संतानका दुःख दूर करनेके लिये अपने सारे सुखोंकी और अपने प्यारे शरीरकी भी बलि चढ़ा दो। न्योछावर कर दो निष्कामभावसे माँके चरणोंपर अपना सारा धन, जन, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य, सत्ता और साधन उसकी दीन-हीन, दुःखी, दलित संतानको सुखी करनेके लिये। तुमपर माँकी कृपा होगी! माँके पुलकित हृदयसे जो आशीर्वाद मिलेगा, माँकी गद्‌गद वाणी तुम्हें अपने दुःखी भाइयोंकी सेवा करते देखकर जो स्वाभाविक वरदान देगी उससे तुम निहाल हो जाओगे। तुम्हारे लोक-परलोक दोनों बन जायँगे। तुम प्रेय और श्रेय दोनोंको अनायास पा जाओगे, माँ तुम्हें गोदमें लेकर तुम्हारा मुख चूमेंगी और फिर तुम कभी उनकी शीतल सुखद नित्यानन्दमय परमधाममय गोदसे नीचे नहीं उतरोगे।

बलिदान करना है तो बलि चढ़ाओ—कामकी, क्रोधकी, लोभकी, हिंसाकी, असत्यकी और इन्द्रियविषयासक्तिकी; माँ तुम्हारी इन चीजोंको नष्ट कर दे, ऐसी माँसे प्रार्थना करो। माँकी चरणरजरूपी तीक्ष्ण-धार तलवारसे इन दुर्गुणरूपी असुरोंकी बलि चढ़ा दो। अथवा प्रेमकी कटारीसे ममत्व और अभिमानरूपी राक्षसोंकी बलि दे दो। तुम कहोगे 'फिर माँके हाथमें नरमुण्ड क्यों है? माँ भैंसेको क्यों मार रही हैं? माँ राक्षसोंका नाश क्यों कर रही हैं? क्या वे माँके बच्चे नहीं हैं? उन अपने बच्चोंकी बलि माँ क्यों स्वीकार करती हैं!' तुम इसका रहस्य नहीं समझते। उनकी बलि दूसरा कोई चढ़ाता नहीं, वे स्वयं आकर बलि चढ़ जाते हैं। अवश्य ही वे भी माँके बच्चे हैं, परंतु वे ऐसे दुष्ट हैं कि माँके दूसरे असंख्य निरपराध बच्चोंको दुःख देकर, उन्हें पीड़ा पहुँचाकर, उनका स्वत्व छीनकर, उनके गले काटकर स्वयं राजा बने रहना चाहते हैं। स्वयं माँ लक्ष्मीको अपनी भोग्या बनाकर मातृगामी होना चाहते हैं, माँ उमासे विवाह करना चाहते हैं, ऐसे दुष्टोंको भी माँ मारना नहीं चाहती, शिवको दूत बनाकर उनके समझानेके लिये भेजती हैं; पर जब वे किसी प्रकार नहीं मानते, तब दयापरवश हो उनका उद्धार करनेके लिये उनको बलिके लिये आह्वान करती हैं और वे आकर जलती हुई आगमें पतंगकी भाँति माँके चरणोंपर चढ़ जाते हैं। माँ दूसरे सीधे बालकोंको

आश्वासन देने और ऐसे दुष्टोंको शासनमें रखनेके लिये ही मुण्डमाला धारण करती हैं। मारकर भी उनका उद्धार करती हैं। इन असुरोंकी इस बलिके साथ तुम्हारी आजकी यह स्वार्थपूर्ण बकरे और पक्षियोंकी निर्दयता और कायरतापूर्ण बलिसे कोई तुलना नहीं हो सकती। हाँ, यह तुम्हारा आसुरीपन, राक्षसीपन अवश्य है और इसका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। अतएव राक्षस न बनो, माँकी प्यारी, दुलारी संतान बनकर उनकी सुखद गोदमें चढ़नेका प्रयत्न करो।

किसीका बुरा न चाहो

राग-द्वेषपूर्वक किसीका बुरा करनेके लिये माँकी आराधना कभी न करो। याद रखो, माँ तुम्हारे कहनेसे अपनी संतानका बुरा नहीं कर सकतीं। जो दूसरेका बुरा चाहेगा, उसकी अपनी बुराई होगी। स्त्री-वशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन आदिके लिये भी उनको मत पूजो; उन्हें पूजो दैवीगुणोंकी उत्पत्तिके लिये, सबकी भलाईके लिये अथवा मोक्षके लिये।

केवल माँको ही चाहो

सच तो यह है, परमात्मरूपिणी माँकी उपासना करके उनसे कुछ भी मत माँगो। ऐसी दयामयी सर्वेश्वरी जननीसे जो कुछ भी तुम माँगोगे, उसीमें ठगे जाओगे। तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इस बातको तुम नहीं समझते, माँ समझती हैं। तुम्हारी दृष्टि बहुत ही छोटी सीमामें आबद्ध है। माँकी दूरदृष्टि ही नहीं है, वह ईश्वरी माता, वह श्रीकृष्ण और श्रीरामरूपा माता, वह दुर्गा, सीता, उमा, राधा, काली, तारा सर्वज्ञ हैं। तुम्हारे लिये जो भविष्य है, उनके लिये सभी वर्तमान है। फिर उनका हृदय दयाका अनन्त समुद्र है। वह दयामयी माता तुम्हारे लिये जो कुछ मंगलमय होगा—कल्याणकारी होगा, उसीका विधान करेंगी, स्वयं सोचेंगी और करेंगी, तुम तो बस, निश्चिन्त और निर्भय होकर अबोध शिशुकी भाँति उनका पवित्र आँचल पकड़े उनके वात्सल्यभरे मुखकी ओर ताकते रहो। डरना नहीं, काली, तारा तुम्हारे लिये भयावनी नहीं हैं, वह भयदायिनी राक्षसोंके लिये हैं। भगवान् नृसिंहदेव सबके लिये भयानक थे, परंतु प्रह्लादके लिये भयानक नहीं थे। फिर, मातृरूप तो कैसा भी हो, अपने बच्चेके लिये कभी भयावना होता ही नहीं, सिंहनीका बच्चा अपनी माँसे कभी नहीं डरता। अतः उनकी गोदसे कभी न हटो, उनका आश्रय पकड़े रहो। माँ अपना काम आप करेंगी। माँगोगे, उसीमें धोखा खाओगे। पता नहीं, तुम्हें कहीं राज्य मिलनेकी बात सोची जा रही हो और तुम मोहवश कौड़ी ही माँग बैठो। असलमें तो तुम्हें माँगनेकी बात याद ही क्यों आनी चाहिये? तुम्हारे मनमें अभावका ही, कमीका ही बोध क्यों होना चाहिये, जब कि तुम त्रिभुवनेश्वरी अनन्त ऐश्वर्यमयी माँकी दुलारी संतान हो? माँका सारा खजाना तो तुम्हारा ही है। परंतु तुम्हें खजानेसे भी क्यों सरोकार होना चाहिये। छोटा बच्चा खजाने और धन-दौलतको नहीं जानता, वह तो जानता है केवल माँकी गोदको, माँके आँचलको और माँके दूधभरे स्तनोंको। बस, इससे अधिक उसे और क्या चाहिये। माँ बहुत ही मूल्यवान् वस्तु देकर भी उसे अपनेसे अलग करना चाहे तब भी वह अलग नहीं होगा। वह उस बहुमूल्य वस्तुको—भोग और मोक्षको तृणवत् फेंक देगा। परंतु माँका पल्ला कभी छोड़ना नहीं चाहेगा। ऐसी हालतमें राजराजेश्वरी सर्वलोकमहेश्वरी परम स्नेहमयी माँ भी उसे कभी नहीं छोड़ सकतीं। इसके सिवा शिशु-संतानको और क्या चाहिये? अतएव तुम भी माँके छोटे भोले-भाले बच्चे बन जाओ। खबरदार, कभी माँके सामने सयाने बननेकी कल्पना मनमें न आने पाये!

आत्मसमर्पणके द्वारा माँको स्नेहसूत्रमें बाँध लो

कुण्डलिनी और षट्चक्रोंकी बात सब ठीक है, शास्त्रसम्मत और रहस्यमय है, परंतु वर्तमान समयमें योगसाधन बड़ा कठिन है, उपयुक्त अनुभवी गुरु भी प्रायः नहीं मिलते। इस स्थितिमें योगके चक्करमें न पड़कर सरल शिशुपनसे आत्मसमर्पणभावसे उपासना करके माँको स्नेह-सूत्रमें बाँध लो। माँकी कृपासे सारी योगसिद्धियाँ तुम्हारे चरणोंपर बिना ही बुलाये आ-आकर लोटने लगेंगी। मुक्ति तो पीछे-पीछे फिरेगी, इस आशासे कि तुम उसे स्वीकार कर लो, परंतु तुम माताकी सेवामें ही सुख माननेवाले उसकी ओर नजर उठाकर ताकना भी नहीं चाहोगे।

परम सुखकी प्राप्ति

तुम्हें माँ विचित्र-विचित्र लीलाएँ दिखलायेंगी—अपनी लीलाका एक पात्र बना लेंगी। कभी तुम व्रजकी गोपी बनोगे तो कभी मिथिलाकी सीता-सखी; कभी उमाकी सहचरी बनोगे तो कभी माँ लक्ष्मीकी चिरसंगिनी

आश्वासन देने और ऐसे दुष्टोंको शासनमें रखनेके लिये ही मुण्डमाला धारण करती हैं। मारकर भी उनका उद्धार करती हैं। इन असुरोंकी इस बलिके साथ तुम्हारी आजकी यह स्वार्थपूर्ण बकरे और पक्षियोंकी निर्दयता और कायरतापूर्ण बलिसे कोई तुलना नहीं हो सकती। हाँ, यह तुम्हारा आसुरीपन, राक्षसीपन अवश्य है और इसका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। अतएव राक्षस न बनो, माँकी प्यारी, दुलारी संतान बनकर उनकी सुखद गोदमें चढ़नेका प्रयत्न करो।

किसीका बुरा न चाहो

राग-द्वेषपूर्वक किसीका बुरा करनेके लिये माँकी आराधना कभी न करो। याद रखो, माँ तुम्हारे कहनेसे अपनी संतानका बुरा नहीं कर सकतीं। जो दूसरेका बुरा चाहेगा, उसकी अपनी बुराई होगी। स्त्री-वशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन आदिके लिये भी उनको मत पूजो; उन्हें पूजो दैवीगुणोंकी उत्पत्तिके लिये, सबकी भलाईके लिये अथवा मोक्षके लिये।

केवल माँको ही चाहो

सच तो यह है, परमात्मरूपिणी माँकी उपासना करके उनसे कुछ भी मत माँगो। ऐसी दयामयी सर्वेश्वरी जननीसे जो कुछ भी तुम माँगोगे, उसीमें ठगे जाओगे। तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इस बातको तुम नहीं समझते, माँ समझती हैं। तुम्हारी दृष्टि बहुत ही छोटी सीमामें आबद्ध है। माँकी दूरदृष्टि ही नहीं है, वह ईश्वरी माता, वह श्रीकृष्ण और श्रीरामरूपा माता, वह दुर्गा, सीता, उमा, राधा, काली, तारा सर्वज्ञ हैं। तुम्हारे लिये जो भविष्य है, उनके लिये सभी वर्तमान है। फिर उनका हृदय दयाका अनन्त समुद्र है। वह दयामयी माता तुम्हारे लिये जो कुछ मंगलमय होगा—कल्याणकारी होगा, उसीका विधान करेंगी, स्वयं सोचेंगी और करेंगी, तुम तो बस, निश्चिन्त और निर्भय होकर अबोध शिशुकी भाँति उनका पवित्र आँचल पकड़े उनके वात्सल्यभरे मुखकी ओर ताकते रहो। डरना नहीं, काली, तारा तुम्हारे लिये भयावनी नहीं हैं, वह भयदायिनी राक्षसोंके लिये हैं। भगवान् नृसिंहदेव सबके लिये भयानक थे, परंतु प्रह्लादके लिये भयानक नहीं थे। फिर, मातृरूप तो कैसा भी हो, अपने बच्चेके लिये कभी भयावना होता ही नहीं, सिंहनीका बच्चा अपनी माँसे कभी नहीं डरता। अतः उनकी गोदसे कभी न हटो, उनका आश्रय पकड़े रहो। माँ अपना काम आप करेंगी। माँगोगे, उसीमें धोखा खाओगे। पता नहीं, तुम्हें कहीं राज्य मिलनेकी बात सोची जा रही हो और तुम मोहवश कौड़ी ही माँग बैठो। असलमें तो तुम्हें माँगनेकी बात याद ही क्यों आनी चाहिये? तुम्हारे मनमें अभावका ही, कमीका ही बोध क्यों होना चाहिये, जब कि तुम त्रिभुवनेश्वरी अनन्त ऐश्वर्यमयी माँकी दुलारी संतान हो? माँका सारा खजाना तो तुम्हारा ही है। परंतु तुम्हें खजानेसे भी क्यों सरोकार होना चाहिये। छोटा बच्चा खजाने और धन-दौलतको नहीं जानता, वह तो जानता है केवल माँकी गोदको, माँके आँचलको और माँके दूधभरे स्तनोंको। बस, इससे अधिक उसे और क्या चाहिये। माँ बहुत ही मूल्यवान् वस्तु देकर भी उसे अपनेसे अलग करना चाहे तब भी वह अलग नहीं होगा। वह उस बहुमूल्य वस्तुको—भोग और मोक्षको तृणवत् फेंक देगा। परंतु माँका पल्ला कभी छोड़ना नहीं चाहेगा। ऐसी हालतमें राजराजेश्वरी सर्वलोकमहेश्वरी परम स्नेहमयी माँ भी उसे कभी नहीं छोड़ सकतीं। इसके सिवा शिशु-संतानको और क्या चाहिये? अतएव तुम भी माँके छोटे भोले-भाले बच्चे बन जाओ। खबरदार, कभी माँके सामने सयाने बननेकी कल्पना मनमें न आने पाये!

आत्मसमर्पणके द्वारा माँको स्नेहसूत्रमें बाँध लो

कुण्डलिनी और षट्चक्रोंकी बात सब ठीक है, शास्त्रसम्मत और रहस्यमय है, परंतु वर्तमान समयमें योगसाधन बड़ा कठिन है, उपयुक्त अनुभवी गुरु भी प्रायः नहीं मिलते। इस स्थितिमें योगके चक्करमें न पड़कर सरल शिशुपनसे आत्मसमर्पणभावसे उपासना करके माँको स्नेह-सूत्रमें बाँध लो। माँकी कृपासे सारी योगसिद्धियाँ तुम्हारे चरणोंपर बिना ही बुलाये आ-आकर लोटने लगेंगी। मुक्ति तो पीछे-पीछे फिरेगी, इस आशासे कि तुम उसे स्वीकार कर लो, परंतु तुम माताकी सेवामें ही सुख माननेवाले उसकी ओर नजर उठाकर ताकना भी नहीं चाहोगे।

परम सुखकी प्राप्ति

तुम्हें माँ विचित्र-विचित्र लीलाएँ दिखलायेंगी—अपनी लीलाका एक पात्र बना लेंगी। कभी तुम व्रजकी गोपी बनोगे तो कभी मिथिलाकी सीता-सखी; कभी उमाकी सहचरी बनोगे तो कभी माँ लक्ष्मीकी चिरसंगिनी

सहेली; कभी सुदामा-श्रीदाम बनोगे तो कभी लक्ष्मण-हनुमान्; कभी वीरभद्र-नन्दी बनोगे तो कभी नारद और सनत्कुमार और कभी चामुण्डा बनोगे तो कभी चण्डिका। मतलब यह है कि तुम माँकी विश्वमोहिनी लीलामें लीलारूप बन जाओगे—फिर तुम्हें मोक्षसे प्रयोजन ही नहीं रहेगा, क्योंकि मोक्षका अधिकार तो माँकी लीलासे अलग रहनेवाले लोगोंको ही है। मोक्ष तुम्हारे लिये तरसेगा, परंतु तुमको महेश्वर-महेश्वरीका ताण्डव-लास्य, राधेश्यामका नाच-गान देखनेसे और डमरू-ध्वनि या मुरलीकी मधुर तान सुननेसे ही कभी फुरसत नहीं मिलेगी। इससे बढ़कर धन्य-जीवन और परम सुख और कौन-सा होगा?

मूर्ख और पापाचारी

माँकी कृपासे मिलनेवाले इस आत्यन्तिकसे भी परेके श्रेष्ठतम सुखको छोड़कर जो केवल सांसारिक रूप, धन और यशके फेरमें पड़ा रहता है और उन्हें पानेके लिये ही माँकी आराधना करता है वह तो बड़ा ही मूर्ख है। और वह तो अधम ही है, जो इन सुखोंके लिये माँकी पूजाके नामपर पापाचार करता है और दूसरे प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर लाभ उठाना चाहता है।

रूपका मोह छोड़ दो

सौन्दर्यकी—रूपकी धधकती आगमें पड़कर खाक हो जानेवाले पतंगे नर-नारियो! सोचो, तुम्हारी कल्पनाके रूपमें कहाँ सौन्दर्य है? हाड़, मांस, मेद, मज्जा, चमड़ी, विष्ठा, मूत्र, केश, नख आदिमें कौन-सी वस्तु सुन्दर है? क्या गठीला शरीर सुन्दर है? अरे, चार दिन खूनके पचास-पचास दस्त हो जायँ तो वह हड्डियोंका ढाँचा रह जायगा। काले केश सुन्दर हैं? बुढ़ापा आने दो, चाँदीकी-सी शक्ल उनकी हो जायगी। ऊपरकी चिकनाईमें सुन्दरता है तो अंदर देखो! पेटके थैलेमें और नसोंमें मल-मूत्र और रक्त भरा है, कीड़े किलबिला रहे हैं। कोढ़ीके शरीरके घावोंको देखो, वही तुम्हारे भीतरका असली नमूना है। देखते ही घिन होती है, नाक सिकुड़ जाती है, आँखें फिर जाती हैं। मरनेके बाद एक ही दिनमें शरीरसे असहनीय दुर्गन्ध निकलने लगती है। तुम क्यों इस लौकिक मिथ्या रूपकी झूठी कल्पनापर पागल हो रहे हो? रूपके मोहको छोड़ दो और उस अपरूप रूप-माधुरीका सेवन करो जो सारे रूपोंका अनन्त, सनातन और नित्य-समुद्र है।

धनका लोभ त्याग करो

यही हाल धनका है। संसारमें कौन-सा धनी शान्त है और सुखी है? धनकी लालसा कभी मिटती नहीं। ज्यों-ज्यों धन बढ़ेगा त्यों-ही-त्यों कामना और लालसा बढ़ेगी और त्यों-ही-त्यों दुःख भी बढ़ेगा। पाप, अभिमान आदि प्रायः धनसे ही होते हैं। खुशामदी, लुच्चे, बदमाश लोग धनपर ही, मैलेपर मक्खियोंकी भाँति मँडराया करते हैं और धनवानोंको सदा बुरे मार्गपर ले जानेकी कोशिश करते रहते हैं। धनवान्को असली महात्माका सत्संग मिलना तो बहुत ही कठिन होता है; क्योंकि वह तो धनके मदमें कहीं जानेमें अपनी पोजीशनकी हानि समझता है, और खुशामदियों, चाटुकारों और चीनीपर चिपटे हुए चींटीकी भाँति धन चूसनेवाले लोगोंसे घिरे हुए उसके पास कोई निःस्वार्थी असली महात्मा क्यों जाने लगे? यदि कभी कोई कृपावश चले भी जाते हैं तो धनीसे उनका मिलना कठिन होता है और यदि मिलना भी हुआ तो वह उन्हें कोई भिखमंगा समझकर तिरस्कार करता है, क्योंकि उसके पास प्रायः ऐसे ही लोग आया करते हैं, इससे उसको सभी वैसे ही दिखायी देते हैं। झंझटोंका तो धनियोंके पार नहीं रहता, निकम्मे कामोंसे कभी उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। नरककी सामग्री-भोगोंका वहाँ बाहुल्य रहता है, जिससे नरकका मार्ग क्रमशः अधिकाधिक साफ होता रहता है, अतएव धनके लोभको छोड़ दो और परमधनरूप माँकी सेवामें लग जाओ। यदि पार्थिव-धन पास हो तो उसको अपना मानकर अभिमान न करो और कुसंगतिसे पिण्ड छुड़ाकर उस धनको माताकी पूजाकी सामग्री समझकर उसे माँकी यथार्थ पूजा—उसकी दुःखी संतानको सुख पहुँचानेके कार्यमें लगाकर माँके कृपा-भाजन बनो!

मान-बड़ाईमें मत फँसो

पद-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाई तो बहुत ही हानिकर है। जो मान-बड़ाईके मोहमें फँस गया उसके धर्म, कर्म, साधना, पुरुषार्थ 'सब भाँगके भाड़ेमें' चले गये। उसने मानो परमधन परमात्म-प्रेमको विषपूर्ण स्वर्णकलशरूप मान-बड़ाईके बदलेमें खो दिया। अतएव रूप, धन, पद-प्रतिष्ठा, मान-बड़ाई आदिके लिये चिन्तित न होओ और न इनकी प्राप्ति चाहो। ये परमार्थका साधन नष्ट करनेवाले महान् दुःखदायी और

नरकप्रद हैं। माँकी उपासना करके उसके बदलेमें तो इन्हें कभी माँगो ही मत। अमृतके बदले जहर पीनेके समान ऐसी मूर्खता कभी न करो। माँसे माँगो सच्चा प्रेम, माँका वात्सल्य, माँकी कृपा, माँका नित्य-आश्रय और माँकी सुखमयी गोद! माँसे माँगकर वैराग्यशक्ति ले लो और उससे विषयासक्तिरूप वैरीको मार भगाओ। याद रखो, वैराग्यशक्तिमें अद्भुत सामर्थ्य है। जिन विषयोंके प्रलोभनोंमें बड़े-बड़े धीर-वीर और विद्वान् पुरुष फँस जाते हैं, वैराग्यवान् पुरुष उनकी ओर ताकता भी नहीं।

सदाचार-शक्तिको बढ़ाओ

इसी प्रकार सदाचार-शक्ति और दैवीसम्पद्-शक्तिको बढ़ाओ। जिसकी सदाचार और दैवीसम्पद्-शक्ति जितनी बढ़ी हुई होगी, वह उतना ही अधिक परमात्मरूपा माँका प्रिय-पात्र होगा और उतना ही अधिक शीघ्र माँके दर्शनका अधिकारी होगा। स्मरण रखो, माँके विभिन्न रूप केवल कल्पना नहीं हैं, सत्य हैं और तुम्हें माँकी कृपासे उनके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

भगवान्‌को बाँधनेकी डोरी

माँके दर्शनका सर्वोत्तम उपाय है—दर्शनके लिये व्याकुल होना। जैसे छोटा बच्चा जब किसी वस्तुमें न भूलकर एकमात्र माँके लिये व्याकुल होकर रोने लगता है, केवल माँ-माँ पुकारता है और किसी बातको सुनना ही नहीं चाहता तब माँ दौड़ी आती है और उसके आँसू पोंछकर उसे तुरंत अपनी गोदमें छिपाकर मुँह चूमने लगती है। इसी प्रकार वे परमात्मरूपा जगज्जननी माँ काली या माँ श्रीकृष्ण भी तुम्हारा रोना सुनकर—पुकार सुनकर तुम्हारे पास आये बिना नहीं रहेंगे, अतएव उत्कण्ठित हृदयसे व्याकुल होकर रोओ—अपने करुणक्रन्दनसे करुणामयी माँके हृदयको हिला दो—पिघला दो। राम, कृष्ण, हरि, शंकर, दुर्गा, काली, तारा, राधा, सीता आदि नामोंकी निर्मल और ऊँची पुकारसे आकाशको गुँजा दो। भगवती माँ तुम्हें जरूर दर्शन देंगी। करुणापूर्ण नामकीर्तन माँको बुलानेका परम साधन है। समस्त मन्त्रोंमें यह नाममन्त्र मन्त्रराज है और इसमें कोई विधि-निषेध नहीं है, कोई भय नहीं है। हम-सरीखे बच्चोंके लिये तो उस सच्चिदानन्दमयी भगवान्‌रूपी माँको बाँध रखनेकी, बस, यही एक मजबूत और कोमल रेशमकी डोरी है।

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो। उनके सारे उपदेश तुम्हारी भलाईके लिये ही हैं। देवीभागवतमें ऐसे बहुत-से उपदेश हैं। भगवती गीता ऐसे उपदेशोंका सुन्दर संग्रह है। और न हो तो, माँके ही श्रीकृष्णरूपसे उपदिष्ट भगवद्‌गीताको माँके उपदेशोंका खजाना समझो—उसीको आदर्श बनाओ, पथ-दर्शक बनाओ, उसीके उज्ज्वल प्रकाशके सहारे माँका अनन्य आश्रय लिये हुए, माँके नामोंका रटन करते हुए माँको पुकारो—माँकी सेवा करो। गीताशक्तिमें भगवतीकी सारी शक्ति निहित है।

श्रद्धा-शक्ति

श्रद्धा-शक्तिको बढ़ाओ, झूठे तर्क न करो। तर्कोंसे कभी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। माता-पिताके लिये तर्क करना उनका अपमान करना है। अतएव तर्क छोड़कर माँके भक्तोंकी वाणीपर विश्वास करो और श्रद्धापूर्वक माँकी सेवामें लगे रहो। इसका यह अर्थ नहीं है कि शुद्ध बुद्धि-शक्तिका तिरस्कार करो। जो भगवान्‌में अविश्वास उत्पन्न कराती है वह बुद्धि ही नहीं है, बुद्धि—शुद्ध बुद्धि तो वही है जिससे परमात्माका निश्चय होता है और भजनमें मन लगता है। ऐसी शुद्ध बुद्धि-शक्तिको बढ़ाओ। इस बुद्धि-शक्तिकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वतीजी हैं; बुद्धिके साथ ही माँकी सेवाके लिये धन भी चाहिये—अतएव न्यायपूर्वक सत्य-शक्तिका आश्रय लिये हुए धनोपार्जन भी करो, धनकी अधिष्ठात्री देवता लक्ष्मीजी हैं। और साथ ही शारीरिक शक्तिका भी विकास करो, शरीरकी अधिष्ठात्री देवी कालीजी हैं। अतएव बुद्धि, धन और शरीरकी रक्षा और स्वस्थताके लिये महाशक्तिके त्रिरूप महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकालीकी श्रद्धापूर्वक उपासना करो, परंतु इस बातको स्मरण रखो कि बुद्धि, धन और शरीरकी आवश्यकता भी केवल माताकी निष्काम सेवाके लिये ही है, सांसारिक इस लोक और परलोकके सुखोपभोगके लिये कदापि नहीं।

मानसिक शक्ति

मानसिक शक्तिको बढ़ाओ। तुम्हारी मानसिक शक्ति शुद्ध होकर बढ़ जायगी तो तुम इच्छामात्रसे जगत्‌का बड़ा उपकार कर सकोगे। शारीरिक शक्तिको बढ़ाओ, शरीर बलवान् और स्वस्थ रहेगा तो उसके द्वारा कर्म करके तुम जगत्‌की बड़ी सेवा कर सकोगे।

इसी प्रकार बुद्धिको भी बढ़ाओ। शुद्ध प्रखर बुद्धिसे संसारकी सेवाएँ करनेमें बड़ी सुविधा होगी। इच्छा, क्रिया और ज्ञान अर्थात् मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति और बुद्धि-शक्ति तीनोंकी ही जगज्जननी माँकी सेवाके लिये आवश्यकता है। और माँसे ही यह तीनों मिल सकती हैं, परंतु इनका उपयोग केवल माँकी सेवाके लिये ही होना चाहिये। कहीं दुरुपयोग हुआ, कहीं भोग और पर-पीड़ाके लिये इनका प्रयोग किया गया तो सब शक्तियोंके मूलस्रोत महाशक्तिकी ईश्वरी-शक्ति इन सारी शक्तियोंको तुरंत हरण कर लेगी।

ईश्वरीय शक्तिकी प्रबलता

पशुबल, मानवबल, असुरबल और देवबल—ये चारों ही बल ईश्वरीय बल या शक्तिके सामने नहीं ठहर सकते। महिषासुरमें विशाल पशुबल था, कौरवोंमें मानवशक्तिकी प्रचुरता थी, रावणादिमें असुरबल अपार था और इन्द्रादि देवता देवबलसे सदा बलीयान् रहते हैं। परंतु ईश्वरीय शक्तिने चारोंको परास्त कर दिया। महिषासुरका साक्षात् ईश्वरीने वध किया, कौरवोंको भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित पाण्डवोंने नष्ट कर दिया, रावणका भगवान् श्रीरामने स्वयं संहार किया और भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने इन्द्रको हार माननी पड़ी। इन चारोंमें पशुबल और असुरबल तो सर्वथा त्याज्य हैं। मनुष्यबल और देवबल ईश्वराश्रित होनेपर ग्राह्य हैं। पर यथार्थ बल तो परमात्मबल है। वह बल समस्त जीवोंमें छिपा हुआ है। आत्मा परमात्माका सनातन अंश है। उस आत्माको जाग्रत् करो, आत्मबलका उद्बोधन करो, अपनेको जडशरीर मत समझो, चेतन विपुल शक्तिमान् आत्मा समझो। याद रखो, तुममें अपार शक्ति है। तुम्हारा अणु-अणु शक्तिसे भरा है। पुरुषार्थ करके उस शक्तिके भंडारका द्वार खोल लो। अपनेको हीन, पापी समझकर निराश मत होओ। शक्तिमाताकी अपार शक्ति तुममें निहित है। उस शक्तिको जगाओ, शक्तिकी उपासना करो, शक्तिका समादर करो, शक्तिको क्रियाशीला बनाओ। फिर शक्तिकी कृपासे तुम जो चाहो कर सकते हो।

नर-नारी सभी भगवान्के रूप हैं

तुम नर हो या नारी हो—भगवान् या भगवतीके रूप हो। नारी नरका अपमान न करे और नर नारीका कभी न करे। दोनोंको शुद्ध प्रेमभावसे एक-दूसरेकी यथार्थ उन्नति और सुखसाधनामें लगे रहना चाहिये। इसीमें दोनोंका कल्याण है। जगत्की सारी नारियोंमें देवी भगवतीकी भावना करो। समस्त स्त्रियोंको माँकी साक्षात् मूर्ति समझकर उनका आदर करो, उन्हें सुख पहुँचाओ, उन्हें भोग्य पदार्थ न समझकर माँ दुर्गा समझो। किसी भी नारीको कभी मत सताओ। शास्त्रोंमें कुमारी-पूजाका बड़ा माहात्म्य लिखा है। लड़कीको लड़केके समान ही बड़े आदरसे पालो, घरमें उसका भी स्वत्व समझो, उसे कभी दुत्कारो मत, उसका अपमान न करो।

माँ दुर्गाका अपमान

विलाससामग्रीका सब्जबाग दिखलाकर नारीको विलासमयी बनाना, भोगकी ओर प्रवृत्त करना और पवित्र सती-धर्मसे च्युत करना भी उसका अपमान ही है। नारीका अपमान माँ दुर्गाका अपमान है। इससे सदा सावधान रहो।

विधवा नारीकी पूजा

विधवा नारीको तो साक्षात् दुर्गा समझकर उसका सम्मान करो। आदरपूर्वक हृदयसे उसकी पूजा करो; वह त्यागकी मूर्ति है। उसे विषयका प्रलोभन कभी मत दो, उसे ब्रह्मचर्यसे डिगाओ मत, सताओ मत, दुःखी मत करो; माँ विधवाके शापसे तुम्हारा सर्वनाश और उसके आशीर्वादसे तुम्हारा परम कल्याण हो सकता है।

नारी-शक्तिसे निवेदन

नारीजातिको विलासमें मत लगाओ, इससे नारी-शक्तिका ह्रास होगा, नारी-शक्ति उद्बोधन करो। हे नारीशक्ति! हे माँ! हे देवी! तुम भी सजग रहो, विलासी पुरुषोंके वाग्जालमें मत फँसो। संयम और त्यागके अपने परम पवित्र अति सुन्दर देव-पूज्य स्वरूपको कभी न छोड़ो! इन्द्र तुमसे काँपते थे, सूर्य तुम्हारी जबानपर रुक जाते थे, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तुम्हारे सामने शिशु होकर खेलते थे, रावण-से दुर्वृत्त राक्षस तुमसे थर्राते थे। तुम साक्षात् भगवती हो। संयम और त्यागको भूलकर भी न छोड़ो। पुरुषोंके मिथ्या प्रलोभनोंमें मत फँसो। उनको सावधान कर दो। आज विवाह और कल सम्बन्धत्याग, इस पातकी आदर्शको कभी न अपनाओ। तुम्हें जो ऐसा करनेको कहते हैं वे तुम्हारा अपमान करते हैं। जीवनकी अखण्ड पवित्रताको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखो। संसारके मिथ्या सुखोंमें कभी न भूलो।

अपनी शक्तिको प्रकट करो। त्याग, प्रेम, शौर्य और वात्सल्यकी सबको शिक्षा दो। जो तुम्हारी भक्ति करे, तुम्हें देवीके रूपमें देखे, उसके लिये लक्ष्मी और सरस्वती बनकर उसका पालन करो। और जो दुष्ट तुम्हारी ओर बुरी नजर करे, उसके लिये साक्षात् रणरंगिणी काली और चण्डिकास्वरूप प्रकाश करो, जिससे तुम्हें देखते ही वह डर जाय—उसके होश ठिकाने आ जायँ।

माँ सबका कल्याण करें

शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही गति है, शक्ति ही आश्रय है, शक्ति ही सर्वस्व है, यह समझकर परमात्मरूपा महाशक्तिका अनन्यरूपसे आश्रय ग्रहण करो। परंतु किसी भी दूसरेकी इष्टशक्तिका अपमान कभी न करो। गरीब दुःखी प्राणियोंकी अपनी शक्तिभर तन-मन-धनसे सेवा कर महाशक्तिकी प्रसन्नता प्राप्त करो। पापाचार, अनाचार, व्यभिचार, लौकिक पंचमकार आदिको सर्वथा त्यागकर माताकी विशुद्ध निष्काम भक्ति करो। इसीमें अपना कल्याण समझो। मेरी माँ दुर्गा सबका कल्याण करें।

मृत्युंजययोग

जिस प्रकार महाभारतमें अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्से कहा—'प्रभो! मेरी समझसे आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सबलोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्ने उद्धवको भागवतधर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा—'अब मैं तुम्हें मंगलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है।' यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम 'मृत्युंजययोग' है। भगवान्ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैःशनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों, उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान, वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर—सबमें समान दृष्टि रखता है वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको, 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टांग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्मबुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये अथवा वह उपराम हो जाता है। उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारकी मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता; क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि

कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्यशरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।२२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

युगल सरकारकी उपासना और ध्यान

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

एक सज्जनने बहुत-से प्रश्न लिख भेजे हैं और बड़े आग्रहके साथ अपने प्रश्नोंके उत्तर देनेकी आज्ञा की है। उनके आज्ञानुसार प्रश्नोंको सिलसिलेवार जँचाकर उनका उत्तर लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। उत्तरमें जो कुछ लिखा जायगा, उसका आधार शास्त्र और संतवाक्य हैं। उत्तर यथार्थ ही होगा इस बातका कोई दावा नहीं है। हाँ, इस बहाने भगवत्सम्बन्धी विचारोंमें कुछ समय लगेगा यही सोचकर उत्तर लिखनेका प्रयास किया जाता है।

भगवान्‌का रूप

प्रश्न—भगवान्‌के अनेक रूप बतलाये जाते हैं, उनमें क्या कोई न्यूनाधिकता है, है तो क्यों और कैसी? साधकको किस रूपकी उपासना करनी चाहिये?

उत्तर—एक ही भगवान् अनेक नाम-रूपोंमें पूजित होते हैं, इसलिये उनमें न्यूनाधिकताकी या छोटे-बड़ेकी किसी कल्पनाको कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म, शिव, विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि सब उन्हीं एक भगवान्‌के दिव्य नाम-रूप हैं। लीलाकी दृष्टिसे न्यूनाधिकताकी कल्पना हो सकती है, जैसे एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न समय, भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगा हुआ भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जा सकता है, जैसे एक ही मनुष्य लौकिक सम्बन्धके कारण किसीका पिता, किसीका पति, किसीका पुत्र, किसीका मित्र, किसीका गुरु, किसीका शिष्य कहलाता है, और इस प्रकार उसमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है, ऐसे ही लीलामय भगवान् भी विभिन्न लीलाओंके कारण विभिन्न रूपोंमें अपनेको प्रकट करते हैं और लीलाको न समझनेवाले व्यक्ति मोहसे और लीलाके संगी भगवान्‌के अनुचरगण लीलासे उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। वास्तवमें भगवान् एक हैं और वे सब समय सब लीलाओंमें सब ओरसे पूर्णतम हैं, इसलिये जो साधक जिस रूपकी उपासना करता है, उसे उसी रूपकी उपासना करनी चाहिये और यह मानना चाहिये कि हमारे ही उपास्यदेव समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे पूजित होते हैं। शिवका उपासक यह समझे कि हमारे भोलानाथ शिव ही राम, कृष्ण आदिके रूपमें प्रकट हैं और राम, कृष्णके उपासक यह मानें कि हमारे राम या कृष्ण ही शिव, शक्ति आदिके रूपमें लोगोंके द्वारा पूजित होते हैं। इस प्रकार किसी भी रूपकी उपासनाका विरोध न करके अपने उपास्य इष्टकी उपासना अनन्यभावसे करनी चाहिये। और उसीको सर्वेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वतश्चक्षु, सच्चिदानन्दघन एकमात्र प्रभु मानना चाहिये।

निराकार और साकारके उपासककी गति

प्रश्न—क्या निराकार और साकारके उपासक दोनों एक ही गतिको प्राप्त होते हैं?

उत्तर—अवश्य ही तत्त्वतः परमात्मा एक होनेसे एक ही गतिको प्राप्त होते हैं। लीलाकी दृष्टिसे लीला-जगत्‌में अन्तर माना जाता है और वह रहता भी है, परंतु तत्त्वदृष्टिसे वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

शक्तिसहित उपासना

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्‌की उपासना उनकी शक्तिसहित करनी चाहिये और कुछ लोग कहते हैं कि अकेले भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—भगवान् और भगवान्‌की शक्ति दो अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति एक ही वस्तु है, इसी प्रकार भगवान् और उनकी

शक्ति है। दाहिका शक्ति है इसीलिये वह अग्नि है, नहीं तो उसका व्यक्त अग्नित्व ही नहीं रहता और अग्नि न हो तो दाहिका शक्तिका कोई आधार नहीं रहता। अतएव दोनों मिलकर ही एक अग्नि बना है या अग्निके ही ये दो नाम हैं, इसी प्रकार भगवान् और भगवान्की शक्ति सर्वथा अभिन्न हैं, इनमें भेद मानना ही पाप है। इस दृष्टिसे जो भगवान्की उपासना करता है वह उनकी शक्तिकी उपासना करता ही है और जो शक्तिका उपासक है, वह भगवान्की उपासना करनेको बाध्य है, अतएव एककी उपासनामें ही दोनोंकी उपासना आप ही हो जाती है, परंतु उपासक यदि चाहें तो विग्रहके रूपमें दोनोंकी अलग-अलग मूर्तियोंमें भी उपासना कर सकते हैं। इतना याद रखना चाहिये कि लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि सब एक ही हैं, इनमें अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार किसी भी युगल रूपकी उपासना हो सकती है। यहाँ इतना जरूर कह देना चाहिये कि युगल रूपकी उपासना विशेष अधिकारीको ही करनी चाहिये। नहीं तो, उसमें अनर्थ होनेका डर है। जगज्जननी लक्ष्मी, उमा, राधा या सीताके स्वरूपमें कहीं पापभावना हो गयी तो सारी उपासना नष्ट होकर उलटा विपरीत फल हो सकता है, और जो लोग वैराग्यवान् नहीं हैं, उनके द्वारा स्त्रीरूपकी उपासनामें मनमें विकार होनेका डर है ही; क्योंकि ऐसे लोग भगवान्की दिव्य स्वरूपाशक्तिके तत्त्वको न जानकर अपने अज्ञानसे इन्हें प्राकृत स्त्री ही समझ लेते हैं और प्राकृत स्त्रीरूपका आरोप करके विषयासक्तिके कारण विकारके वश हो जाते हैं। भगवान्की रासलीला देखनेवाले एक मनुष्यने तथा श्रीराधाजीका ध्यान करनेवाले एक दूसरे मित्रने अपनी ऐसी दुर्घटनाएँ सुनायी थीं, इससे यह पता चलता है कि दिव्य अनन्तसौन्दर्य-सुधामयी इन स्वरूपा-शक्तियोंके साथ भगवान्की उपासना करनेवाले सच्चे अधिकारी बिरले ही होते हैं। अतएव साधारण श्रेणीके साधकोंको भगवान्की अकेले ही पुरुषरूपमें उपासना करनी चाहिये।

प्रश्न—श्रीराधा, सीता, उमा आदि भगवान्की स्वरूपा-शक्तियोंकी उपासनाके अधिकारीमें कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिये?

उत्तर—सबसे पहली बात तो यही है कि उसे कामविजयी होना चाहिये। कामी पुरुष दिव्य स्वरूपा-शक्तियोंकी उपासनाका अधिकारी कदापि नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य आवश्यक बातें दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें आगे आ सकती हैं।

प्रश्न—मैं यह तो नहीं कहता कि मुझे वैराग्य प्राप्त है, परंतु इतना अवश्य है कि भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर मेरा चित्त बहुत कम जाता है। मैं समझता हूँ कि भगवान् ही मेरी रक्षा करते हैं, मुझे श्रीराधा-कृष्णका स्वरूप अत्यन्त प्रिय है। मैं यत्किंचित् इन युगल सरकारकी उपासना करता हूँ और इसीमें अपना जीवन बिता देना चाहता हूँ। कृपया बतलाइये किन साधनोंसे और किस भावसे उपासना करनेपर मैं पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीराधा-कृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमको प्राप्त कर सकता हूँ। मैंने सुना है इस उपासनामें द्वादश सिद्धि, पंचप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति, आत्मसमर्पण आदि विभिन्न साधनोंकी आवश्यकता होती है, इन साधनोंके रूप भी बतलाइये।

उत्तर—आपका चित्त भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर बहुत कम जाता है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। भगवान्की कृपाके बलसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। भगवत्कृपाकी शक्ति अनन्त है, परंतु सदा सावधान रहना चाहिये। कहीं भगवत्कृपाके आश्रयकी विस्मृति न हो जाय, अभिमान न पैदा हो जाय। विषयोंमें बहुत बड़ा प्रलोभन होता है। कई बार तो ऐसा धोखा हो जाता है कि मनुष्य भगवान्के नामपर विषयोंका सेवन करता रहता है। श्रृंगार, भोग, उत्सव, कीर्तन आदिकी शोभा और महत्ता इसीलिये भक्तके मनमें होनी चाहिये कि वे भगवान्से सम्बन्ध रखते हैं। भगवान्से ही श्रृंगारकी शोभा है, भगवान्का प्रसाद होनेसे ही भोगमें परम स्वाद है, भगवान्की स्मृति करानेवाला होनेके कारण ही उत्सव कर्तव्य है और भगवान्का नाम-गुणगान होनेके कारण ही कीर्तन भक्तका परम आदरणीय साधन है। यदि भगवान्को भुलाकर केवल श्रृंगारकी शोभामें, अन्नके स्वादमें, उत्सवकी चहल-पहलमें और संगीतकी ध्वनिमें ही आकर्षण है तो वह विषयसेवन ही है। अवश्य ही भगवान्से सम्पर्क हो जानेके कारण किसी अंशमें वह भी है शुभ ही। भगवान् श्रीराधाकृष्णके दिव्य स्वरूपको समझकर ही उनकी उपासना करनी चाहिये, उन्हें विषयलोलुप इन्द्रियासक्त भोगकामी आशिक-माशूकोंकी तरह मानकर

ही नहीं। ऐसा न होगा तो पतन ही होगा। भगवान् श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका किंचित् दिग्दर्शन आगे चलकर आपके दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कराया जायगा। इसके पहले आप द्वादश शुद्धि, पंचप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पणको संक्षेपमें समझ लें और दूसरे मुख्य साधनों तथा भावोंको भी कुछ जान लें।

द्वादश शुद्धि

द्वादश शुद्धि दो प्रकारकी है। जिनमें एक प्रकार है—चार मनकी, चार वाणीकी और चार शरीरकी। १—विशुद्ध और अनन्य प्रेम, २—श्रद्धापूर्वक भगवच्चिन्तन, ३—चित्तकी प्रसन्नता और ४—प्राणिमात्रकी हितकामना—ये चार मनकी शुद्धि हैं। १—भगवन्नाम-गुणका कीर्तन करना, २—सत्य बोलना, ३—हितकर बात कहना और ४—मीठे शब्दोंमें बोलना—ये चार वाणीकी शुद्धि हैं। एवं १—दूसरोंकी सेवा करना, २—हाथोंसे सात्त्विक दान करना, ३—शरीरके आरामको छोड़कर तप करना और ४—ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये शरीरकी शुद्धि हैं। यों त्रिविध बारह प्रकारकी शुद्धि है।

द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है—

गृहोपलेपनं चैव तथानुगमनं हरेः।
भक्त्या प्रदक्षिणं चैव पादयोः शोधनं पुनः॥
पूजार्थं पत्रपुष्पाणां भक्त्यैवोच्चयनं हरेः।
करयोः सर्वशुद्धीनामियं शुद्धिर्विशिष्यते॥
तन्नामकीर्तनं चैव गुणानामपि कीर्तनम्।
भक्त्या श्रीकृष्णदेवस्य वचसः शुद्धिरिष्यते॥
तत्कथाश्रवणं चैव तस्योत्सवनिरीक्षणम्।
श्रोत्रयोर्नेत्रयोश्चैव शुद्धिः सम्यगिहोच्यते॥
पादोदकं च निर्माल्यमालानामपि धारणम्।
उच्यते शिरसः शुद्धिः प्रणतस्य हरेः पुरः॥
आघ्राणं तस्य पुष्पादेर्निर्माल्यस्य तथा प्रिये।
विशुद्धिः स्यादन्तरस्य प्राणस्यापि विधीयते॥
पत्रपुष्पादिकं यच्च कृष्णपादयुगार्पितम्।
तदेकं पावनं लोके तद्धि सर्वं विशोधयेत्॥

भगवान् श्रीहरिके मन्दिरमें जाकर उसके आँगन लीपनसे, मूर्तिके पीछे-पीछे चलनेसे और भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भक्तिसहित भगवान्की पूजाके लिये पुष्पादिका चयन करनेसे दोनों हाथ शुद्ध होते हैं, सब शुद्धियोंमें यह शुद्धि विशेष है। भक्तिपूर्वक परमदेव श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे वाणीकी शुद्धि होती है। श्रीहरिकी कथा सुननेसे कानोंकी और उनके उत्सव देखनेसे नेत्रोंकी भलीभाँति शुद्धि होती है। सिर झुकाकर भगवान्का चरणोदक लेनेसे और उनकी निर्माल्य माला धारण करनेसे मस्तककी शुद्धि होती है। भगवान्के निर्माल्य पुष्पादिके सूँघनेसे ही अन्तःकरण और प्राणोंकी शुद्धि होती है। सारांश यह कि श्रीकृष्णके चरणयुगलपर चढ़ी हुई पत्र-पुष्पादि कोई भी वस्तु सबको पवित्र करनेवाली होती है। यह द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है। दोनों ही प्रकारोंसे शुद्ध होना आवश्यक है।

पंचप्रकार पूजा

पंचप्रकार पूजाके भी दो प्रकार हैं—

प्रथम यह है—

मनसे भगवान्का चिन्तन करना, वाणीसे भगवान्के गुण गाना, हाथोंसे भगवान्की पूजा करना, मस्तकसे भगवान्को प्रणाम करना और अपना सर्वस्व भगवान्के निवेदन कर देना।

दूसरा प्रकार यह है—

इसमें अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या—ये पाँच प्रकार माने गये हैं—

तत्त्वाभिगमनं नाम देवतास्थानमार्जनम्।
उपलेपं च निर्माल्यदूरीकरणमेव च॥
उपादानं नामगन्धपुष्पादिचयनं तथा।
योगो नाम स्वदेवस्य स्वात्मनैवात्मभावना॥
स्वाध्यायो नाममन्त्रार्थसन्धानपूर्वको जपः।
सूक्तस्तोत्रादिपाठश्च हरेः संकीर्तनं तथा॥
तत्त्वादिशास्त्राभ्यासश्च स्वाध्यायः परिकीर्तितः।
इज्या नाम स्वदेवस्य पूजनं च यथार्थतः॥

अपने इष्टदेवके स्थान साफ करने और उसे लीपने और इष्ट विग्रहके निर्माल्य उतारनेका नाम अभिगमन है। गन्ध-पुष्पादिके चयनका नाम उपादान और इष्टदेवके साथ अपने आत्माको एक कर देनेकी भावनाका नाम योग है। मन्त्रके अर्थका ध्यान करते हुए जप करने, सूक्त-स्तोत्रादिके पाठ, हरिनाम-संकीर्तन और तत्त्वनिरूपण करनेवाले शास्त्रोंके अभ्यासको स्वाध्याय कहते हैं, एवं अपने इष्टदेवकी यथार्थ रूपसे पूजा करना ही इज्या है।

न्यास

भगवान्के चरणकमल ही मेरे एकमात्र जीवनाधार,

रक्षक, स्वामी और सहायक हैं। ऐसा दृढ़ विश्वास करके अन्य सब आश्रयोंके त्यागको न्यास कहते हैं।

प्रपत्ति

मैं एकमात्र भगवान्‌के श्रीचरणोंका ही गुलाम हूँ। श्रीचरणोंकी कृपासे जो कुछ हो रहा है और होगा उसीमें मेरा परम कल्याण है। श्रीचरण ही मेरे एकमात्र अवलम्बन हैं। दृढ़ श्रद्धाके साथ किये हुए ऐसे निश्चित संकल्पका नाम प्रपत्ति है।

शरणागति

'अपना भला किस बातमें है, इस बातको न जाननेवाला मैं दुःखपीड़ित अज्ञानी जीव आपके (प्रभुके) श्रीचरणोंके शरण हूँ, आपके चरणोंकी शरणमें ही मेरा परम कल्याण है। मैं कहीं भी, किसी भी दशामें रहूँ, सदा आपके श्रीचरणोंकी शरण मुझे प्राप्त रहे।' इस निश्चयके साथ भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें आनन्द मानना, भगवान्‌के परममंगलमय नामका चिन्तन निरन्तर करते रहना, भगवान्‌की रुचिके अनुकूल आचरण करना और भगवान्‌के भरोसेपर अपनेको छोड़कर उनसे किसी भी अवस्थामें कुछ भी न माँगना, भगवान्‌को परम पिता, परम पति, परम गति, परम धाम, परम सुहृद् मानकर उनके चरणोंपर सदाके लिये लुट पड़ना शरणागति है।

आत्मसमर्पण

मैं भगवान्‌का हूँ, मेरा सब कुछ भगवान्‌का है, मेरा 'मैं' भी मेरा नहीं, उन्हींका है, इस अपनी वस्तुको वे चाहे जैसे उपयोगमें लावें, चाहे जैसे भोगें, चाहे सो करें;—इस भावसे अपनेको भगवच्चरणोंमें निवेदन कर देना आत्मसमर्पण कहलाता है।

वस्तुतः न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पण एक ही साधनकी उत्तरोत्तर विकसित स्थिति हैं। पूर्ण आत्मसमर्पण तो मनुष्य कर नहीं सकता। इसकी तो वह तैयारीमात्र करता है। फिर भगवान् उसे स्वयं उसी प्रकार खींच लेते हैं, जैसे निखालिस लोहेको चुम्बक खींच लेता है।

प्रश्न—'न्यास' शब्दसे क्या अंगन्यास और करन्यास नहीं लिया जा सकता है?

उत्तर—क्यों नहीं? तन्त्रमें तो अंगन्यास और करन्यासके बिना काम ही नहीं चलता। हाँ, भक्ति-साधनामें न्यासका अर्थ अंगन्यास, करन्यास नहीं किया जाता। अंगन्यास-करन्यासके सम्बन्धमें मन्त्र-सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें कुछ कहा जायगा। अब युगल सरकार श्रीराधाकृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमकी प्राप्तिके कुछ मुख्य साधनों और भावोंके सम्बन्धमें कुछ देखना है।

मुख्य साधन और भाव

दम्भ, द्रोह, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और विषयासक्तिके त्यागसे ही इस प्रेममार्गकी साधना आरम्भ होती है। जिन पुरुषोंमें दम्भादि छः दोष हैं और जो विषयोंमें आसक्त हैं अर्थात् जिनका मन सुन्दर रूप, बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थ, मनोहर गन्ध, कोमल स्पर्श और सुरीले गायनपर रीझा रहता है, वे इस मार्गपर नहीं चल सकते। त्यागी-विरागी महज्जन ही इस प्रेमपन्थके पथिक हो सकते हैं; क्योंकि इस उपासनामें दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश करना पड़ता है और वहाँ बिना गोपी-भावको प्राप्त किये किसीका प्रवेश हो नहीं सकता। एवं गोपी-भावकी प्राप्ति विषयासक्त पुरुषको कदापि होना सम्भव नहीं। जो विषय-लोलुप भी हैं और अपनेको श्रीराधाकृष्णके प्रेमी बतलाते हैं, वे या तो स्वयं धोखेमें हैं अथवा जान या अनजानमें जगत्‌को धोखा देना चाहते हैं। उपर्युक्त छः दोषोंसे बचकर और विषयासक्तिको त्यागकर निम्नलिखित रूपमें मुख्य साधना करनी चाहिये।

१—अपनेको श्रीराधिकाजीकी अनुचरियोंमें एक तुच्छ अनुचरी मानना।

२—श्रीराधाजीकी सेविकाओंकी सेवामें ही अपना परम कल्याण समझना।

३—सदा यही भावना करते रहना कि मैं भगवान्‌की प्रियतमा श्रीराधिकाजीकी दासियोंकी दासी बना रहूँ और श्रीराधाकृष्णके मिलन-साधनके लिये विशेषरूपसे यत्न कर सकूँ।

यह बहुत ही रहस्यका विषय है। इसलिये इस विषयपर विशेषरूपसे लिखना अनुचित है। हरेकको इस ओर आकर्षित नहीं होना चाहिये। इस मार्गपर पैर रखना आगपर खेलना है। जो बिना इसका रहस्य समझे इस पथमें प्रवेश करना चाहता है वह पतित हो जाता है। जिसके हृदयमें तनिक-सा काम-विकार हो, उसे इस मार्गसे डरकर सदा अलग ही रहना चाहिये। अवश्य ही जो अधिकारी साधक हैं, उन्हें इस मार्गमें जो अतुल दिव्य आनन्द है, उसकी प्राप्ति होती है।

श्रीराधिकाजीकी सेविकाओंकी सेवामें सफल होनेपर स्वयं श्रीराधिकाजीकी सेवाका अधिकार मिलता है और श्रीराधिकाजीकी सेवा ही युगलस्वरूपकी कृपा प्राप्त करनेका प्रधान उपाय है। जो ऐसा नहीं कर सकते उन्हें युगलस्वरूपकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देवदेव शंकरसे कहा है—

यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥

हे महेश्वर! (युगलस्वरूपकी कृपा चाहनेवाला) जो पुरुष मेरी शरण होता है परंतु मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण नहीं होता, वह मुझको (युगलस्वरूपमें) वस्तुतः नहीं प्राप्त होता, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ। अतएव पूरे प्रयत्नसे मेरी प्रिया (श्रीराधिकाजी)-की शरण ग्रहण करो। मेरी प्रियाका आश्रय ग्रहण करनेवाला मुझे अपने वशमें कर लेता है। मैंने आपसे यह परम रहस्यकी बात कही, आप भी इसे यत्नसे गुप्त ही रखियेगा।

युगलस्वरूपकी उपासनाका विषय कितना रहस्यमय है, यह उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे सिद्ध है। मुख्य उपासना तो यही है।

इसके अतिरिक्त इस उपासनासे गौणरूपसे कायिक, वाचिक और मानस—तीन प्रकारके व्रत भी किये जाते हैं। इन व्रतोंसे मुख्य उपासनाके दर्जेतक पहुँचनेमें बड़ी सहायता मिलती है। देवर्षि नारदने भक्त अम्बरीषसे कहा है—

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥

दिनभरमें एक बार अपने-आप जो कुछ मिल जाय सो खा लेना और रातको उपवास करना। राजन्! यह कायिक व्रत कहलाता है। वेदका अध्ययन, भगवान्के नामगुणोंका कीर्तन, सत्यभाषण और किसीकी निन्दा या चुगली न करना—वाचिक व्रत कहा जाता है और अहिंसा, सत्य, किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना और कपट न करना—मानस व्रत कहलाता है।

इसके सिवा भगवान्की उपासनामें अनन्यभावका होना परम आवश्यक है। बस, प्रेमी साधक केवल एक भगवत्प्रेमको ही चाहे और वह भी प्रेममय भगवान्से ही चाहे। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

बस, दिन-पर-दिन केवल अहैतुक प्रेम ही बढ़ता रहे। मोक्ष, ज्ञान, ऐश्वर्य, ऋद्धि, सिद्धि या महान् कीर्ति कुछ भी नहीं चाहिये। और यह प्रेमकी भीख भी भगवान् ही दें। दूसरेकी या दूसरी आशा करना अथवा दूसरेपर या दूसरा विश्वास-भरोसा करना तो हृदयकी जडता है। इस जडताको समर्थ वीर श्रीरघुनाथजी हर लें, बस यही विनती है।

पार्वतीजी तो यहाँतक कहती हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग या मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक वहाँ प्रेमानन्दका उदय कैसे हो सकता है?

वास्तवमें यह विषय बहुत ही रहस्यमय है। अधिकारी पुरुषको श्रीराधाकृष्णतत्त्वके ज्ञाता किसी प्रेमप्राप्त सद्गुरुकी सेवामें रहकर इस विषयको जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सद्गुरु

प्रश्न—ऐसे सदगुरुके क्या लक्षण हैं? और उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है

उत्तर—कान फूँकने और द्रव्यादिकी आशा रखनेवाले गुरु तो संसारमें बहुत मिलते हैं, परंतु सद्गुरु—खास करके प्रेममार्गके गुरु तो कोई बिरले ही मिलते हैं। ऐसे सद्गुरुमें निम्नलिखित गुणोंका होना तो अत्यन्त आवश्यक है।

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः।

कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

गुरु उन्हें कहते हैं जो शान्त हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन न हो, श्रीकृष्ण ही जिनका अनन्य साधन हो, जो बुद्धिमान् हों, काम और क्रोध जिनमें बिलकुल ही न हो, जो श्रीकृष्णरसतत्त्वके जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्रज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हों, जो सदा श्रीकृष्णके मन्त्रका ही आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे—मनमें और व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारके नियोजक हों, श्रीराधाकृष्णतत्त्वके जाननेवाले सम्प्रदायमें हों, जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो और जो भोग-मोक्ष दोनोंमें ही राग न रखते हों।

ऐसे ही सद्गुरुकी शरणमें जाकर अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

अधिकारी शिष्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—प्रेममार्गके अधिकारी शिष्यमें पहला आवश्यक गुण तो भगवान्‌में सहज भक्ति है। श्रीकृष्णमें जिनकी भक्ति नहीं है, वे अन्य सब गुणोंसे विभूषित होनेपर भी अधिकारी नहीं हैं—

अत्राधिकारी न भवेत् कृष्णभक्तिविवर्जितः।

भक्तिके साथ ही कृतज्ञता, निरभिमानिता, विनय, सरलता, श्रद्धा आदि गुणोंका होना भी आवश्यक है। दम्भी, लोभी या कामी, क्रोधीको गुरु यह विषय न बतावे। शास्त्रमें कहा है—

श्रीकृष्णोऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिते।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम और क्रोधसे रहित हो उसी पुरुषको यह विषय बतलाना चाहिये। परंतु ऐसे अधिकारीको भी सालभर उसकी परीक्षा करनेके बाद ही बतलाना उचित है—

नाशुश्रूषुं प्रति ब्रूयान्नासंवत्सरसेविनम्।

अधिकारी शिष्यके कर्तव्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यको मन्त्रदीक्षा ग्रहण करनेके बाद क्या करना चाहिये?

उत्तर—मुख्य साधना तो ऊपर बतलायी ही जा चुकी है। परंतु अधिकारी शिष्यका कर्तव्य बतलाते हुए भगवान् शंकरने कई बातें और बतलायी हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

मन्त्रदीक्षा प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शिष्य भक्तिपूर्वक गुरु महाराजकी सेवा करते हुए निरन्तर इष्टदेवके भजनमें लगे रहें। दूसरोंको कोई दुःख न दें, किसीको भी कटु शब्द न कहें, इस लोक और परलोककी सारी चिन्ताओंको छोड़ दें। इस लोकमें पूर्वकर्मके अनुसार फल मिलेगा और परलोकमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मंगल करेंगे, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जायँ और श्रीकृष्णकी पूजामें लगे रहें। परंतु पूजामें यह भाव कभी मनमें न आने दें कि मेरे इस लोक और परलोककी भलाईके लिये मैं पूजा करता हूँ। भगवान्‌के पूजनको विषय-सुखका साधन कभी न बनावें। और—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककांक्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाचरेत्॥

'बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री जैसे केवल उस पतिपर ही प्रेम करती हुई एकमात्र उसीके संगकी आकांक्षा करती हुई दीन होकर सदा-सर्वदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके गुणोंको गाती और सुनती है, इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको एकमात्र श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये।'

पतिपरायणा साध्वी पत्नी जैसे अपने सर्वस्वको पतिके अर्पणकर पतिको ही परम गति मानकर प्रतिक्षण बिना विराम शरीर-मन-वाणीसे पतिकी सेवामें लगी रहती है और इसीमें परमानन्दका अनुभव करती है, इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्णकी सेवामें प्रेमपूर्वक निरन्तर लगे रहना और इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये। एकमात्र श्रीकृष्णके ही अनन्यशरण होना चाहिये। दूसरा कुछ भी उसके लिये साध्य या साधन नहीं होना चाहिये। दूसरे देवताको न तो इष्टभावसे पूजना चाहिये और न किसी अन्य देवकी निन्दा करनी चाहिये। उसे अपने इष्टको छोड़कर दूसरेको स्मरण करनेका भी अवसर क्यों मिले? दूसरेका जूँठा भोजन न करे। दूसरेके पहने हुए वस्त्र न पहने, दूसरे विचारवालोंसे वाद-विवाद न करे,

श्रीकृष्णकी, किसी अन्य देवताकी और भक्तकी निन्दा न सुने। अपने इष्टदेवके अनुकूल आचरण करे, प्रतिकूलका सर्वथा त्याग कर दे। निरन्तर अनन्य होकर चातकी वृत्तिसे श्रीकृष्णका स्मरण करता रहे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज चातकी वृत्तिका सुन्दर वर्णन करते हुए कहते हैं—

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

हे बादल! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो या जीवनभर कभी न बरसो, प्रेमी याचक चातकको तब भी तुम्हारी ही आशा बनी रहेगी, वह तो तुम्हें छोड़कर दूसरेकी ओर ताकेगा ही नहीं। जल न बरसाकर यदि मेघ उलटे चातकके ऊपर ओले बरसाने लगे, डरा-डराकर गरजे और कठोर वज्र गिरावे, तब भी प्रेमी चातक क्या मेघको छोड़कर कभी दूसरेकी ओर ताकता है? प्रेमी चातकका अपने प्रियतम मेघके दोषोंकी ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता, चाहे वह कुछ भी करे, प्रेमके समुद्रका नाप-तौल कभी हो नहीं सकता। चातक अपनी टेकपर अड़ा रहता है, उसने जीते-जी तो मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन झुकायी नहीं और मरते हुए भी गंगा-जलमें अर्धजली नहीं माँगी।

शास्त्र कहते हैं कि इसी प्रकार—

सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा।
तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम्॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत्।
स्वेष्टदेवौ सदा याच्यौ गतिस्तौ मे भवेदिति॥

जैसे चातक सहज ही प्राप्त सरोवर, नदी और समुद्र आदिको छोड़कर एकमात्र मेघकी याचना करता है, प्याससे मर जाता है परंतु दूसरेकी ओर नहीं देखता, वैसे ही अधिकारी शिष्य भी एकमात्र अपने इष्टदेवका ही आश्रय करे।

मन्त्र

प्रश्न—अच्छा, युगलस्वरूपकी प्राप्तिके लिये मन्त्र कौन-सा है?

उत्तर—मन्त्र तो वस्तुतः गुरुसे ही पूछना चाहिये। युगल-स्वरूपकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले अनेक मन्त्रोंका शास्त्रोंमें विधान है। उनमें कुछ ये हैं—

१—'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये' यह षोडशाक्षर-मन्त्र है। **२—'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्'** यह दशाक्षर-मन्त्र है। **३—'क्लीं राधाकृष्णाभ्यां नमः'** यह अष्टाक्षर-मन्त्र है। ऐसे ही और भी मन्त्र हैं। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक इनमेंसे किसी भी मन्त्रका आश्रय ग्रहण करनेपर श्रीराधाकृष्णकी सन्निधि प्राप्त हो सकती है। इन मन्त्रोंमें प्रधान सहायक श्रद्धा-विश्वास ही है। न्यास, देश-काल, नियम, शोधन आदिकी खास आवश्यकता नहीं है। तथापि कोई करना चाहे तो पहले दो मन्त्रोंमें मन्त्रोंके प्रथम वर्ण 'ग' पर अनुस्वार लगाकर 'गं' बीज और 'नमः' शक्ति मानकर शेष मन्त्राक्षरोंके द्वारा अंगन्यास-करन्यास कर ले। तीसरे मन्त्रमें तो बीज तथा 'नमः' है ही और श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिकी यथाविधि गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करे।

दीक्षा

प्रश्न—मन्त्रकी दीक्षा कैसे ग्रहण करनी चाहिये?

उत्तर—सद्गुरुकी शरणमें जाकर उनके बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें। सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्‌को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्‌को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस-मन्त्र ग्रहण कर ले। गोपीभावके उपासकोंको ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। दीक्षाके अनेक भेद हैं, परंतु वे सब तान्त्रिक साधकोंके लिये जानने आवश्यक हैं। भक्तिके साधकोंको उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है।

श्रीराधाकृष्णका तात्त्विक स्वरूप

प्रश्न—अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके तात्त्विक स्वरूपका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधिकाजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उन्हींको है। दूसरा कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनका स्वरूप ऐसा ही है, जो कुछ भी वर्णन होता है, वह स्थूलरूपका और आंशिक ही होता है। भगवान् क्या हैं इस बातको भगवान्

ही जानते हैं। अतएव उनका पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है? परंतु जो कुछ वर्णन होता है सो उन्हींका होता है, इस दृष्टिसे सभी वर्णन यथार्थ हैं। भगवान्‌का पूर्ण स्वरूप सदा पूर्ण है, सब ओरसे पूर्ण है, सब लीलाओंमें पूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही विज्ञानानन्दघन निराकार निर्विकार मायातीत ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर आत्मा हैं, भगवान् ही देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा, प्रकृति और जगत् हैं, जो कुछ है सो वही हैं, जो कुछ नहीं है सो भी वही हैं, इतना ही नहीं 'हैं' और 'नहीं' से जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी वही हैं। इतना होनेपर भी अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये भगवान्‌का स्वरूपवर्णन लोग करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा सब इन्हींके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। श्रीराधाजी इन्हींकी स्वरूपाशक्ति हैं। श्रीराधाजी और श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य चिन्मय आनन्दविग्रह हैं और श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय प्रेमविग्रह हैं। वे रसराज हैं, ये महाभाव हैं। भगवान्‌की इन्हीं स्वरूपाशक्तिसे अनन्तकोटि शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करती हैं। श्रीराधाजी ही श्रीलक्ष्मी, श्रीउमा, श्रीसीता, श्रीरुक्मिणी हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य और प्रभा एक-दूसरेके सर्वथा अभिन्न हैं, इसी प्रकार युगलस्वरूप भी सर्वथा अभिन्न है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—जो नराधम हम दोनोंमें भेदबुद्धि करता है, वह चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक कालसूत्र नामक नरकमें रहता है।

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

दूसरे प्रसंगमें भगवान् श्रीराधाजीसे कहते हैं—

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है उसी प्रकार मैं तुममें हूँ।'

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

राधातापिनीमें कहा है—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
देहो यथा छायया शोभमानः
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम्॥

'जो यह राधा और जो यह कृष्ण आनन्दरसके सागर हैं, वह एक ही लीला करनेके लिये दो रूप बन गये हैं। जैसे छायासे देह शोभित होती है, इसी प्रकार श्रीराधाजीसे श्रीकृष्णजी शोभायमान हैं। इनके चरित्र पढ़ने-सुननेसे जीव इनके शुद्ध परमधामको प्राप्त होता है।'

लीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्ण रसेश्वर हैं और नित्यविहारिणी, नित्यविहारकी बीजभूता, रस-सागरा, महारासकी अधिष्ठात्री देवी योगमाया भगवती श्रीराधिकाजी रसेश्वरी हैं। रसेश्वर और रसेश्वरीका महामिलन ही महारास है जो नित्य अखण्ड और अनन्त है। ये श्रीराधाकृष्ण सबसे परे, सबमें भरे और सर्वरूप हैं। भगवान् शिव देवर्षि नारदसे कहते हैं—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी॥
ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः प्रभुः।
नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम॥
इयं दुर्गा हरी रुद्रः कृष्णः शक्र इयं शची।
सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरिः॥
बहूनां किं मुनिश्रेष्ठ विना ताभ्यां न किंचन।
चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५०।५३ से ५७)

ये कृष्णमयी होनेके कारण परम देवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा और श्रीकृष्णकी आह्लादस्वरूपा हैं। विप्र! इसीसे मनीषिगण इन्हें ह्लादिनी कहते हैं। त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कला और अंश हैं। ये साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण भगवान् नारायण प्रभु हैं। मुनिसत्तम! इनमें परस्पर जरा भी भेद नहीं है। ये दुर्गा हैं, श्रीकृष्ण रुद्र हैं। ये शची हैं, श्रीकृष्ण इन्द्र हैं। ये सावित्री हैं, श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं। ये धूमोर्णा हैं, श्रीकृष्ण यमराज हैं। मुनिवर! अधिक क्या, इनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। यह जड-चेतन जगत् सब बस, राधाकृष्णमय ही है। संक्षेपमें श्रीराधाकृष्णका यही स्वरूप है।

प्रश्न—यह तो सगुण स्वरूप है। मुनियोंका कहना है कि भगवान् तो निराकार, निर्गुण, निष्क्रिय, परात्पर ब्रह्म हैं। इस सगुण स्वरूपमें ये लक्षण कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में सभी लक्षण हो सकते हैं। निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, ब्रह्म-माया, परमात्मा-जीवात्मा सब कुछ एक ही कालमें एक ही भगवान् बने हैं। वे सर्वभवनसमर्थ हैं। भगवान्‌का एक निर्गुण निराकार निष्क्रिय रूप भी है ही। परंतु भगवान् जिस मंगलमय दिव्य विग्रहरूपमें परधाममें विराजमान हैं, मायासे अतीत दिव्य सच्चिदानन्दमय होनेके कारण उस स्वरूपमें भी ये सब लक्षण भलीभाँति सिद्ध हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात् तथेश्वरम्।
असिद्धत्वान्मद्‌गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात् प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५१। ६८ से ७०)

महेश! मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले कोई गुण नहीं हैं, और मेरे गुणोंको कोई सिद्ध नहीं कर सकता, इसीलिये मुझे सब निर्गुण कहते हैं। मेरा यह दिव्य स्वरूप चर्मचक्षुओंसे कोई देख नहीं सकता, इसीसे वेद मुझको अरूप या निराकार कहते हैं। चैतन्यांशके द्वारा मैं जगत्‌भरमें व्याप्त हूँ, इसीसे पण्डित मुझे ब्रह्म कहते हैं। और विश्वप्रपंचका कर्ता न होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुष मुझको निष्क्रिय कहते हैं।

इस प्रकार भगवान् साकार सगुण होकर ही निर्गुण और निराकार हैं। कर्ता होकर भी अकर्ता हैं।

श्रीराधा-कृष्णका ध्यान

प्रश्न—अच्छा, अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके महान् सुन्दर ध्यानस्वरूपोंका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीराधाकृष्णके ध्यान-स्वरूपोंका वर्णन कौन कर सकता है? यहाँ *'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'* वाली कहावत सिद्ध होती है। तथापि पद्मपुराणमें एक स्थानपर लीलाविहारी श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका बहुत ही सुन्दर निरूपण है, वही यहाँ उद्‌धृत कर दिया जाता है। भगवान् शिव देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—

भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हैं, सुन्दर द्विभुज हैं, वनमालासे विभूषित हैं, उनका वर्ण नवजलधरके समान श्याम है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंके समान मनोहर है। वे नेत्रोंको घुमा रहे हैं, कानोंमें कनेरके फूल खोंसे हुए हैं, भालमें गोल-गोल चन्दनका तिलक लगाये हैं जिसके बीचमें केसरका विन्दु सुशोभित है। दोनों कानोंमें बालसूर्यके समान कान्तिवाले कुण्डल विराजमान हैं। दर्पणके समान आभायुक्त कपोलोंपर स्वेदकण अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। भगवान्‌की दृष्टि श्रीप्रियाजीके बदनकमलकी ओर लगी हुई है, भौंहें लीलासे ऊपरकी ओर उठी हुई हैं और उनकी ऊँची नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। उनके पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल होठ दाँतोंकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान् अपनी भुजाओंमें केयूर और अंगद आदि आभूषण धारण किये हुए हैं और उनके करकमल मुद्रिकाओंसे अलंकृत हैं। वे दाहिने हाथमें मुरली और बायें हाथमें लीलाकमल धारण किये हुए हैं। उनकी कमरमें करधनी सुशोभित है और चरणोंमें नूपुर विराजमान है। वे प्रेमके आवेशसे चंचल हो रहे हैं और उनके नेत्रयुगल भी चलायमान हैं। वे श्रीप्रियाजीके साथ हँस रहे हैं और उन्हें भी बार-बार हँसा रहे हैं। इस प्रकार वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनके ऊपर श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान भगवान् नन्दनन्दनका ध्यान करे। इसके अनन्तर उनके वामभागमें स्थित श्रीराधिकाजीका इस प्रकार ध्यान करे। श्रीप्रियाजी नीला अंगा धारण किये हुए हैं, उनके श्रीअंगोंकी कान्ति तपाये हुए सोनेके समान है। उनके मन्दहास्ययुक्त मुखारविन्दका आधा भाग उनकी रेशमी साड़ीके अंचलसे ढका हुआ है। वे चंचल नेत्रोंसे चकोरीकी भाँति अपने प्रियतमके मुखचन्द्रकी ओर निहार रही हैं और अपने अँगूठे और तर्जनीसे उनके मुखमें कुटे हुए पानके सहित सुपारीका चूर्ण अर्पण कर रही हैं। उनके सुन्दर पीन और उन्नत वक्षःस्थलपर मोतियोंका हार लटक रहा है, उनका कटिप्रदेश अत्यन्त कृश है और स्थूल नितम्बपर करधनी विराजमान है। वे रत्नजटित ताटंक (कर्णफूल), केयूर (बाजूबन्द), अँगूठी और कंकण धारण किये हुए हैं। उनके चरणोंमें कड़े, नूपुर और रत्नजटित छल्ले सुशोभित हैं। उनके समस्त अंग इतने सुन्दर हैं मानो वे लावण्यके सार ही हैं। वे आनन्दरसमें डूबी हुई हैं, अत्यन्त प्रसन्न हैं और

उनके अंगोंमें नवयौवन झलक रहा है। ब्राह्मणदेव! उनकी सखियाँ उन्हींके समान गुण और अवस्थावाली हैं और उनपर चँवर डुला रही हैं तथा पंखा झल रही हैं। (पद्मपुराण, पातालखण्ड ५०। ३५ से ५०)

यह श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका ध्यान है। यहाँ एक बार फिर चेतावनी दे देना उचित है कि परम वैराग्यवान् पुरुषको ही इस साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये। नहीं तो, अनिष्टकी आशंका है।

स्वरूप-साक्षात्कार

प्रश्न—क्या इस स्वरूपका साक्षात्कार भी हो सकता है? हो सकता है तो किस उपायसे?

उत्तर—अवश्य ही हो सकता है। जब युगलसरकार कृपा करके अपने दुर्लभ दर्शन देना चाहें तभी दर्शन हो सकते हैं। उनकी कृपा ही साक्षात्कारका उपाय है।

प्रश्न—क्या साक्षात्कारमें भगवान्‌की मुरलीध्वनि, नूपुरध्वनि सुनायी दे सकती है, क्या उनके श्रीअंगकी मधुर दिव्य गन्ध और उनके दिव्य चिन्मय चरणोंका स्पर्श प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—दर्शन होनेपर उनकी कृपासे सभी कुछ हो सकता है। परंतु एक बात याद रखनी चाहिये कि ये सब बातें ध्यानमें भी हो सकती हैं। जैसे स्वप्नमें देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना सब कुछ होता है परंतु वस्तुतः वहाँ अपनेसे कोई भिन्न वस्तु नहीं होती, सब मनकी ही कल्पना होती है। इसी प्रकार ध्यानकालमें भी मनोनिर्मित विग्रहका स्पर्श, मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनिका श्रवण, मधुर गन्धका ग्रहण हो सकता है। उसमें और साक्षात्कारमें बड़ा अन्तर है, परंतु इस अन्तरका पता साक्षात्कार होनेपर ही लगता है, पहले नहीं। ध्यान होना भी बड़े ही सौभाग्यका विषय है।

सरल साधन

१—भगवन्नामजप

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका कोई सरल उपाय भी है?

उत्तर—है क्यों नहीं। भगवन्नामका जप-कीर्तन और कातर भावसे रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करना उनकी कृपा-प्राप्तिके सरल उपाय हैं।

भगवान् शंकर देवी पार्वतीसे कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णोति मंगलम्॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः।
अत आन्तरकर्माणि कृत्वा नामानि च स्मरेत्॥
कृष्ण कृष्णोति कृष्णोति कृष्णेत्याह पुनः पुनः।
मन्नाम चैव त्वन्नाम यो जपित्वाव्यतिक्रमात्॥
सोऽपि पापाद् विमुच्येत तूलराशेरिवानलः।
जयाद्येतत्त्वया वाप्यथवा श्रीशब्दपूर्वकम्॥
तच्च मे मंगलं नाम जपात् पापात्प्रमुच्यते।
दिवा निशि च संध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत्॥
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा।

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५१। ३ से ७)

केवल एक हरिनाम ही उद्धारका उपाय है। जो व्यक्ति नित्य (अखण्डरूपसे) हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण आदि नामोंका उच्चारण करता है, कलियुगका उसपर असर नहीं हो सकता। अतएव प्रतिदिन आन्तर कर्मोंको करके बार-बार कृष्ण कृष्ण कृष्ण इन नामोंको स्मरण करना चाहिये। ऐसा मुनिगण भी कहते हैं। जो व्यक्ति मेरा (शिव) नाम और तुम्हारा (पार्वती) नाम (अथवा गौरी-शंकर नाम) जप करता है, रूईका ढेर जैसे आगसे जल जाता है, वैसे ही वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है। अर्थात् नाम-जप पापोंको भस्म कर डालता है। जो पुरुष जय श्रीकृष्ण, जय श्रीशंकर, जय श्रीपार्वती, इस प्रकार आगे या पीछे 'जय' और 'श्री' जोड़कर मंगलमय नामका जप करता है वह पापोंसे छूट जाता है। क्या दिन, क्या रात, क्या संध्या—सभी समय भगवान्‌के नामोंका स्मरण करना चाहिये। रात-दिन अखण्ड नाम-जप करनेसे भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

इस प्रकार अखण्ड नाम-जप और स्मरणसे सहज ही पापोंका नाश होता है और भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

२—प्रार्थना

दूसरा उपाय प्रार्थना है। एकान्तमें आर्तभावसे और सच्चे हृदयसे इस तरह भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभंजनौ॥
योऽयं ममास्ति यत्किंचिदिह लोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥

अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः ।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५१। ४२ से ४६)

हे नाथ! पुत्र, मित्र, गृह आदिसे घिरे हुए संसार-सागरसे आप ही मेरी रक्षा करते हैं, आप ही शरणागत जनोंका भय भंजन करते हैं। यह मैं, मेरा यह देह और इस लोक तथा परलोकमें जो कुछ भी मेरा है, आज वह सब मैं आपके चरणोंमें अर्पण करता हूँ। मैं अपराधोंका घर हूँ, मेरे अन्य कोई भी साधन नहीं है। मेरी कोई गति नहीं है। हे नाथ! आप ही मेरी गति हैं। हे श्रीराधाकृष्ण! मैं तन, मन, वचनसे आपका ही हूँ, आप ही मेरी अनन्य गति हैं। मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंमें पड़ा हूँ, आप दयाकी खान हैं। मुझ दुष्ट अपराधीपर दया करके मुझे अपना दास बना लीजिये मेरे युगल सरकार!

इस प्रकार नाम-जप और आर्त तथा दीन प्रार्थनासे भगवत्कृपा प्राप्त होती है और भगवत्कृपासे दुर्लभ भी परम सुलभ हो जाता है। आपने प्रश्नोंका उत्तर बहुत विस्तारसे चाहा था, मैंने संक्षेपमें लिखना चाहा था तो भी उत्तर कुछ बड़ा हो गया है, इससे आपको कुछ संतोष हो और पाठकोंको लाभ हो तो बड़े आनन्दकी बात है। भूल-चूक और प्रमादके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रीभगवन्नाम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

भगवान्का नाम कितना पवित्र है, कैसा पावन है, उसमें कितनी शान्ति है, कैसी शक्ति है और उससे क्या हो सकता है? यह कोई नहीं बतला सकता। अथाहकी थाह कौन ले? जिसके माहात्म्यका आरम्भ बुद्धिसे परे पहुँचनेपर होता है, उसका वाणीसे कैसे वर्णन हो सकता है? जिस प्रकार भगवान् अनिर्वचनीय हैं, उसी प्रकार उनके नामका माहात्म्य भी अनिर्वचनीय है। शास्त्रोंमें जो भगवन्नाम-माहात्म्य लिखा है वह वास्तविक माहात्म्यका प्रकाशक नहीं है, वह तो नाम-जपसे लाभ उठानेवाले महानुभावोंके कृतज्ञ हृदयका उद्गारमात्र है। वास्तविक माहात्म्य तो कोई कह ही नहीं सकता। जो जिस भावसे भगवान्के नामको जपता है उसे अपने उस भावके अनुसार ही लाभ होता है। आज भी भगवन्नामसे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हैं। इस विषयमें केवल धार्मिक क्षेत्रके ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्रके भी कितने ही महानुभावोंसे मेरी बातें हुई हैं, उन्होंने कहा ही नहीं लिखकर भी दिया है कि 'हमें भगवन्नामसे परम लाभ हुआ।'

आजकल एक ऐसी शंका होती है कि 'जहाँ भगवन्नामके माहात्म्यके विषयमें इतना कहा जाता है वहाँ देखनेमें उसके विपरीत क्यों आता है? यदि भगवन्नाममें कोई वास्तविक शक्ति होती तो निरन्तर और अधिक संख्यामें नामजप करनेवाले लोगोंमें विशेष परिवर्तन क्यों नहीं देखा जाता? शंका कई अंशोंमें ठीक है, परंतु बहुत-से कर्म ऐसे होते हैं जिनका परोक्षमें भारी फल होनेपर भी प्रत्यक्षमें नहीं देखा जाता अथवा तत्काल न दीखकर देरसे दीखता है। कई बार पूर्ण फल न होनेके कारण आंशिक रूपमें होनेवाले फलका पता नहीं लगता। एक आदमी बीमार है और उसके कई रोग हैं, दवासे पेटका दर्द दूर हो गया पर अभी ज्वर नहीं छूटा। इससे क्या यह समझना चाहिये कि उसे दवासे कोई लाभ ही नहीं हो रहा है? लाभ होनेमें जो विलम्ब होता है उसमें कुपथ्य ही प्रधान कारण है। हम नामजप करनेके साथ ही नामापराध भी बहुत करते हैं इसके अतिरिक्त श्रद्धा और विश्वासपूर्वक नामजप नहीं करते। कहीं बहुत थोड़े मूल्यमें उसे बेच देते हैं। मामूली सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति अथवा मान-बड़ाईके बदलेमें उसे खो देते हैं। हम कीर्तन करते हैं और फिर पूछते हैं कि 'क्यों जी! आज मैंने कैसा कीर्तन किया?' इस प्रकार अश्रद्धा, अविश्वास, सकाम भाव अथवा लोगोंमें बड़ाई पानेके लिये किये जानेवाले नाम-जप-कीर्तनसे वास्तविक फल देरमें हो तो क्या आश्चर्य? नाम-कीर्तनका एक सुन्दर क्रम और स्वरूप श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

श्रृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसंगः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(११।२।३९-४०)

'चक्रपाणिभगवान्के प्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणोंको सुनकर और उनकी ही लीलाओंके अनुरूप नामोंको लज्जा छोड़कर गान करता हुआ, अनासक्त भावसे संसारमें विचरे। इस प्रकारके निश्चयसे प्रियतम प्रभुके नामकीर्तनमें प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह भाग्यवान् पुरुष प्रेमावेशमें कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी सुबकियाँ भरता है, कभी जोर-जोरसे रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी उन्मत्तकी भाँति नाच उठता है।'

अपने प्रियतम भगवान्के नामकीर्तनमें प्रेमावेशके कारण इस प्रकार निर्लज्ज होकर नाच उठना चाहिये; परंतु उसमें कहीं भी दिखावट या विषयासक्ति नहीं होनी चाहिये। भगवान्का नाम हमें आनन्द नहीं देता, इसका कारण यही है कि वह हमें प्रिय नहीं है और नाम प्रिय इसलिये नहीं है कि हमारा भगवान्में प्रेम नहीं है। भगवान्में प्रेम होता तो नामजप प्यारा लगता। प्यारेकी प्रत्येक चीज प्यारी होती है। कहीं-कहीं तो उससे बढ़कर प्यारी होती है। लौकिक सम्बन्धमें भी हम देखते हैं कि जब किन्हीं लड़के-लड़कीका सम्बन्ध हो जाता है, तब घरमें किसीसे एक-दूसरेका नाम सुनकर या उनके विषयमें कोई बात सुनकर वे अपने हृदयमें एक प्रकारकी गुदगुदी-सी अनुभव करने लगते हैं। प्यारेका वस्त्र, प्यारेका भोजन यहाँतक कि प्यारेकी फटी जूती भी प्यारी होती है। जब लौकिक प्रेमकी ऐसी बात है, तब भगवत्प्रेमके विषयमें तो कहना ही क्या है। शृंगवेरपुरमें भरतजी भगवान्के शयनके स्थानमें उनके अंगसे स्पर्शित 'कुश-साथरी' को देखकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये थे। अक्रूरजी भगवान्के चरण-चिह्नोंको देखकर तन-मनकी सुधि भूल गये थे। आज भी जब हम व्रजभूमिको देखते हैं, तब स्वतः ही हमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति हो आती है और उसमें एक अनोखा आनन्द मिलता है। प्रेम और आनन्दका अविनाभावी सम्बन्ध है, जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है ही। इसीसे गोपियोंके प्रेमका महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधारानी इसी प्रेम और आनन्दके मूर्तिमान् रूप हैं। भगवान्का जो आनन्दस्वरूप है वही श्रीमती राधा हैं। राधारानीके प्रेमास्पद भगवान् हैं और भगवान्की प्रेमास्पदा श्रीराधा हैं। प्रेमका स्वभाव है **'तत्सुखे सुखित्वम्'** प्रेमास्पदके सुखमें सुखी होना, यही काम और प्रेमका अन्तर है। काममें अपने सुखकी इच्छा है और प्रेममें प्रियतमके सुखकी! राधाजी श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही अवतीर्ण हुई हैं और अपनी सेवासे श्रीकृष्णको आनन्द होता देखकर परम सुखी होती हैं। इधर राधाजीको सुखी देखकर श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धि होती है और श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धिसे राधाजीका सुख और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार एक-दूसरेके आनन्दसे दोनोंका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। यह उत्तरोत्तर बढ़नेवाला आनन्द ही भगवान्का नित्यरास है। प्रेममें यही तो विलक्षणता है। इसमें कहीं अलम् नहीं होता। प्रेमका स्वरूप ही है **'प्रतिक्षणवर्धमानम्'।** प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख है। चाहे उसका वह सुख प्रेमीके लिये लोक-दृष्टिसे कितना ही कष्टकर क्यों न हो। प्रेमी चातककी भावना है—

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोष॥

हम जो संसारके दुःखोंसे घबरा उठते हैं इसका कारण क्या है? यही कि हम उनमें प्रेमास्पद भगवान्की रुचिको, उनके विधानको नहीं देखते। कठोर आघातमें उनके सुकोमल करकमलका स्पर्श नहीं पाते। परंतु भगवान्का प्रेमी भक्त किसी कष्टसे नहीं घबराता; क्योंकि वह प्रत्येक वस्तुमें भगवान्का स्पर्श पाता है। वास्तवमें भगवान्का प्रेमी भक्त सब कष्टोंसे परे पहुँचा हुआ होता है, उसका जीवन भगवत्सेवामय होता है। वह

सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहता। मुक्ति तो वह चाहता है जो किसी बन्धनका अनुभव करता हो। भगवत्प्रेमका बन्धन तो सारे बन्धनोंके छूट जानेपर होता है और इस प्रेमबन्धनसे भक्त कभी मुक्त होना चाहता नहीं। जो इस प्रेमबन्धनसे मुक्ति चाहता है वह भक्त कैसा? इसीसे कहा गया है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

अर्थात् 'भक्तजन देनेपर भी मेरी सेवाको छोड़कर मुक्ति आदिको स्वीकार नहीं करते।' इस प्रेमसाधनाके सम्बन्धमें गीताके दो श्लोक बड़े महत्त्वके हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।९-१०)

'जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनके प्राण मुझमें फँसे हैं, जो नित्य आपसमें मेरी ही महत्ताको समझते-समझाते प्रेम करते हैं, जो मेरी ही बात कहते हैं, मुझमें संतुष्ट हैं और निरन्तर मुझमें ही रमण करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं अपना वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इन श्लोकोंमें जिस साधनाकी ओर संकेत है, प्रेमियोंके जीवनका वह स्वभाव होता है। इसीसे भगवान्ने भागवतमें इस बातको स्वीकार किया है कि गोपियोंने अपना मन मुझे अर्पण कर दिया, गोपियोंके प्राण मद्गतप्राण हैं, गोपियाँ मेरी ही चर्चा करती हैं, मैं ही एकमात्र उनका इष्ट हूँ, मुझमें ही उनकी एकान्त प्रीति है।

गोपियोंने भगवान्का नाम रखा था—चित्तचोर। क्या मधुर नाम है? अहा! हम सबकी भी यही इच्छा रहनी चाहिये कि भगवान् हमारा चित्त चुरा लें। कुछ सज्जनोंको भगवान्के लिये इस 'चोर' शब्दपर बड़ी आपत्ति है। उनके विचारसे श्रीमद्भागवतमें जो माखन-चोरी आदिकी बात है वह भगवान्के चरित्रमें कलंकरूप ही है। पर असलमें बात ऐसी नहीं प्रतीत होती। पहली बात तो यह है, उस समय भगवान् बालकस्वरूप थे इसलिये उनकी चोरी आदिकी प्रवृत्ति किसी दूषित बुद्धिके कारण नहीं मानी जाती; वह केवल उनकी बालसुलभ लीला ही थी; परंतु वास्तवमें सच पूछा जाय तो क्या कोई यह कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने कभी किसी ऐसी गोपीका माखन चुराया था जो ऐसा नहीं चाहती थी। गोपियाँ तो इसीलिये अच्छे-से-अच्छा माखन रखती थीं और ऐसी जगह रखती थीं जहाँ भगवान्का हाथ पहुँच सके और वह हृदयकी अत्यन्त उत्कट इच्छाके साथ यह प्रतीक्षा करती रहती थीं कि कब श्यामसुन्दर आवें और हमारी इस समर्पणपद्धतिको स्वीकारकर मित्रोंसहित माखनका भोग लगावें और कब हम उस मधुर झाँकीको देखकर कृतार्थ हों। यही तो उनकी प्रेमसाधना थी। इन गोपियोंके माहात्म्यको कौन कह सकता है, जो निरन्तर चित्तचोरकी श्यामसुन्दर मूर्तिकी झाँकीके लिये उत्सुक रहती थीं और पलकोंका अदर्शन असह्य होनेके कारण पलक बनानेवाले ब्रह्माजीको कोसा करती थीं। गोपियोंकी इस प्रेमनिष्ठाके विषयमें श्रीमद्भागवत (१०।४४।१५)- में कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो व्रजयुवतियाँ गौओंको दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण मनसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुणगान किया करती हैं उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

इस प्रकार गोपियोंका चित्त हर समय श्रीश्यामसुन्दरमें ही लगा रहता था। घरके सारे धंधोंको करते हुए भी उन्हें अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी एक क्षणको भी विस्मृति नहीं होती थी। उद्धवने जब गोपियोंको योगकी शिक्षा दी, तब उस समय उन्होंने उद्धवसे यही कहा कि आप उन्हें योग सिखाइये जिन्हें वियोग हो, हमारा तो श्रीश्यामसुन्दरके साथ नित्यसंयोग है। वे बोलीं—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्याम ही सो काम है!
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥

स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आये दौरे,
जोग कहाँ राखैं, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

गोपियाँ हर समय सब कुछ स्याममय ही देखती थीं। इस सम्बन्धमें एक प्रसंग है। एक बार कई गोपियाँ मिलकर बैठीं। उस समय यह प्रश्न हुआ कि 'श्रीकृष्ण श्याम क्यों हैं? माता यशोदा और बाबा नन्द दोनों ही गौरवर्ण हैं। बलदेवजी भी गौरवर्ण हैं, फिर ये साँवले क्यों हुए?' इसपर किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ। अन्तमें एक व्रजनागरी बोली—

कजरारी अँखियानमें, बसो रहत दिन-रात।
प्रीतम प्यारो हे सखी, ताते साँवर गात॥

'अहो! आठों पहर काजलभरी आँखोंमें रहनेके कारण ही वह काला हो गया है।' कितना ऊँचा सिद्धान्त है? ऐसे महात्माको गीता भी परम दुर्लभ बतलाती है— **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'** किंतु यहाँ तो वह सिद्धान्त ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रकट स्वरूप था। गोपियोंकी आँखोंमें श्यामके सिवा और किसीका प्रतिबिम्ब ही नहीं पड़ता था। उनकी आँखोंके सामने आते ही सब कुछ साकार श्यामस्वरूप हो जाता था। **बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।**

गोपियोंका भगवान्‌के प्रति प्रियतमभाव था। उनसे बढ़कर **'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः'** और कौन हो सकता है? चित्त भगवन्मय हो जाय, उसपर भगवान्‌का स्वत्व हो जाय। यह नहीं कि हम उसके द्वारा भगवान्‌का भजन करें। उसपर भगवान्‌का ही पूरा अधिकार हो जाना चाहिये। ऐसी स्थिति उन व्रजसुन्दरियोंको ही प्राप्त हुई थी। इसीसे उद्धवको गोपिकाओंके पास भेजते समय भगवान् उनसे कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

वे करती क्या थीं? वे जहाँ बैठतीं अपने प्रियतम भगवान्‌की ही चर्चा किया करती थीं। उसीका गान करती थीं, उसीमें संतुष्ट रहती थीं और एकमात्र उसीमें रमती थीं। यह भगवत्प्रेमियोंका संग बहुत दुर्लभ है। एक सत्संग वह है जिससे चित्त शुद्ध होता है, फिर शुद्ध चित्तमें ज्ञानोदय होता है और उसके पश्चात् भगवत्प्राप्ति होती है; किंतु यह वह सत्संग है जिसके लवमात्रके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवत (१।१८।१३)- में कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

अर्थात् 'भगवत्प्रेमियोंका जो लवमात्रका संग है उसके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर साधारण मानवभोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है?' इसीसे भक्तजन कभी मोक्ष नहीं चाहते। उनकी तो यही इच्छा रहती है कि भगवत्प्रेमी मिलकर सदा प्रियतम भगवान्‌की मधुर चर्चा किया करें। यही गोपियोंका भी सत्संग था।

एक वैष्णव-ग्रन्थमें श्रीमती राधाजी कहती हैं कि 'ऐसा मन होता है, मेरे लाखों आँखें हों तो श्यामसुन्दरके दर्शनका कुछ आनन्द आवे। लाखों कान हों तो श्यामनामके श्रवणका सुख मिले।' यह कोई कल्पना नहीं है। प्रेम चीज ही ऐसी है। जिस दिन हमें भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, उस दिन उनका नाम हमें इतना प्राणप्यारा होगा कि वह हमारे जीवनकी सबसे बढ़कर आवश्यक चीज बन जायगा। जबतक हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं होता तभीतक हमें माला आदिकी आवश्यकता है। प्रेम होनेपर तो प्रियतमके नामोच्चारणमात्रसे हमारी नस-नस नाच उठेगी। हम अपने प्रियतमके प्रेममें इतना उन्मत्त हो जायँगे कि हमारे रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि होने लगेगी। फिर यह जाननेकी इच्छा कभी नहीं होगी कि मैंने कैसा कीर्तन किया। यथार्थ कीर्तनका यही स्वरूप है। मेरा यह कथन नहीं है कि वर्तमान कीर्तन करनेवाले सभीको ऐसी लोकैषणा रहती है। मेरा अभिप्राय केवल यही है कि कीर्तन करते समय हमारा यह लक्ष्य नहीं होना चाहिये कि सुननेवाले लोग हमारे कीर्तनको अच्छा कहें, बल्कि यही लक्ष्य हो कि हम उसमें तन्मय हो जायँ। द्रौपदीके एक नामपर ही भगवान् प्रकट हो गये थे; परंतु हुए उसी समय थे जब उसने सबका आश्रय छोड़कर परम निर्भरतासे भगवान्‌को पुकारा था।

एक कसौटी और है, भगवन्नामका आश्रय लेनेवालेको यह देखते रहना चाहिये कि हमारे अंदर दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है या नहीं? यदि दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि दिखायी न दे तो समझना चाहिये कि हमारा भगवन्नाम-

कीर्तन नामापराधसहित है। भगवद्‌भजनसे दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि होनी ही चाहिये। जिस प्रकार भगवत्प्रेमीमें दैवी सम्पत्ति होना अनिवार्य है उसी प्रकार दैवी सम्पत्ति भी बिना भगवत्प्रेमके टिक नहीं सकती। देवर्षि नारदने कहा है कि भगवन्नाममें एक विलक्षण शक्ति है। उससे भगवत्प्रेमकी स्वाभाविक ही वृद्धि होती है और भगवत्प्रेममें दैवी सम्पदाका पूरा प्राकट्य होना ही चाहिये। आजकल ऐसा नहीं होता इससे जान पड़ता है कि हमारे भजनमें कोई दोष है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुमें यह विलक्षण शक्ति बहुत अधिक देखी जाती थी। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् इसलिये उनके कीर्तनके समीप होकर निकलनेमें डरते थे कि वे कहीं उसी रंगमें न रँग जायँ। और यदि कोई उनके कीर्तनको देख लेता, उनका स्पर्श पा लेता तो वह उन्मत्त हुए बिना रहता नहीं। परंतु महाप्रभुको भी बड़ी सावधानीसे यह शक्ति अर्जन करनी पड़ी थी। एक बार श्रीवासके घर कीर्तन होता था। उस दिन उसमें आनन्दकी स्फूर्ति नहीं हुई। तब श्रीमहाप्रभुजीने कहा, 'देखो यहाँ कोई बाहरका आदमी तो नहीं है।' इधर-उधर देखनेपर एक ब्राह्मणदेवता मिले, जो कीर्तनके प्रेमी नहीं थे। तब सब लोगोंने प्रार्थना करके उन्हें विदा किया। उसके पश्चात् कीर्तन किया गया। तब रस आया। कीर्तनके श्रवणसे वे ब्राह्मणदेवता भी पवित्र हो गये। अतः भक्तको सब प्रकारके कुसंगसे बचना चाहिये।

हमलोगोंको भी इस बातका संकल्प करना चाहिये कि हम तन्मय होकर श्रद्धा-विश्वाससहित निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक भगवन्नामका जप, स्मरण और कीर्तन करें। निष्कामभाव यहाँतक हो कि हमें तो बस, भगवन्नामका जप और कीर्तन ही करना है, यह नहीं देखना कि इससे भगवान् भी रीझते हैं या नहीं!

पंचमहायज्ञ

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(गीता ३। ९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मको छोड़कर अन्य कर्ममें लगनेवाला यह मनुष्य कर्मद्वारा बँधता है, अतएव तुम आसक्तिरहित होकर यज्ञके लिये कर्मका भलीभाँति आचरण करो।

यज्ञार्थ कर्म क्या है?

'यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुतिके अनुसार यज्ञका अर्थ भगवान् विष्णु होता है; विष्णु समस्त चराचरमें व्याप्त हैं, इन विश्वरूप भगवान्‌की पूजाके लिये किया जानेवाला प्रत्येक कर्म यज्ञार्थ-कर्म है। यज्ञार्थ-कर्मसे बन्धन नहीं होता, बन्धन होता है स्वार्थ-कर्मसे। जो स्वार्थको छोड़कर, कर्म और उसके फलमें आसक्तिका त्याग कर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्तव्य-कर्म करता है वही यथार्थमें यज्ञार्थ-कर्म करनेवाला है और उसीको भगवत्कृपासे भवबन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है। इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्य अपनी प्रत्येक वैध चेष्टाको मुक्तिका साधन बना सकता है।

पंचमहायज्ञ

इसमें भी पंचमहायज्ञ तो प्रत्येक गृहस्थके लिये अत्यावश्यक नित्यकर्म हैं। इनका नाम महायज्ञ इसीलिये है कि इनका सम्बन्ध समस्त विश्वसे है। अन्यान्य यज्ञ प्रधानतया व्यक्तिगत लाभके लिये होते हैं, परंतु इन महायज्ञोंके तो सिद्धान्तमें ही विश्वकल्याण भरा है। विश्वरूप बने हुए भगवान्‌के पाँच स्वरूप हैं—ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्यान्य भूत-प्राणी (पशु, पक्षी, वृक्ष, औषध, लता, गुल्म आदि)। इन पाँचोंका सम्बन्ध प्रत्येक प्राणीसे है। मनुष्य-प्राणी-जगत्‌में विवेकसम्पन्न है, वह इस बातको भलीभाँति हृदयंगम कर सकता है कि इन पाँचोंकी सहायतासे ही हमारा जीवन-निर्वाह होता है। वस्तुतः भगवान्‌की सृष्टिमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो व्यर्थ हो और जिससे किसीको लाभ न पहुँचता हो एवं जिसकी सृष्टि, स्थिति या संहारके कार्यमें कहीं-न-कहीं आवश्यकता न हो। सभी प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है। प्राणियोंके हितमें ही विश्वका हित है। अतएव भगवान्‌की सृष्टिका कोई भी पदार्थ, विश्वरूप भगवान्‌का कोई भी क्षुद्रतम स्वरूप, अथवा विश्व-शरीररूप कार्य-ब्रह्मका कोई भी अंग उपेक्षणीय नहीं है। इसलिये मनुष्यको विश्वके समस्त अंगोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले इन पाँच अंगोंकी

सेवा सदा करनी चाहिये। इनकी सेवासे सारे विश्वकी सेवा होती है, जहाँ विश्वका कल्याण है, वहाँ आत्मकल्याण तो है ही।

पंचमहायज्ञके सिद्धान्तको समझनेमें ही मनुष्यकी व्यष्टिगत क्षुद्रता नष्ट हो जाती है। वह देखता है कि भगवान् स्वयं विश्वमें अनेक रूप धारण करके स्थित हैं, वे ही ऋषि बनकर जगत्को ज्ञाननेत्र प्रदान करते हैं, वे ही देवता बनकर सबका पालन-पोषण करते हैं, वे ही पितर बनकर सबका कल्याण करते हैं, वे ही मनुष्य बनकर सबकी सहायता करते हैं और वे ही भूत-प्राणी बनकर सबका उपकार करते हैं। इस प्रकार भगवान्को सर्वत्र देखकर वह विनम्रभावसे उन्हें भोग लगाकर बचा हुआ प्रसाद स्वयं पाना चाहता है। यह प्रसाद ही अमृत है। अपनी कमाईसे पहले इन पाँचोंको तृप्त करे, इसके बाद जो कुछ बच रहे, उसे भगवत्प्रसाद समझकर स्वयं ग्रहण करे; ऐसा करनेवाला मनुष्य समस्त पापोंसे छूट जाता है। भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, परंतु जो पापी मनुष्य केवल अपने लिये ही पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं।'

अभिप्राय यह कि संसारमें मनुष्य जो कुछ भी उपार्जन करे उसको पहले ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्य भूत-प्राणियोंकी सेवामें लगावे। फिर जो कुछ बच रहे उसीसे अपना निर्वाह करे। ऐसा करनेवाला ही पापोंसे छूटता है। जो ऐसा नहीं करता, केवल अपने मौज-शौक या अपने शरीर-पालनके लिये ही कमाता-खाता है, वह तो पाप कमाता है और पाप ही खाता है। पंचमहायज्ञका यही व्यापक अर्थ है और इसीके अनुसार सबको यथासाध्य करना चाहिये। यह विश्वरूप भगवान्की पूजा है और निष्कामभावसे इस प्रकार पूजा करनेवाले मनुष्यको भगवत्प्राप्ति होती है।

इसके सिवा दो बातें और विचारणीय हैं, एक तो यह कि इन पाँचोंसे हमारा बड़ा उपकार होता है। यदि हम उपकारका बदला कुछ भी न दें तो हम कृतघ्न होते हैं और कृतघ्नकी बहुत बुरी गति होती है। दूसरे, मनुष्यके जीवन-निर्वाहके लिये अनेकों जीवोंकी नित्य अनिवार्य हिंसा होती है, उसके पापसे बचनेके लिये भी शास्त्रविधिके अनुसार पंचमहायज्ञकी आवश्यकता है। इन दोनों बातोंको कुछ समझ लेना है—पहले तो यह समझ लेना है कि ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणियोंसे हमारा क्या उपकार होता है; और दूसरे यह समझना है कि मनुष्यके लिये प्रतिदिन अनिवार्य हिंसा कौन-सी होती है और उसके पाप-नाशके लिये शास्त्रमें क्या विधान है।

ऋषि

वेदके मन्त्रोंको अथवा सृष्टिके गुह्यतम रहस्योंको दिव्य दृष्टिसे देखनेवाले तत्त्वज्ञानी, ईश्वरभक्त, तपस्वी, सदाचारी, त्यागी, निःस्वार्थी, अरण्यवासी, पुण्यजीवन, प्रातःस्मरणीय ऋषियोंकी कृपासे ही शास्त्रोंकी रचना हुई, जिनके द्वारा मनुष्योंके ज्ञाननेत्र खुले और उन्हें विविध भाँतिकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विद्याओं और कलाओंकी प्राप्ति हुई। उन परम पूजनीय महापुरुषोंने अपना सारा तपःपूत जीवन अकेले जंगलोंमें रहकर ज्ञानके अर्जनमें लगाया और बड़े ही उदारभावसे अपने उपार्जित ज्ञानको बिना किसी बदलेकी भावनासे केवल लोकोपकारार्थ—भगवान्के सृष्टियज्ञमें पवित्र आहुति देनेके भावसे—ग्रन्थित करके वे हमलोगोंको दे गये और आज भी ग्रन्थोंके अतिरिक्त स्वयं वे हमारे बिना ही माँगे और बिना ही पहचाने परोक्षरूपसे हमारी सहायता कर रहे हैं। यदि भगवद्रूप ऋषिगण शास्त्रोंद्वारा हमें ज्ञान प्रदान न करते तो हमारी न मालूम क्या दशा होती और हमारा वह पशुजीवन प्राकृतिक पशुओंसे भी न मालूम कितना नीचे गिरा हुआ होता! ये ऋषिगण भगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता हैं और जगत्में सदा-सर्वदा आनन्दमय अध्यात्म-ज्ञानकी ज्योतिका विस्तार करते रहते हैं। इनके उपकारका कभी बदला नहीं चुकाया जा सकता।

देवता

देवताओंके द्वारा ही सृष्टिका समस्त कार्य चल रहा है। देवता श्रीभगवान्की अधिदैवशक्तिके अधिष्ठाता हैं और प्रत्येक क्रियामें इन देवताओंका हाथ रहता है। देवताओंके द्वारा ही विश्वकी समस्त क्रियाएँ सुसम्पन्न और सुरक्षित होती हैं। हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब, इन देवताओंकी सहायतासे ही बराबर कार्य करते हैं। देवताओंकी शक्तिसे ही कर्म जड होनेपर फल

उत्पन्न करता है। जल, अग्नि, वायु, अन्न आदिरूपमें देवता ही हमारा पोषण करते हैं। समयपर वर्षा बरसना, चन्द्र-सूर्यका नियमितरूपसे उदय और अस्त होना, ऋतुओंका बदलना आदि कार्य देवताओंके ही हैं। जगत्‌में स्वास्थ्य, आवश्यक पदार्थ और सुख-शान्तिकी प्राप्ति देवताओंकी कृपासे ही होती है। देवताओंका हमपर बड़ा भारी उपकार है। देवता नित्य और नैमित्तिक-भेदसे दो प्रकारके हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, इन्द्र, प्रजापति, महाशक्ति आदि देव-देवियाँ नित्य हैं और सुकर्मवश देवयोनिको प्राप्त होनेवाले जीव एवं ग्रामदेवता, वनदेवता, कुलदेवता आदि नैमित्तिक हैं। दोनों ही प्रकारके देवताओंसे हमें सहायता मिलती है।

पितर

देवताओंकी भाँति पितर भी दो प्रकारके हैं—नित्य और नैमित्तिक। अर्यमा, अग्निष्वात्ता, सोमपा आदि पितर नित्य हैं, जो सृष्टिके आदिकालसे ही हमारी सहायतामें लगे हैं; तथा कर्मवश पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्वज नैमित्तिक पितर हैं। पितर भगवान्‌की आधिभौतिक शक्तिके अधिष्ठाता हैं। व्यक्तिगत और देशगत स्वास्थ्य, संतान, धन, विद्या आदिकी उन्नतिमें पितरोंका बहुत हाथ है। पितरोंकी कृपासे जगत् सुखी होता है। हमारे माता-पिता हमारे लिये कितना कष्ट सहते हैं, किस प्रकारसे स्वयं कष्ट सहकर हमारा पालन करते हैं, हमारे लिये उनके हृदयमें स्नेहका कितना अटूट भंडार भरा रहता है, इस बातका प्राय: सबको अनुभव है। माता-पिताके महान् उपकारका बदला संतान कब चुका सकती है? इसी प्रकार मरनेके बाद पितरलोकमें गये हुए पितर भी अपनी संतानकी हित-कामना और उनका हित-साधन करते रहते हैं। नित्य पितर तो माता-पिताकी भाँति नित्य ही स्नेहपूरित हृदयसे सबका उपकार करते रहते हैं।

मनुष्य

मनुष्योंसे मनुष्योंके उपकारका तो सबको अनुभव है। यहाँ तो परस्परकी सहायता बिना एक मिनट भी काम नहीं चल सकता। संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो यह कह सके कि मेरी जीवनयात्रा किसी भी दूसरे मनुष्यकी सहायताके बिना केवल अपने ही बलपर चल रही है। देश, जाति और समाजका संगठन ही पारस्परिक सहायतासे जीवनको सहज और सुखमय बनानेके लिये है। राजा, बादशाह, विद्वान् आदि सभी दूसरे मनुष्योंसे सहायता प्राप्त करते हैं।

भूतप्राणी

भूतप्राणियोंका तो कहना ही क्या है? पशु-पक्षियोंसे और ओषधि, लता, गुल्म और वृक्षादिसे मनुष्यका कितना भारी उपकार हो रहा है, इसका कोई सीमा-निर्देश नहीं कर सकता। गाय, बैल, भैंस, घोड़े, ऊँट, हाथी, खच्चर, गदहे, कुत्ते आदिसे तो प्रत्यक्ष ही हमारा उपकार होता है; परंतु विचारकर देखा जाय और प्राणिजगत्‌के रहस्यको समझनेकी चेष्टा की जाय तो पता लगेगा कि जिन प्राणियोंको मनुष्य हिंसक और भयानक समझकर सदा मारनेके लिये तैयार रहता है, वे प्राणी भी न मालूम हमारा कितना उपकार करते हैं। एक विद्वान् पुरुषने बतलाया था कि यदि साँप न होते तो जहरीली हवा फैल जाती जिससे मनुष्य रह नहीं सकते। जहरीली हवाको साँप भक्षण कर जाते हैं।

इस प्रकार ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्यान्य भूतप्राणी सभी हमारे उपकारी सिद्ध होते हैं। इनका ऋण किसी अंशमें चुकाकर कृतज्ञता प्रकट की जाय तथा इनको पुष्ट एवं प्रसन्न करके विश्वको लाभ पहुँचाया जाय, इसके लिये पंचमहायज्ञ अवश्य करने चाहिये।

दूसरी बात है नित्य होनेवाली अनिवार्य हिंसाकी। गृहस्थमें विशेषरूपसे हिंसा पाँच प्रकारसे होती है। मनु महाराज लिखते हैं—

पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनु० ३। ६८)

'गृहस्थके घरमें पाँच हिंसाके स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल और जलघट; इन वस्तुओंका उपयोग करनेवाला गृहस्थ पापके बन्धनमें पड़ता है।' इस पापसे छूटनेका उपाय वे बतलाते हैं—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

(मनु० ३। ६९)

'इन सब हिंसाओंके प्रायश्चित्तके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये क्रमसे नित्य पंचमहायज्ञ निर्माण किये।'—

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥

(मनु० ३। ७१)

'जो पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार इन पाँच महायज्ञोंको करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी नित्य हिंसाके पापसे लिप्त नहीं होता।'

यद्यपि आजकल पाश्चात्त्य सभ्यताके प्रसारसे हमारे घरोंमें प्रायः चक्की-ऊखलका बहिष्कार-सा होने लगा है, परंतु इनके बदलेमें बड़े-बड़े हिंसाके कार्य इतने बढ़ गये हैं, जिनका कोई ठिकाना नहीं। चक्की-ऊखलका काम भी मशीनोंद्वारा होता ही है, जहाँ और भी अधिक हिंसा होती है। सच पूछा जाय तो आजकल मनुष्य विषयभोग और शारीरिक आरामके पीछे पागल होकर जिस लापरवाहीसे जीव-हिंसा कर रहा है, उतनी शायद पहले कभी नहीं होती थी। लाखों प्रकारकी पशु-पक्षियोंकी हिंसासे बननेवाली दवाइयाँ और मौज-शौकके सामान, बड़ी-बड़ी इमारतें, मीलें, रेल, कारखाने, मशीनें, कपड़े, जूते और न मालूम कितनी ऐसी मनुष्यकी बढ़ी हुई राक्षसी आवश्यकताओंको पूरी करनेवाली चीजें हैं, जिनके निर्माणमें असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है। परंतु मनुष्यको इसका आज कोई खयाल नहीं है। प्राचीन कालके यज्ञोंमें होनेवाली हिंसा आजकी इस हिंसाके सामने समुद्रमें कणके समान है। आज मनुष्यके सुखके लिये एक-एक आविष्कारके प्रयोगमें न मालूम कितने निर्दोष प्राणियोंके प्राण हरण किये जाते हैं। आज एक मनुष्यके लिये दिनभरमें जितनी हिंसा होती है, उतनी शायद हिंसक जन्तु अपनी उदरपूर्तिके लिये नहीं कर सकता होगा। इस हिंसामय जीवनका उद्धार तो भगवान्‌के भजनसे ही होगा। परंतु कम-से-कम पंचमहायज्ञ तो जरूर ही करने चाहिये।

पंचमहायज्ञ किस प्रकार करें?

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३।७०)

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥

(मनु० ४।२१)

'अध्यापन (स्वाध्याय) ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। इस ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञको सदा-सर्वदा यथाशक्ति करना चाहिये; इसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।'

अब इनमेंसे प्रत्येकपर कुछ-कुछ विचार करना है।

ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ

महान् तपस्वी महर्षियोंके ऋणसे मुक्त होना तो हमारे लिये सम्भव ही नहीं है और न ऋषियोंको ही किसीसे कुछ कामना है, परंतु अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हमे ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ अवश्य करना चाहिये। ब्रह्मयज्ञसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और ऋषिगण प्रसन्न होकर आध्यात्मिक प्रकाश फैलाते हैं, जिससे अपने परम कल्याणके साथ ही विश्वका कल्याण होता है। ऋषियज्ञ करनेके प्रकार हैं—

१—अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृति आदि सद्ग्रन्थोंको पढ़ना, सुनना और उनमें वर्णित ज्ञानको ग्रहण करना।

२—ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार शुद्ध आचरण करना।

३—ऋषियोंके बनाये हुए आश्रम-धर्मके विधानपर चलना। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासका यथाविधि आचरण करना।

४—ऋषियोंके दिव्य उपदेशका जगत्‌में प्रचार हो, इसके लिये स्वयं उनके उपदेशानुसार आचरण करते हुए विश्वमें उसका प्रचार करना।

५—तर्पण-दानादिसे ऋषियोंको तृप्त करना।

देवयज्ञ

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(३।१०—१२)

'प्रजापतिने कल्पके आदिमें यज्ञके साथ ही प्रजाको रचकर कहा कि इस यज्ञद्वारा (देवताओंको प्रसन्न करके तुम) अपनी उन्नति करो। यह यज्ञ तुम्हें इच्छित फल देनेवाला हो। इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंकी उन्नति करो और देवता (अपनी शक्तिसे) तुम्हारी उन्नति करें। यों परस्पर उन्नति करते हुए तुम परम श्रेय (मोक्ष)-को प्राप्त होओगे। यज्ञके द्वारा उन्नत (और शक्तिसंवर्धित)

देवता तुम्हें (बिना ही माँगे) इच्छित प्रिय पदार्थोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए पदार्थोंको जो मनुष्य उन्हें बिना ही दिये स्वयं भोगता है, वह निश्चय ही चोर है।'

इससे देवयज्ञकी सार्थकता और आवश्यकता सिद्ध हो गयी। देवयज्ञसे इस लोकमें समस्त सुख और भगवदाज्ञानुसार निष्कामबुद्धिसे करनेपर परम कल्याण—मोक्षकी प्राप्ति होती है। देवताओंकी प्रसन्नतासे लोककल्याण तो आप ही होता है।

देवताओंके दो स्वरूप हैं—एक देवलोकमें रहनेवाले शरीरधारी देव; दूसरा चन्द्र, सूर्य, जल, अग्नि, वायु, पृथिवी, विद्युत् आदिके रूपमें रहे हुए, तथा पशु-पक्षी आदि जीवोंके अधिष्ठातृ देवता। इन देवताओंकी जितनी उन्नति होगी, इनका कार्य जितना व्यवस्थित और सुचारुरूपसे होगा, उतना ही विश्वको सुख होगा। अब भी सच पूछा जाय तो देवताओंने अपने कर्तव्यको प्राय: नहीं छोड़ा है, वे अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ हैं; परंतु हमलोगोंने देवयज्ञको छोड़कर अपनी शर्त तोड़ दी, इसीलिये दैविक दुर्घटनाएँ आजकल जगत्में विशेष हो रही हैं। इसका कारण यही है कि देवताओंकी क्रियाओंमें हमारे दोषसे कहीं-कहीं गड़बड़ी आ जानेसे अधिदैव जगत्में अस्तव्यस्तता आ गयी है, उसीके फलस्वरूप अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, संक्रामक रोग आदि होते हैं। इसीका दूसरा नाम 'दैवीकोप' है।

सृष्टिकार्यके संचालनमें सबका भाग है। जगन्नाटकके सूत्रधारने प्रत्येक प्राणीको अलग-अलग पार्ट दे रखा है, एक भी पार्टके खराब होने या न होनेसे मालिकके खेलमें गड़बड़ी आ जाती है। इसीलिये सब ओर व्यवस्था रखनेका विधान है और शास्त्रोंकी रचना हुई है। मनुष्योंने अपना कर्तव्य छोड़ दिया, इसीलिये जगत्का खेल कुछ खराब-सा दीखने लगा और मनुष्योंपर विपत्तियाँ आने लगीं। खेल बिगाड़नेवाले अभिनेतापर नाटक-मण्डलीके स्वामीका कोप होना और उसे दण्ड प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। यह ऐसी संगठित व्यवस्था है कि ईश्वर-आज्ञानुसार अच्छेका फल अच्छा और बुरेका बुरा अपने-आप ही हो जाता है।

भगवान् कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३। १४—१६)

'अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है। कर्म ब्रह्म (वेद)-से उत्पन्न होता है, ब्रह्म (वेद) अक्षर अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न है। इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा सदा-सर्वदा यज्ञमें स्थित रहता है। हे पार्थ! जो इस लोकमें इस प्रकार चलते हुए सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता (यज्ञ नहीं करता), वह इन्द्रियोंके सुख-भोगमें लगा रहनेवाला (कर्तव्यहीन) पापात्मा मनुष्य व्यर्थ ही जीता है।'

चक्रमें कहीं जरा-सी अस्तव्यस्तता हुई कि सारे रथकी गतिमें गड़बड़ी हो जाती है, इसीलिये देवयज्ञ अत्यन्त आवश्यक है। देवयज्ञ यह है—

(१) देवताओंके लिये शास्त्रविधिके अनुसार होम करना। हवनसे केवल वायुशुद्धि ही नहीं होती, बल्कि दैवजगत्से जो हमारा नित्य-सम्बन्ध है वह और भी दृढ़ होता है और देवताओंकी प्रसन्नतासे हमारे विघ्नबाधाओंके नाश और इच्छित सुख-भोगकी प्राप्तिमें विशेष सुगमता हो जाती है। होम यज्ञका एक प्रधान रूप है।

(२) शास्त्र-निर्णीत समयोंपर विभिन्न देवताओंकी निष्काम उपासना करना।

(३) देव-मन्दिरोंकी स्थापना और यथाविधि देव-पूजा करना।

(४) तर्पण-दानादिसे देवताओंको संतुष्ट करना।

(५) समस्त भूतप्राणियोंके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करके, एवं जल, वायु, अग्नि, विद्युत् आदिको पवित्र, क्रियाशील रख उनका यथायोग्य सदुपयोग करके सबके अधिष्ठातृ देवताओंको प्रसन्न और समुन्नत करना।

पितृयज्ञ

मनु महाराजने 'तर्पण' को पितृयज्ञ बतलाया है। तर्पणमें तृप्तिका भाव है। इसका प्रधान उद्देश्य है पितरोंको तृप्त करना। उनके तृप्त होनेसे उनके आशीर्वादद्वारा हमारी सुख-समृद्धिकी अपने-आप ही वृद्धि होती है। पितृयज्ञ यह है—

(१) जीवित माता-पिता और गुरुजनादिके चरणोंमें नित्य श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम करना, उनकी सेवा करना;

अन्न, धन एवं आवश्यक पदार्थोंद्वारा उनके इच्छानुसार उन्हें तृप्त करना। उनका सच्चे हृदयसे हित चाहना और करना एवं उनकी शास्त्रसे अविरुद्ध सभी आज्ञाओंको स्वार्थ छोड़कर आदरपूर्वक पालन करना।

(२) परलोकगत पितरोंके लिये नित्य श्राद्ध और तर्पण करना एवं उनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका उनके अर्थ योग्य पात्रको दान करना।

(३) सदाचारपरायण रहकर परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाना; उनके आत्माकी शान्तिके लिये ब्राह्मणभोजन, व्रत, जप, तप, हवन आदि करना-कराना, भगवान्‌की भक्ति करके उन्हें और भी ऊँची गति अथवा मोक्षकी प्राप्ति करानेके लिये प्रयत्न करना। परलोकगत पितर सदाचारी, हरिभक्त संतानसे बहुत आशा रखते हैं और ऐसे संतानको देखकर वे अत्यन्त ही प्रसन्न होते हैं। यहाँतक कि हर्षके मारे वे नाच उठते हैं। शास्त्रमें कहा है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

कथा प्रसिद्ध है कि प्रह्लादकी भक्तिसे उसके पितृकुलका उद्धार हो गया था!

(४) हरिनाम-संकीर्तनके द्वारा परलोकगत पितरोंके कष्टोंका हरण करना। यह अनुभवसिद्ध प्रयोग है।

(५) सदाचार, सेवा, सद्व्यवहार और दानादिके द्वारा जगत्‌में अपने पितरोंकी कीर्ति फैलाना।

एक बात याद रखनेकी है कि हम जो आज मनुष्य-शरीरको प्राप्त हैं सो पहले भी सदासे मनुष्य ही थे ऐसी बात नहीं है; जितनी प्रकारकी योनियाँ भगवान्‌ने रची हैं, प्रायः सभी योनियोंमें हम उत्पन्न हो चुके हैं, और उन सभी योनियोंके हमारे माता-पिता आदि अब भी (जो मुक्त न हो गये हैं) विश्वमें कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी योनि और स्थितिमें वर्तमान हैं। अतः इस न्यायसे भी हमारा सबके साथ आत्मीय सम्बन्ध है। इसीलिये सबकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध और तर्पणका विधान है। विष्णुपुराणमें कहा है कि तर्पणके समय पितरोंका तर्पण करके इस प्रकार कहता हुआ मनुष्य सब भूतोंकी तृप्तिके लिये सबको जल दे—

'देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर और वायुभक्षक सर्प आदि सभी प्रकारके जीव मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों। जो प्राणी सम्पूर्ण नरकोंमें नाना प्रकारकी यातनाएँ भोग रहे हैं, उनकी तृप्तिके लिये मैं जल-दान करता हूँ। जो मेरे बन्धु हैं या अबन्धु हैं अथवा जो दूसरे जन्मोंमें मेरे बन्धु थे एवं और भी जो-जो मुझसे जलकी इच्छा रखते हैं वे सब मेरे दिये जलसे तृप्त हों। भूख-प्याससे व्याकुल जीव कहीं भी क्यों न हों; मेरा दिया हुआ यह तिलोदक उनकी सदा तृप्ति करता रहे।' (विष्णुपुराण ३। ११। ३२—३७)

देखनेमें यह बहुत ही उदार भावना है; और उदार भावना है भी! परंतु वास्तवमें यह कर्तव्य ही है। सृष्टियज्ञके संचालनार्थ भगवान्‌के आज्ञानुसार सबकी उन्नति करनेमें ही अपनी उन्नति है। विश्वमात्रके समस्त प्राणियोंको तृप्त करना ही तर्पणका उद्देश्य है।

मनुष्ययज्ञ

मनुष्यका कार्य मनुष्यसे ही चलता है, अतएव प्रत्येक मनुष्यको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार मनुष्यमात्रकी सेवा करनी चाहिये। वह इस प्रकार हो सकती है—

(१) अपने आश्रित जनोंका आदरपूर्वक पालन-पोषण करना।

(२) रोगियोंकी आदर-सत्कार और सावधानीसे सेवा करना।

(३) किसी भी मनुष्यको दुःख न पहुँचाकर यथासाध्य अन्न, वस्त्र, सत्परामर्श, सद्विद्या और सद्व्यवहार आदिसे सबको सुख पहुँचाना। यथासाध्य सेवा करवानेकी इच्छा न रखकर सेवा करनेकी इच्छा रखना और यत्न करना। इतनेपर भी दूसरोंसे सेवा तो करानी ही पड़ेगी, क्योंकि जीवन-निर्वाहमें इससे बचनेकी गुंजाइश ही नहीं है।

(४) अपने सदाचरण, उत्तम बर्ताव और भगवद्भक्तिसे दूसरे मनुष्योंके लिये उत्तम आदर्श उपस्थित करना।

(५) सदा निष्कामभावसे सबके हितमें संलग्न रहना।

इसमें जिससे जितना अधिक कार्य हो सके, उतना ही करना और अधिकाधिक करनेकी चेष्टा करते रहना। अपनेको मनुष्य-जातिका सेवक मानकर कहीं गर्वमें नहीं फूल उठना चाहिये। वास्तवमें एक मनुष्य असंख्य मनुष्योंसे जितनी सेवा ग्रहण करता है, अकेला उन सबका बदला कभी चुका ही नहीं सकता। अतएव

जितनी सेवा हो सके उतनीको ही थोड़ी समझे और सेवा करनेका अवसर भगवान्‌ने दिया इसके लिये भगवान्‌की कृपा समझे, एवं सेवा करानेवालोंने हमारी तुच्छ सेवा स्वीकार की इसके लिये उनका उपकार मानकर कृतज्ञ हृदयसे सदा विनम्र रहता हुआ सेवामें लगा ही रहे। शास्त्रकारोंने सबके सुभीतेके लिये केवल अतिथि-सेवनको ही मनुष्ययज्ञमें बतलाया है, अतएव अतिथि-पूजन तो अवश्य ही करे। धन और अन्न पैदा करना, रसोई बनाना आदि सभी कार्य यज्ञरूप हैं। रसोईमें जो कुछ बने, उससे पहले बलिवैश्वदेवके द्वारा सबके लिये भाग निकालकर फिर अतिथिको सादर भोजन कराना चाहिये। '**अतिथिदेवो भव**' यह श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है। पाराशर-स्मृतिमें कहा है—

वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति च॥
पापो वा यदि चाण्डालो विप्रघ्नपितृघातकः।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

(१।५७-५८)

'जो वैश्वदेव नहीं करते तथा अतिथिका सत्कार नहीं करते, वे सब नरकोंमें पड़ते हैं और फिर कौएकी योनिको प्राप्त होते हैं। वैश्वदेवके समय आनेवाला चाहे पापी हो, चाण्डाल हो, ब्रह्महत्यारा हो या अपने पिताको मारनेवाला ही क्यों न हो वह अतिथि है और उसका सत्कार करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।' मतलब यह कि रसोई बननेके बाद बलिवैश्वदेव होनेपर कोई भी आ जाय, अन्न देकर उसका सत्कार अवश्य करना चाहिये।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि 'वैश्वदेव करनेके बाद गौ दुहनेमें जितना समय लगता है उतने समयतक अथवा इससे भी अधिक देरतक अतिथिकी बाट देखता हुआ आँगनमें खड़ा रहे। अतिथि आ जाय तो उसका स्वागत करे, आसन दे और चरण धोकर सत्कार करे। फिर श्रद्धापूर्वक उसे भोजन करवाकर मीठी वाणीसे कुशल-प्रश्न पूछता हुआ उसके जानेके समय कुछ दूरतक पीछे-पीछे जाकर उसको प्रसन्न करे। जिसके कुल और नामका कोई पता न हो तथा जो दूर देशसे आया हो, उसीको अतिथि माने, गाँवमें रहनेवाले परिचितको नहीं। (परिचित और सम्बन्धीका तो सत्कार करना ही चाहिये) परंतु जिसके पास कोई सामग्री न हो, जिससे कोई सम्बन्ध न हो, जिसके कुल-शीलका कोई पता न हो और जो भोजन करना चाहता हो ऐसे अतिथिका सत्कार किये बिना भोजन करनेवाला मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है। गृहस्थको चाहिये कि अतिथिके अध्ययन, गोत्र, आचरण और कुल आदिके विषयमें कुछ भी पूछताछ न कर हिरण्यगर्भ-भगवान्‌की बुद्धिसे उसकी पूजा करे। जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है उसे वह अपना पाप देकर उसके शुभ कर्मोंका हरण करके ले जाता है। धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसु और अर्यमा ये समस्त देव और पितर अतिथिमें प्रविष्ट होकर अन्न-भोजन करते हैं। अतएव मनुष्यको अतिथिपूजनके लिये सदा चेष्टा करनी चाहिये। जो पुरुष अतिथिको भोजन न देकर स्वयं भोजन करता है वह केवल पाप ही खाता है—

स केवलमघं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यतिथिं विना।

तदनन्तर नैहरमें आयी हुई विवाहिता कन्या, दुखिया, गर्भिणी स्त्री, वृद्ध और बालकोंको संस्कृत अन्नसे भोजन कराकर अन्तमें गृहस्थ स्वयं भोजन करे। इन सबको भोजन कराये बिना ही जो स्वयं भोजन कर लेता है, वह पापमय भोजन करता है और अन्तमें मरकर नरकमें श्लेष्मभोजी कीड़ा होता है। (विष्णुपुराण ३।११।८ से ६३, ६८ से ७२)

इसी प्रकार मनु महाराजके भी वचन हैं—

सायंकाल सूर्यास्त हो जानेपर या बलिवैश्वदेवके समय यदि अतिथि घरपर आ जाय तो उसे वापस न करे। घरमें टिकाकर भोजन करावे। घी, दूध, दही आदि जो पदार्थ अतिथिको नहीं खिलाया गया हो उसे स्वयं भी न खाय। अतिथिकी सेवा करनेसे धन, कीर्ति, आयु और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अन्यान्य मित्र, सम्बन्धी आदि घरपर आ जायँ तो यथाशक्ति उनको भी, स्वयं अपनी स्त्रीसहित सेवामें उपस्थित रहकर उत्तम भोजन करावे। सुवासिनी स्त्री, कुमारी कन्या, रोगी और गर्भिणी स्त्रीको अतिथियोंके पहले भोजन करानेमें कोई विचार न करे। जो मूर्ख इन सबको खिलाये बिना ही स्वयं पहले खा लेता है वह इस बातको नहीं जानता कि मरनेके बाद मेरे शरीरको कुत्ते और गीध नोच-नोचकर खायेंगे। ब्राह्मण, अतिथि, सम्बन्धी और माता-पितासे लेकर नौकरतक पोष्यवर्ग आदिको भोजन करानेके बाद बची हुई रसोईको पति-

पत्नी भोजन करें। देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घरके देवताओंका (अन्नके द्वारा) पूजन करके पीछे गृहस्थ उनसे बचा हुआ अन्न खाय। जो मनुष्य पंचमहायज्ञ न करके केवल अपना पेट भरनेके लिये भोजन तैयार करता है वह केवल पाप ही खाता है; क्योंकि यज्ञसे बचा हुआ अन्न ही सत्पुरुषोंको भोजन करना चाहिये, यही शास्त्रविधि है। (मनुस्मृति ३। १०५-१०६, ११३—११८)

इस प्रकार नित्य स्वयं अतिथिसेवन करे। परंतु जहाँतक हो सके किसीका अतिथि बने नहीं। नहीं तो, मुफ्तखोरीकी आदत पड़ जायगी और लोगोंकी श्रद्धा अतिथि-सेवासे हट जायगी। आजकल प्रायः ऐसा ही हो रहा है। मनु महाराज तो कहते हैं—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥

(३। १०४)

पराये भोजनका दोष न जाननेवाले जो गृहस्थ दूसरेके घर अतिथि बनकर भोजन करते हैं, वे मरकर भोजन करानेवालोंके घर पशु होते हैं।

भूतयज्ञ

जगत्‌में जितने प्राणी हैं, सभी श्रीपरमात्माके स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र आदि समस्त भूत भगवान् श्रीहरिके शरीर ही हैं; अतः सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे।' एकान्त-भक्तोंके लिये तो भगवान् अपने भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(११। २९। १६)

'कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गदहेको भी (मेरा स्वरूप समझकर) पृथ्वीपर गिरकर साष्टांग प्रणाम करे।'

इस प्रकार भगवत्स्वरूप होनेसे सभी प्राणी पूज्य और सेवाके पात्र हैं। जहाँतक हो सके यथायोग्य व्यवहार करते हुए सबके साथ उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करना चाहिये। मनुष्यके लिये प्राणियोंकी बहुत बड़ी हिंसा होती है। मनुष्यके श्वाससे नित्य न मालूम कितने जीव मारे जाते हैं। खेती आदिमें तो हिंसा होती ही है। इसके सिवा बड़े दुःखकी बात तो यह है कि मनुष्य अपने पापी पेटको भरने और जीभके स्वादके लिये मूक पशु-पक्षियोंको मारकर उनका मांस खाते हैं। यह बहुत बुरी बात है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥

(११। ५। १४)

'यथार्थ तात्पर्यको न जाननेवाले जो लोग अति गर्व और पाण्डित्याभिमानके कारण पशुओंसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते हैं।' किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचाना सबके आत्मारूप परमात्मासे ही द्रोह करना है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥

(११। ५। १५)

'इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर और एक दिन अवश्य ही छूट जानेवाले धनमें स्नेह करके जो मनुष्य दूसरे शरीरोंमें स्थित अपने ही आत्मा श्रीहरिसे द्वेष करते हैं, वे अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

अतएव मांसाहार बिलकुल छोड़ देना चाहिये और यथासाध्य समस्त जीवोंको सुख पहुँचाने और उनका हित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अन्न और रसोईमेंसे प्रतिदिन गौ, बैल, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, कबूतर, कौए आदि पशु-पक्षियोंको पहले देना चाहिये। घरमें इनका रहना परोक्षरूपसे बड़ा लाभदायक है। इस लाभको हमलोग समझ नहीं सकते, इसीसे उनकी कद्र नहीं करते। अतएव इनका स्वत्व इन्हें देना ही चाहिये। इसके सिवा, हम न मालूम कितनी बार पशु-पक्षी हो चुके हैं, और यदि मुक्त नहीं होंगे तो कितनी बार फिर भी होना पड़ेगा। इस अवस्थामें यदि हम इन्हें अन्न-जलादि देकर सुखी रखेंगे तो वैसी योनि प्राप्त होनेपर हम भी वैसी ही आशा रख सकते हैं। यदि यह प्रथा चल जायगी कि पशु-पक्षियोंको कुछ भी न दिया जाय तो घरमेंसे धर्म तो उठ ही जायगा, साथ ही जब हम उस योनिमें जायँगे तो हमें भी अभावका दुःख उठाना पड़ेगा। यदि इसके

बदलेमें पशु-पक्षियोंको उदारतासे अन्नादि दिये जानेकी प्रथा सुचारुरूपसे चल जाय तो उक्त योनियोंमें जानेवाले आजके सभी मनुष्योंके लिये सुखकी आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सर्वभूतस्थित ईश्वरकी सेवा तो होती ही है। और यदि ईश्वरकी सेवाके भावसे किसी प्रकारकी भी कामना न रखकर सब जीवोंकी सेवा की जाय तो उसको फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अतएव यथासाध्य समस्त भूत-प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये। गौ, कुत्ते, बिल्ली, कबूतर, कौए, चींटी आदि सबको यथासाध्य अन्न-जल देना चाहिये। एवं रसोई बननेपर बलिवैश्वदेवमें सबके लिये बलि देनी चाहिये। विष्णुपुराणमें कहा है—

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओंमें क्रमशः इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्रमाके लिये हुतशिष्ट सामग्रीसे बलि दे। पूर्व और उत्तर दिशाओंमें धन्वन्तरिके लिये बलि दे तथा इसके अनन्तर बलिवैश्वदेव-कर्म करे। बलिवैश्वदेवके समय वायव्यकोणमें वायुको तथा अन्य सम्पूर्ण दिशाओंमें वायु एवं उन दिशाओंको बलि दे। इसी प्रकार ब्रह्मा, अन्तरिक्ष और सूर्यको भी उनकी दिशाओंके अनुसार बलि दे। फिर विश्वदेवों, विश्वभूतों, विश्वपतियों, पितरों और यक्षोंके लिये यथास्थान बलि-प्रदान करे।'

'तदनन्तर बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार कहकर समस्त प्राणियोंको बलि दे—'देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष तथा चींटी, कीट-पतंग आदि जो कर्म-बन्धनसे बँधे हुए क्षुधातुर होकर मेरे दिये हुए अन्नकी इच्छा करते हैं, उन सबके लिये मैं यह अन्नदान करता हूँ, वे इससे तृप्त और सुखी हों। जिनके माता, पिता अथवा कोई भी और बन्धु नहीं है तथा अन्न बनानेका साधन एवं अन्न भी नहीं है, उनकी तृप्तिके लिये मैंने पृथ्वीपर यह अन्न रखा है, इससे वे तृप्त होकर सुखी हों। सम्पूर्ण प्राणी, यह अन्न और मैं—सभी विष्णु हैं; क्योंकि विष्णुसे भिन्न और कुछ है ही नहीं। अतः मैं समस्त भूत-प्राणियोंको यह अन्न उनके पोषणके लिये दान करता हूँ। यह जो चौदह प्रकारका (सिद्ध, गुह्यक, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, विद्याधर, पिशाच, सरीसृप, वानर, पशु, मृग, पक्षी और मनुष्य) भूतसमुदाय है, उसमें जितने भी प्राणी हैं उन सबकी तृप्तिके लिये मैंने यह अन्न प्रस्तुत किया है, इससे वे प्रसन्न हों।' इस प्रकार कहकर गृहस्थ पुरुष श्रद्धापूर्वक समस्त जीवोंके उपकारके लिये पृथ्वीमें अन्न-दान करे, क्योंकि गृहस्थ ही सबका आश्रय है। तदनन्तर कुत्ता, चाण्डाल, पक्षी एवं अन्यान्य जो कोई पतित और पुत्रहीन पुरुष हों उनको अन्न देकर तृप्त करे।' (श्रीविष्णुपुराण[१] ३। ११। ४६ से ५७)

शास्त्रकी ऐसी आज्ञाओंका अनुसरण कर हमलोगोंको पशु-पक्षियोंके साथ परम आत्मीयताका बर्ताव करना चाहिये। भूत-यज्ञके लिये ये कार्य करने उचित हैं—

(१) नियमित बलिवैश्वदेव[२] प्रतिदिन करना।

(२) यथासाध्य गौ, कुत्ते, बिल्ली, चींटी, कौए, कबूतर आदिको अन्न-जल देना।

(३) किसी भी प्राणीको कष्ट न देना। मांसाहारके विरुद्ध प्रचार करना। गो-हिंसा एवं अन्य पशुपक्षी-हिंसा बंद करानेमें सहायता करना। बैल, भैंसे आदिको निर्दयतापूर्वक दिये जानेवाले कष्टोंसे बचाना।

(४) जिसमें प्राणिहिंसा होती हो, ऐसे खाद्यपदार्थ, दवा, कपड़े, जूते आदिका व्यवहार न करना।

(५) सभी जीवोंको आत्मवत् समझकर सबके साथ सद्व्यवहार करना।

इस प्रकारसे पंचमहायज्ञका अनुष्ठान प्रतिदिन सबको करना चाहिये।

श्रीभगवान् कहते हैं—

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१७।५०)

'गृहस्थको चाहिये कि वेदाध्ययन (ऋषियज्ञ), स्वधा (पितृयज्ञ), स्वाहा (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) और अन्नदान (मनुष्ययज्ञ) आदिके द्वारा मेरे ही रूप देव, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य समस्त प्राणियोंका यथाविधि पूजन करता रहे।' और—

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥

(श्रीमद्भा० ११।१७।५१)

'आप ही प्राप्त हुए अथवा शुद्ध वृत्तिके द्वारा सत्य

१- श्रीविष्णुपुराण हिंदी-अनुवादसहित गीताप्रेससे प्रकाशित है।
२- 'बलिवैश्वदेव' की विधिका छपा हुआ पन्ना गीताप्रेसमें मिलता है।

और न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर यज्ञादि कर्म करता रहे।' परंतु इतनी सावधानी जरूर रखे कि—

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। ५२)

'अपने कुटुम्ब या किसीमें आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होकर प्रमादवश भगवान्‌के भजनको कभी न भुलावे। बुद्धिमान् विवेकी पुरुषको चाहिये कि इस दृश्य-प्रपंचके समान अदृश्य स्वर्गादिको भी नाशवान् ही जाने।' और हृदयसे सदा भगवद्भजन करता हुआ भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही सब कर्म करे। भगवत्प्रीत्यर्थ होनेवाले कर्मका नाम ही यज्ञ है और इसीका नाम कर्मयोग है।

साध्य और साधन

१—सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही अपने स्वरूपके ज्ञाता हैं, वे अनिर्वचनीय हैं, अनुभवगम्य हैं।

२—भगवान् ही सब कुछ हैं, भगवान् ही सब रूपोंमें भासते हैं। भगवान् ही अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब रूपोंमें परिणत हैं, भगवान्‌मेंसे ही सबकी उत्पत्ति है, उन्हींमें सबका निवास है, उन्हींमें सब लय होते हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलयके आधार, निवास और कर्ता वही हैं। वे सत् हैं, सत्-असत् हैं, सत्-असत् दोनोंसे परे हैं। सब कुछ उनमें है, वे सब कुछमें हैं, 'सब कुछ' कुछ नहीं है, केवल वे ही हैं। ये सभी बातें अपनी-अपनी सीमामें सत्य हैं। इतनेपर भी भगवान् इन सबसे विलक्षण हैं। जितना भी परमात्माके स्वरूपका वर्णन होता है, सब शाखा-चन्द्रन्यायसे उनका लक्ष्य करानेके लिये ही है।

३—भगवान् सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्वशिरोमणि, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वरूप, सर्वगुणनिधि, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, शिव, सुन्दर, गुणातीत और कालातीत हैं। वे निर्गुण हैं, सगुण हैं, निराकार हैं, साकार हैं, दोनोंसे परे हैं, उनमें सब कुछ सम्भव है। अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर देना उनकी लीलामात्र है। वे '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' समर्थ हैं।

४—वे एकदेशीय, एककालीन न होते हुए ही अवतार लेते हैं, प्रकट होते हैं, भक्तको उसके इच्छानुसार दिव्य साकार दिव्य विग्रहमें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। यह सर्वथा सत्य है। वे परम दयालु, परम सुहृद्, परम न्यायकारी, परम पिता, स्नेहमयी माता, स्वामी, सखा सब हैं। वे पतितपावन, दीनबन्धु, अशरण-शरण, भक्तवत्सल हैं, इसीलिये अपना दिव्य साकाररूप प्रकट करते हैं। वे सम, उदासीन, पक्षपातहीन, सबके आश्रय, शुभ-प्रेरक, अशुभबाधक, रक्षक, योगक्षेमवाहक, शरणागतवत्सल, प्रेममय और पावनकर्ता हैं।

५—उनको प्राप्त करनेके अनेक मार्ग हैं, अपने-अपने अधिकारके अनुसार मार्गोंका अनुसरण होता है। अनेकों नाम-रूपोंसे आख्यात भगवान् वास्तवमें एक ही हैं, उनको पानेके मार्ग भिन्न हैं। जैसे भगवान्‌की एकतामें कभी द्वैत नहीं हो सकता, ऐसे ही सभी मार्गोंकी कभी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्य-स्थान एक है, परंतु वहाँ पहुँचनेके पथ सदा ही अलग-अलग रहेंगे।

६—अपनी-अपनी दिशासे अपने पथपर चलकर सबको भगवान्‌की ओर बढ़ना चाहिये। मनुष्य-जीवनका यही परम और चरम उद्देश्य है।

७—जो इस उद्देश्य-सिद्धिमें लगे हैं वही बुद्धिमान् हैं, शेष सब लोग भूलमें हैं। इस भूलका परिणाम महान् दुःखदायी होगा।

८—ईश्वरके न होनेकी बात करना और सुनना वस्तुतः महापाप है। इस महापापसे सबको सदा बड़ी सावधानीसे बचना चाहिये।

९—'ईश्वर है' यह विश्वास दृढ़ और पूर्ण होनेपर सारे दोष आप ही मिट जायँगे और सदाके लिये परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर-कृपापर भरोसा करनेसे ही ईश्वरमें विश्वास होगा।

१०—इसके लिये संत-महात्माओं और शास्त्रोंकी वाणीका विश्वासपूर्वक श्रवण, मनन करना चाहिये तथा शरणागत होकर भगवान्‌से आर्त प्रार्थना करनी चाहिये।

११—भगवान्‌के नामका जप प्रेमसहित सदा करते रहना चाहिये। जीवन बीता जा रहा है। यह व्यर्थ चला जायगा तो फिर पछतावेका पार नहीं रहेगा।

धर्मरक्षाके लिये भगवदाश्रयकी आवश्यकता

धर्म नित्य है। ईश्वरकी सृष्टिमें धर्मका कभी विनाश नहीं हो सकता। धर्मका नाश नहीं, परंतु धर्मपर चलनेवाले लोगोंकी ही न्यूनाधिकता हुआ करती है। जब धर्मपर आरूढ़ मनुष्योंकी संख्या बढ़ती है, तब धर्मकी उन्नति कहलाती है और जब उनकी संख्या कम हो जाती है या बहुत घट जाती है, तब उसे धर्मका ह्रास या नाश कहते हैं। इसलिये धर्मरक्षाका अर्थ धार्मिक मनुष्योंकी रक्षा और वृद्धि ही है। जब युगप्रभाव, कुसंगति, कुसंस्कार, राज्यदोष आदि एक या अनेक कारणोंसे जगत्‌में अनाचार बढ़ जाता है, तब धर्म और धार्मिकोंका विरोध ही उन्नतिका स्वरूप समझा जाने लगता है। ईश्वर और धर्मके विनाशकी व्यर्थ चेष्टा ही उस समयके विषय-विलास-विमोहित, काम-भोगपरायण मनुष्योंकी जीवनचर्या बन जाती है। वे बुद्धिमें विपर्यय हो जानेके कारण अपनी समझसे बड़ी अच्छी नीयतसे ही ऐसा किया करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका विरोध करने, उनके लिये मानवी दण्डकी व्यवस्था करने अथवा श्रद्धा और साधनासे उपलब्ध होनेवाले तत्त्वको उन्हें समझानेकी चेष्टासे काम नहीं चलता। जबतक उनकी समझमें परिवर्तन नहीं होगा, तबतक वे अपनी चाल कदापि नहीं छोड़ेंगे और त्याग, तप आदि उत्तम एवं छल-बल-कौशलादि मध्यम एवं अधम उपायोंसे अपने कार्यको जारी रखना ही कर्तव्य समझेंगे। इस स्थितिमें उनकी बुद्धिके पलटनेका एकमात्र उपाय है तो वह श्रद्धायुक्त धार्मिक पुरुषोंद्वारा किया जानेवाला भगवदाराधन ही है। प्राचीन कालमें ऋषिगण प्रायः यही किया करते थे और सफल होते थे।

आज जगत्‌में अनाचारकी वृद्धि हो रही है और धर्मविरोधी लोगोंकी संख्या क्रमशः बढ़ी चली जा रही है। आजके अधिकांश शिक्षालय, उपदेशक और पथप्रदर्शक लोग मनुष्योंको यही शिक्षा देना और इसी मार्गपर चलाना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसीसे आज धर्मका नाश या ह्रास हो चला है, परंतु इसका वास्तविक प्रतीकार जिस भगवदाराधनसे ही हो सकता है, उससे लोग उदासीन-से होते चले जाते हैं और उन्हीं छल, बल, कौशलादि उपायोंका आश्रय लेते हैं कि जिनमें स्वाभाविक ही वे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंकी बराबरी नहीं कर सकते। इसीसे सफलता भी प्रायः नहीं मिलती। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि धर्मरक्षाके लिये यत्न नहीं किया जाय, जो लोग धर्मरक्षाके लिये शास्त्रविहित निर्दोष उपायोंका अवलम्बन करते हैं और स्वार्थत्यागपूर्वक यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं वे सर्वथा आदरणीय और स्तुत्य हैं। इस धर्म-विरोधी वातावरणमें उनका यह सत्साहस और धर्मका आग्रह सर्वथा आदर्श है और प्रत्येक धार्मिक नर-नारीको तन, मन, धनसे यथाशक्ति इस धर्मरक्षाके कार्यमें जी खोलकर सहायता करनी चाहिये। अधर्म चाहे एक बार युगप्रभाव आदि कारणोंसे बढ़ता हुआ नजर आये, परंतु अन्तमें धर्मकी जय निश्चित है। इतना होनेपर भी मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार बिना भगवदाश्रय और भगवदाराधनके वास्तविक सफलता शीघ्र नहीं मिल सकती। भगवदाश्रयरहित धर्म, यथार्थमें धर्म ही नहीं है। अतएव धर्मरक्षाके लिये प्रत्येक धर्मप्रेमी व्यक्तिको भगवान्‌का ही प्रधान सहारा लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवदाराधन करते हुए ही धर्मरक्षाके लिये अन्यान्य उपायोंसे प्रयत्न करना चाहिये, तभी शीघ्र और पूर्ण सफलता होगी।

पाँच दिशाएँ

भगवान् बुद्धका सृगाल नामक एक शिष्य प्रतिदिन स्नान करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे—इन छहों दिशाओंको प्रणाम किया करता था। एक दिन भगवान्‌ने कृपा करके उसे इन दिशाओंकी पूजाका रहस्य इस प्रकार समझाया—

माता-पिताको पूर्व दिशा समझना, गुरुको दक्षिण दिशा, पत्नीको पश्चिम, मित्र-बान्धवोंको उत्तर, सेवकोंको नीचेकी और साधु-ब्राह्मणोंको ऊपरकी दिशा समझना।

पूर्व दिशा अर्थात् माता-पिताकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उनके काम करना, २—भरण-पोषण करना, ३—कुलमें प्रचलित सत्कार्योंको चालू रखना, ४—उनकी सम्पत्तिका हिस्सेदार बनना और ५—मरनेपर

उनके नामसे दान-धर्म करना। इन पाँच अंगोंके द्वारा पूजित माता-पिता संतानपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—उसको पापसे बचाते हैं, २—कल्याणकारी मार्गपर ले जाते हैं, ३—कला-कौशल सिखलाते हैं, ४—योग्य पत्नीके साथ उसका विवाह कर देते हैं और ५—उपयुक्त समयपर अपनी सम्पत्ति सौंप देते हैं।

दक्षिण दिशा अर्थात् गुरुकी पूजाके पाँच प्रकार हैं—१—गुरुके समीप आनेपर उठकर खड़े हो जाना, २—बीमार पड़नेपर उनकी सेवा करना, ३—उनकी दी हुई शिक्षाको श्रद्धापूर्वक समझ लेना, ४—उनके काम करना और ५—वे जो विद्या-दान करें उसे उत्तम रीतिसे ग्रहण करना। इन पाँच प्रकारोंसे पूजित गुरु अपने उस शिष्यपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं। १—सदाचार सिखाते हैं, २—उत्तम रूपसे विद्या-दान करते हैं, ३—अपनी सीखी हुई सम्पूर्ण विद्या सिखा देते हैं, ४—अपने आत्मीयस्वजनोंमें उसका गुण वर्णन करते हैं और ५—शिष्यको कहीं भी खान-पानकी अड़चन न भोगनी पड़े, इसकी व्यवस्था करते हैं।

पश्चिम दिशा अर्थात् पत्नीकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उसका सम्मान करना, २—अपमान न होने देना, ३—एकपत्नीव्रतका पालन करना, ४—घरका कारोबार उसे सौंप देना और ५—वस्त्रालंकारकी कमी न होने देना। इन पाँच अंगोंसे पूजित पत्नी पतिपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करती है। १—घरमें सुव्यवस्था रखती है, २—नौकर-चाकरोंकी प्रेमसे सँभाल करती है, ३—पतिव्रता होती है, ४—पतिसे प्राप्त की हुई सम्पत्तिकी रक्षा करती है और ५—समस्त गृहकार्योंमें तत्पर रहती है।

उत्तर दिशा अर्थात् मित्रमण्डलकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उन्हें प्रदान करनेयोग्य वस्तु देना, २—उनके साथ मीठा बोलना, ३—उनके उपयोगी बनना, ४—उनके साथ समताका बर्ताव करना और ५—निष्कपट व्यवहार करना। इन पाँच अंगोंसे पूजित मित्रमण्डल पाँच प्रकारसे अनुग्रह करता है। १—अचानक संकट आ पड़नेपर उसकी रक्षा करते हैं, २—ऐसे अवसरपर उसकी सम्पत्तिकी भी रक्षा करते हैं, ३—संकटमें घबरा जानेपर उसे धीरज देते हैं, ४—विपत्तिकालमें छोड़कर नहीं जाते और ५—उसके बाद उसकी संततिका भी उपकार करते हैं।

नीचेकी दिशा अर्थात् सेवकोंकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उनकी शक्ति देखकर तदनुसार काम देना, २—पर्याप्त वेतन देना, ३—बीमार पड़नेपर देख-भाल करना, ४—उत्तम भोजन देना और ५—समय-समयपर उत्तम कामके बदलेमें उन्हें पुरस्कार देना। इन पाँच अंगोंसे पूजित सेवक अपने स्वामीपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—स्वामीके उठनेसे पहले उठते हैं, २—स्वामीके सोनेके बाद सोते हैं, ३—स्वामीके सामानकी चोरी नहीं करते, ४—उत्तम प्रकारसे काम करते हैं और ५—स्वामीका यशोगान करते हैं।

ऊपरकी दिशा अर्थात् साधु-ब्राह्मणोंकी पूजाके भी पाँच अंग हैं—१—शरीरसे उनका आदर करना, २—वाणीसे आदर करना, ३—मनसे आदर करना, ४—भिक्षा लेने आवें तब उनका किसी प्रकार भी अपमान न करना और ५—उन्हें उपयोगी वस्तु देना। इन पाँच प्रकारसे पूजित साधु-ब्राह्मण गृहस्थपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—उसको पापसे बचाते हैं, २—उसे कल्याणकारी मार्गपर ले जाते हैं, ३—प्रेमपूर्वक उसपर दया करते हैं, ४—उसे उत्तम धर्म सिखाते हैं और ५—शंका-निवारण करके उसके मनका समाधान करते हैं एवं उसे स्वर्गका मार्ग दिखाते हैं।

दान, प्रियवचन, अर्थचर्या (उपयोगी बनना) और समानात्मता— सबको अपने समान समझना—ये चार लोकसंग्रहके साधन हैं। माता-पिता यदि इन साधनोंका उपयोग न करते तो केवल जन्म देनेमात्रसे पुत्र उनका गौरव नहीं मानता। विज्ञ पुरुष इन चार साधनोंका उपयोग करके जगत्में ऊँचा पद प्राप्त करते हैं।

दुर्व्यवहारसे दुर्गति

जो पुरुष अपनी साध्वी स्त्री तथा अन्यान्य आश्रितोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, थोड़ी-सी भूलके लिये बात-बातमें क्रोधातुर होकर उन्हें डाँटते-फटकारते, उनका तिरस्कार करते और उन्हें जली-कटी सुनाया करते हैं, उनके पाप निरन्तर बढ़ते रहते हैं और वे लोक-परलोकमें भयानक दुःखोंके भागी होते हैं। ऐसे लोगोंपर

भगवान्‌की कृपा नहीं होती और उनके पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत आदि भी सफल नहीं होते। पद्मपुराणमें कहा गया है—

पतिव्रतरतां भार्यां सुगुणां पुण्यवत्सलाम्॥
तामेवापि परित्यज्य धर्मकार्यं प्रयाति यः।
वृथा तस्य कृतः सर्वो धर्मो भवति नान्यथा॥
भार्यां विना हि यो लोके धर्मं साधितुमिच्छति।
विफलो जायते लोके नान्नमश्नन्ति देवताः॥

(भूमिखण्ड, अ० ५९)

'जो पुरुष अपनी सद्‌गुणवती, पुण्यानुरागिणी पतिव्रता पत्नीका परित्याग कर धर्मके लिये बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ होता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

'जो पुरुष अपनी पत्नीको छोड़कर धर्मसाधनकी इच्छा करता है, वह संसारमें असफल होता है और उसका अन्न देवता ग्रहण नहीं करते।'

खास करके जो पुरुष अपनी पुत्रादिरहित पत्नीको निराश्रय छोड़कर संसार-त्याग करनेकी इच्छा करता है, वह तो बहुत बड़ा प्रमाद करता है; क्योंकि ऐसी परित्यक्ता स्त्री यदि विपरीत परिस्थितिमें पड़कर किसी प्रकार भी पथभ्रष्ट हो दुश्चरित्रा हो जाती है तो उस पुरुषकी कई पीढ़ीतक पितरोंको नरकोंमें जाना पड़ता है। और इसका सारा दायित्व उस पुरुषपर होता है। पतिके दुर्व्यवहारसे अत्यन्त पीड़ित होकर जिसकी स्त्री आत्मघात आदि दुष्कर्म कर बैठती है, उस पातकी पुरुषको इस लोक और परलोकमें भयानक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।

जो पुरुष अपनी पत्नीका परित्याग करके परस्त्रीमें आसक्त होता है या दूसरी स्त्रीको पत्नी बनाता है, वह जन्मान्तरमें स्त्रीयोनिको प्राप्त होकर विधवा होता है—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्।
सोऽन्यजन्मनि देवेशि स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्॥

(स्कन्दपुराण)

इसी प्रकार जो स्त्री स्वेच्छासे या किसीके प्रस्तावसे सम्मत होकर परपुरुषमें आसक्त हो कुकृत्य करती है, पतिको कष्ट पहुँचाने तथा पवित्र सतीत्व-धर्मसे डिगनेके कारण उसकी संतान और धनका नाश हो जाता है, परलोकमें उसे भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जवानीमें विधवा होना पड़ता है और उसके बाद विविध दुःख-संतापमयी घृणित कुयोनियोंमें जन्म लेकर घोर क्लेशयुक्त जीवन बिताना पड़ता है।

उपनिषद्‌में युगल-स्वरूप

भारतके आर्यसनातन-धर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्‌की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्‌के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल-स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मंगलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता, राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है और शक्ति है इसीसे वह शक्तिमान् है और इसलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगलस्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके

पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषद्‌में ही इस युगल-स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्‌की कार्य-कारण-शृंखला ही टूट जाय; उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय। फिर जगत्‌के किसी मूलका ही पता न लगे। और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं न मिले। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्‌के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा-अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्यसत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियोंने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके सम्बन्धमें न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो आत्म-प्रत्ययका सार है, प्रपंचसे रहित है, शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्॥

(मुण्डक० १।१।६)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम''''।

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ वहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त शिव अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य, पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतोंके कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३।१।३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात्, पंचमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण

कारणोंका स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(श्वेताश्वतर० १।३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है, एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत-तत्त्व है—वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका, अनन्त ऐश्वर्यका, अनन्त ज्ञानका और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्वसृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिंगन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्‌के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति'(छान्दोग्य० ६।२।३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो सबसे 'अतीत' है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु औपनिषद्-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्‌का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना एवं सम्भोग करना—यह सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी विशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें, अथवा अद्वैतस्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड-जगत्‌में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्‌के संकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद-भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिंगन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते; वे दूर भी हैं, समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्‌में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छाकी····उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया····वे पति पत्नी हो गये।····

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्····स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'····

(बृहदारण्यक० १।४।३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये। क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्त काल, अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगलरूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषद्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रियरूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारीरूपमें इसी युगल-स्वरूपका विवरण किया है। परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। यह वस्तुतः अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वांगीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंद्वारा उपासना करनी पड़ती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगलभावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है, और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला-वैचित्र्यमयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं, और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारीभावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। नारीभावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति) रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें लीलारूपमें प्रकट करके नित्य चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारीभाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्न रूपमें परस्पर आलिंगन किये हुए एक-दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए, एक-दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और

उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।

श्रीभगवान्‌के पूजन और ध्यानकी विधि

(अम्बरीष-नारद-संवाद)

राजा अम्बरीष—मुनिवर! श्रीहरिकी आराधनाको छोड़कर ऐसा कोई भी प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे जीवोंके अपार पापोंका नाश हो जाय। सुना गया है कि श्रीहरिकी एक दृष्टिसे ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब क्लेशोंके नाश करनेवाले उन केशवकी आराधना किस प्रकार की जाती है? जगत्‌के स्त्री-पुरुष उन नारायणकी उपासना कैसे करें—मुनिवर! जगत्‌के हितके लिये आप मुझको वही बतलाइये। सुना है, भगवान् भक्तिप्रिय हैं। अतः वे किस भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, वह भक्ति कैसे होती है और कैसे सब लोग उनकी आराधना कर सकते हैं—यह सब बतलाइये। ब्रह्मन्! हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ! आप श्रीहरिके प्यारे हैं, परम वैष्णव हैं और परमार्थतत्त्वके जाननेवाले हैं; इसीसे मैं आपसे पूछ रहा हूँ। सुना है, श्रीहरिका चरणोदक (गंगाजल) जिस प्रकार पवित्र करनेवाला है, वैसे ही श्रीहरिविषयक प्रश्न भी प्रश्नकर्ता, श्रोता और वक्ता—सबको पवित्र कर देता है।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।
यस्मादवाप्यते सर्वं पुरुषार्थचतुष्टयम्॥

'जीव-देहोंमें मनुष्यदेह दुर्लभ है, परंतु है वह क्षणभंगुर; इस दुर्लभ और क्षणभंगुर मनुष्यदेहमें वैकुण्ठप्रिय—हरिके प्यारे संतके दर्शन और भी दुर्लभ हैं। इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्संग मनुष्योंके लिये एक अमूल्य निधि है; क्योंकि इस सत्संगसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।'

हे भगवन्! जैसे बच्चोंके लिये माता-पिताका मिलना महान् आनन्द और कल्याणका देनेवाला है, वैसे ही आपके दर्शन भी सब जीवोंके लिये कल्याणकारी हैं।·····अतएव भगवन्! आप मुझे भागवत-धर्मका उपदेश कीजिये।

नारद—राजन्! आप स्वयं भगवान्‌के भक्त हैं। 'भगवान्‌की सेवा ही परम धर्म है' आप इस बातको भलीभाँति जानते हैं। जिन भगवान्‌की आराधना करनेसे सारे विश्वकी सेवा हो जाती है, जिन सर्वदेवमय हरिके संतुष्ट होनेपर सभी संतुष्ट हो जाते हैं और जिनके स्मरणमात्रसे महान् पातकोंका समूह डरकर उसी क्षण भाग जाता है, उन श्रीहरिकी ही सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिये। जो समस्त कार्य-कारणोंके कारणके कारण हैं, जिनका कोई कारण नहीं है; जो जगन्मय होकर जगत्‌के जीवोंके रूपमें वर्तमान हैं, जो अणु होते हुए ही बृहत्, कृश होते हुए ही स्थूल, निर्गुण होते हुए ही महान् गुणवान् हैं—उन जन्मत्रयातीत अज भगवान् श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये। पुरुषश्रेष्ठ! आप भागवत-धर्मके विषयमें सब कुछ जानते हुए भी जगत्‌के कल्याणके लिये ही मुझसे पूछ रहे हैं। भगवान्‌की कथा ऐसी ही है, उनका कीर्तन साधुओंके आत्मा, मन और कानोंको तृप्त करनेवाला है। इसीलिये आप मुझसे पूछ रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जिनको परम ब्रह्म और परात्पर प्रधान कहते हैं, जिनकी मायासे इस समस्त विश्वका अस्तित्व है, वे ही अच्युत भगवान् हैं। भक्तिपूर्वक पूजा करनेपर वे पुत्र, कलत्र, दीर्घ आयु, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदि सभी अभीष्ट प्रदान करते हैं। उनकी पूजाके कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके व्रत होते हैं—

दिनमें एक बार अयाचित पवित्र भोजन करना और रातको कुछ न खाना कायिक व्रत है।

वेदाध्ययन, श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, सत्य बोलना और किसीकी निन्दा-चुगली न करना वाचिक व्रत है। और—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्कपटता आदि

मानसिक व्रत हैं। इनसे श्रीहरि संतुष्ट होते हैं।

श्रीहरिके नामोंका कीर्तन सदा सर्वत्र किया जा सकता है, इसमें कोई अशौच बाधक नहीं होता। श्रीहरिका कीर्तन ही मनुष्यको भलीभाँति शुद्ध करता है। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंको एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही परम पुरुष और उद्धारके एकमात्र साधन मानकर सदा उन्हींका आराधन करना चाहिये। स्त्रियोंको चाहिये कि वे दयामय श्रीभगवान्‌को परमपति मानकर सदाचारका पालन करती हुई मन, वचन और शरीरका संयम करके उन्हींकी आराधना करें।

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने संतुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्‌की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं— अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्‌की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्‌से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हो, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्‌के ध्यानकी महिमा सुनिये—राजन्! अग्नि-रूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चलभावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और निराश होकर वैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दुःख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्‌के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकार ध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पंचेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद-शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं। उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्‌को देखता है, वह अमूर्त अमृतमय परम धामको प्राप्त होता है।

अब साकार ध्यानके विषयमें सुनिये—

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्‌के चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शंख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्गधनुष धारण किये हैं। उनका गला शंखके समान गोल, मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषीकेशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभभगवान्‌के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशवभगवान्‌के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभमणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं!'

राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।
पूज्यते देववर्गैश्च विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्मपुराणके आधारपर)

माखनचोरीका रहस्य

भगवान्की लीलापर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्का लीलाधाम, भगवान्के लीलापात्र और भगवान्का लीलाशरीर प्राकृत नहीं होता। भगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

'परमात्माका शरीर भूतसमुदायसे बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्माके शरीरको भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्ममें अधिकार नहीं है। यहाँतक कि उसका मुँह देखनेपर भी सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करना चाहिये।'

श्रीमद्भागवत (१०। १४)-में ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि॥

'आपने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट किया है, यह पांचभौतिक कदापि नहीं है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्का सभी कुछ अप्राकृत होता है, उनकी जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं; परंतु यह व्रजकी लीला, व्रजमें निकुंजलीला और निकुंजमें भी केवलरसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरंग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

यदि भगवान्के नित्य परमधाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवांछाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करें, चीरहरण करके उनका रहा-सहा व्यवधानका परदा उठा दें और रासलीला करके उनको दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान्की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधनाके फलस्वरूप भगवान्की मुक्तजन-वांछित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएँ थीं, कुछ श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्वी ऋषि थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं। श्रुतिरूप गोपियाँ, जो 'नेति-नेति' के द्वारा निरन्तर परमात्माका वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें साक्षात्रूपसे प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियोंके साथ भगवान्के दिव्य रसमय विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और अन्तमें स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् अपने प्रियतमरूपसे प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियोंके नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिका और विपंची आदि।

भगवान्के श्रीरामावतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले—अपने-आपको उनके स्वरूप सौन्दर्यपर न्योछावर कर देनेवाले ऋषिगण, जिनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करनेका वर दिया था, व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिलाकी गोपी, कोसलकी गोपी, अयोध्याकी गोपी—पुलिन्दगोपी, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप आदिकी गोपियाँ और जालन्धरी गोपी आदि गोपियोंके अनेकों यूथ थे,

जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान्से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराणके पातालखण्डमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पोंके बाद गोपीस्वरूपको प्राप्त किया था। उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक उग्रतपा नामके ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े दृढ़व्रती थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होंने पंचदशाक्षरमन्त्रका जाप और रासोन्मत्त नव-किशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान किया था। सौ कल्पोंके बाद वे सुनन्द नामक गोपकी कन्या 'सुनन्दा' हुए।

२—एक सत्यतपा नामके मुनि थे। वे सूखे पत्तोंपर रहकर दशाक्षरमन्त्रका जाप और श्रीराधाजीके दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करते थे। दस कल्पके बाद वे सुभद्रनामक गोपकी कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—हरिधामा नामके एक ऋषि थे। वे निराहार रहकर 'क्लीं' कामबीजसे युक्त विंशाक्षरी मन्त्रका जाप करते थे और माधवीमण्डपमें कोमल-कोमल पत्तोंकी शय्यापर लेटे हुए युगल-सरकारका ध्यान करते थे। तीन कल्पके पश्चात् वे सारंग नामक गोपके घर 'रंगवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए।

(४) जाबालि नामके ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वनमें विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावलीके पश्चिम तटपर बड़के नीचे एक युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रमाकी शुभ्र किरणोंके समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए थी। जाबालिके बड़ी नम्रताके साथ पूछनेपर उस तापसीने बताया—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्।
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।

(पद्मपुराण, पाताल० ४१। ३०—३२)

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ। ब्रह्मज्ञानी जाबालिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियोंमें विहरनेवाले भगवान्का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पोंके बाद प्रचण्ड नामक गोपके घर वे 'चित्रगन्धा' के रूपमें प्रकट हुए।

५—कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण वेदतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मन्त्रका जाप करते हुए और सुन्दर कन्दर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्षकी उम्रके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्पके बाद वे व्रजमें सुधीर नामक गोपके घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान्के लिये इतनी तपस्या करके इतनी लगनके साथ कल्पोंतक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द-दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है? रासलीलाके प्रसंगमें स्वयं भगवान्ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(१०। ३२। २२)

'गोपियो! तुमने लोक और परलोकके सारे बन्धनोंको काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममेंसे प्रत्येकके लिये अलग-अलग अनन्त कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभावसे ऋणरहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी

रहना चाहते हैं उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिये तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्ण-रसभावितमति गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी। गोपियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्र-दुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको देखकर वे सुखी होती थीं। प्रात:काल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखतीं और अनुभव करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीकेपर रखूँ, जितनेपर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें, फिर मेरे प्राणधन बालकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरोंको लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ। और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे लगा लूँ। सूरदासजीने गाया है—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहत तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥
ब्रज-जुबती इक पाछैं ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपनैं घर, देखौं माखन खात॥
बैठैं जाइ मथनियाँ कें ढिग, मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि मन की जानी॥

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, 'मैया! मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवानके लिये कहती है, परंतु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।' वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी। उसने मन-ही-मन कामना की—'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी; ये मथानीके पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी?' प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खाकर उसे सुख दिया—'*गये स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर*'।

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूछति सखी परस्पर बातैं पायो पर्‌यो कछू कहुँ तैं री?
पुलकित रोम रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।
ऐसो कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारा, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

वह खुशीसे छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था। सहेलियोंने पूछा—'अरी! तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेमविह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्‌गद हो गयी, मुँहसे बोली नहीं निकली। सखियोंने कहा—'सखि! ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपानेकी कौन-सी बात है?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेमके आँसू बहने लगे! सभी गोपियोंकी यही दशा थी।

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारैं आवैं।
माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुपावैं॥
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु कौं घर में लै, देहौं माखन खान॥

× × × ×

चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरी माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।

हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवार।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार॥
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार।
जोरि कर बिधिकौं मनावति पुरुष नंदकुमार॥

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रात:काल होनेकी बाट देखतीं। उनका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता। प्रात:काल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीकेपर रखतीं। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करतीं और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें व्याकुल होती हुई मन-ही-मन सोचतीं—हा! आज प्राणप्रियतम क्यों नहीं आये? इतनी देर क्यों हो गयी? क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे? कहीं यशोदा मैयाने तो उन्हें नहीं रोक लिया? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखनकी क्या कमी है! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं! इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लाज छोड़कर रास्तेकी ओर देखती। सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान हो जाता! ऐसी भाग्यवती गोपियोंकी मन:कामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते।

सूरदासजीने गाया है—

प्रथम करी हरि माखन-चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाऊँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कैं माखन खाऊँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज लोग॥

अपने निजजन व्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे। माखन तो नन्दबाबाके घरपर कम न था, लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते। परंतु वे तो केवल नन्दबाबाके ही नहीं, सभी व्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे। गोपियोंकी लालसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तवमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिका भगवान्के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्तकी पूजाका स्वीकार कैसे न करें?

भगवान्की इस दिव्यलीला—माखनचोरीका रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे आदर्शके विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किसकी होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई चीज उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जान न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्वकी यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ, चोर तो वास्तवमें वे लोग हैं जो भगवान्की वस्तुको अपनी मानकर ममता-आसक्तिमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्की दिव्यलीला थी। असलमें गोपियोंने प्रेमकी अधिकतासे ही भगवान्का प्रेमका नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके चित्तचोर तो थे ही। यही रहस्य है।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की लीलापर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं है, परंतु उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसंगमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्षके बच्चे थे और गोपियाँ अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं।

चीरहरण-रहस्य

चीरहरणके प्रसंगको लेकर कई तरहकी शंकाएँ की जाती हैं, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वास्तवमें बात यह है कि सच्चिदानन्दघन भगवान्की दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य जाननेका सौभाग्य बहुत थोड़े लोगोंको होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाएँ भी चिन्मयी ही होती हैं। सच्चिदानन्द-रसमय-साम्राज्यके जिस परमोन्नत स्तरमें यह लीला हुआ करती है उसकी ऐसी विलक्षणता है कि कई बार तो ज्ञान-विज्ञानस्वरूप विशुद्ध चेतन परम ब्रह्ममें भी उसका प्राकट्य नहीं होता और इसीलिये ब्रह्म-साक्षात्कारको प्राप्त महात्मा लोग भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। भगवान्की इस परमोज्ज्वल दिव्य-रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदंगभूता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्की इस परम अन्तरंग रसमयी लीलाका समास्वादन करती हैं।

यों तो भगवान्के जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं, परंतु व्रजकी लीला, व्रजमें निकुंजलीला और निकुंजमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर-लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरंग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्की रूपमाधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं। बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं। इसी अध्यायमें भगवान्ने आकर उनकी साधना पूर्ण की है। यही चीर-हरणका प्रसंग है।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विलम्ब उनके लिये असह्य था। जाड़ेके दिनोंमें वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पितातकका संकोच नहीं था। वे विधिपूर्वक देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं। अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। एक वाक्यमें—उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान्के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था! वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही। परंतु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी; उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भंग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरणरूप चीर हर लेना जरूरी था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया। इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर पधारे थे।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और संकल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर वह संकल्प स्वीकार करते हैं और संकल्प करनेवालेको स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है, पूर्ण समर्पणकी तैयारी! उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं; फिर

भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं तो मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते हैं, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परंतु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लंघन करके नग्न-स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि भगवान्‌के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्‌ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्‌के प्रेमके नामपर विधिका उल्लंघन करते हैं, उन्हें यह प्रसंग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्रविधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीरहरणके द्वारा वही कार्य सुसम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की; जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर रखा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हीं निरावरण रसमय भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण-भावसे न जा सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है? है, अवश्य है। और यह समझकर ही गोपियाँ निरावरणरूपसे उनके सामने गयीं।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं; समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वही हैं। ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो। वही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं। गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वही आत्मा हैं। उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं। गोपियाँ उन्हीं भगवान्‌को जान-बूझकर कि यही भगवान् हैं—यही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं—पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं। वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है। जो लोग भगवान्‌को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शंका ही कैसे हो सकती है।

गोपियोंकी इस दिव्य लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है। इसलिये हम श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं। उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है। जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है। वह विषयोंमें ही इधर-से-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है। जब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्‌की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब जीव दु:खज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्‌के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्संग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकांक्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है। चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है। परंतु भगवान्‌की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्‌की सन्निधिका अनुभव भी होने लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके

रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केवटके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव, अपूर्णता और सीमाका बन्धन नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति होने लगती है।

गोपियाँ, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्‌की अन्तरंग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्‌की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्‌गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियाँ जलमें थीं, वे जलमें सर्वव्यापक, सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें ही नहीं हैं, स्वयं जलस्वरूप भी वही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो रहे थे; वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं, परंतु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परंतु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व—इसका विस्तार चाहे जितना हो—प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए'—(**शुद्ध-भावप्रसादितः**) श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो?' गोपियोंने मानो कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे भूलें? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठ मग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परंतु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।' साधककी यह दशा—भगवान्‌को चाहना और साथ ही संसारको भी न छोड़ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये रखना बड़ी द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि 'संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर, मायाका परदा हटाकर आओ; मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है; तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो? यह परदा ही तो—परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है; यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिरसंचित आकांक्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका यह मधुर आमन्त्रण भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान! न वह जगत्‌को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था। यत्किंचित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्ध हो रहा था। श्रीकृष्ण मुसकराये। उन्होंने इशारेसे कहा—'इतने बड़े त्यागमें यह संकोच कलंक है। तुम तो सदा निष्कलंका हो; तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुखकमलपर पड़ी। दोनों हाथ अपने-आप जुड़ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्व-त्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने,

इसी उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं। उनकी दृष्टिमें अब श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है, तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परंतु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतसे जगाकर फिर जगत्में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती-साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा संकल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह संकल्प—तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर स्थित करती है, जो निस्संकल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और अब आगे आनेवाली शारदीय रात्रियोंमें हमारा रमण पूर्ण होगा। भगवान्ने साधना सफल होनेकी अवधि निर्धारित कर दी। इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णमें किसी भी कामविकारकी कल्पना नहीं थी। कामी पुरुषका चित्त वस्त्रहीन स्त्रियोंको देखकर एक क्षणके लिये भी कब वशमें रह सकता है।

एक बात बड़ी विलक्षण है। भगवान्के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्र समर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे—विक्षेपका काम कर रहे थे—वही भगवान्की कृपा, प्रेम, सान्निध्य और वरदान प्राप्त होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये। इसका कारण क्या है? इसका कारण है, भगवान्का सम्बन्ध। भगवान्ने अपने हाथसे उन वस्त्रोंको उठाया था और फिर उन्हें अपने उत्तम अंग कंधेपर रख लिया था। नीचेके शरीरमें पहननेकी साड़ियाँ भगवान्के कंधेपर चढ़कर—उनका संस्पर्श पाकर कितनी अप्राकृत रसात्मक हो गयीं, कितनी पवित्र—कृष्णमय हो गयीं, इसका अनुमान कौन लगा सकता है। असलमें यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्से सम्बद्ध और भगवान्का प्रसाद नहीं हो जाता। उनके द्वारा प्राप्त होनेपर तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया विशुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब बन्धनका भय नहीं रहता। कोई भी आवरण भगवान्के दर्शनसे वंचित नहीं रख सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं; परंतु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं, वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो ये दूसरी ही वस्तु हो गये हैं। अब तो ये भगवान्के पावन प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्का स्मरण करानेवाले भगवान्के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्की इच्छासे मर्यादा स्वीकार की। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान्की यह चीरहरण-लीला भी अन्य लीलाओंकी भाँति उच्चतम मर्यादासे परिपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन आर्षग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन ग्रन्थोंको भी नहीं मानते। और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं मानते, वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते। भगवान्की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्रदृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि—जो स्थूलताओंसे ही परिवेष्टित है—केवल जडके सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य-लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि

थोड़ी देरके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह लीला मानवी थी, तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं टिक पाती जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लांछन हो। श्रीमद्भागवतका पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रासलीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें, तो नवें वर्षमें ही चीरहरणलीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें, जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उट्टंकना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'-सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परमसुन्दर परममधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे। इसमें दोषकी कौन-सी बात है?

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्तितक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो कि पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, **'न नग्नः स्नायात्'**—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल लौकिक अनर्थ ही नहीं—भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त, जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है इस नग्नस्नानको देवताओंके विपरीत बतलाता है। श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण-देवताका अपमान होता है। गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल देनेवाला था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है; इसलिये श्रीकृष्णने अलौकिक ढंगसे इसका निषेध कर दिया।

गाँवोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा। यदि वे गोपियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलासफी समझाते, तो वे सरलतासे नहीं समझ सकती थीं। उन्हें तो इस प्रथाके कारण होनेवाली विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था। और विपत्तिका अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अंजलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया। महापुरुषोंमें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है।

श्रीकृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती और नग्नस्नानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीरहरण किया—यह उत्तर सम्भव होनेपर भी श्रीमद्भागवतमें आये हुए 'काम' और 'रमण' शब्दोंसे कई लोग भड़क उठते हैं। यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते। श्रुतियोंमें और गीतामें भी अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है; परंतु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता। गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है। महापुरुषोंका आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं उन्हें रमण और रति शब्दका अर्थ केवल क्रीडा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—**'रमु क्रीडायाम्'।**

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है। अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें। वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीरहरण-लीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है। इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है। भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्य-लीला विलास है और अनादि कालसे अनन्त कालतक यह नित्य चलता रहता है। कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीला-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्द-मंगलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं। साधकोंके लिये किस

प्रकार कृपा करके भगवान् अन्तर्मलको और अनादि कालसे संचित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीरहरण-लीलासे प्रकट होती है। भगवान्की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं। यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है।

रासलीलाकी महिमा

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१)

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरंगलीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीके साथ होनेवाली भगवान्की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है। 'रास' शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—**'रसो वै सः'** जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम रास है। भगवान्की यह दिव्य लीला, भगवान्के दिव्य धाममें दिव्यरूपसे निरन्तर हुआ करती है। यह भगवान्की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें। इस पंचाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

समयके साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है। कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी। आजका युग ही ऐसा है जिसमें भगवान्की दिव्य लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान्के अस्तित्वपर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर लोग तरह-तरहकी आशंका प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और मुख्यतः भगवत्कृपासे ही समझमें आती है। जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपाप्राप्त महात्माओंने इसका अनुभव किया है वे धन्य हैं और उनकी चरण-धूलिके प्रतापसे ही त्रिलोकी धन्य है। उन्हींकी उक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासलीलाके सम्बन्धमें यत्किंचित् लिखनेकी धृष्टता की जाती है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड नहीं होता। जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें—या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जडराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्य लीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत्की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर

हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थस्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष—और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूलशरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अंग-संगकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शंकर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्यभावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरंग-शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है। आवरण-भंगके अनन्तर अर्थात् चीर-हरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे। जबतक 'कारण शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं। इस 'कारण शरीर' के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धनके कारण पांचभौतिक स्थूलशरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे। बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो, अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परंतु वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते। और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अंग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित

हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उससे प्राकृत पांचभौतिक शरीरोंवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌को उपनिषद्‌में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं। फिर कोई शंका करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, भगवान्‌के संकल्पसे हुई थी। भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त-मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्यकी लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

× × × ×

इन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेमसंकल्प कर लिया है। इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य लीलामें सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें **'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'**—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेम-वीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेमदान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी—दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृंगार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षसाधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परंतु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस साधक संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

साधनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और २—मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्तव्योंका और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलंकरूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न

उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं।

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। उनकी सारी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न रहती थीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लंघनकर एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अभिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वधर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है।

इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है; क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वही कर सकते हैं, जो इसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परमफल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं। वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वत: ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'

'जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है।

रोकनेवालोंने रोका भी, परंतु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण शरीरसे जानेमें समर्थ न हुईं। उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्के प्रेमालिंगनसे उनके समस्त पुण्योंका परमफल प्राप्त हो गया और वे भगवान्के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्के पास पहुँच गयीं। भगवान्में मिल गयीं। यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है। शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नाश हो जाते हैं तब जीवकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे उनके विरहानलसे उनको इतना महान् संताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नाश हो गये और प्रियतम भगवान्के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्के मंगलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान्के श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा, शिव आदिके भी वन्दनीय निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे, उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परंतु उन्होंने ऐसी भावभंगी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात—प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है? घरवाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी

सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातनधर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परंतु प्रेममें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सान्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारीजातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भलीभाँति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करनेयोग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो कि शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—क्यों न पूर्ण हो? भगवान्ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—**'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'**। जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेशभगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिकशेखर रसपरब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अंग-संग था और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्की लीलामें बाधक हैं। भगवान्की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्का, पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते। परंतु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत्के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही वह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद' को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने **'साक्षात् मन्मथमन्मथ'** रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो! मैं तुम्हारे प्रेमभावका चिर-ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन

तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें युगपत् आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीड़ा करें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जो लोग भगवान्को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकारकी शंका-कुशंकाएँ करते हैं। भगवान्की निज लीलामें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे; वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीला-विलास है, सभी स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परंतु उनमें परकीयाभाव था। परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परंतु परकीयाभावमें ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र-कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देख-रेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह सकामभाव छिपा रहता ही है। परंतु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हलकी-सी प्रकाश-रेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श-स्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पोंतक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लंघन कैसे कर सकती हैं? और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोल्लंघनका लांछन कैसे लगाया जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्य लीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपंचाध्यायीपर अबतक अनेकों भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे कामपर विजय बतलाया है, किसीने भगवान्‌का दिव्य विहार बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परंतु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसंग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन-विलासादिरूप शृंगारका रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्परतत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरंकुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन और नायिका थीं स्वयं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण-(तूँबे-) जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे-जैसी ही मालूम हो, परंतु इससे असलमें क्या वह मिश्रीका तूँबा कड़ुआ थोड़े ही हो जाता है? क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री-ही-मिश्री है। बल्कि इसमें लीला-चमत्कारकी बात जरूर है। लोग समझते हैं कड़ुवा तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा अभिन्न-स्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कड़ुआ स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्‌का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरंग-लीलाओंका अनुकरण करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा। श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपंचाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्‌के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परंतु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं और केवल मानवीय भाव एवं आदर्शकी कसौटीपर उनके चरित्रको कसना चाहते हैं, वे पहले ही शास्त्रसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें धर्मकी कोई धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान्‌को भी अपनी बुद्धिके पीछे चलाना चाहते हैं। इसलिये साधकोंके सामने उनकी उक्ति-युक्तियोंका कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जो शास्त्रके 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी लीलाओंको किस आधारपर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझमें नहीं आता। जैसे मानवधर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान्‌के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये। भगवान्‌का एकमात्र धर्म है—प्रेम-परवशता, दयापरवशता और भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्ति। यशोदाके हाथोंसे ऊखलमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निज-जन गोपियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुड्ई-गुड्एकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज-भात भी करते

हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरंजन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं, यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक जिनके अनेकों सद्गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरंजन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरंजनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए काम-रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके निष्कपट प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही रति है। इसीलिये इस प्रसंगमें स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वनमें जाने लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोका था। रातमें अपनी बालिकाओंको भला, कौन बाहर जाने देता। फिर भी वे चली गयीं और इससे घरवालोंको किसी प्रकारकी अप्रसन्नता नहीं हुई और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गोपियोंपर किसी प्रकारका लांछन ही लगाया। उनका श्रीकृष्णपर, गोपियोंपर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलोंसे परिचित थे। उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं। इसको दो प्रकारसे समझ सकते हैं। एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है। यह तो मानवीय दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्णकी योगमायाने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी, गोपोंको वे घरमें ही दीखती थीं। किसी भी दृष्टिसे रासलीला दूषित प्रसंग नहीं है, बल्कि अधिकारी पुरुषोंके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमलको नष्ट करनेवाला है। रासलीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रासलीलाका श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदयका रोग काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होता है। भागवतमें अनेकों स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान्‌की मायाका वर्णन करता है, वह मायासे पार हो जाता है। जो भगवान्‌के कामजयका वर्णन करता है, वह कामपर विजय प्राप्त करता है। राजा परीक्षित्‌ने अपने प्रश्नोंमें जो शंकाएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है।

उस उत्तरसे वे शंकाएँ तो हट गयी हैं, परंतु भगवान्‌की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीलाप्रसंग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्‌में व्याख्या की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यह इस जगत्‌की क्रीडा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय—रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीलाप्रसंगको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं; क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसंग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों।

भगवान्‌की इस दिव्यलीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो कि श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्‌के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्‌के अनन्त प्रेमका अनुभव करे। हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शंका न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये।

व्रजसुन्दरियोंके भगवान्

श्रीश्रीव्रजसुन्दरियोंको निबिड अरण्यमें छोड़कर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अन्तर्धान हो गये। वे सब विरहके आवेशमें अपने प्राणप्रियतमको खोजने लगीं। खोजते-खोजते कृष्णमय बन गयीं। तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शन-लालसासे कातर होकर प्रलाप करने और फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक इसी समय श्यामसुन्दर उनके बीचमें मधुर-मधुर मुसकराते हुए प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। पीताम्बर धारण किये हुए थे। गलेमें दिव्य वनमाला थी। उनका सौन्दर्य समस्त विश्वप्राणियोंके मनको मथनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था। वे 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' थे। करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर मधुर मनोहर श्यामसुन्दरको अपने बीचमें पाकर व्रजसुन्दरियोंके प्राणहीन शरीरोंमें मानो दिव्य प्राण लौट आये। उनके नेत्र आनन्द और प्रेमसे खिल उठे। हठात् प्रियतमके प्राकट्यसे उनके हृदयमें नवीन स्फूर्ति आ गयी। उनके एक-एक अंगमें नवीन चेतना जाग उठी। उन्होंने अपने-अपने मनके अनुसार प्रियतमकी आव-भगत की, किसीने उनके कोमल कर-कमलको अपने हाथोंसे पकड़ लिया, किसीने चरणारविन्दका आलिंगन किया, किसीने चरण पकड़कर अपने हृदयपर रख लिया, किसीने उनका चबाया हुआ पान ग्रहण किया, किसीने प्रणयकोपसे विह्वल होकर, त्यौरी चढ़ाकर दूरसे ही भ्रुकुटिपूर्ण कटाक्षपात किया और कोई-कोई निर्निमेष नेत्रोंके द्वारा उनके मनोहर मुखकमलका मधुर मकरन्द पान करने लगीं। उनका रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार विरहताप प्रशमित होनेपर वे अपने प्राणधन श्यामसुन्दरको घेरकर बैठ गयीं। अब फिर हास्य-कौतुक आरम्भ हुआ। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र बड़े निष्ठुर हैं—बड़े छलिया हैं, यह बात उन्हींके मुखसे कहलानेके लिये व्रजसुन्दरियोंने मानो एक पहेली-सी रखकर उनसे पूछा—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१६)

'श्यामसुन्दर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो भजनेवालोंको ही भजते हैं—प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं; कुछ लोग न भजनेवालोंको भजते हैं—प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। तीसरे प्रकारके कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो भजनेवालोंको भी नहीं भजते—प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते; फिर न करनेवालोंसे न करें, इसमें तो बात ही कौन-सी है। प्रियतम! बताओ, इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है?' व्रजसुन्दरियोंके कहनेका तात्पर्य यह था कि इन तीनोंमें तुम किस श्रेणीके हो—यह स्पष्ट कहो।

इसके उत्तरमें आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने कहा—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।१७—२२)

भगवान्ने कहा, 'मेरी प्रिय सखियो! जो भजनेपर ही भजते हैं—प्रेम करनेपर ही प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम ही सर्वथा स्वार्थपूर्ण है, उनमें न सौहार्द है और न तो धर्म ही है। निरा बनियापन है—लेन-देन है; स्वार्थके अतिरिक्त उनका और कोई भी प्रयोजन नहीं है। जो लोग भजन न करनेपर, प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणामय सज्जन और माता-पिता, उनका हृदय सौहार्दसे भरा होता है।

उनका प्रेम सचमुच निर्मल है और वहाँ धर्म भी है। जो लोग भजन करनेपर भी नहीं भजते, प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते, फिर न प्रेम करनेपर प्रेम करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे उदासीन लोग चार प्रकारके होते हैं—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही। सखियो! यदि तुम मेरे सम्बन्धमें पूछती हो तो मैं इन तीनों (सापेक्ष, निरपेक्ष और उदासीन)-मेंसे कोई-सा भी नहीं हूँ। मैं यदि प्रेम करनेवालोंसे कभी वैसा प्रेमका व्यवहार नहीं करता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उनसे प्रेम नहीं करता। मैं ऐसा इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति मुझमें लगी रहे। मैं मिलकर फिर जब छिप जाता हूँ तो भक्तोंकी वृत्ति मुझमें सारूप्य प्राप्त कर लेती है। जैसे किसी निर्धन मनुष्यको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय धनकी चिन्ता करते-करते धनमय हो जाता है, वह सब कुछ भूलकर उसीमें तन्मय हो जाता है। वैसे ही मेरे छिप जानेपर भक्त मुझमें तन्मय हो जाते हैं। प्रियाओ! तुमलोगोंने अपनी समस्त वृत्तियोंको मुझमें अर्पण करके मेरे लिये लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने आत्मीय-स्वजनोंको भी छोड़ दिया है। यहाँ मैं इसीलिये छिप गया था कि तुम्हारे मनमें अपने सौन्दर्य और सुहागकी बात न उठ सके; तुम्हारा मन केवल मुझमें ही लगा रहे। मैं प्रत्यक्षमें नहीं दीखता था पर था तो तुम्हारे बीचमें ही। तुम्हारे प्रेमकी सारी दशाएँ देख रहा था। तुम्हारे प्रेममें निमग्न हो रहा था। अतएव तुम मुझपर दोषारोपण मत करो। तुम सब मुझे बड़ी प्रिय हो और मैं भी तुम्हारा प्यारा हूँ। तुम्हारा प्रेम सर्वथा निर्मल है—इसमें कहीं भी स्वार्थकी गंध नहीं है। तुमने मेरे लिये गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े समर्थ लोग भी नहीं तोड़ सकते। यदि मैं देव-शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्त कालतक भी तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवाका बदला चुकाना चाहूँ तो नहीं चुका सकता। मैं सदाके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। मैं तो ऋण चुकानेमें असमर्थ ही हूँ।'

श्रीव्रजसुन्दरियोंके प्राणधन भगवान् लेन-देन करनेवाले व्यापारी नहीं हैं। प्रह्लादको वरका प्रलोभन देनेपर प्रह्लादने श्रीभगवान् नृसिंहदेवसे कहा था—'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, निरा व्यापारी है **(न स भृत्यः स वै वणिक्)** और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूरी करता है, वह स्वामी नहीं।' भगवान्ने गीतामें जो कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

(४। ११)

जो मुझे जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ, यह तो साधारण नियम है। प्राणिमात्रके साथ भगवान्का यही व्यवहार है। पर यहाँ तो श्रीभगवान्ने इसको केवल स्वार्थपूर्ण उद्यम बतलाया है; क्योंकि इसमें स्पष्ट ही एक 'अपेक्षा' है। जहाँ अपेक्षा है, वहीं शर्त है और शर्तमें न स्वतन्त्रता है और न हृदयका एकांगीभाव ही। खरीदार और बेचनेवाला दोनों जैसे स्वार्थकी 'अपेक्षा' से मिलते हैं; इसमें भी वैसा ही है। पर व्रजसुन्दरियोंके या भक्तोंके भगवान् अपने भक्तोंके साथ 'किसी स्वार्थके उद्यम' से प्रेम नहीं करते। उनका पारस्परिक भजन या प्रेम सर्वथा अहैतुक, अतएव प्रेममूलक और प्रेमस्वरूप ही होता है।

श्रीव्रजसुन्दरियोंके (प्रेमी भक्तोंके) भगवान् माता-पिताकी भाँति केवल करुणामय 'निरपेक्ष' प्रेमी भी नहीं हैं। माता-पिता स्नेहवश संतानके दोषोंको ढक देते हैं। उनकी करुणा—दया संतानको कभी उदास नहीं देख सकती, इसलिये संतानमें दोष रह जानेकी सम्भावना रहती है। भगवान् अपने भक्तको सर्वथा निर्दोष—सारा कूड़ा-कर्कट जलाकर खरा सोना बना देते हैं। अतएव वे न तो वणिकोंकी भाँति सापेक्ष हैं, न माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष।

भक्तोंके भगवान् 'आत्माराम' भी नहीं हैं। आत्मारामगण अपने स्वरूपमें मस्त रहते हैं। उनकी दृष्टिमें जगत्का कोई महत्त्व नहीं है, फलतः वे जगत्से उदासीन रहते हैं। ऐसे आत्मारामके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है— **'तस्य कार्यं न विद्यते'**। (गीता ३। १७) परंतु भगवान् तो अपने भक्तके लिये कार्य करते-करते कभी थकते ही नहीं। उनका कार्य कभी पूरा होता ही नहीं। वे अमर जीवनमें भक्तका कार्य करते रहनेपर भी कभी कामको पूरा हुआ नहीं मानते।

भक्तोंके भगवान् 'आप्तकाम' भी नहीं हैं। आप्तकाम वे होते हैं, जिनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, जिन्हें किसी वस्तुकी वासना-कामनाकी गन्ध भी नहीं

रहती। परंतु भक्तोंके भगवान् तो भक्तके प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल, यहाँतक कि चिउरोंकी कनियोंतकके लिये लालायित रहते हैं, और कई दिनोंके भूखे प्राणीकी तरह आँगनमें बिखरे हुए कणोंको चुन-चुनकर खा जाते हैं। वे व्रजसुन्दरियोंके साथ रसमयी रासक्रीड़ाकी कामना करते हैं। मुरलीमें मधुर स्वर भरकर उनको अपने समीप बुलाते हैं। वात्सल्यमयी यशोदा मैयाका स्तनपान करनेके लिये मचल-मचलकर रोते हैं और व्रजसुन्दरियोंके घरोंका माखन-दही चुरा-चुराकर भोग लगाते हैं!

भगवान् कृतघ्न भी नहीं हैं। वे एक बार प्रणाम करनेवालेके सामने भी सकुचा जाते हैं—*'सकुचत सकृत प्रनाम किएहूँ'*; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। वे उसके तो अधीन ही हो जाते हैं। श्रीदुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधु स्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर लिया है। वे मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।' अतएव भगवान् सदा ही कृतज्ञ हैं। कृतज्ञ कभी उदासीन नहीं होता।

आत्माराम और आप्तकाम भी उदासीन होते हैं, परंतु उनकी उदासीनता दूषित नहीं होती। वह तो उनके स्वरूपकी शोभा है। पर कृतघ्न और गुरुद्रोहीकी उदासीनता बड़ी भीषण होती है। इनमें भी गुरुद्रोही सबसे बढ़कर हैं। जो लोग मजेमें दूसरोंका माल उड़ाकर गर्वसे मूँछोंपर ताव देते हैं, उनसे भी वे अधिक बुरे हैं जो उपकारियोंके साथ द्रोह करते हैं। श्रीभगवान् ऐसे गुरुद्रोही नहीं हैं। वे भक्तोंका उपकार मानते हैं और अपनेको उनके सामने ले जानेमें भी सकुचाते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भक्त हनुमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इससे सिद्ध है कि भगवान् किसी भी श्रेणीके उदासीन भी नहीं हैं।

तो वे क्या हैं? वे हैं व्रजसुन्दरियोंके ऋणी—वैसे भक्तोंके चिरऋणी! वे सर्वसमर्थ सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण होकर भी उनका बदला नहीं चुका सकते, अतएव वे अपेक्षासे प्रेम नहीं करते। वे सबके माता-धाता-पितामह होकर भी माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष रहकर भक्तमें कोई दोष नहीं रहने देते। वे नित्य आत्माराम होकर भी उदासीन नहीं रह सकते। वे नित्य आप्तकाम होकर भी निष्काम नहीं रहते। वे अपने सहज उपकारोंसे सबको कृतज्ञ करनेवाले होकर भी स्वयं कृतज्ञ होते हैं और वे एकमात्र जगद्गुरु होनेपर भी श्रीव्रजसुन्दरियोंको—श्रीराधारानीको अपना प्रेम-गुरु मानते हैं और उनसे कभी द्रोह नहीं करते। यह है परमप्रेमसुधासागर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अपने मुँहसे दिया हुआ आत्मपरिचय! भगवान्‌ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

'उद्धव! मुझे तुम-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे आत्मस्वरूप शंकर, मेरे भाई बलरामजी और मेरी अर्धांगिनी लक्ष्मीजी भी नहीं हैं और तो क्या, मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।'

नादब्रह्म—मोहनकी मुरली

नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम्।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम्॥
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

'नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है।'

नाद अनादि है। जबसे सृष्टि है तभीसे नाद है। महाप्रलयके बाद सृष्टिके आदिमें जब परमात्माका यह शब्दात्मक संकल्प होता है कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ', तभी इस अनादि नादकी आदि-जागृति होती है। यह नादब्रह्म ही शब्द-ब्रह्मका बीज है। वेदोंका प्रादुर्भाव

इसी नादसे होता है। नादका उद्‌भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती स्वरूपा-शक्तिसे होता है और इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु ही प्रणव है और इसीको बीज कहते हैं।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद् बिन्दुसमुद्भवः॥
नादो बिन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः।
भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दो ब्रह्माभवत् परम्॥

'सच्चिदानन्दरूप वैभवयुक्त पूर्ण परमेश्वरसे उनकी स्वरूपाशक्ति आविर्भूत हुई, उससे नाद प्रकट हुआ और नादसे बिन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। वही बिन्दु नाद, बिन्दु तथा बीजरूपसे तीन प्रकारका माना गया है। बीजरूप बिन्दु जब भेदको प्राप्त हुआ तब उससे इस प्रकारके शब्द प्रकट हुए। वह शब्द ही श्रुतिसम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म हुआ।'

यही नाद क्रमशः स्थूलरूपको प्राप्त होता हुआ समस्त जगत्‌में फैल जाता है। पाँच भूतोंमें सबसे पहले महाभूत आकाशका गुण शब्द है। यह नादका ही एक रूप है। आदि-नादरूप बीजसे ही पंचतत्त्वकी उत्पत्ति मानी गयी है। इस स्थूल नादकी उत्पत्ति अग्नि और प्राणके संयोगसे होती है। ब्रह्मग्रन्थिमें प्राण रहता है, इस प्राणको अग्नि प्रेरणा करती है। अग्निमें यह प्रेरणा आत्मासे प्रेरित चित्तके द्वारा होती है। तब प्राणवायु अग्निसे प्रेरित होकर नादको उत्पन्न करता है। यह नाद नाभिमें अति सूक्ष्म, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, मस्तकमें अपुष्ट और बदनमें कृत्रिमरूपसे आकार धारण करता है। कहते हैं कि 'न' कार प्राण है और 'द' कार वह्नि है और प्राण तथा वह्निके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ही इसको 'नाद' कहते हैं।

योगी लोग इसी नादकी उपासना करके ब्रह्मको प्राप्त किया करते हैं। हठयोगशास्त्रोंमें इसका बड़ा विस्तार है। मुक्तासन और शाम्भवी मुद्राके साथ इस नादका अभ्यास किया जाता है। इस नादसाधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। अनाहतनाद योगियोंका परम ध्येय है। शास्त्रोंमें नादको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका एक साधन माना है। नादके बिना जगत्‌का कोई भी कार्य नहीं चल सकता। पांचभौतिक जगत्‌में आकाश सर्वप्रधान है और आकाशका प्राण नाद ही है। इसीसे जगत्‌को नादात्मक कहते हैं। नादका माहात्म्य अपार है। संगीत-दर्पणकी एक सुन्दर उक्ति है कि देवी सरस्वतीजी नादरूपी समुद्रमें डूब जानेके भयसे ही वक्षःस्थलमें सदा तुम्बी धारण किये रहती हैं।

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि॥

संगीत और स्वरका तो प्राण ही नाद है। गीत, नृत्य और वाद्य नादात्मक हैं। नादद्वारा ही वर्णोंका स्फोट होता है। वर्णसे पद और पदसे वाक्य बनता है। इस प्रकार समस्त जगत् ही नादात्मक है।

यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है। जब भगवान् लीलाधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी कुछ वस्तुएँ होती हैं सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्स्वरूपा होती हैं। इसीसे अवतारविग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको सुनते-सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह चाहता है कि लाखों-करोड़ों कानोंसे यह मधुर ध्वनि सुननेको मिले तब भी तृप्ति होनी कठिन है। चिदानन्दमय श्रीकृष्णस्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ था। श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही यह नादावतार था। इसीसे उस मुरलीनिनादने प्रेममय व्रजधाममें जडको चेतन और चेतनको जड बना दिया। मोहनके वेणुनिनादने वृन्दावनके प्रत्येक आबालवृद्धमें, प्रत्येक पशु-पक्षीमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, कण-कणमें और अणु-अणुमें प्रेमानन्द भर दिया। उस वंशीनादको सुनकर विमानोंपर चढ़ी हुई सुरबालाओंके धैर्यका बन्धन छूट गया। वे सहसा मुग्ध हो गयीं। उनकी कवरियोंमें खोंसे हुए नन्दनकाननके कमनीय कुसुम हठात् वहाँसे खिसककर मर्त्यभूमिपर गिर पड़े। गन्धर्वकन्याएँ संगीत भूलकर मतवाली-सी झूमने लगीं। ऋषि, मुनि, तपस्वी, परमहंस, योगियोंकी ब्रह्म-समाधि भंग हो गयी। बरबस उनका मन वीणास्वरसे विमोहित मृगकी भाँति मुरलीध्वनिमें निमग्न हो गया। सुधाकरकी चाल बंद हो गयी। श्रीकृष्णके उस वेणुविनिर्गत ब्रह्मनादामृतका पान करनेके लिये बछड़ोंने स्तनोंका चूँघना छोड़कर केवल उन्हें मुँहमें ही रहने दिया। गौएँ चरना भूल गयीं। सुरम्य वृन्दारण्यके विहंगोंने मधुर काकलीका त्याग कर वंशीध्वनिसे झरनेवाले अनिर्वचनीय आनन्दका उपभोग

करनेके लिये आँखें मूँद लीं और श्रवणपात्रोंका मुख उस सुधाधाराके प्रवाहमें लगा दिया। सिंह-मृगादि वनचर प्राणी भय और हिंसा भुलाकर मुरलीमनोहरको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और कान तथा आँखोंको अतृप्त बोध करने लगे। महिषी कालिन्दी अपनी ऊर्मिभुजाओंको फैलाकर परम प्रियतमका आलिंगन करनेके लिये दौड़ पड़ीं। इस प्रकार दिव्य धामकी दिव्य सुधाधारा समस्त धरामण्डलमें बह चली। चेतन जीव जडवत् अचल हो गये और साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित होकर वृक्ष ही नहीं, सूखे काठतक रस बरसाने लगे। सूरदासजीने कहा है—

जब हरि मुरलीनाद प्रकास्यो।
जंगम जड थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यो॥
स्वरग पताल दसों दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीनौं।
निसि हरि कलप समान बढ़ाई गोपिनकों सुख दीनौं॥
जड सम भये जीव जल थलके तनकी सुधि न सम्हारा।
सूर स्याम मुख बेनु बिराजत पलटे सब ब्यवहारा॥

एक गोपी रसोई बना रही थी, इतनेमें मोहनकी मुग्धकारिणी मुरली बजी। मुरलीध्वनिके साथ ही मुरलीधरकी मधुर छबि गोपीके ध्याननेत्रोंके सामने आ गयी। इधर उस रसवर्षिणी मुरलीध्वनिने रस बरसाकर चूल्हेकी तमाम लकड़ियोंके हृदयको गीला कर दिया, उनमेंसे रस बहने लगा। आग बुझ गयी। परम भाग्यवती सच्चिदानन्द-प्रेमिका गोपी प्रेमका उलाहना देती हुई-सी बोली—

मुरहर! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे! भला, भोजन बनाते समय तो कृपाकर इस मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो। देखो, तुम्हारी मुरलीध्वनिसे मेरा सूखा ईंधन रसयुक्त होकर रस बहाने लगता है, जिससे चूल्हेकी आग बुझ जाती है।' इस जादूभरी मुरलीके नादने सबको उन्मत्त कर दिया। महान् योगी भी इससे नहीं बचने पाये। बचते भी कैसे? योगियोंके अनाहत नादकी जननी तो यह मुरली ही है। वंशीध्वनिकी महिमा गाते हुए भक्त कहते हैं—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

'निर्बीज-समाधिनिष्ठ परमहंसोंकी समाधिको हठात् तोड़ डालनेवाली, सुधाके माधुर्यको फीका बना देनेवाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करनेवाली, कामदेवपर विजयदुन्दुभि बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली, भगवान् श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि विश्वमें सब ओर विजयिनी हो रही है।'

वृन्दावननिवासी चराचर जीवोंका परम सौभाग्य था जो वे इस वंशीध्वनिको सुनते थे। और उन गोपीजनोंके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी ईर्ष्या करते हैं जिनको आवाहन करनेके लिये मोहन स्वयं अपनी इस मधुर मुरलीकी मधुर तान छेड़ा करते थे। वे सुनती थीं और मुग्ध होती थीं, चेतनाका विसर्जन कर देती थीं, परंतु सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं। संध्याको गोधूलिके समय जब प्राणधन श्यामसुन्दर वनसे लौटते थे, उस समय व्रज-बालाओंके झुंड-के-झुंड घरोंसे निकलकर रास्तोंमें उनकी प्रतीक्षा करते थे। एक दिन एक नवीन व्रजगोपी मुरलीध्वनिकी प्रतीक्षामें घरके बाहर दरवाजेपर खड़ी थी, उसे देखकर, वंशी और वंशीधरकी महिमाका व्याजसे बखान करती हुई दूसरी महाभागा गोपी कहती है—

सुनती हौ कहा भजि जाहु घरै बिंध जाओगी नैनके बाननमें।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिषसों बगरावति है बिष प्राननमें॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू भँवरौ जब मीठी-सी ताननमें।
कुलकानि जो आपनी राखि चहौ दै रहौ अँगुरी दोउ काननमें॥

वंशीनादसे आकृष्ट गोपीजनोंकी प्रेमविह्वल दशाका वर्णन भगवान् वेदव्यासजीने भागवतमें बहुत ही सुन्दर रूपसे किया है। भागवतका वेणुगीत प्रसिद्ध है। भावुक भक्तजन उसे अवश्य पढ़ें-सुनें।

भक्त रसखान कहते हैं—

कौन ठगौरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रँगभीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तब ही कुल-लाज बिदा करि दीनी॥
घूमै घरी-घरी नंदके द्वार, नवीनी कहा कहूँ बात प्रबीनी।
या ब्रजमंडलमें रसखानि सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥
बजी सुबजी रसखानि बजी, सुनिकै अब गोकुल-बाल न जीहै।
न जीहै कदाचित काननकौं, अब कान परी वह तान अजी है॥
अजी है, बचाओ, उपाय नहीं, अबलापर आनिकै सैन सजी है।
सजी है हमारो कहा बस है, जब बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है॥
आजु अली एक गोपलली भई बावरी, नेकु न अंग सँभारै।
मातु अघात न देवन पूजत, सासु सयानि सयानी पुकारै॥

यों रसखानि फिरो सगरे ब्रज आन कुआन उपाय बिचारे।
कोउ न कान्हराके करतें वह बैरन बाँसुरिया गहि डारै॥
ऐ सजनी वह नंदकुमार सु या बन धेनु चराइ रह्यो है।
मोहनी तानन गोधन गायन बेनु बजाइ रिझाइ रह्यो है॥
ताही समै कछु टोनौं करो रसखानि हिये सु समाइ रह्यो है।
कोउ न काहुकी कानि करै सिगरौ ब्रज बीर बिकाइ रह्यो है॥

मोहनकी मुरलीसे प्रभावित व्रजधामकी कुछ कल्पना भक्त कविके उपर्युक्त शब्दोंसे की जा सकती है। एक गोपी बाँसुरीसे तंग आकर अपनी सखियोंसे कहती है—

अब कान्ह भये बस बाँसुरिके, अब कौन सखी हमकों चहिहै।
वह रात दिना सँग लागी रहै, यह सौतको सासन को सहिहै॥
जिन मोह लियौ मन मोहनकौ, रसखानि सु क्यों न हमें दहिहै।
मिलि आओ सबै कहुँ भाजि चलें, अब तो ब्रजमें बँसुरी रहिहै॥

दूसरी एक बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना कर और उसे वंशका नाम बिगाड़नेवाली बतलाती हुई कहती है—

वै मगदायक अंधनिके, तुम अच्छिनहूकी सुचाल बिगार्‌यो।
वै जलथाह बतावत हैं, तुम प्रेम अथाहके बारिधि पार्‌यो॥
वै बर बास बसाय भले, तुम बास छोड़ाय उजारमें डार्‌यो।
का कहिये, हरिकी मुरली! तुम आपने बंसको नाम बिगार्‌यो॥

दूसरी कहती है—अरी मुरली! तेरे सौभाग्यका क्या कहना है—

अधर सेज नासा बिजन स्वर मिस चरन दबाय।
अरी सोहागिनि मुरलिया! लियो स्याम बिलमाय॥

तीसरी एक मुरलीके साथ ईर्ष्या करती हुई बड़े विनययुक्त शब्दोंमें मुरलीसे पूछती है—

मुरली! कौन तप तैं कियो।
रहत गिरधर मुखहि लागी, अधरको रस पियो॥
नंदनंदन पानि परसे तोहि तन मन दियो।
सूर श्रीगोपाल बस किय, जगतमें जस लियो॥

मुरली उत्तर देती है—

तप हम बहुत भाँति कर्‌यो।
हेम बरषा सही सिरपै घाम तनहिं जर्‌यो॥
काटि बेधी सप्त सुरसों हियो छूछो कर्‌यो।
तुमहि बेगि बुलायबेको लाल अधरन धर्‌यो॥
इतने तप मैं किये तबहीं लाल गिरधर बर्‌यो।
सूर श्रीगोपाल सेवत सकल कारज सर्‌यो॥

मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं, जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा सहती रही, ग्रीष्मकी ज्वालामें मैंने तनको तपाया। काटी गयी, शरीरको सात स्वरोंसे बिंधवाया। हृदयको शून्य कर दिया। कहीं कोई गाँठ नहीं रहने दी। इतना तप करनेपर लालने मुझको बरा है।

प्राणधन श्रीगोपालके अधरामृतका पान चाहनेवाले प्रत्येक भक्तको वंशीकी इस साधनाका अनुकरण करना चाहिये। याद रहे, जबतक लौकिक सुख-दुःखमें समता और सहिष्णुता नहीं आती, जबतक प्रियतम प्रभुके लिये तन-मनकी बलि नहीं दे दी जाती, जबतक हृदयको अन्य वासना-ग्रन्थिसे सर्वथा शून्य नहीं कर लिया जाता, तबतक प्रियतमके मधुर आलिंगनका सुख हमें नहीं मिल सकता।

मोहनकी यह मुरली आज भी बजती है, सदा बजती रहेगी। परंतु जो मुरलीकी भाँति साधनमें प्रवृत्त होगा वही इस मधुर ध्वनिको भलीभाँति सुन सकेगा। वृन्दावनके प्रातःस्मरणीय भगवत्-सखाओंने और अन्तरंगा शक्ति गोपीजनोंने अपनेको इस मुरलीकी साधनामें सिद्ध करके ही मुरलीकी ध्वनिको सुन पाया था।

उस मुरलीमें क्या बजता है और उससे जगत्को क्या दिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि ह्लादिनी सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही इस मधुर ध्वनिके द्वारा सबको दिया जाता है। **'कलं वामदृशां मनोहरम्।'** इस कलपदामृत वेणुगीतसे **'क्लीं'** पदकी सिद्धि होती है। कल=क+ल=क्ल। इसमें वामदृक् यानी चतुर्थ स्वर ईकार संयुक्त करनेपर क्ली बनता है। यह मनोहर है यानी मनके अधिष्ठात्री देवता चन्द्रको या चन्द्रविन्दुको हरण करता है। अतएव क+ल+ई+ं के संयोगसे **'क्लीं'** बनता है। यह **'क्लीं'** कामबीज है। मुरलीध्वनि यही कामबीज है। यह काम भगवत्-काम है। अतएव साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। व्रजधामके कामविजयी—मन्मथ-मन्मथ मदनमोहन तपवैराग्ययुक्त अधिकारसम्पन्न अपने भक्त-साधकोंमें इस कामबीजको वितरणकर उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं, उनके सर्वस्वका मोह छुड़ाकर, उनका सब कुछ भुलाकर उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं। साथ ही नरकोंकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध कर आत्माका पतन करनेवाले, विषय-विषका पान करनेके लिये उन्मत्त बनानेवाले गंदे कामके वशीभूत हुए जगत्के जीवोंको भी उस घृणित कामजालके फंदेसे छुड़ाकर पवित्र मधुर रसका आस्वादन करानेके लिये

इस चिन्मय नादका संचार करते हैं। कामबीजकी बड़ी महिमा है। भगवान्‌का सृष्टि-संकल्प ही कामबीज है। यही नादस्वरूप है। इसीसे सृष्टि होती है और यही जगत्स्वरूप बन जाता है। शास्त्र इस **'क्लीं'** रूप कामबीजसे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए इसका स्वरूप-निर्देश करते हैं—

ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ईकारः प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी॥
लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्तितम्।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं बिन्दुनादं समीरितम्॥

'क' कार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं। 'ई' कार महाभावस्वरूपा प्रकृति श्रीराधा हैं। 'ल' कार इन नायक-नायिकाके मिलनात्मक प्रेमसुखका आनन्दात्मक निर्देश है और नादविन्दु इस माधुर्यामृतसिन्धुको परिस्फुट करनेवाले हैं।

यह श्रीराधाकृष्णका मिलन दिव्य है। यह आत्म-रमण है। (**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**) यह अपने ही स्वरूपमें सच्चिदानन्द-भगवान्‌की लीला है। इस लीलाका विकास **'क्लीं'** रूप मुरलीनिनादसे ही होता है। यह मुरलीनाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है। ब्रह्मरूप है। यही नादब्रह्म है।

बालगोपाल सच्चिदानन्दकी स्तुति

एक बार सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथी गोपबालकों और बछड़ोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ पूतना तथा बकासुरका भाई अघासुर एक बहुत बड़े अजगरका रूप बनाकर इस ताकमें बैठा था कि 'कब श्रीकृष्ण आवें और मैं उनका वध करूँ।' उस अजगररूप राक्षसका आकार इतना बड़ा था कि वह एक पर्वतकी श्रेणी-सा जान पड़ता था। उसको देखकर ग्वाल-बाल आपसमें कहने लगे 'देखो न, यह कैसा विचित्र अजगराकार पर्वत है, ऐसा जान पड़ता है कि इस पर्वतरूपी अजगरका ऊपरी होंठ बादलोंसे मिला हुआ है तथा नीचेका नदीपर रखा है। इसकी ये गुफाएँ दो जबड़ेकी तरह, चोटियाँ दाढ़ोंकी तरह और यह चौड़ा-सा मार्ग जिह्वाकी तरह जान पड़ता है।' यह कहते और हँसते-खेलते सभी ग्वाल-बाल अपने बछड़ोंके समेत उस भयानक अजगरके मुखमें प्रवेश कर गये। भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार अपने मित्रोंको अघासुरके मुँहमें पड़ा हुआ देखा, तो वे झटपट उस दुष्ट राक्षसके वध और अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये स्वयं भी उसके मुँहमें पैठ गये।

अघासुर तो यह चाहता ही था, उसने भगवान्‌के घुसते ही अपना मुँह बंद कर लिया। किंतु भगवान्‌के सामने उसकी शक्ति ही क्या थी? भगवान्‌ने अपने शरीरको बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इससे अघासुरके गलेमें डाट-सी लग गयी और उसका दम घुटने लगा। अन्तमें उसकी दोनों आँखें बाहर निकल पड़ीं और वह मौतके घाट छटपटाने लगा। तबतक उसके प्राण-पखेरू भी ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर ज्योतिरूपमें बाहर निकल आये। तब भगवान्‌ने अपना पहले-जैसा बालरूप बना लिया और ग्वाल-बाल तथा बछड़ोंके सहित हँसते-हँसाते बाहर निकल आये। अघासुरके शरीरसे निकली हुई दिव्य-ज्योति भगवान्‌में समा गयी।

इसके अनन्तर भगवान् विचरते हुए यमुना-तटपर पहुँचे और वहाँ भोजनकी तैयारी करने लगे। ग्वाल-बालोंने अपनी-अपनी भोजनकी पोटलियाँ खोलीं और जितने भोज्य-पदार्थ थे, सब एकमें मिलाकर एक-दूसरेको बाँट दिये गये। भगवान्‌ने अपने बायें हाथकी हथेलीमें ग्रास रखा, अँगुलियोंमें चटनी आदि रखी और सब बालकोंके मध्यमें खड़े होकर, सबको हँसाते हुए भोजन करने लगे। तबतक सबने बछड़ोंपर दृष्टि डाली। बछड़े वहाँ नहीं थे, वे हरी-हरी घास चरते कहीं दूर निकल गये थे। यह देखकर गोपबालक आतुर हो उठे। भगवान्‌ने उन सबको धीरज बँधाते हुए कहा—'तुमलोग भोजन करना न छोड़ो। मैं अभी बछड़ोंको ले आता हूँ।' ऐसा कहकर उसी प्रकार हाथमें भोजनकी सामग्री लिये हुए भगवान् आगे बढ़ गये।

बात यह थी कि ब्रह्माजीको अघासुरका आश्चर्यजनक मोक्ष देखकर यह उत्कण्ठा पैदा हो गयी कि वे भगवान्‌की और भी अधिक आनन्ददायिनी महिमा देखें। इसीसे उन्होंने बछड़े छिपा दिये थे। यहींतक नहीं, भगवान् जब ग्वाल-बालोंको छोड़कर आगे बढ़ गये, तब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालोंको भी एक पर्वतकी कन्दरामें छिपाकर सुला दिया। किंतु ब्रह्माजीकी यह सारी करतूत भगवान्‌से

कब छिपी रह सकती थी! जगत्-प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णने अपने मनमें यह विचार किया कि 'यदि मैं इस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंको घर नहीं ले जाऊँगा तो उनकी माताओंको अत्यन्त दुःख होगा। परंतु यदि ब्रह्माजीद्वारा चुराये गये ग्वाल-बाल और बछड़ोंको लौटाता हूँ तो ब्रह्माजीको मोह नहीं होगा।' अतः भगवान्ने एक लीला रची, उन्होंने अपनेको ही उन नाना प्रकारके गोवत्स और गोपालोंके रूपमें परिणत कर दिया।

भगवान्ने जिन गोवत्सों और गोप-बालकोंको बनाया, वे ठीक उन्हीं गोवत्सों और गोप-बालकोंके समान थे, जिनको ब्रह्माजीने छिपा रखा था। ये ठीक उन्हीं-जैसी शकल-सूरतवाले, उन्हीं-जैसे सजे-बजे और वंशी लिये हुए थे। गोकुलमें पहुँचकर सब बालक और बछड़े अपनी-अपनी जगहपर चले गये। उनके माता या पिता किसीको भी यह भ्रम नहीं हुआ कि 'वे उनके बालक नहीं हैं।' बल्कि भगवत्-रूप होनेके कारण उन बछड़ों और बालकोंमें उनकी प्रीति और भी बढ़ गयी!

इधर ब्रह्माजीने इस कार्यमें अपनी दृष्टिसे केवल रंचमात्रका समय लगाया था, किंतु उनके इतने ही समयमें व्रजवासियोंका एक वर्ष व्यतीत हो गया। ब्रह्माजी अपने छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको भगवान्के साथ देखकर बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सोचने लगे कि 'मैंने तो इन्हें छिपाकर सुला रखा है, ये उतने ही बछड़े, वैसे ही बालक भगवान्के पास कैसे आ गये?' ब्रह्माजीने इस रहस्यको समझनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु वे कुछ भी नहीं समझ सके। उन्हें यह कुछ भी नहीं मालूम पड़ा कि ये बछड़े और ग्वाल-बाल सत्य हैं या मायारचित हैं! इस प्रकार ब्रह्माजी मोहरहित किंतु जगत्को मोहित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको मोहमें डालनेके लिये प्रवृत्त हुए थे, परंतु उनको अपनी मायासे स्वयं ही मोहित हो जाना पड़ा!

मोहमग्न ब्रह्माजीने देखा कि उनके सामने जितने बछड़े और गोप-बालक थे, सभी चतुर्भुज-मूर्ति हो गये हैं और हमारे-जैसे अनेकों ब्रह्मा देवताओंके साथ उनका पूजन कर रहे हैं! अब तो ब्रह्माजीके मोहका कुछ ठिकाना ही न रहा। वे मायामें सर्वथा डूब गये। इतनेमें दयामय भगवान्ने उनका क्लेश दूर करनेके लिये अपनी मायाका परदा हटा लिया। ब्रह्माजीकी आँखें खुलीं, उस समय उन्होंने केवल भगवान्को ही देखा। बस, क्या था, वे दौड़े हुए गये और सुलाकर छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको जल्दीसे लाये। इसके पश्चात् भगवान्के चरणोंमें दण्डकी भाँति गिरकर गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे (श्रीमद्भागवत १०। १४—)

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

हे स्तुत्य! मेघके समान श्यामल शरीरधारी! बिजली-जैसे चमकीले वस्त्रोंसे आच्छादित, गुंजाओंके झूमकों और मोरपंखोंके मुकुटसे सुशोभित मुखवाले! गलेमें वैजयन्ती माला, हाथोंमें ग्रास, बेंत, सींग और वंशी धारणकर इनकी शोभासे युक्त हुए कोमल चरणोंवाले! नन्दगोपके लाड़ले! आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥ २ ॥

हे देव! भक्तोंकी इच्छाके अनुसार प्रकट हुए और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अतिसुलभ अवतारकी, जो पांचभौतिक नहीं, अपितु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं (ब्रह्मा) समर्थ नहीं हूँ। अथवा और भी कोई समर्थ नहीं है। जब अवतारकी महिमा नहीं जानी जाती तो आत्मसुखके अनुभवसे ज्ञात होनेवाले गुणातीतस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको एकाग्र किये गये मनसे भी जाननेके लिये कौन समर्थ होगा? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है!

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥ ३ ॥

जो लोग ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कुछ भी प्रयास न करके, केवल साधुओंके निवास-स्थानमें रहकर भक्तोंके मुँहसे स्वभावतः नित्य प्रकटित हुई, आप (भगवान्)-की चर्चाको सुनकर, उसका शरीर, वाणी और मनसे आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, हे अजित! उन पुरुषोंने त्रिलोकीमें औरोंसे नहीं जीते जानेवाले आपको भी जीत लिया है (अर्थात् उनको आप प्राप्त हो गये हैं)।

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥ ४॥

हे प्रभो! जैसे सरोवरसे अनेकों स्रोत बहते हैं, वैसे ही आपकी भक्तिसे कल्याणरूपी स्रोत बहते हैं। आपकी ऐसी भक्तिको त्यागकर जो पुरुष केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, उनको केवल क्लेश ही मिलता है, जैसे धानकी भूसी (छिलके)-को कूटनेवालेको केवल क्लेश ही शेष रहता है—चावल नहीं मिलते।

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ ३४॥

(हे नाथ!) मुझको वैसा परम सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे मनुष्यलोकमें, विशेषतः गोकुलमें और उससे भी विशेषतः व्रजके वनमें (पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट आदि योनियोंमेंसे) किसी भी योनिमें मेरा जन्म हो। वहाँपर इन गोकुलवासियोंमेंसे किसीकी तो चरणरजका अभिषेक मेरे ऊपर होगा! क्योंकि उनका जीवन मुकुन्दपरायण है। अर्थात् उनके गृह, वृत्त, पुत्रादि सर्वस्व भगवान् मुकुन्द ही हैं, जिनकी चरणरजको भगवती श्रुति भी अनादिकालसे अबतक खोजती है (परंतु देख नहीं पाती)।

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥ ३५॥

हे देव! आप भी इन व्रजवासियोंको सर्वफलरूप अपने स्वरूपसे बढ़कर कहाँ क्या फल देंगे—इस विषयमें विचार करता हुआ, (इनके पुण्यानुरूप स्थानको सर्वत्र खोजता हुआ) हमारा (ब्रह्मा, रुद्र, सनक आदिका) चित्त मोहको प्राप्त होता है, क्योंकि आपके स्वरूपसे बढ़कर कोई स्थान ही नहीं है। (यदि कहिये कि अपनेको ही देकर मैं उऋण हो जाऊँगा, तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि) हे देव! केवल भक्तोंके वेशका अनुकरण करनेसे पापिनी पूतना अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ आपको ही प्राप्त हुई। तो क्या, जिनके शरीर, धन, मित्र, पुत्र, प्रिय, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सब कुछ आपके ही निमित्त हैं, उन्हें भी वही फल देंगे, जो राक्षसोंको दिया था? नहीं, वह तो बहुत थोड़ा है, अतः ऋणी रहना ही ठीक है!

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥ ३६॥

श्रीकृष्ण! जबतक मनुष्य आपकी शरणमें नहीं आता, तभीतक राग-द्वेषादि चोरकी भाँति व्यवहार करते हैं, तभीतक यह घर कारागृह-सा है और तभीतक पैर मोहरूपी बेड़ीसे बँधे हैं।

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो॥ ३७॥

प्रभो! आप प्रपंचसे अलग होते हुए भी शरणमें आये हुए जनसमूहके आनन्दका विस्तार करनेके लिये इस भूतलमें पुत्रादिरूप प्रपंचका अनुकरण करते हैं। (नकली पुत्रका रूप स्वीकार करके गोपोंकी सच्ची सेवासे आप अनृण नहीं हो सकते।)

श्रीकृष्णकी नित्य प्रातःक्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण नित्य प्रातःकाल क्या-क्या क्रिया करते थे, इसका वर्णन भागवतमें किया गया है। भगवान्‌की नित्य क्रियाओंको देखनेसे पता लगता है कि आर्य द्विजातियोंका आदर्श उस समय क्या था और आज उनमें कितना बुरा परिवर्तन हो गया है। भगवान्‌की प्रातःक्रियाका वर्णन करते हुए शुकदेवजी कहते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार संध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने॥
गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत्॥

(श्रीमद्भा० १०।७०।४—१०)

'भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर हाथ-पैर धोकर जलसे आचमन करके सब इन्द्रियोंको प्रसन्न करके मनको प्रकृतिसे आत्मामें लगा दिया अर्थात् आत्मध्यान करने लगे। वे केवल, स्वप्रकाश—उपाधिशून्य, अविनाशी, अखण्ड, अज्ञानरहित और जगत्की उत्पत्ति तथा नाशका कारण जो अपनी शक्तियाँ हैं, उनके द्वारा ही जिनकी सत्ता समझमें आती है, ऐसे श्रीकृष्ण ब्रह्म नामक अपने ही सच्चिदानन्द-स्वरूपके ध्यानमें मग्न हो गये। तदनन्तर सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णजीने शुद्ध जलमें स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने और विधिपूर्वक संध्योपासनादि नित्य-क्रिया और अग्निमें हवन करके वे मौन होकर गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। फिर सूर्य उदय होनेपर श्रीहरिने खड़े होकर सूर्यका उपस्थान किया, पश्चात् अपने ही अंशरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करके उन आत्मवान् स्वरूपस्थित परमात्मा श्रीकृष्णने बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंकी पूजा की। इसके बाद आपने ब्राह्मणोंको वस्त्र, आसन और तिलसहित १३,०८४ गौएँ दान दीं। आप प्रतिदिन ही इतनी गौएँ दान दिया करते थे। उन गौओंके सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मँढ़े हुए थे, गलेमें मोतीकी मालाएँ पड़ी थीं, वदनपर सुन्दर झूले उढ़ायी हुई थीं। ऐसी दुधारी, एक बारकी ब्याई, सुशीला, बछड़ेसहित गौएँ देकर श्रीकृष्णने अपनी विभूति गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु और सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रणाम किया और मांगलिक पदार्थोंका स्पर्श किया।'

यह श्रीकृष्णकी दैनिक प्रातःकालकी नित्यक्रिया थी, इसके साथ आजके भारतीय द्विजातियोंकी क्रियाका मिलान कीजिये—

तब	अब
ब्राह्म मुहूर्तमें उठना।	आठ बजेतक पड़े रहना।
आत्माका ध्यान करना।	अखबार पढ़ते हुए संसारके प्रपंचोंका स्मरण करना।
शुद्ध जलमें स्नान करना।	चर्बीमिश्रित साबुन और प्रायः मद्ययुक्त सुगन्ध—लगा नलके अपवित्र जलमें नहाना।
संध्योपासना करना।	परचर्चा करना।
हवन करना।	धूम्रपान करना।
गायत्री-जप करना।	जप करनेवालोंकी दिल्लगी उड़ाना।
देवता, ऋषि, पितृ-तर्पण।	अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी चिन्तामें परिवारके लोगोंका बुरा सोचना।
बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंको पूजना।	बड़े-बूढ़ोंको मूर्ख बताना और ब्राह्मण-निन्दा करना।
ब्राह्मणोंको गौदान देना।	ब्राह्मण-अतिथियोंको घरसे निकाल देना।

विचार कीजिये और अपना कर्तव्य निश्चित कीजिये।

अद्भुतकर्मी श्रीकृष्ण

शोणास्निग्धाङ्गुलिदलकुलं जातरागं परागैः
श्रीराधायाः स्तनमुकुलयोः कुंकुमक्षोदरूपैः।
भक्तश्रद्धामधुनखमहः पुञ्जकिञ्जल्कजालं
जंघानालं चरणकमलं पातु नः पूतनारेः॥

भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं, उनके पवित्र कर्मोंका रहस्य कौन जान सकता है? उन्होंने अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म किये हैं, जिन्हें पढ़कर आश्चर्यमें डूब जाना पड़ता है, यहाँ ऐसे ही अद्भुत कर्मोंमेंसे कुछका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

अवतरण

भाद्रकृष्णा ८ के दिन कंसके कैदखानेमें आधी रातके समय भगवान् प्रकट हुए। वसुदेवने देखा 'बड़ा ही अद्‌भुत बालक है, उसके विशाल नेत्र हैं, चार भुजाएँ शंख, चक्र, गदा, पद्मसे शोभित हैं, वक्ष:स्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि चमक रही है, नव-नील-नीरद श्यामशरीरपर पीताम्बर शोभायमान है, सुन्दर काले घुँघराले केशोंपर महामूल्यवान् वैदूर्यमणियोंसे जड़ा हुआ किरीट-मुकुट है, कानोंमें मकराकृति कुण्डल है, अति उत्तम मेखला, अंगद, कंकण आदि आभूषणोंसे शरीरकी प्रतिभा और भी बढ़ रही है।' भगवान्‌के अंगोंकी प्रभासे अन्धकारमय कारागृह परम प्रकाशमय हो गया, वसुदेव-देवकीने भगवान् समझकर स्तुति की, भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा कि 'स्वायम्भुव मन्वन्तरमें तुम्हारा नाम सुतपा-पृश्नि था, तुम दोनोंने दिव्य बारह हजार वर्षतक मुझमें तन्मय होकर तप किया था। मैंने तुमलोगोंको दर्शन दिये, परंतु मेरी मायासे मोहित हो तुमलोगोंने मुक्ति नहीं माँगी। तुमने मेरे समान पुत्र चाहा, इससे मैं स्वयं पृश्निगर्भ नामसे तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ था। दूसरे जन्ममें तुम कश्यप और अदिति थे, तब मैं उपेन्द्र या वामन नामसे तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे अवतरित हुआ था। यह तुम्हारा तीसरा जन्म है, तुमलोगोंके पूर्वजन्मकी बातें स्मरण दिलानेके लिये ही मैंने तुम्हें अपना चतुर्भुज स्वरूप दिखलाया है। पुत्रभाव या ईश्वरभावसे मेरा ध्यान तथा मुझपर स्नेह करनेके कारण तुमलोगोंको परम गति प्राप्त होगी।'

इतना कहकर भगवान् बालक बन गये। वसुदेवजी उनके आज्ञानुसार उन्हें गोकुल ले जानेका उद्योग करने लगे, पैरोंकी बेड़ियाँ खुल गयीं, जेलका दरवाजा खुल गया, पहरेदार अचेत हो गये। यमुनाने रास्ता दे दिया। वसुदेवजीने गोकुल पहुँचकर श्रीकृष्णको यशोदाके पास सुला दिया और यशोदाकी कन्याको ले आये। बंदीगृहमें वापस लौटते ही द्वार बंद हो गये, पैरोंमें बेड़ियाँ पड़ गयीं और पहरेदार सजग हो गये।

कुबेरपुत्रोंका उद्धार

नलकूबर और मणिग्रीव नामक कुबेरके दो पुत्र शराब पीकर स्त्रियोंके साथ नंगे गंगामें विहार कर रहे थे। नारदजी वहाँ जा पहुँचे। उनके सामने भी वे धनके मदमें अंधे होनेके कारण नंगे ही खड़े रहे, उनकी यह दशा देखकर देवर्षिने उनपर अनुग्रह करके उन्हें शाप दिया—नारदजीने कहा—'अहो! धनके घमंडमें स्त्री-संग, जुआ और शराबखोरी बढ़ जाती है, ऐश्वर्यका मद विषयासक्त मनुष्यकी बुद्धिको बिलकुल भ्रष्ट कर देता है। लक्ष्मीके मदमें अंधे हुए दुष्टके लिये दरिद्रता ही असली अंजन है। ये कुबेरके पुत्र भी मदान्ध होकर जडकी तरह खड़े हैं। इससे इनको स्थावर जड-योनि ही मिलनी चाहिये। ऐसा होनेसे इनके घमण्डका नशा उतर जायगा। ये एक सौ दिव्य वर्षोंतक वृक्ष होकर रहेंगे, परंतु उस जड-योनिमें भी इन्हें स्मरण-शक्ति रहेगी, अन्तमें इन्हें भगवान् श्रीहरि दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे, तब इनकी वह योनि दूर हो जायगी।' नारदजीके शापसे नलकूबर-मणिग्रीव दोनों भाई जुड़े हुए अर्जुनके वृक्ष हुए।* अपने भक्त देवर्षि नारदकी वाणी सत्य करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने लीला रची। आप इस समय छोटेसे बालक थे। एक दिन यशोदा मैयाकी आँख चुराकर आप ऊखलपर चढ़ गये और छीकेसे माखन उतारकर खुद खाने लगे और वानरोंको लुटाने लगे। इतनेमें माता आ गयीं। उनको बड़ा गुस्सा आया। पकड़कर ऊखलसे बाँधने लगीं। भगवान् शिशुकी तरह रोने-चिल्लाने लगे। रस्सी छोटी हो गयी, माता और रस्सी लायी, वह भी छोटी हो गयी। यशोदाने घरसे और अड़ोसी-पड़ोसियोंके यहाँसे सारी रस्सियाँ ला-लाकर जोड़ दीं, परंतु वे श्रीकृष्णको न बाँध सकीं, रस्सी दो अंगुल छोटी ही रह गयी। माँ थक गयीं, शरीर पसीनेसे भींग गया, भगवान्‌को दया आयी और आप ही बँध गये। इसीसे आपका नाम 'दामोदर' पड़ा। माता दूसरे काममें लगी। इधर आप ऊखलसहित रस्सीको खींचते-खींचते दोनों वृक्षोंके बीचमें चले गये और ऊखलको उनमें अड़ाकर जोरसे खींचा। भगवान्‌की शक्तिसे दोनों वृक्ष जड़से उखड़कर जमीनपर गिर पड़े। भयानक शब्दसे आकाश भर गया। वृक्षोंके गिरते ही उनमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्ध पुरुष निकले, इन दोनों कुबेरपुत्रोंने जगदीश्वर श्रीकृष्णको दण्डवत् प्रणामकर उनकी स्तुति करते हुए, अन्तमें वरदान माँगा—

* इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि किसी भी वस्तुके मदमें चूर नहीं होना चाहिये तथा बड़ोंके सामने कभी अशिष्टाचरण नहीं करना चाहिये।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।३८)

'भगवन्! हमारी वाणी आपके गुणगानमें लगी रहे, हमारे कान आपकी कथाके परायण रहें, हाथ आपकी सेवामें, चित्त आपके चरणोंके चिन्तनमें, सिर आपके निवासस्थल सम्पूर्ण संसारको प्रणाम करनेमें और दृष्टि आपकी प्रत्यक्षमूर्ति संतोंके दर्शनमें लगी रहे।' भगवान्‌की दयासे वे कृतकृत्य होकर उत्तर-दिशाको चले गये।

ब्रह्माजीको लीलाप्रदर्शन

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ परस्पर हँसते-हँसाते हुए तन्मय होकर बालवत् भोजन कर रहे थे। इसी अवसरमें उनके सारे बछड़े हरी घासके लोभसे दूर चले गये। बछड़ोंको दूर निकले देखकर ग्वाल-बालक डरे। तब श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'तुम डरो नहीं, बछड़ोंको मैं अभी लौटा लाता हूँ।' इतना कहकर आप भोजनका ग्रास हाथमें लिये ही अपने मित्रोंके बछड़ोंकी खोजमें चल दिये। ब्रह्माजी भगवान्‌की यह सारी लीला देख रहे थे, उन्हें मायाशिशु हरिकी लीला देखकर मोह हो गया। भगवान् श्रीहरिकी महिमा देखनेकी इच्छासे ब्रह्माजी पहले तो बछड़ोंको हर ले गये और अब श्रीकृष्णके चले जानेपर सारे ग्वाल-बालोंको उठा ले गये तथा सबको अचेतकर अपने लोकमें रख आये।

भगवान् लौटकर आये और ग्वालबालोंको न पाकर तथा यह सारी करतूत ब्रह्माजीकी समझकर ग्वाल-बालकों और बछड़ोंकी माता गोपियों और गौओंको संतुष्ट रखने तथा ब्रह्माको छकानेके लिये, विश्वरचयिता हरि स्वयं उतने ही बछड़े और बालक बन गये। जिस बछड़े और बालकका जैसा शरीर, जैसे हाथ-पैर, जैसी लकड़ी, जैसी सींगड़े, जैसी बाँसुरी, जैसा छींका, जैसे कपड़े और गहने थे तथा जैसा शील, गुण, नाम, आकृति, प्रकृति, अवस्था और आहार-विहार आदि था, सर्व-स्वरूप श्रीहरिने ठीक वैसे ही प्रकट होकर सारा विश्व 'विष्णुमय' है, इस बातको प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया। गोपियों और गौओंका स्नेह बालकों और बछड़ोंपर असीम रूपसे बढ़ गया। पहले व्रजवासियोंका श्रीकृष्णपर परम स्नेह था, परंतु अब वह अपने-अपने पुत्रोंपर अत्यधिक हो गया। छोटे बछड़े पास होनेपर भी गौएँ इन बड़े बछड़ोंको देखकर दौड़ छूटती थीं और उनके स्तनोंसे दूध बहने लगता था, बड़े-बूढ़े गोप अपने पुत्रोंको गले लगाकर बड़ी कठिनाईसे स्नेहकी उमंगको रोक सकते थे। इन सबका कारण यह था कि प्रेमार्णव श्रीकृष्ण ही सब कुछ बने हुए थे। सालभर यों ही बीत गया। श्रीबलदेवजीको व्रजवासी स्त्री, पुरुष और गौओंका अपने पुत्रोंपर स्नेह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ज्ञाननेत्रोंसे देखा तो उन्हें दिखलायी दिया कि बछड़े और उनकी रक्षा करनेवाले ग्वाल-बालक सभी श्रीकृष्णरूप हैं। बलदेवजीके पूछनेपर श्रीभगवान्‌ने उन्हें सारा भेद बतलाया। ब्रह्माजीने आकर देखा कि श्रीकृष्ण पूर्वकी भाँति उसी प्रकार अपने साथी ग्वाल-बालोंके साथ खेलते-खाते हुए बछड़े चरा रहे थे। उनको बड़ा अचरज हुआ, उन्होंने अपने लोकमें जाकर देखा कि बालक और बछड़े ज्यों-के-त्यों अचेत पड़े हैं। फिर आकर देखा तो यहाँ भी पूर्ववत् सब दिखलायी दिये। अब इन्हें यह भ्रम हो गया कि इन दोनोंमेंसे वास्तवमें कौन-से बालक और बछड़े असली हैं और कौन-से नकली हैं। ब्रह्माजीकी बुद्धि चकरा गयी। इतनेमें उन्हें दिखायी दिया कि समस्त बछड़े और उनके रक्षक बालक श्रीकृष्णरूप हो रहे हैं। सभी श्यामसुन्दर पीताम्बर पहने, चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये और किरीट, कुण्डल, हार, वनमाला आदि आभूषण तथा भक्तोंद्वारा अर्पित की हुई तुलसीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। ब्रह्मासे लेकर एक तिनकेतक समस्त चराचर जीव मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा कर रहे हैं। आठों सिद्धियाँ, विभूतियाँ, चौबीसों तत्त्व, काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि सभी मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की उपासनामें लगे हैं। यह सब चमत्कार देखकर ब्रह्माजी बेसुध होकर गिर पड़े। जब ब्रह्माजीको बाह्यज्ञान हुआ तब उन्होंने देखा कि अच्युतकी विहारभूमि होनेके कारण श्रीवृन्दावन काम, क्रोध, लोभ आदि संसारके तापोंसे रहित रम्य और मनोहर वस्तुओंसे पूर्ण है। वहाँ सभी निर्वैर और सुखी हैं। अद्वितीय, परम, अनन्त, अगाधबोध ब्रह्म गोपबालकरूप नाट्यवेष धरकर हाथमें भोजनका ग्रास लिये पहलेकी भाँति इधर-उधर खोये हुए बछड़ों और बालकोंको

खोज रहे हैं। यह देखते ही ब्रह्माजी कनक-दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रणामकर आनन्दाश्रुओंकी धारासे उनके चरण धोने लगे। तदनन्तर उठकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३४)

'इस भूमिपर, वृन्दारण्यमें और उसमें भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्यका विषय है, क्योंकि यहाँपर जन्म लेनेसे किसी-न-किसी आपके प्यारे गोकुलवासीकी चरणधूलि सिरपर पड़ ही जायगी। गोकुलवासी धन्य हैं, समस्त श्रुतियाँ निरन्तर जिनकी खोजमें लगी हुई हैं, वही आप इन व्रजवासियोंके जीवन हैं।'

परंतु भगवन्!

विषविषमस्तनापि कृतमातृसुवेशतया
समजनि पूतना तव सुधाम्नि सहावरजा।
धनजनजीवनाद्यखिलदानकृतां किमहो
व्रजपुरवासिनां विवरितेति भवाम्यपधीः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पूतना राक्षसी स्तनोंमें विषम विष लगाकर भी माताका-सा सुन्दर वेश धारण कर आयी थी, इसीसे वह अपने छोटे भाई (बकासुर) सहित आपके सुन्दर परम धामको प्राप्त हो गयी। तब फिर इन व्रजवासियोंको आप क्या देंगे, जिन्होंने अपना धन-जन, जीवन, माता, पिता, वन-बगीचे आदि सब आपके अर्पण कर दिये हैं? इसलिये आपका इनके प्रेम-ऋणमें बँधे रहना ही उचित है। इस प्रसंगको देखकर मेरी बुद्धि विलुप्त-सी हो रही है।'

जगत्-स्रष्टा ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति, प्रदक्षिणा और उन्हें प्रणामकर तथा भगवान्‌की आज्ञा लेकर अपने लोकको चले गये।

दावानल-पान

एक बार आधी रातके समय रेंड़के वनमें आग लग गयी। आगने सबको घेर लिया। व्रजवासी भगवान्‌से पुकार मचाने लगे। अनन्त शक्तिशाली जगदीश्वर भगवान्‌ने स्वजनोंको विकल देखकर तत्काल ही अग्निको पी लिया। इसी प्रकार एक बार फिर आग लगी, तब पुनः सबने श्रीकृष्ण-बलदेवको पुकारकर कहा—'हे कृष्ण! हे बलरामजी! आप महान् बलशाली और अपरिमित पराक्रमी हैं, इस दुर्दान्त दावानलसे हमें बचाइये।' भगवान्‌ने कहा—'तुमलोग डरो मत, आँखें मूँद लो।' भगवान्‌के आज्ञानुसार जब सबने आँखें बंद कर लीं, तब योगाधीश्वर श्रीकृष्ण तुरंत अग्निको पी गये और इस प्रकार श्रीहरिने अपने जनोंको बचा लिया।

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्॥

(श्रीमद्भा० १०।१९।१२)

गोवर्द्धन-पूजा

व्रजमें प्रतिवर्ष इन्द्रका यज्ञ हुआ करता था, कालरूपभगवान्‌ने इन्द्रका दर्प चूर्ण करनेकी इच्छासे नन्दजी आदिको समझाकर इन्द्रका यज्ञ बंद करा दिया और उसके बदलेमें गोवर्द्धन-पर्वत और गौओंकी पूजा करवायी। भगवान्‌के आज्ञानुसार ब्राह्मणोंको दान दिया गया, गौओंको हरी घास और बढ़िया चारा खिलाया गया, तदनन्तर सब गोपियाँ सज-धजकर छकड़ोंपर सवार हो श्रीकृष्णके गुणगान करती हुई गिरिराजकी प्रदक्षिणा करने लगीं। फिर सब पहाड़पर गये, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं वहाँ दूसरे चतुर्भुज विशाल रूपमें प्रकट हो गये। भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे शरीरको व्रजवासियोंसहित प्रणाम किया और स्वयं उनकी पूजा करने लगे। इस प्रकार पूजाकर, करवाकर भगवान् सबको साथ लेकर व्रजमें लौट आये। इन्द्रने इस घटनासे अपना बड़ा अपमान समझा और व्रजको विध्वंस करनेके लिये वे प्रलयकालीन वर्षा करने लगे। बिजली कड़काने, ओले बरसाने, आँधी चलाने और जलराशि बरसानेमें इन्द्र जहाँतक शक्ति रखते थे, आज उसका पूरा प्रयोग करनेको तैयार हो गये। गोप-गोपियाँ घबराकर श्रीकृष्णके शरणापन्न हुईं, भगवान्‌ने उन्हें धीरज देकर लीलापूर्वक एक ही हाथसे गोवर्द्धन-गिरिको वैसे ही उखाड़कर उठा लिया, जैसे कोई बच्चा खेलते-खेलते धरतीके बरसाती छत्तेको अनायास ही उखाड़ ले—

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥

(श्रीमद्भा० १०।२५।१९)

समस्त व्रजवासी अपने घरके सामान और गाय-

बैलोंको लेकर उसके नीचे आ गये। श्रीकृष्णने भूख, प्यास, व्यथा और सुखकी इच्छा छोड़कर इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक पहाड़को उसी प्रकार अचल-अटलरूपसे हाथपर उठाये रखा। गोप-गोपियाँ भगवान्‌के इस अलौकिक कर्मको देखकर तथा अपनेको ऐसे महान् परम पुरुषके कृपापात्र समझकर आश्चर्य तथा प्रेमभरी एकटक दृष्टिसे श्रीकृष्णके अम्लान मधुर मुखकी ओर देखती रहीं। भगवान्‌के इस अद्‌भुत कार्यको देखकर इन्द्र चकरा गये, उनका सारा अभिमान चूर्ण हो गया। इन्द्रने थककर वर्षा बंद कर दी, सूर्यदेव निकल आये। गोप-गोपी पहाड़के नीचेसे निकलकर श्रीकृष्णको यथायोग्य सत्कार, पूजन, आलिंगन और आशीर्वादसे प्रसन्न करने लगीं। इन्द्र आये और उन्होंने आते ही अपना सूर्यसदृश तेजपूर्ण मुकुट उतारकर भगवान्‌के चरणोंपर रख दिया और स्तुति करते हुए अन्तमें कहा—

मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २७। १२-१३)

'भगवन्! मुझको बड़ा अभिमान था, इसीसे यज्ञका न होना देखकर मैंने क्रोधमें पागल हो प्रचण्ड वर्षा और तूफानसे व्रजको विध्वंस करना चाहा था। स्वामिन्! आपने मेरा दर्प चूर्ण करके बड़ा ही अनुग्रह किया, मेरा उद्योग नष्ट होनेसे मुझे मालूम हो गया कि मुझसे भी अधिक शक्तिशाली कोई हैं। अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मस्वरूप आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।'

भगवान्‌ने उत्तरमें जो शब्द कहे, वे प्रत्येक मनुष्यको सदा अपने हृदयमें धारण करके रखने चाहिये। आपने कहा—

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्‌भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २७। १५-१६)

'देवराज! तुम ऐश्वर्यके मदमें मतवाले हो गये थे, इसीसे मैंने तुमपर अनुग्रह करके (तुम्हारी आँखें खोलनेके लिये) तुम्हारा यज्ञ रोक दिया, अब तुम मेरा स्मरण करो। जो मनुष्य ऐश्वर्यके मदसे अंधा हो जाता है, वह मुझ दण्डपाणिको नहीं देख पाता, ऐसे लोगोंमेंसे मैं जिसपर कृपा करना चाहता हूँ, उसकी सम्पत्ति हर लेता हूँ जिससे उसका मद उतर जाता है।'

इसके बाद उदार चित्तवाली सुरभी गौने गोपरूप भगवान्‌को प्रणाम किया और स्तुति करनेके अनन्तर अपने दुग्धसे उनका अभिषेक किया। तदनन्तर माता अदितिकी आज्ञासे इन्द्रने भी देवोंके साथ ऐरावतद्वारा लाये हुए आकाशगंगाके पवित्र जलसे भगवान्‌का अभिषेक किया और उनका 'गोविन्द' नाम रखा।

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम्॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २७। २८)

'इस प्रकार गो और गोकुलके स्वामी गोविन्दका अभिषेक करके उनकी अनुमति लेकर इन्द्र अपने देवताओंसमेत स्वर्गलोकको लौट गये।'

वरुणलोकमें पूजा

श्रीनन्दजीने एकादशीका व्रत किया था, द्वादशी बहुत थोड़ी होनेके कारण वे शीघ्र पारण करनेके लिये, सूर्योदयसे बहुत ही पहले आसुरी बेलामें ही स्नानार्थ यमुनाजीमें घुस गये। वरुणका एक जलचारी अनुचर वहाँ घूम रहा था, वह उन्हें पकड़कर वरुणके पास ले गया। सबेरा हो गया, नन्दजी जलसे बाहर नहीं निकले यह देखकर सब घबरा गये। चारों ओर 'कृष्ण बचाओ', 'बलराम दौड़ो' की पुकार मच गयी। श्रीकृष्णजी सारे भेदको जान सबको धीरज देकर वरुणलोकमें चले गये। वहाँ पहुँचते ही लोकनायक वरुणने बड़े ही समारोहसे उनका स्वागत-पूजन करते हुए कहा—

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना॥
अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २८। ५—७)

'प्रभो! आज मेरा जीवन सफल हो गया, आज मुझे महान् सम्पत्ति प्राप्त हो गयी। आपके चरण-सेवक मोक्ष लाभ करते हैं, आज मैं भी मुक्त हो गया। स्वामिन्! आप परम ब्रह्म हैं, आप परमात्मा हैं, भ्रम उत्पन्न करनेके लिये लोक-सृष्टिकी कल्पना करनेवाली माया

आपमें नहीं सुन पड़ती। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। प्रभो! कर्तव्यज्ञानशून्य मूर्ख सेवक बिना ही समझे आपके पिताजीको यहाँ ले आया है, कृपापूर्वक इस अपराधको क्षमा कीजिये।' वरुणकी सच्ची स्तुतिसे उसपर प्रसन्न होकर ईश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नन्दबाबाको लेकर व्रज लौट आये।

गोपोंको ब्रह्म और परम-धामदर्शन

नन्दबाबाको वरुणदेवके द्वारा अपने पुत्र श्रीकृष्णकी इस प्रकार समारोहके साथ महान् पूजा होते देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ, उन्होंने व्रज लौटकर गोपोंसे अपने आँखों देखी भगवान्के प्रभावकी सारी बातें कहीं। गोपोंने समझ लिया कि श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं, तब उन लोगोंके मनमें यह कामना हुई कि 'भगवान् कभी हमलोगोंको भी अपना वह सूक्ष्म रूप दिखलावें तो बड़ा अच्छा हो।' अन्तर्यामी सर्वज्ञ करुणासागर भगवान् गोपोंके मनकी बात जान गये और उनपर कृपा करके अपने मायातीत वैकुण्ठ लोकमें ले गये और वहाँ लोगोंको अपने '**सत्यं ज्ञानमनन्तम्**' निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका दर्शन कराया। गोपगण उस ब्रह्महृदमें निमग्न हो गये। तब भगवान्ने उन्हें उससे बाहर निकाला। तदनन्तर उन्हें वह परमधाम परम ब्रह्मलोक दिखलाया। इसी लोकको भगवत्कृपासे यमुनाजीके अंदर श्रीअक्रूरजीने देखा था। गोपोंने वहाँ प्रत्यक्ष देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हैं और चारों वेद उनकी स्तुति कर रहे हैं। नन्दजी आदि यह सब देखकर अत्यन्त आश्चर्य और परमानन्दमें निमग्न हो गये।

रासलीला

शरद्-पूर्णिमाके दिन भगवान्ने असंख्य गोपियोंके साथ पवित्र रासक्रीडा की। उस समय दो-दो गोपियोंके बीचमें आपने अपना एक-एक रूप बना लिया और दोनों ओर अपने दोनों हाथ पकड़ा दिये। इस प्रकार अगणित गोपियोंमें अगणित स्वरूप धारणकर भगवान्ने रासलीला की। साथ ही प्रत्येक गोपीके घरपर भी उसका रूप धारण करके निवास किया, जिससे उसके घरवालोंको यही प्रतीत हुआ कि हमारे घरकी स्त्री घरमें ही है।

सुदर्शनका उद्धार

एक समय श्रीनन्दजी आदि गोपोंने अम्बिकावनमें जाकर विविध सामग्रियोंसे भगवान् शंकर और भगवती अम्बिकाजीकी पूजा की और अनेक प्रकारका दान करके उपवास किया। देर हो जानेसे रातको वहीं सरस्वती नदीके किनारेपर सो रहे। रातके समय एक भयानक अजगरने आकर नन्दजीके पैरको पकड़ लिया। भयभीत नन्दजी 'हे कृष्ण, हे श्यामसुन्दर, मुझे महासर्प निगले जाता है, इस संकटसे बचाओ।' पुकारने लगे। गोपोंने अनेक उपाय किये परंतु अजगरने उन्हें नहीं छोड़ा। अन्तमें श्रीकृष्णने आकर अपने पैरसे अजगरको जरा-सा छू दिया। भगवान्का चरणस्पर्श होते ही उसके समस्त पाप नष्ट हो गये और उसी क्षण वह सर्पयोनिसे छूटकर परम सुन्दर विद्याधर बन गया। दिव्यस्वरूप और वस्त्राभूषणधारी उस देवप्रतिम पुरुषने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरकर प्रणाम किया और कहा—'भगवन्! मैं सुदर्शन नामक विद्याधर हूँ, मैंने अपने सुन्दर रूपके मदमें चूर होनेके कारण एक दिन रास्तेमें अंगिरा ऋषिके वंशज कुछ कुरूप मुनियोंको देखकर हँस दिया था। इसीसे उन्होंने मुझे सर्प होनेका शाप दे दिया था। मैं देखता हूँ कि मुझपर उन मुनियोंने शाप देकर बड़ा ही अनुग्रह किया, जिसके प्रतापसे आज मैं आप त्रैलोक्यगुरुके दुर्लभ चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्तकर पापरहित हो गया।'

ब्रह्मदण्डाद् विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०। ३४। १७)

'प्रभो! आपका दर्शन होते ही मैं जो ब्रह्मशापसे मुक्त हो गया, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपका नाम-कीर्तन करनेवाला ही जब सुननेवालोंसहित तत्काल पवित्र हो जाता है, तब मुझे तो आपके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है। फिर मेरे मुक्त होनेमें क्या संदेह है?'

शंखचूड़का उद्धार

एक समय रातको वनमें श्रीकृष्ण-बलदेव मधुर गान कर रहे थे और गोपियाँ प्रेमविह्वल होकर सुन रही थीं, इतनेमें कुबेरका एक शंखचूड़ नामक अनुचर यक्ष कुछ गोपियोंको उठाकर चल दिया, गोपियाँ चिल्लाने लगीं, परंतु उसने छोड़ा नहीं, तब श्रीकृष्ण-बलदेव उन्हें आश्वासन देते हुए उसके पीछे दौड़े और शीघ्र ही उसके पास जा पहुँचे, वह गोपियोंको छोड़ प्राण लेकर भागा, परंतु श्रीकृष्णने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके सिरकी चूड़ामणि निकाल लाये।

मथुरायात्रामें अक्रूरको भगवद्दर्शन

श्रीकृष्ण-बलदेवको साथ लेकर अक्रूरजी मथुराको चले। श्रीकृष्णप्राणा गोपियाँ विरहचिन्तासे अत्यन्त कातर हो, सारी लोक-लाजको त्यागकर ऊँचे स्वरसे 'हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव' कहकर विलाप करने लगीं। रात गोपियोंके विलापमें बीत गयी। सबेरा होते ही संध्या-वन्दन करके अक्रूरजीने रथ हाँक दिया। थोड़ी देरमें श्रीकृष्ण-बलदेवका रथ यमुनाजीके किनारे पहुँच गया। वहाँ दोनों भाइयोंने स्नान किया और मीठा जल पीकर वृक्षोंकी छायामें खड़े रथपर वे बैठ गये। अक्रूरजी स्नान करके जलमें घुसकर गायत्रीका जप करने लगे। जप करते-करते उन्होंने देखा, उसके अंदर श्रीकृष्ण-बलदेव दोनों भाई विराजमान हैं। अक्रूरने सोचा कि 'वे दोनों तो रथपर थे, यहाँ कैसे आ गये?' यों विचारकर अक्रूरजीने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो उन्हें दोनों भाई रथमें बैठे दिखायी दिये। अक्रूरजी अचरजमें डूब गये, उन्होंने सोचा कि 'मैंने उन्हें जो जलमें देखा सो क्या मेरा भ्रम था?' यों विचारकर उन्होंने फिर जलमें गोता लगाया, इस बार वे देखते हैं कि 'जलमें सिद्ध, सर्प और असुरोंद्वारा सेवित श्रीअनन्त शेषनागजी विराजमान हैं, उनके हजार मस्तक हैं, सबपर मुकुट है, कमलकी नालके समान श्वेत शरीरपर नीलाम्बर सुशोभित है। उन श्रीशेषजीकी गोदमें पीताम्बरधारी नव-नील-नीरद-वर्ण चतुर्भुज भगवान् विराजमान हैं। देवता, ऋषि, किन्नर और सभी देवियाँ उनकी सेवा कर रही हैं।' अक्रूरजीको यह अपूर्व दृश्य देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ; प्रेमके कारण उनका शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंमें आँसू भर आये। भक्तिभावसे उनका हृदय गद्गद हो गया। श्रीकृष्णका प्रभाव उन्होंने जान लिया और वे हाथ जोड़कर भगवान्‌की स्तुति करने लगे।

अक्रूरजी स्तुति कर ही रहे थे कि श्रीकृष्ण जलके अंदर अन्तर्धान हो गये—

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।४१।१)

'भगवान् श्रीकृष्णने स्तुति करते हुए अक्रूरजीको जलके अंदर अपना अद्भुत (चतुर्भुज)-रूप दिखाकर पुनः उसको वैसे ही छिपा लिया, जैसे नट अपनी बाजीगरी दिखाकर फिर उसे गायब कर देता है।'

अक्रूरजी जलमें भगवान्‌को न देखकर बाहर आये, तब हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए उनसे पूछा—'चाचाजी! आप अचरजमें कैसे डूब रहे हैं, क्या आज आपने कोई अद्भुत बात देखी है?' अक्रूरने कहा—

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४१।४-५)

'स्वामिन्! पृथ्वी, आकाश और जलमें जो कुछ अद्भुत है सो सब आप विश्वरूपमें ही प्रतिष्ठित है। मैंने जब आपको तत्त्वसे देख लिया तब कौन-सी अद्भुत वस्तु देखनी शेष रह गयी? ब्रह्मन्! पृथ्वी, आकाश और जलकी सभी वस्तुएँ आपमें हैं। आपके अतिरिक्त संसारमें और क्या अद्भुत है जो मैं देखता?'

इतना कहकर अक्रूरजीने रथ हाँक दिया।

कुब्जाको सीधी करना

भगवान् मथुराजी पहुँचे, वहाँ राजमार्गपर कंसके शरीरपर अंगराग लगानेवाली कुब्जाको चन्दन लेकर जाते देखा। भगवान्‌ने उसपर कृपाकर उसे सीधा करना चाहा। अनन्तर श्रीहरिने अपने दोनों पैरोंसे कुब्जाके दोनों पैरोंको आगेसे दबाकर, उसकी ठोड़ीपर अपनी दो अँगुलियाँ रखकर एक झटका दिया। झटका लगते ही उसका जन्मका टेढ़ा शरीर सीधा हो गया।

अनेक रूप दिखाना

इसके बाद कंसके शस्त्रागारमें जाकर रक्षकको गिराकर विशाल इन्द्रधनुषको अनायास ही तोड़ डाला और मुष्टिक, चाणूर आदि पहलवानों तथा कुवलयापीड मतवाले हाथीको मारकर अत्याचारी कंसका वध कर दिया। उस कंसकी राजसभामें श्रीकृष्ण सबको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीख पड़े थे। वे मल्लोंको वज्रके समान, मनुष्योंको सर्वश्रेष्ठ पुरुष, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डदाता, माता-पिताको बालक, कंसको प्रत्यक्ष काल, अज्ञानियोंको जडरूप, योगियोंको परब्रह्म और यादवोंको परम देवतास्वरूप दिखायी दिये।

(श्रीमद्भा० १०।४२।४३ में देखिये)

मृत गुरु-पुत्रको लाना

पिता-माता श्रीवसुदेव-देवकीजीको अपने विनम्र

बर्तावसे प्रसन्न करते हुए भगवान्ने कहा—'चतुर्वर्ग-फलकी प्राप्ति करानेवाला मनुष्यशरीर जिन माता-पितासे उत्पन्न हुआ और जिनके द्वारा पाला गया, उन माता-पिताके ऋणसे सौ वर्षतक सेवा करनेपर भी मनुष्य उऋण नहीं हो सकता।'

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः॥

(श्रीमद्भा० १०।४५।६-७)

'जो समर्थ पुत्र तन-मन-धनसे माता-पिताकी सेवा नहीं करते, मरनेपर यमराजके दूत उन कुपुत्रोंको उन्हींका मांस खिलाते हैं। जो मनुष्य वृद्ध पिता, माता, साध्वी पत्नी, पुत्र, शिशु, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता, वह जीते ही मरेके समान है।'

माया-मानुष-विश्वात्मा श्रीहरिने माता-पिताको अपनी सेवासे सुखी करनेके उपरान्त गर्ग मुनिसे यज्ञोपवीत संस्कार करवाया, तदनन्तर दोनों भाई विद्या पढ़ने उज्जैन गये। वहाँ वे इन्द्रियोंका दमन करके गुरुके परम अनुगामी और श्रद्धायुक्त होकर परम भक्तिके साथ इष्टदेव ईश्वरके सदृश मानकर गुरुकी सेवा करते हुए विद्या पढ़ने लगे। उन्होंने सांगोपांग वेद, उपनिषद्, मन्त्र और देवताके ज्ञानसहित धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, न्याय, राजनीति आदि सारी विद्याएँ और चौंसठ कलाएँ सिर्फ चौंसठ दिनोंमें पढ़ लीं। भगवान्ने जगदीश्वर और सब विद्याओंके प्रकाशक तथा सर्वज्ञ होनेपर भी मानवलीलाके हेतुसे विद्याध्ययनका यह खेल किया। पढ़ना समाप्त होनेपर उन्होंने गुरुसे दक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। सान्दीपनि गुरुने अपने प्रभासक्षेत्रमें डूबे हुए पुत्रको ला देनेके लिये कहा। भगवान् 'तथास्तु' कहकर चले। जाकर समुद्रसे गुरु-पुत्रको माँगा। समुद्रने कहा, 'देव! मैंने बालकका हरण नहीं किया था, उसे तो शंखरूपधारी पंचजन नामक दैत्य ले गया था। वह खा गया होगा।' भगवान्ने जलके अंदर प्रवेशकर उक्त दैत्यका वध किया; परंतु उसके पेटमें भी जब बालक नहीं मिला, तब वे यमपुरीको गये। यमराजने स्वागत करते हुए प्रार्थना की कि 'भगवन्! आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें?' भगवान्ने गुरु-पुत्र ला देनेकी आज्ञा दी। आज्ञाकारी यमराजने बालकको ला दिया। भगवान् उसे लेकर गुरुके चरणोंमें उपस्थित हुए और उन्हें देकर संतुष्ट किया।

नृगका उद्धार

राजा नृग एक बार दान की हुई गौको पुनः दान देनेके पापसे गिरगिट-योनि भोगते हुए कुएँमें पड़े थे। एक दिन कुछ यदुकुमारोंने उपवनमें खेलते-खेलते कुएँमें झाँककर उन्हें देखा। वे उन्हें बाहर निकालनेका उद्योग करने लगे, परंतु उनके न निकलनेपर उन्होंने आकर सारा वृत्तान्त भगवान्से कहा। कमललोचन विश्वम्भरभगवान्ने आकर उनको निकाला और देखकर उनके हाथ लगाया, इतनेमें ही वह गिरगिट-योनिसे छूटकर सुन्दर पुरुष बनकर भगवान्की स्तुति करने लगे।*

ऋषियोंद्वारा स्तुति

वसुदेवजीने कुरुक्षेत्रमें यज्ञ किया। वहाँ कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, अन्यान्य राजस्त्रियाँ तथा गोपियाँ आदि सभी आयी थीं। सभी सम्बन्धी पुरुष एकत्र हुए थे। इसी अवसरपर श्रीकृष्ण-बलरामके दर्शनार्थ वहाँ महर्षि व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भारद्वाज, गौतम, परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्मपुत्र सनकादि, अंगिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेवादि महर्षिगण पधारे। भगवान्ने बड़ी ही नम्रताके साथ ऋषियोंका स्वागत करके पाद्य, अर्घ्य, माला, चन्दन, धूप, दीप आदिसे उनका पूजन किया और कहा कि 'आज हमलोगोंका आपके दर्शन करनेसे जन्म सफल हो गया। सच्चे देव और तीर्थ तो आप महात्मालोग ही हैं।' श्रीकृष्णके द्वारा धर्मयुक्त वाक्य सुनकर वे मोहित हो गये। उन्होंने समझ लिया, भगवान्की यह नर-लीला है। तदनन्तर सब महर्षियोंने विनयके साथ भगवान्की स्तुति करते हुए अन्तमें भक्तिका वरदान माँगा। वसुदेवजीने ऋषियोंसे ज्ञानोपदेशके लिये प्रार्थना की, तब नारदजीने कहा—'वसुदेव! तुम तो कृतार्थ हो चुके, तुम्हारी परम भक्तिको धन्य है, जिसके कारण साक्षात् जगदीश्वर तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं।'

यज्ञ समाप्त होनेपर सब लोग द्वारका लौट आये। सुप्रसिद्ध ज्ञानी मुनियोंके मुखसे श्रीकृष्ण-बलदेवकी

* राजा नृगकी कथा 'कल्याण' भाग ३ पृष्ठ ८१२ में प्रकाशित हो चुकी है।

महिमा सुनकर वसुदेवको विश्वास हो गया कि ये साक्षात् सर्वशक्तिमान् हरि हैं। अतएव एक दिन एकान्तमें वसुदेवजी श्रीकृष्ण-बलरामकी स्तुति करने लगे। स्तुति समाप्त होनेपर भगवान्ने विनय और मर्यादायुक्त वाणीसे नम्रतापूर्वक हँसते हुए रहस्यमय वचन कहे—'पिताजी! आपने मेरे बहाने जो ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया है सो सर्वथा युक्तियुक्त ही है। मैं, आप सब, ये द्वारकावासी लोग, यहाँतक कि समस्त चराचर विश्व ही ब्रह्मरूप है। प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको इसी प्रकार व्यापक ब्रह्मका विचार करना चाहिये।'

मृत देवकीपुत्रोंको लाना

माता देवकीने मरे हुए गुरु-पुत्रको लौटा लानेकी बात सुनकर एक दिन रोकर श्रीकृष्ण-बलरामसे कहा—'कृष्ण-बलराम! मैं जानती हूँ तुम अपरिमित प्रभावशाली और योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। मैंने सुना है तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको यमराजके यहाँसे ला दिया; इससे मैं भी चाहती हूँ मेरे जिन छः पुत्रोंको कंसने मार डाला था, उन्हें एक बार मुझे आँखोंसे दिखा दो।' माताकी आज्ञा पाकर दोनों भाई चले। सुतल लोकमें जाकर राजा बलिसे मिले। दैत्यराज दर्शन करके कृतार्थ हो गया। उसने स्वागत, प्रणाम, स्तुति, पूजन किया और चरण धोकर चरणोदकको परिवारसहित अपने मस्तकपर छिड़का। तदनन्तर भगवान्ने कहा कि मरीचि मुनिके स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभुक् और घृणि नामक छः पुत्र, जो शापवश आसुरी योनिको प्राप्त हो गये थे, फिर योगमायाके द्वारा देवकीके गर्भसे उत्पन्न होकर कंसके द्वारा मार डाले गये थे, उन्हें माता देवकी पुत्रस्नेहके कारण एक बार देखना चाहती है। वे तुम्हारे लोकमें हैं, अतएव उन्हें मेरे साथ भेज दो, वे मेरी कृपासे शापसे मुक्त होकर मोक्षको प्राप्त होंगे। बलिने छहों ऋषिकुमारोंको बुला दिया। श्रीकृष्ण-बलराम उन्हें लेकर माताके पास पहुँचे। पुत्रोंको देखते ही माताके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली। माताने प्रेमपूर्वक उन्हें स्तनपान कराया। श्रीकृष्णभगवान्के पीनेसे बचा हुआ अमृतमय दूध पीने तथा श्रीकृष्णके अंगस्पर्श होनेके कारण बालकोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञानकी उत्पत्ति हो गयी और तदनन्तर वे सब देखते-ही-देखते गोविन्द, बलदेव, देवकी और वसुदेवजीको प्रणाम करके आकाशमार्गसे देवलोकको सिधार गये।

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।५७)

'देवी देवकीको मरे पुत्रोंका आना-जाना देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने जान लिया कि यह सब श्रीकृष्णकी माया है।'

मिथिलामें विविध रूप

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण नारद, व्यास, वामदेव, अत्रि आदि बहुत-से मुनियोंके साथ मिथिला-नगरी पहुँचे। वहाँके राजा बहुलाश्व भगवान्के बड़े भक्त थे। मिथिला-नगरीमें ही श्रुतदेव नामक एक शान्त, दक्ष, ज्ञानी, संतोषी ब्राह्मण रहते थे। वे भी भगवान्के अनन्य भक्त थे। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको मिथिलामें आया देखकर मिथिलानरेश बहुलाश्व और दीन ब्राह्मण श्रुतदेव दोनोंने एक ही साथ भगवान्को प्रणामकर उनसे आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये प्रार्थना की। भगवान्के दोनों ही समान भक्त थे, इसलिये भगवान्ने दोनोंका आतिथ्य स्वीकार किया। दोनोंकी प्रसन्नताके लिये आप मुनियोंसहित दो-दो रूप धरकर दोनोंके यहाँ गये। परंतु राजा बहुलाश्वने समझा कि भगवान् हमारे यहाँ पधारे हैं और ब्राह्मण श्रुतदेवको प्रतीत हुआ कि भगवान् हमारे ही यहाँ आये हैं। इस प्रकार एक ही साथ अनेक रूप धारणकर दोनों भक्तोंको सुख दिया।

हरेक महलमें श्रीकृष्ण

श्रीनारदजीने सोचा कि भगवान्के सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ हैं, वे अकेले सबके महलोंमें कब, कैसे जाते होंगे? इसी कौतुकको देखनेके लिये नारदजी द्वारका आये और सीधे श्रीरुक्मिणीजीके महलमें चले गये। नारदजीने वहाँ श्रीभगवान्को बैठे तथा श्रीरुक्मिणीजीको उनकी सेवा करते देखा। नारदजीको देखते ही धार्मिक श्रेष्ठ भगवान्ने सहसा उठकर मुनिका स्वागत किया। मुनिने स्तुति करके दूसरे महलमें जानेका विचार किया। वे दूसरे महलमें गये। वहाँ भगवान्को उद्धवके साथ खेलते देखा। वहाँसे तीसरेमें गये। यों प्रत्येक महलमें नारद घूमे, किंतु भगवान्को सभी जगह पाया। नारदजीने देखा कि कहीं भगवान् पूजन कर रहे हैं, कहीं स्नान करने जा रहे हैं, कहीं बच्चोंको खिला रहे हैं, कहीं शस्त्र चला रहे हैं, कहीं घोड़े या हाथीपर सवार होकर बाहर जानेको तैयार

हैं, कहीं सो रहे हैं, कहीं मन्त्रियोंसे गुप्त परामर्श कर रहे हैं, कहीं ब्राह्मणको दान दे रहे हैं, कहीं इतिहास-पुराणादि सुन रहे हैं। सारांश यह कि भगवान् सब महलोंमें मौजूद हैं। योगेश्वर भगवान्की इस लीलाको देखकर नारदजी मुग्ध हो गये।

परमधाम-प्रयाण

भगवान् परमधाम पधारनेकी इच्छासे वनमें एक वृक्षके नीचे शान्तभावसे बैठे थे। इस समयकी आपकी शोभा अनिर्वचनीय थी। व्याधके बाणको निमित्त बनाना शेष था, आप उसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेहीमें व्याधने दूरसे भगवान्के मृगाकार चरणको मृग समझकर बाण मारा, परंतु समीप आकर भगवान्को देखते ही वह भयके मारे भगवान्के चरणोंपर गिरकर कहने लगा—'मधुसूदन! मैं महापातकी हूँ, मुझसे अनजानमें यह अपराध हो गया है। प्रभो! क्षमा कीजिये।' भगवान्ने हँसते हुए कहा—'भाई! उठ, तू डर मत, इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है। मेरी इच्छासे यह कारण बना है। तू दिव्य स्वर्गलोकको जा।' भगवान्के इतना कहते ही दिव्य विमान आ गया और वह भगवान्को प्रणाम-प्रदक्षिणाकर विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया। तदनन्तर भगवान्का गरुड़-चिह्नवाला रथ घोड़े तथा ध्वजा आदि सामग्रीसहित आकाशमें उठकर अदृश्य हो गया। भगवान्ने अपने सारथि दारुकको मोक्ष पानेका वरदान देकर वहाँसे द्वारका भेज दिया। तदनन्तर ब्रह्माजी, पार्वतीसहित श्रीशंकर, इन्द्रादि देवता, मुनि, प्रजापति, पितृ, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, चारण, यक्ष, किन्नर, द्विज, अप्सरा आदि सभी भगवान्की इस लीलाको देखनेके लिये आकाशपर छा गये। अगणित विमानोंसे आकाश भर गया और सब लोग भगवान्का गुणगान करते हुए पुष्पवृष्टि करने लगे।

भगवान्ने दिव्य देवोंकी ओर देखकर आँखें बंद कर लीं और त्रिभुवनमोहन दिव्य-विग्रह शरीरसहित परमधामको पधार गये। श्रीहरिके साथ ही सत्य, धर्म, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी भी पृथ्वीको छोड़कर चली गयीं। विमानोंपर बैठे हुए ब्रह्मा, शिव आदि देवताओंने परमधाममें पधारते हुए भगवान्को देखा।

इस प्रकार अवतरणसे लेकर परमधाम-गमनतक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अनन्त अद्‌भुत लीलाएँ की हैं। यहाँ उनमेंसे बहुत थोड़ी-सी लीलाओंका अति संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

बालकपनमें ही पूतना, तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर आदिको मारना; शकट-भंजन, कालियनाग नाथना, मल्लों और कंसको निधन करना; भौमासुर, रुक्मी, शिशुपाल, शाल्व आदिको मारना; सुदामाको एक ही रातमें परम ऐश्वर्यवान् बना देना, अल्पकालमें ही विलक्षण द्वारकापुरीको बसाना, द्रौपदीका चीर बढ़ाना, अर्जुनकी प्रतिज्ञापर मरे हुए ब्राह्मण-पुत्रोंका लौटाकर लाना, जयद्रथ-वधके समय सूर्यको अकालमें ही छिपाना, उत्तराके मरे हुए पुत्र परीक्षित्को जीवित कर देना, जले हुए अर्जुनके रथको धारण किये रहना आदि अनेकों अद्‌भुत लीलाएँ हैं। जिन महानुभावोंको भगवान्की लीलाओंका आनन्द लेना और प्रत्यक्ष देखना हो, वे मन लगाकर श्रद्धाके साथ महाभारत, श्रीमद्‌भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि ग्रन्थरत्नोंका अध्ययन करें और भगवान्के भजनसे अन्त:करणको शुद्ध करके उनके परम अनन्य प्रेमको प्राप्त करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

एवंविधान्यद्‌भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥

(श्रीमद्‌भा० १०।८५।५८)

'राजन्! अनन्तवीर्य परमात्मा श्रीकृष्णकी इस प्रकार अनन्त अद्‌भुत लीलाएँ हैं।'

सूतजी महाराजने कहा है—

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलं तद्‌भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥

(श्रीमद्‌भा० १०।८५।५९)

'शौनकजी! महात्मा श्रीव्यासपुत्र शुकदेवजीके द्वारा वर्णन किये हुए जगत्के समस्त पापोंको नाश करनेवाले, भगवद्‌भक्तोंके परम सुखदायी कर्णालंकार-सदृश सुधासम्पन्न भगवान्के इन अद्‌भुत चरित्रोंको मन लगाकर सुनने-सुनानेवालोंका चित्त दृढ़रूपसे भगवान्में लग जाता है, जिससे वे भगवान्के कल्याणमय परम धामको प्राप्त होते हैं।'

नारदकृत राधास्तवन

एक समय नारदजी यह जानकर कि 'भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रकट हुए हैं' वीणा बजाते हुए गोकुल पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने नन्दजीके गृहमें बालकका स्वाँग बनाये हुए महायोगीश्वर दिव्य-दर्शन भगवान् अच्युतके दर्शन किये। वे स्वर्णके पलंगपर, जिसपर कोमल श्वेत वस्त्र बिछे थे, सो रहे थे और प्रसन्नताके साथ प्रेमविह्वल हुई गोप-बालिकाएँ उन्हें निहार रही थीं। उनका शरीर सुकुमार था; जैसे वे स्वयं भोले थे, वैसी ही उनकी चितवन भी बड़ी भोली-भाली थी। काली-काली घुँघराली अलकें भूमिको छू रही थीं। वे बीच-बीचमें थोड़ा-सा हँस देते थे, जिससे दो-एक दाँत झलक पड़ते थे। उनकी छबिसे गृहका मध्य भाग सब ओरसे उद्भासित हो रहा था। उन्हें नग्न बालरूपमें देखकर नारदजीको बहुत ही हर्ष हुआ।

उन्होंने नन्दजीसे कहा—'तुम्हारे पुत्रके अतुलनीय प्रभावको, जो नारायणके भक्तोंका परम दुर्लभ जीवन है, इस जगत्में कोई नहीं जानता। शिव, ब्रह्मा आदि देवता भी इस विचित्र बालकमें निरन्तर अनुराग रखना चाहते हैं। इसका चरित्र सभीके लिये आनन्ददायी है। अचिन्त्य प्रभावशाली तुम्हारे शिशुमें स्नेह रखते हुए जो लोग इसके पुण्य चरित्रका सहर्ष गान, श्रवण तथा अभिनन्दन करेंगे, उन्हें कभी भव-बाधा न होगी। गोपवर! तुम परलोककी इच्छा छोड़ दो और अनन्यभावसे इस दिव्य बालकमें अहैतुक प्रेम करो।'

यह कहकर मुनिवर नारदजी नन्दभवनसे निकले। नन्दने भी विष्णु-बुद्धिसे मुनिको प्रणाम करके उन्हें विदा दी। इसके बाद महाभागवत नारदजी यह विचारने लगे—'भगवान्की कान्ति लक्ष्मीदेवी भी अपने पति नारायणके अवतीर्ण होनेपर उनके विहारार्थ गोपीरूप धारण करके कहीं अवश्य ही अवतीर्ण हुई होंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। अत: व्रजवासियोंके घरोंमें उन्हें खोजना चाहिये।'

ऐसा विचारकर मुनिवर व्रजवासियोंके घरोंपर अतिथिरूपमें जा-जाकर उनके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे पूजित होने लगे। उन्होंने भी गोपोंका नन्दनन्दनमें उत्कृष्ट प्रेम देखकर मन-ही-मन सबको प्रणाम किया।

तदनन्तर वे नन्दके मित्र महात्मा भानुके घरपर गये। उन्होंने इनकी विधिवत् पूजा की, तब महामना नारदजीने उनसे पूछा—'साधो! तुम अपनी धार्मिकताके कारण विख्यात हो। क्या तुम्हें कोई सुयोग्य पुत्र अथवा सुलक्षणा कन्या है, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त लोकोंको व्याप्त कर सके?'

मुनिवरके ऐसा कहनेपर भानुने पहले तो अपने महान् तेजस्वी पुत्रको लाकर उससे नारदजीको प्रणाम कराया। तदनन्तर अपनी कन्याको दिखलानेके लिये नारदजीको घरके अंदर ले गये। गृहमें प्रवेशकर उन्होंने पृथ्वीपर लोटती हुई नन्हीं-सी दिव्य बालिकाको गोदमें उठा लिया। उस समय उनका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था।

कन्याके अदृष्ट तथा अश्रुतपूर्व अद्भुत स्वरूपको देखकर श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय भक्त नारदजी मुग्ध हो गये। वे एकमात्र रसके आधार परमानन्दमय समुद्रमें गोते लगाते हुए दो मुहूर्ततक पत्थरकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे, फिर उन्होंने आँखें खोलीं और महान् आश्चर्यमें पड़कर वे मूकभावसे ही बैठे रहे।

अन्ततोगत्वा महाबुद्धिमान् मुनिने मनमें इस प्रकार विचारा—'मैंने स्वच्छन्दाचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण किया, परंतु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्या कहीं भी नहीं देखी। ब्रह्मलोक, रुद्रलोक और इन्द्रलोकमें भी मेरी गति है, किंतु इस कोटिकी शोभाका एक अंश भी मुझे कहीं नहीं दीखा। जिसके रूपसे चराचर जगत् मोहित हो जाता है, उस महामाया भगवती गिरिराजकुमारीको भी मैंने देखा है। वह भी इसकी शोभाको नहीं पा सकती। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति और विद्या आदि देवियाँ इसकी छायाका भी स्पर्श कर सकती हों—ऐसा भी नहीं देखा जाता। अत: इसके तत्त्वको जाननेकी शक्ति मुझमें किसी तरह नहीं है। अन्य जन भी प्राय: इस हरिवल्लभीको नहीं जानते। इसके दर्शनमात्रसे गोविन्दके चरणकमलोंमें मेरे प्रेमकी जैसी वृद्धि हुई है, वैसी इसके पहले कभी नहीं हुई थी। अस्तु, अनन्त वैभव दिखानेवाली इस देवीकी मैं एकान्तमें वन्दना करूँ। इसका रूप भगवान् श्रीकृष्णके लिये परमानन्दजनक होगा।'

ऐसा विचारकर मुनिने गोपप्रवर भानुको कहीं अन्यत्र भेज दिया और एकान्तस्थानमें उस दिव्यरूपिणी बालाकी स्तुति करने लगे—

'देवि! अनन्तकान्तिमयी महायोगेश्वरि! तुम्हारा अंग मोहन एवं दिव्य है, उससे अनन्त मधुरिमाकी वर्षा होती रहती है। तुम्हारा हृदय महान् अद्‌भुत रसानन्दसे पूर्ण रहता है। तुम मेरे किसी महान् सौभाग्यसे आज नेत्रोंकी अतिथि बनी हो। देवि! तुम्हारी दृष्टि अन्त:करणमें निरन्तर सुखदायिनी प्रतीत होती है, तुम अपने अंदर महान् आनन्दसे तृप्त-सी दीख पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर तथा सौम्य मुखमण्डल हृदयको सुख देनेवाले किसी महान् आश्चर्यको व्यक्त कर रहा है। अत्यन्त शोभामयि! तुम रजोगुणकी कलिका और शक्तिरूपा हो। सृष्टि-पालन और संहाररूपमें तुम्हारी ही स्थिति है। तुम विशुद्ध सत्त्वमयी और विद्यारूपिणी पराशक्ति हो तथा परमानन्द-सन्दोहमय वैष्णव-धामको धारण करती हो। ब्रह्मा और रुद्रके लिये भी तुम्हारा जानना कठिन है। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। तुम योगीश्वरोंके भी ध्यान-पथका कभी स्पर्श नहीं कर सकती। मेरी बुद्धिमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये सब तुम्हारी अंशमात्र हैं।

'मायासे ही विशुद्ध रूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सभी तुम्हारी अंशांशमात्र हैं। ईश्वरि! तुम निस्सन्देह आनन्दमयी शक्ति हो, अवश्य ही वृन्दावनमें तुम्हारे साथ श्रीकृष्णचन्द्र क्रीडा करते हैं। कुमारावस्थामें ही तुम अपने सुन्दर रूपसे विश्वको मुग्ध कर रही हो। न जाने यौवनका स्पर्श होनेपर तुम्हारा रूप, लावण्य तथा हास-विलासयुक्त निरीक्षण कैसा अद्‌भुत होगा? हरिवल्लभे! तुम्हारे उस पूजनीय दिव्यस्वरूपको मैं देखना चाहता हूँ, जिससे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मुग्ध हो जायँगे। महेश्वरि! माता! मुझ शरणागत तथा प्रणत भक्तके लिये दया करके तुम अपना स्वरूप प्रकट कर दो।'

यों निवेदन करके नारदजीने तदर्पित चित्तसे उस महानन्दमयी परमेश्वरीको नमस्कार किया और भगवान् गोविन्दकी स्तुति करते हुए उस देवीकी ओर ही देखते रहे। जिस समय वे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन कर रहे थे, उसी समय भानु-सुताने चतुर्दशवर्षीय, परम ललाम, अत्यन्त मनोहर दिव्यरूप धारण कर लिया। तत्काल ही अन्य व्रज-बालाओंने जो उसीकी समान अवस्थाकी थीं, दिव्य भूषण तथा सुन्दर हार धारण किये हुए थीं, बालाको चारों ओरसे आवृत कर लिया। उस समय बालिकाकी सखियाँ उसके चरणोदककी बूँदोंसे मुनिको सींचकर कृपापूर्वक बोलीं—

'महाभाग मुनिवर! वस्तुत: आपने ही भक्तिके साथ भगवान्‌की आराधना की है; क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता, सिद्ध मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये जिसका दर्शन मिलना कठिन है उसी अद्‌भुत वयोरूपसम्पन्ना विश्वमोहिनी हरिप्रियाने किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश आज आपके दृष्टिपथपर पदार्पण किया है! ब्रह्मर्षे! उठो, उठो, शीघ्र ही धैर्य धारणकर इसकी परिक्रमा तथा बार-बार नमस्कार करो। क्या तुम नहीं देखते कि इसी क्षणमें यह अन्तर्धान हो जायगी, फिर इसके साथ किसी तरह तुम्हारा सम्भाषण नहीं हो सकेगा।'

उन प्रेमविह्वला सखियोंके वचन सुनकर नारदजीने दो मुहूर्ततक उस सुन्दरी बालाकी प्रदक्षिणा करके साष्टांग प्रणाम किया। उसके बाद भानुको बुलाकर कहा—'तुम्हारी पुत्रीका प्रभाव बहुत बड़ा है। देवता भी इसका महत्त्व नहीं जान सकते। जिस घरमें इसका चरण-चिह्न है, वहाँ साक्षात् भगवान् नारायण निवास करते हैं और समस्त सिद्धियोंसहित लक्ष्मी भी वहाँ रहती हैं। आजसे सम्पूर्ण आभूषणोंसे भूषित इस सुन्दरी कन्याकी महादेवीके समान यत्नपूर्वक घरमें रक्षा करो।' ऐसा कहकर नारदजी हरि-गुण गाते हुए चले गये।

श्रीराधिकाजीका उद्धवको उपदेश

गोपियोंके अद्‌भुत प्रेमप्रवाहमें ज्ञानशिरोमणि उद्धवका सम्पूर्ण ज्ञानाभिमान बह गया। विवेक, वैराग्य, विचार, धर्म, नीति, योग, जप और ध्यान आदि सम्पूर्ण संबलके सहित उनकी ज्ञाननौका गोपियोंके अगाध प्रेम-समुद्रमें डूब गयी। उद्धव गोपियोंका मोह दूर करने आये थे, किंतु वे स्वयं ही उनके दिव्य मोहमें मग्न हो गये। वे उन्हें सान्त्वना देनेके लिये आये थे, किंतु उनको उन्हींकी शरण लेनी पड़ी। वे आये थे गुरु बनकर उन्हें

उपदेश देनेके लिये, किंतु बन गये उनके शिष्य।

आज गोपियोंके सुमधुर प्रेम-पीयूषका रसास्वादन कर उद्धव श्रीमाधवके पास मधुपुरी जानेकी तैयारी कर रहे हैं। प्यारे कृष्णके स्नेहपूर्ण सहवासकी स्मृति उन्हें अवश्य उस ओर खींच रही थी, किंतु इधर परिकरसहित श्रीरासेश्वरीजीकी सहृदयताने भी उनके हृदयको बाँध लिया था। इस दुविधामें उन्हें कई दिन हो गये। अन्तमें उन्हें घर लौटना ही था; अतः आज उन्होंने मथुरा चलनेकी तैयारी कर ही ली। उद्धवको मथुरा जानेके लिये उद्यत देखकर हरि-प्रिया श्रीराधिकाजी खिन्नचित्त होकर आसनसे उठीं और गोपियोंके सहित उन्होंने उद्धवके सिरपर हाथ रखकर उन्हें शुभ-आशीर्वाद दिया तथा हरी-हरी दूब, अक्षत, श्वेत धान्य और मंगलमय पुष्प उनके मस्तकपर छोड़े। तदनन्तर उन्होंने खील, फल, पत्र, दधि, दूर्वा तथा पत्तोंकी डाल, फल, गन्ध, सिन्दूर, कस्तूरी और चन्दनके सहित जलका कलश मँगाया एवं पुष्प, माला, दीपक, रक्तचन्दन, पति-पुत्रवती साध्वी स्त्री, सुवर्ण और रजत आदि मँगाकर उन्हें उनके दर्शन कराये। इस प्रकार मंगलोपचारके अनन्तर महासाध्वी श्रीराधिकाजी अपने वक्षःस्थलपर गिरते हुए शोकाश्रुओंको छिपाकर हित और मंगलमय सत्य वचन बोलीं।

वे कहने लगीं—उद्धव! तुम्हारी यात्रा सुखमय हो, तुम्हारा सदा कल्याण हो, तुम प्यारे कृष्णके प्रिय सखा हो, उनसे तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो। संसारके सम्पूर्ण वरदानोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरति ही सर्वश्रेष्ठ वर है। सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और कैवल्य इन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंसे भी हरिभक्ति ही श्रेष्ठ है। ब्रह्मत्व, देवत्व, इन्द्रत्व, अमरत्व, अमृतलाभ तथा सिद्धिलाभसे भी हरिभक्ति अति दुर्लभ है। यदि कोई पुरुष अपने पूर्वजन्मोंके अनन्त पुण्य-पुंजोंसे भारतवर्षमें जन्म पाकर हरिभक्ति लाभ करता है तो फिर उसका जन्म होना अत्यन्त कठिन है अर्थात् वह अवश्य मुक्त हो जाता है। उसका जन्म सफल है। वह अवश्य ही अपने माता-पिता, उनके पूर्वजों, अपने बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री, गुरु, शिष्य और सेवकोंके भी सहस्रों कर्म-कलापोंका क्षय कर देता है। वत्स! जो कर्म कृष्णार्पण कर दिया जाता है अथवा जिससे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता बढ़ती है, वही सर्वोत्तम है। प्रीति और विधिपूर्वक संकल्प करके जो कर्म किया जाता है, वह परम मंगलमय और धन्य है। उससे परिणाममें अनन्त सुख मिलता है। श्रीकृष्णके लिये व्रत और तपस्या करना, भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना तथा उनके उद्देश्यसे उपवास करना—ये सब उनकी दास्यरतिके बढ़ानेवाले हैं। इस दास्यरतिकी महिमा कहाँतक कही जाय?

समस्तपृथिवीदानं प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा।
समस्ततीर्थस्नानं च समस्तं च व्रतं तपः॥
समस्तयज्ञकरणं सर्वदानफलं तथा।
समस्तवेदवेदाङ्गपठनं पाठनं तथा॥
भीतस्य रक्षणं चैव ज्ञानदानं सुदुर्लभम्।
अतिथीनां पूजनं च शरणागतरक्षणम्॥
सर्वदेवार्चनं चैव वन्दनं जपनं मनोः।
भोजनं विप्रदेवानां पुरश्चरणपूर्वकम्॥
गुरुशुश्रूषणं चैव पित्रोर्भक्तिश्च पोषणम्।
सर्वं श्रीकृष्णदासस्य कलां नार्हति षोडशीम्॥

(ब्र० वै० पुराण ४। ९७। १६—२०)

सम्पूर्ण पृथिवीका दान, त्रिभुवनकी परिक्रमा, समस्त तीर्थोंका स्नान, समस्त व्रत और तप, सम्पूर्ण यज्ञ-यागादि, सर्वस्व दानका फल, समस्त वेद-वेदांगोंका पढ़ना और पढ़ाना, भयभीतकी रक्षा करना, अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानका उपदेश करना, अतिथियोंका सत्कार करना, शरणागतोंकी रक्षा करना, समस्त देवताओंका पूजन और वन्दन करना, मन्त्र-जाप करना, पुरश्चरण आदिके सहित ब्राह्मणोंको भोजन कराना तथा भक्तिपूर्वक माता-पिताका पोषण करना—ये समस्त शुभ कर्म श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरतिकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं है।

तस्मादुद्धव यत्नेन भज कृष्णं परात्परम्।
निर्गुणं च निरीहं च परमात्मानमीश्वरम्॥
नित्यं सत्यं परं ब्रह्म प्रकृतेः परमीश्वरम्।
परिपूर्णतमं शुद्धं भक्तानुग्रहविग्रहम्॥
कर्मिणां कर्मणां साक्ष्यप्रदं निर्लिप्तमेव च।
ज्योतिःस्वरूपं परमं कारणानां च कारणम्॥
सर्वस्वरूपं सर्वेशं सर्वसम्पत्प्रदं शुभम्।
भक्तिदं दास्यदं स्वस्य निजसम्पत्पदप्रदम्॥
विसृज्य ज्ञातिबुद्धिं च मात्सर्यमशुभप्रदम्।
भज तं परमानन्दं सानन्दं नन्दनन्दनम्॥

(ब्र० वै० पुराण ४। ९७। २१—२५)

इसलिये उद्धव! तुम प्रयत्नपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करो। वे श्रीकृष्णचन्द्र प्रकृतिसे परे, निर्गुण, निरीह, परमात्मा, ईश्वर, नित्य, सत्य, परब्रह्म और प्रकृतिसे अतीत, प्रकृतिके स्वामी हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण, शुद्धस्वरूप, भक्तोंके लिये मूर्तिमान् अनुग्रहरूप, कर्मियोंके कर्मकलापके साक्षी होकर भी उनसे अलिप्त, ज्योतिःस्वरूप तथा सम्पूर्ण कारणोंके परम कारण हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। वे सबके स्वामी, सम्पूर्ण शुभ सम्पत्तियोंके देनेवाले तथा भक्ति और दास्यरूप अपनी निज सम्पत्तिके देनेवाले हैं। अतः उद्धव! पापमय मात्सर्यजनक जाति-बुद्धिको छोड़कर अर्थात् इस बातको भुलाकर कि कृष्ण मेरे जाति-बन्धु हैं, तुम उन परमानन्दस्वरूप श्रीनन्दनन्दनका आनन्दपूर्वक भजन करो।

यह परम दिव्य संदेश सुनकर उद्धवको बड़ा विस्मय हुआ और वे तत्त्वज्ञान पाकर तृप्त हो गये। गलेमें अंचल डालकर उन्होंने अपने केशपाशोंसे श्रीराधिकाजीके चरणोंको पुनः-पुनः स्पर्श करते हुए प्रणाम किया। भक्तिवश उनके नेत्रोंमें जल भर आया और सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच हो गया तथा श्रीराधिकाजीसे बिछुड़नेकी व्यथासे वे फूट-फूटकर रोने लगे। श्रीराधिका तथा अन्यान्य गोपियाँ भी प्रेमवश उद्धवके गले लगकर रोने लगीं। इस प्रकार वहाँ प्रेमका अपूर्व प्रवाह उमड़ा, जिसमें कि वह सम्पूर्ण समाज डूब गया।

श्रीराधाजीके प्रति भगवान् श्रीकृष्णका तत्त्वोपदेश

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणमें कृष्ण-जन्मखण्डके १२६ वें अध्यायमें कहा है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारकासे वृन्दावन पधारे। उस समय उनकी वियोग-व्यथासे संतप्ता गोपियोंकी विचित्र दशा हो गयी। प्रिय-संयोगजन्य स्नेहसागरकी उत्ताल तरंगोंमें उनके मन और प्राण डूब गये। गोपीश्वरी श्रीराधिकाजीकी तो बड़ी ही अपूर्व दशा थी। उनकी चेतना-शून्य दशासे गोपियोंने समझा कि हाय! क्या नाथके संयोगने ही हमें अनाथ कर दिया। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगीं—

किं कृतं किं कृतं कृष्ण! त्वया राधा मृता च नः।
राधां जीवय भद्रं ते यास्यामः काननं वयम्॥
अन्यथा स्त्रीवधं तुभ्यं दास्यामः सर्वयोषितः॥

(७८-७९)

'श्रीकृष्ण! तुमने यह क्या किया? यह क्या किया? हाय! तुमने हमारी राधिकाको मार डाला! तुम्हारा मंगल हो, तुम शीघ्र ही हमारी राधाको जीवित कर दो, हम उनके साथ वनको जाना चाहती हैं। यदि तुमने ऐसा न किया तो हम सभी तुम्हें स्त्री-वधका पाप देंगी।' क्या खूब! श्रीराधा क्या श्रीकृष्णकी नहीं थी जो उनके लिये इतने कड़े दण्डकी व्यवस्था की गयी। परंतु प्रणयकोपने गोपियोंको यह बात भुला दी थी। उनकी ऐसी आतुरता देखकर भगवान्ने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे राधामें जीवनका संचार कर दिया। मानिनी राधा रोती-रोती उठ बैठी। गोपियोंने उसे गोदमें लेकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया, परंतु उसका कलेजा न थमा। अन्तमें श्रीकृष्णचन्द्रने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा—

'राधे! मैं तुमसे परमश्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवणमात्रसे हल जोतनेवाला मूर्ख मनुष्य भी पण्डित हो जाता है। तुम अपनी ही स्वरूपभूता रुक्मिणी आदि महिषियोंका पति होनेसे ही क्यों दुःख करती हो? मैं तो स्वभावसे ही सभीका स्वामी हूँ। राधे! कार्य और कारणके रूपसे मैं ही अलग-अलग प्रकाशित हो रहा हूँ। मैं सभीका एकमात्र आत्मा हूँ और अपने स्वरूपमें प्रकाशमय हूँ। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें मैं ही व्यक्त हो रहा हूँ। मैं स्वभावसे ही परिपूर्णतम श्रीकृष्णस्वरूप हूँ। दिव्यधाम, गोलोक, सुरम्य क्षेत्र गोकुल और वृन्दावनमें मेरा निवास है। मैं स्वयं ही द्विभुज गोप-वेषसे राधापति बालकके रूपमें गोप-गोपी और गौओंके सहित वृन्दावनमें रहता हूँ। वैकुण्ठमें मेरा परम शान्त सनातन चतुर्भुज रूप है, वहाँ मैं लक्ष्मी और सरस्वतीका पति होकर दो रूपोंमें रहता हूँ। पृथ्वीमें समुद्रकी जो मानसी कन्या मर्त्यलक्ष्मी है, उसके साथ मैं श्वेतद्वीपमें क्षीरसमुद्रके भीतर चतुर्भुजरूपसे ही रहता हूँ। मैं ही धर्मस्वरूप, धर्मवक्ता, धर्मनिष्ठ, धर्ममार्गप्रवर्तक, ऋषिवर नर और नारायण हूँ। पुण्यक्षेत्र भारतमें धर्मपरायणा पतिव्रता शान्ति और लक्ष्मी मेरी स्त्रियाँ हैं, मैं उनका पति हूँ तथा मैं ही सिद्धिदायक सिद्धेश्वर सतीपति मुनिवर कपिल हूँ।

सुन्दरि! इस प्रकार मैं नाना रूपोंसे विविध व्यक्तियोंके रूपमें विराजमान हूँ। द्वारिकामें मैं चतुर्भुजरूपसे सर्वदा श्रीरुक्मिणीजीका पति हूँ और सत्यभामाके शुभ गृहमें क्षीरोदशायी भगवान्के रूपसे रहता हूँ। इसी प्रकार अन्यान्य महिषियोंके महलोंमें भी मैं पृथक्-पृथक् शरीर धारणकर रहता हूँ। मैं ही अर्जुनके सारथिरूपसे ऋषिवर नारायण हूँ। मेरा अंश धर्म-पुत्र नर-ऋषि ही महाबलवान् अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ है। इसने सारथी होनेके लिये पुष्कर क्षेत्रमें मेरी तपस्या की थी। और राधे! तुम भी जिस प्रकार गोलोक और गोकुलमें राधारूपसे रहती हो, इसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वती होकर विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो और तुम ही धर्म-पुत्र नरकी कान्ता लक्ष्मीस्वरूपा शान्ति हो तथा तुम ही भारतमें कपिलदेवकी प्रिया सती भारती हो। तुम ही मिथिलामें सीताके रूपसे प्रकट हुई थी और तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो और तुम ही अपने कलारूपसे पाँचों पाण्डवोंकी प्रिया द्रौपदी हुई हो तथा तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपसे रावण हर ले गया था। अधिक क्या कहूँ—

नानारूपा यथा त्वं च छायया कलया सति।
नानारूपस्तथाहं च स्वांशेन कलया तथा॥
परिपूर्णतमोऽहं च परमात्मा परात्परः।

(१००।१०१)

'जिस प्रकार अपनी छाया और कलाओंके द्वारा तुम नानारूपोंसे प्रकट हुई हो, उसी प्रकार अपने अंश और कलाओंसे मैं भी विविध रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ। वास्तवमें तो मैं प्रकृतिसे परे सर्वत्र परिपूर्ण साक्षात् परमात्मा हूँ। सति! मैंने तुमको यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक रहस्य सुना दिया। परमेश्वरि राधे! तुम मेरे सब अपराध क्षमा करो।'

भगवान्के ये गूढ़ रहस्यमय वचन सुनकर श्रीराधिका और गोपियोंका क्षोभ दूर हो गया, उन्हें अपने वास्तविक स्वरूपका भान हो गया और उन्होंने चित्तमें प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रणाम किया।

श्रीकृष्ण-लीलाके अन्ध-अनुकरणसे हानि

भगवान् श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं और भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम। दोनों एक हैं। एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा भिन्न-भिन्न लीलाओंके लिये दो युगोंमें दो रूपोंमें अवतीर्ण हैं। इनमें बड़े-छोटेकी कल्पना करना अपराध है। श्रीरामरूपमें आपकी प्रत्येक लीला सबके अनुकरण करनेयोग्य मर्यादारूपमें होती है, रामरूपकी लीलाओंका रहस्य अत्यन्त निगूढ़ होनेपर भी बाह्यरूपसे सबकी समझमें आ सकता है और बिना किसी बाधाके अपने-अपने अधिकारानुसार सभी उसका अनुकरण कर सकते हैं, वह सीधा राज-मार्ग है, परंतु भगवान्की श्रीकृष्णरूपमें की गयी लीलाएँ बाहर-भीतर दोनों ही प्रकारसे निगूढ़ और रहस्यमय हैं। इनका समझना अत्यन्त ही कठिन है और बिना समझे अनुकरण करना तो हलाहल विष पीना अथवा जान-बूझकर धधकती हुई आगमें कूद पड़ना है। यह बड़ा ही कण्टकाकीर्ण और ज्वालामय मार्ग है। अतएव सर्वसाधारणके लिये सर्वथा समझने, मानने और पालन करनेयोग्य महान् उपदेश भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीता है और सर्वतोभावसे अनुकरण करनेयोग्य भगवान् श्रीरामकी मर्यादायुक्त लीलाएँ हैं।

जिन लोगोंने बिना समझे-बूझे भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका अनुकरण किया, वे स्वयं डूबे और दूसरे अनेक निर्दोष नर-नारियोंको डुबोनेका कारण बने। अग्नि पी जाने, पहाड़ अंगुलिपर उठा लेने, कालिय नागको नाथने आदि क्रियाओंका अनुकरण तो कोई क्यों करने लगा और करना भी शक्तिके बाहरकी बात है; अनुकरण करनेवाले तो बस, चीर-हरण, रासलीला और श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाओंका अनुकरण करते हैं। इन लीलाओंके महान् उच्च आध्यात्मिक भावको समझनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपनी वासनामयी वृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये इनके अनुकरणके नामपर वास्तवमें पाप किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि भगवत्प्रेममें वैराग्यकी कोई आवश्यकता नहीं, त्यागकी जरूरत नहीं। श्रीप्रियाप्रियतमजीके प्रेममें तो केवल शृंगार और भोगका ही प्रयोजन है, बल्कि यहाँतक भी कह दिया जाता है कि युगल-सरकारके चरणोंके सेवक

बन जाओ, फिर चोरी-जारी, झूठ-कपट, प्रमाद-आलस्य जो कुछ भी करते रहो, कोई आपत्ति नहीं है। मेरी समझसे ये सारी बातें अपनी कमजोरियोंको छिपाने, भगवद्भक्तिके नामपर विषयोंको प्राप्त करने, कपट-प्रेमी बनकर पाप कमाने और भोले नर-नारियोंको ठगकर अपनी बुरी वासनाओंको तृप्त करनेके लिये कही जाती हैं। सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी आत्म-स्वरूपिणी जगज्जननी श्रीराधिकाजीका चरणसेवक बनकर भी क्या कोई कभी चोरी-जारी आदि पापकर्म कर सकता है? भगवान्‌के सच्चे मनसे लिये हुए एक नामसे ही जब सारे पापोंका समूह भस्म हो जाता है तो भगवान्‌के चरणसेवकोंमें तो पाप-प्रवृत्ति रह ही कैसे सकती है? वैराग्य और त्याग तो भगवद्भक्तिकी आधारशिला है। जो अपने मनसे विषयोंका त्याग नहीं करता, भोगोंकी स्पृहा नहीं छोड़ता, वह भगवान्‌का भक्त ही कैसे बन सकता है? भक्तको तो अपना सर्वस्व लोक-परलोक और मोक्षतक भगवान्‌के चरणोंपर निछावर कर सर्वथा अकिंचन बन जाना पड़ता है। भगवत्प्रेमी भोगी कैसे हो सकता है? अतएव जो भगवत्-प्रेमके नामपर भोगका उपदेश करते हैं, उनसे और उनके उपदेशोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। दु:खकी बात है कि श्रीमद्भागवतकी रासपंचाध्यायीका भ्रान्त-अनुकरण करने जाकर कामवासनासे स्त्रियोंसे मिलने-जुलनेमें तो कोई आपत्ति नहीं मानी जाती, यहाँ तो भगवान्‌के लीला-अनुकरणका नाम लिया जाता है, परंतु उस श्रीमद्भागवतके '**स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्**' 'आत्मवान्‌को चाहिये कि वह स्त्रियोंके ही नहीं, स्त्रीसंगियोंके संगको भी दूरसे त्याग दें।'— इस उपदेशपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णप्रेमके एवं माधुर्यरसके मर्मको समझनेवाले तो श्रीचैतन्यमहाप्रभु थे, जो मधुररसके उपासक होकर भी धन और स्त्रीसे सर्वथा दूर रहते थे।

यद्यपि कई कारणोंसे आजकल प्रकटमें प्राय: ऐसी पाप-क्रियाएँ कम होती हैं, परंतु गुप्तरूपसे इन भावोंका प्रचार और प्रसार अब भी कम नहीं है। यह भक्ति और भगवत्प्रेमके विघातक हैं। कवियोंने व्यास-शुकदेवके मर्मको न समझकर अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मनमानी रचना की; तपस्वी, भक्त और मर्मज्ञ पुरुषोंको छोड़कर शेष गुरु, भक्त और उपदेशक कहलानेवाले लोगोंने मनमाना कथन और कार्य किया। शृंगारके गंदे-गंदे गीतोंमें श्रीकृष्ण और श्रीराधाका समावेश किया गया और दुष्ट विषयी पुरुषोंने इन लीलाओंकी आड़ लेकर पापकी परम्परा चला दी; इससे हिंदू-जातिका जो घोर अमंगल हुआ है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भी सब लोगोंको चेतकर भगवान् श्रीकृष्णकी गीताके दिव्य उपदेशके अनुसार अपने जीवनको बनाना चाहिये। भगवान्‌के इन शब्दोंको सर्वथा और सर्वदा याद रखना चाहिये—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६।२१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे और आत्माको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर दो।

भीख

'नारायण! नारायण!!'

'कौन है?'

'एक भिखारी'

'ठहरो, लाती हूँ'

इतना कहकर नन्दरानीने बहुमूल्य हीरे-मोतियोंका थार भरा और स्वयं लेकर बाहर आयीं। परंतु वह देखते ही सहम गयीं। देखा गलेमें साँप, जटाजूटमें साँप, साँपका कंकण, हाथमें डमरू और सुन्दर गौर-शरीरपर भभूत रमाये एक मस्त योगी खड़ा है। समाधिके नशेमें उसकी आँखें चढ़ी जा रही हैं। नन्दरानीने समझा कि कोई सिद्ध योगेश्वर है। वह बोली—

'नाथजी! यह लो भीख, मेरे लालको असीस दो, जिससे उसके सारे अमंगल टल जायँ।'

'मैया! तेरी यह भीख मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो एक बार अपने लालका मुखड़ा दिखला दे। उसे देखते ही मेरे सब अमंगल टल जायँगे।'

'नाथजी! मेरा साँवरा अभी निरा बच्चा है, तुम्हारे भेषको देखकर डर जायगा। भीख थोड़ी हो तो और

ला दूँ, देखो, मेरे लालका किसी तरह अमंगल न हो, उसके सारे कुग्रह टल जायँ।'

'अरी मैया! तेरा लाल कालका भी काल है, उसीके डरसे सूर्य, चन्द्र, यमराज सब अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। वह किससे डरेगा? साक्षात् मृत्युदेवता भी उसके नामसे डर जाते हैं। मुझे और कोई भीख नहीं चाहिये माता! मुझे तो एक बार अपने उस सलोने साँवरेकी हँसीली, छबीली, निराली, मतवाली, काली छबिका दर्शन करा दे। बस, एक बार उसकी झाँकी कर लेने दे।'

'ना, ना, नाथजी! मैं अपने लालको बाहर न लाऊँगी। आजकल व्रजमें असुरोंका बड़ा उत्पात है। अभी उस दिन पूतना आयी थी। भगवान्‌ने रक्षा की। मैं अभी-अभी उसकी माँग सवाँरकर और उसकी आँखोंमें काजल डालकर आयी हूँ, कहीं नजर लग जाय तो फिर तुम्हें कहाँ ढूँढ़ती फिरूँ?'

शिवजी हँसकर मन-ही-मन यशोदाके भाग्यकी सराहना करने लगे। बोले—'मेरी मैया! तू धन्य है, जो सर्वाधार त्रिलोकीनाथको अपनी गोदमें खिलाती है, अपने हाथों श्रृंगारके सागरका श्रृंगार करती है, तेरे समान बड़भागी कौन होगा? अरी! जिसकी भृकुटि-विलाससे सारे विश्वका सृजन और संहार होता है उसको नजर कैसी?'

'तुम क्या कहते हो, बाबा! मैं यह सब नहीं समझती। तुम्हारे वेदान्तका हम गँवारी ग्वालिनोंको क्या पता? भीख लेनी हो तो ले लो, मेरे श्यामसुन्दरको भूख लगी होगी, मैं अब और यहाँ नहीं ठहर सकती।'

'माँ! मैं तेरे पैरों पड़ता हूँ, एक बार मुझे उस प्राणधनके दर्शन करा दे, तेरा मंगल होगा, नहीं तो, मैं यहीं धरना दिये बैठा रहूँगा, बिना दर्शन किये तो यहाँसे हटूँगा नहीं।'

यशोदा साधु बाबाके दुःखसे दुःखी हुई, उसका कोमल हृदय द्रवित हो गया, भगवान्‌ने मति फेर दी। उसने कहा—

'अच्छा, लाती हूँ, पर अधिक देर न ठहरना भला! देखकर ही चले जाना।'

इतना कहकर वह अंदर गयी और नजरसे बचानेके लिये माथेपर काजलकी बिंदी लगाकर लालको गोदमें लिये बाहर लौटी। देवदेव शंकर त्रिभुवन-मोहिनी बालछबिको देखकर मुग्ध हो गये। एकटक देखने लगे। यशोदाने कहा—

'लो, अब जाती हूँ, बहुत देर हो गयी।'

अब, महाराजकी प्रेम-समाधि भंग हुई। वे बोले—

'तनिक ठहर जा मैया! मुझे दो बात तो कर लेने दे।' शिवजीने नेत्रोंकी मूक भाषामें ही मोहन प्यारेसे बातें कीं। फिर मुग्ध होकर गाने लगे—

सफल मम ईस जीवन आज।
निरखि अगुन अरूप को गुनपूर्न छबिमय साज॥
सच्चिदानँद अलख, अज, अव्यक्त, अमित अनंत।
प्रगट सो सिसुरूप रस-सौन्दर्य-निधि भगवंत॥
धन्य व्रजके गोप-गोपी गौ मयूर तृनादि।
सगुन बपु धरि रहत जिनमहँ ब्रह्म अचल अनादि॥
सर्वसक्ति समेत पूर्न प्रभाव सह परमेस।
करत लीला चित्र मधुर सो धारि बालक भेस॥

काली कृष्ण

एक बार परम कौतुकी लीलामय भगवान् शिवजीने पार्वतीजीसे कहा—'देवि! यदि मुझपर तुम प्रसन्न हो तो तुम पृथ्वीतलपर कहीं पुरुषरूपसे अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा। यहाँ जैसे मैं तुम्हारा प्रियतम स्वामी और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी प्रकार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगा। बस, यही मेरा अभीष्ट है। तुम मेरी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हो इसे भी पूर्ण करो।'

शक्तिमान्‌की इच्छा पूर्ण करनेके लिये शक्ति देवीने स्वीकृति दे दी और कहा—'नवीन मेघके समान कान्तिमयी जो मेरी भद्रकाली नामकी मूर्ति है, वही श्रीकृष्णरूपसे पृथ्वीपर अवतार लेगी; अब आप भी अपने अंशसे स्त्रीरूप धारण कीजिये।'

शिवजी परम संतुष्ट होकर बोले—'मैं तुम्हारी प्रियकामनासे भूतलपर नौ रूपोंमें प्रकट होऊँगा। शिवे! मैं स्वयं परम प्रेममयी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके रूपमें अवतीर्ण होऊँगा और तुम्हारी प्राणप्रिया होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगा। इसके अतिरिक्त मेरी आठ मूर्तियाँ

आठ रमणियोंके रूपमें प्रकट होंगी, वे ही मनोहरनयना श्रीरुक्मिणी और सत्यभामा आदि तुम्हारी आठ पटरानियाँ होंगी। इसके अतिरिक्त जो मेरे ये भैरवगण हैं, वे भी रमणीरूप धारणकर भूमिपर अवतीर्ण होंगे।'

देवीने कहा—'आपकी इच्छा सफल हो, मैं आपकी इन सभी मूर्तियोंके साथ यथोचित विहार करूँगी। प्रभो! मेरी जया तथा विजया नामकी जो दोनों सखियाँ हैं, वे पुरुषरूपमें श्रीदामा और सुदामा होंगी। विष्णुभगवान्‌के साथ मेरा पहलेसे निश्चय हो चुका है, वे हलायुध रूपमें बड़े भाई होंगे और सदा मेरे प्रिय कार्योंका साधन करेंगे। उन महाबलीका नाम राम होगा। इस प्रकार मैं तुम्हारा कार्य सिद्धकर अपनी महती कीर्तिकी स्थापना करके पुनः भूतलसे लौट आऊँगी।'

इसी निश्चयके अनुसार पृथ्वी और ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर श्रीपार्वतीजी श्रीकृष्णरूपमें तथा श्रीशिवजी श्रीराधारूपमें प्रकट हुए।

यह एक कल्पमें श्रीराधाकृष्णके अवतारका बाहरी रहस्य है। भगवान् और भगवतीके अवतारकी गूढ़ अभिसन्धिको तो दूसरा कौन जान सकता है? (महाभागवतके आधारपर)

भक्तिका स्वरूप

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगे रहना अथवा भगवान्‌में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं। ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है। पुराण, महाभारत, रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं। ईसाई, मुसलमान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है। हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जयघोषणा करते हैं। वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते। भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं। उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है।

जिनके साधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्‌भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्यशक्तिने शिव, ब्रह्मातकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति है। अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो—शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परंतु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परंतु गौड़ीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्तिको ही मुख्य मानते हैं।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञानयोगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे '**अहं ब्रह्मास्मि**', योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्‌के स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्‌की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अंग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम

भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी है—विषय-भोग, यश-कीर्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजसी है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उत्तमा भक्ति

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसे श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या'। इन क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके संगके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें '**सर्वदुःखनाशकत्व**' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌के प्रति अनुराग, समस्त सद्‌गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्राह्मसुख और पारमैश्वरसुख! ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भाव-भक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत' और 'सुदुर्लभा'।

इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' साधन-भक्तिके इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेम-भक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेम-भक्तिमें—'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छः गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छः गुण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१—क्लेशनाशिनी और २—सुखदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३—मोक्षलघुताकृत्‌से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् सहज ही दे देते हैं, परंतु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-भुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्योछावर करके भगवान्‌की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है—करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेमसुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती है।

साधन-भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुतः भाव और प्रेम नित्य सिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—

१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी

भक्ति है। भजनके ६४ अंग होते हैं। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है—राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अंग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्ध-सूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-भक्ति

शुद्ध-सत्त्व-विशेषस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचिकी अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और संचारीभाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमांकुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमांकुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अंकुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. ***क्षान्ति***—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चंचल न होना।

२. ***अव्यर्थ-कालत्व***—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवा-सम्बन्धी कार्योंमें ही लगे रहना।

३. ***विरक्ति***—इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि।

४. ***मानशून्यता***—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना।

५. ***आशाबन्ध***—भगवान्के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-मूल आशा।

६. ***समुत्कण्ठा***—अपने अभीष्ट भगवान्की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. ***नाम-गानमें सदा रुचि***—भगवान्के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. ***भगवान्के गुण-कथनमें आसक्ति***—दिन-रात भगवान्के गुणगान, भगवान्की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना।

९. भगवान्के निवासस्थानमें प्रीति—भगवान्ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अंकुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियोंमें भी देखे जाते हैं; परंतु वह भगवान्में रति नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्बरत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके संगसे कथा-कीर्तनादिके कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति

भावकी परिपक्व-अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा जरा भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधि-मार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है; और राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसी ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह। स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्रीकृष्णरतिरूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव। आलम्बन-विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालंकारादि वस्तुएँ हैं—उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अंग मोड़ना, हुँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विकभाव आठ हैं—स्तम्भ (जडता), स्वेद (पसीना), रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्छा)। ये सात्त्विकभाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किंचित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विकभाव गौण है। स्निग्ध-सात्त्विकभाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विकभावको दिग्धभाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त। बहुत ही प्रकट, परंतु गुप्त रखनेयोग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रखा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विकभावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्तभाव छिपाकर नहीं रखा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है। यह उद्दीप्तभाव ही महाभावमें सूद्दीप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विकभाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विकभावका नाम रत्याभासज है। कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक-भावका नाम सत्त्वाभासज है। जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं और भगवान्‌में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विकभावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारी भावोंको ही संचारीभाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका संचालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रसनिष्ठ भक्तका संग हुए बिना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्य स्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके संगसे संगके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें संगके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रसनिष्ठ भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स—ये सात गौण रस और हैं। भगवान्‌का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है। परंतु साधनके योग्य आदर्श उपर्युक्त पाँच मुख्य रस हैं।*

प्रेमभक्तिमें भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको भगवान् ही जानते हैं। या किसी अंशमें वे जानते हैं, जिनको भगवान् जनाना चाहते हैं। आजतक जगत्‌में कोई भी यह नहीं कह सका कि भगवान् ऐसे ही हैं; न कोई कह सकता है और न कह सकेगा। यदि कोई ऐसा कहनेका साहस करता है तो वह या तो भोला है, या आग्रही अथवा मिथ्यावादी है। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के जितने वर्णन जगत्‌में हुए हैं, वे अपने-अपने स्थानमें सभी सच्चे हैं; क्योंकि महान् परमात्मामें सभीका अन्तर्भाव है। अनन्त आकाशमें जैसे सभी मठाकाश, घटाकाश समाते हैं। किसी गाँवमें होनेवाली घटनाको लेकर हम कहें कि जगत्‌में ऐसा होता है तो ऐसा कहना मिथ्या नहीं है, क्योंकि गाँव जगत्‌में ही है अतएव वह जगत् ही है, परंतु यह बात नहीं कि जगत् वह गाँव ही है। फिर जगत्‌का तो वर्णन हो भी सकता है, क्योंकि वह प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा आकलन करनेयोग्य है, परंतु अप्राकृतिक, असीम, अनन्त, अपार, अकल, अलौकिक परमात्माका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, इसीलिये वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं। निर्गुण अक्षरब्रह्म, विकारशील और जड अपरा प्रकृतिमें स्थित निर्विकार परा प्रकृतिरूप जीवात्मा, अपरा प्रकृति और उसके विकारसे उत्पन्न उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले सब पदार्थ, भूतोंका उद्भव और अभ्युदय करनेवाला विसर्गरूप कर्म, व्यक्त जगत्‌का अभिमानी सूत्रात्मा अधिदैव और इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप अधियज्ञ—ये सब उस नित्य-निर्विकार सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विशेष भाव हैं, या उसके आंशिक प्रकाश हैं। अवश्य ही स्वभावसे ही पूर्ण होनेके कारण आंशिक प्रकाश होनेपर भी भगवद्रूपमें सभी पूर्ण हैं। ऐसे सबमें स्थित, सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देनेवाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय

* यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थोंका अध्ययन करें।—सम्पादक।

भगवान्का वर्णन कौन कर सकता है?

भगवान्ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९।४-५)

'मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है, सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ, वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं; मेरा यह ऐश्वरयोग देखो कि सम्पूर्ण भूतोंका उत्पन्न और धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

भगवान्के इस कथनमें परस्पर-विरोधी बातें प्रतीत होती हैं 'मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ; सब मुझमें हैं और कोई भी मुझमें नहीं है।' इस कथनका कोई अर्थ सहज ही समझमें नहीं आता। इसीलिये 'परमार्थ' और 'व्यवहार' का भेद करके इसकी व्याख्या की जाती है। परंतु यही तो भगवान्का 'ऐश्वरयोग' है, हमारी विषय-विमोहित जडबुद्धि इसे कैसे जान सकती है? हमारे लिये जो असम्भव है, भगवान्के लिये वह सब कुछ सम्भव है। भगवान्में सब विरोधोंका समन्वय है। इसीलिये तो भगवान्का किसी भी प्रकारसे किया हुआ वर्णन भगवान्के लिये सत्यरूपसे लागू होता है।

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी; निराकार भी हैं, साकार भी; वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए ही सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर-विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है—भगवान्की ही परा और अपरा प्रकृति हैं। इन दो प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं, वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं, वे ही सबका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोक-महेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं; क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्का यथार्थ स्वरूपज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिसपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें जान सकते हैं और कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्का यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेमें आता। निष्काम कर्मसे भगवान्का ऐश्वर्य-रूप जाना जाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परब्रह्मरूप; परंतु उनके पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधी भक्ति करते-करते जब वह दिव्य प्रेमरूपमें परिणत होती है, जब भगवान्की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है, जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नाम-गुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है; इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना सब कुछ उनके अर्पण कर देता है, तब भगवान् उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपमें—पुरुषोत्तमरूपमें पा जाता है।

भगवान्ने घोषणा की है कि मैं जैसा भक्तिसे शीघ्र मिलता हूँ वैसा अन्य किसी साधनसे नहीं मिलता—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'जिस प्रकार मेरी अनन्य भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५३-५४)

'परंतप अर्जुन! जिस प्रकारसे तुमने मुझको देखा है, इस प्रकारसे मैं न वेदोंसे (ज्ञानसे), न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। इस प्रकारसे मैं केवल अनन्य भक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ और अपनेमें प्रवेश करा सकता हूँ, अभिन्नभावसे अपने अंदर मिला सकता हूँ।'

एक बात और है—ज्ञानके साधनमें भगवान् निर्गुण, निराकार, निरंजन, परम अज्ञेय तत्त्व हैं; और ज्ञानयुक्त कर्ममें भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्न, सर्वगुणाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्ता, पालन और संहारकर्ता, नियन्त्रणकर्ता प्रभु हैं, परंतु भक्तिमें भगवान् ये सब होते हुए ही भक्तके निज-जन हैं। भक्ति विश्वातीत और गुणातीत तथा विश्वमय और सर्वगुणमय परमात्माका अवतरण कराकर, उन्हें नीचे उतारकर भक्तके साथ आत्मीयताके अत्यन्त मधुर बन्धनमें बाँध देती है। भक्तिका साधक—प्रेमी भक्त भगवान्को केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म या सर्वलोक-महेश्वर ऐश्वर्यमय स्वामी ही नहीं जानता, वह उन्हें अपने परम पिता, स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद्, प्यारे सखा, प्राणेश्वर पति, प्रेममयी प्राणेश्वरी, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणों-के-प्राण और जीवनों-के-जीवन परम आत्मीयरूपमें प्राप्त करता है। भगवान्के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सुहृदता, अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य और नित्य नवीन माधुर्यका साक्षात्कार और उपभोग भक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है। निरे ज्ञान और कर्मके द्वारा नहीं! जिनमें भक्ति नहीं है, उनकी तो कल्पनामें भी यह बात नहीं आ सकती कि भगवान् हमारे पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु और जननी-पत्नी भी बन सकते हैं। इसी प्रेमरूपा भक्तिके प्रभावसे भगवान्के दिव्य अवतार होते हैं, इसीके प्रतापसे भक्त अपने भगवान्की दिव्य-लीलाओंका आस्वादन करता है और इसीके कारण भगवान्को जगत्के सामने अपना महत्त्व छिपाकर परम गोपनीय भावसे भक्तके सामने अपने परम तत्त्वका अपने ही श्रीमुखसे प्रकाश करना पड़ता है। तर्कशील अभक्तोंके लिये यह तत्त्व सर्वथा गुप्त ही रहता है!

भगवान्का अपने प्रेमी भक्तोंके साथ बिलकुल खुला व्यवहार होता है; क्योंकि वहाँ योगमायाका आवरण हटाकर ही लीला करनी पड़ती है। उनके सामने सभी तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। निर्गुण और सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार दोनों ही रूपोंका परम रहस्य भगवान् खोल देते हैं। इसीलिये भगवान्ने भक्तिकी इतनी महिमा गायी है और इसीलिये परम चतुर ऋषि-मुनि भी भक्तिके लिये लालायित रहते हैं।

भगवान् इतना ही नहीं करते, वे स्वयं भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और उसके साथ खेलते हैं, खाते हैं, सोते हैं और प्रेमालाप करते हैं। कभी वे पुत्र बनकर गोदमें खेलते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

कभी राधाजीके साथ झूला झूलते हैं—

झूलत नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति गावति गीत रसाल॥

कभी माता-पिताकी वन्दना और उनकी सेवा करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

कहीं मित्रोंके साथ खेलते हैं, कहीं प्रियाके साथ प्रेमालाप करते हैं, कहीं भक्तके लिये रोते हैं। कहीं भक्तकी सेवा करते हैं, कहीं भक्तकी बड़ाई करते हैं, कहीं भक्तके शत्रुओंको अपना शत्रु बतलाते हैं, कहीं भक्तोंकी स्तुति सुनते हैं और कहीं भक्तोंको ज्ञान देते हैं। यह आनन्द भक्त और भगवान्में ही होता है। भक्त और भगवान्में न मालूम क्या-क्या रसकी बातें होती हैं, न मालूम कैसे-कैसे रहस्य खुलते हैं और न मालूम वे भक्तको कब किस परम दुर्लभ दिव्य लोकमें ले जाकर वहाँका आनन्द अनुभव कराते हैं। वे उसके हो जाते हैं और उसको अपना बना लेते हैं। उसके हृदयमें आप बसते हैं और उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, सम्पूर्ण आत्मानुभूति, सम्पूर्ण एकात्मबोध सब यहाँ दिव्य प्रेमके रूपमें परिणत हो जाते हैं। और

मुक्ति तो ऐसे भक्तकी सेवा करनेके लिये पीछे-पीछे फिरती है, उसके चरणोंमें लोटती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा।
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है मोक्ष-साम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है।

भगवान्‌को पानेका उपाय

सत्संग

आसक्ति या संग अवश्य ही आत्माको फँसानेवाली अक्षय फाँसी है, परंतु वही आसक्ति या संग यदि संतोंमें किया जाय तो वह खुला हुआ मोक्षका दरवाजा है। जो पुरुष सहनशील, दयालु, सब जीवोंके सुहृद्, शान्त और शत्रुरहित हैं (जिनके मनमें किसीसे शत्रुता नहीं है), वे ही संत हैं। शास्त्रोंमें वर्णित सुशीलता ही इन संतोंका आभूषण है। ये साधुजन अनन्य भावसे भगवान्‌की दृढ़ भक्ति करते हैं और भगवान्‌के लिये समस्त स्वजन-बान्धवोंका मोह त्याग देते हैं। यहाँतक कि सम्पूर्ण कर्म और देहके अभिमानको त्यागकर वे भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। वे भगवान्‌के चरित्रोंकी पवित्र कथाएँ सुनते और कहते हैं। उनका चित्त सब समय श्रीभगवान्‌में लगा रहता है। इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके ताप उन्हें संतप्त नहीं कर सकते। वे संत आसक्तिरहित होते हैं, इसीलिये आसक्तिका परिणाम जो बन्धन है, उसको वे हरनेवाले होते हैं। ऐसे पवित्र संतोंका ही नित्य संग करना चाहिये। ऐसे महात्माओंके संगसे उनके द्वारा हृदय और कानोंको सुख देनेवाली भगवान्‌की पवित्र लीलाओंके अमृतसे भरी कथाएँ सुननेको मिलती हैं। जिनके सुननेसे भगवान्‌में श्रद्धा, रति और भक्ति होती है। साधक लीलाओंका चिन्तन करता है और भक्तिके प्रभावसे उसके चित्तमें इस लोक और परलोकके सब सुखोपभोगोंसे वैराग्य हो जाता है। फिर वह सब प्रकारसे चित्तको भगवान्‌के अर्पण करनेका यत्न करता है। इस प्रकार मायाके गुणोंका सेवन न करनेसे वैराग्ययुक्त ज्ञानके प्रभावसे और भगवान्‌की अनन्य दृढ़ भक्तिके प्रतापसे वह इसी शरीरमें भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। (श्रीमद्‌भागवत)

वह दिन कब आयेगा

प्यारे नटनागर! तुम्हीं बताओ कि मेरा चिरवांछित वह सुदिन कब आयेगा? दुलारे चितचोर! तुम्हीं कहो कि वह शुभ घड़ी, वह सुहावना सरस समय, वह परम प्रिय अनमोल पल, वह भाग्योदयका मुहूर्त कब होगा, जब ये चिरतृषित नेत्र उस अनूप रूपमाधुरीका पानकर अन्य किसी भी छबिको न देख सकेंगे? अहा! वह समय बड़ा ही अनमोल होगा, जब प्रियतमका करोड़ों चन्द्रमाओंको लजानेवाला मोहन मुखड़ा घनश्याम मेघसे निकल पड़ेगा और अपनी विश्वविमोहिनी चटकीली चाँदनीसे विश्वको चमका देगा। उस समय कोयल पंचम स्वरसे 'कुहू-कुहू' की ध्वनिसे अपने प्राणाधारको पुकार उठेगी। पपीहा 'पी कहाँ' की रटसे प्रेमिकाको अधीर कर देगा। मोरके शोरसे सहसा हृदयमें चोट लग जायगी। योगी चंचल चितवनसे उस नवीन चन्द्रकी ओर त्राटक लगा लेंगे और प्रकृतिदेवी उस अलौकिक सौन्दर्यकी झाँकीपर थिरक-थिरक नाचने लगेगी।

भक्त-मन-चोर! सच कहना, यह चोरीकी कला तुमने किससे और कब सीखी? सुनते हैं, तुम व्रजललनाओंसे बड़े इठलाते हो, उनका माखन चुरा लेते हो और कोई-कोई तो यहाँतक कहते हैं कि उनका सर्वस्व लूट लेते हो! यदि बात सत्य है तो क्या मैं भी तुम्हारी इस लूटपाटका एक नवीन पात्र बन सकता हूँ? क्या मैं भी तुमसे कह सकता हूँ कि ऐ अनोखे चोर! मेरा भी 'चित्त' चुरा लो? क्या मेरी ओरसे तुम्हारा नाम 'मन-चोर' न पड़े?

मेरे राम! वह दिन कब आयेगा जब मैं भी मुनि-शापसे शिला हो जाऊँगा और तुम्हारे चरण-रज-स्पर्शसे मुझे उस परमानन्दकी प्राप्ति होगी जिसके लिये योगिजन लाखों वर्षोंतक निराहार रहकर तुम्हारी उपासना किया करते हैं। भव-भयहारी राम! वह शुभ घड़ी कब

आयेगी कि जब नटखट केवटकी नाईं मुझे भी कठौतेमें तुम्हारे कोमल चरणकमलको अपने इस कठोर हाथोंसे खूब मल-मलकर धोनेकी अनुमति मिल जायगी?

गोपीकुमार! वह समय कब आयेगा जब मैं तुम्हें कदम्बपर मंद-मंद हास्य करते हुए बाँसुरीके मधुर स्वरोंको गाते सुनूँगा, जिन्हें सुनकर व्रजललनाएँ अपने घर-द्वार, पति-पुत्र, परिवारको परित्यागकर तुम्हारी ओर बलात् खिंच जाती थीं। लीलामय! सुना है, तुम्हारी मुरलीमें विचित्र आकर्षण है! उसके स्वरोंमें अपार अनोखापन है। बाँसुरी तो मैंने बहुत सुनी है पर तुम्हारी बाँसुरी तो गजब कर देती है। देवता और मनुष्योंकी कौन कहे, पशु-पक्षीतक उस ध्वनिको सुनकर स्तब्ध होकर खाना-पीना भूल जाते हैं।

सुना है, अब भी तुम वृन्दावनकी कुंजोंमें वही राग-तान छेड़ते हो और भाग्यवान् भक्तोंको अब भी तुम्हारी वंशीकी ध्वनि साफ-साफ सुनायी देती है। यदि तुम्हारी कृपादृष्टि हो गयी तो तुम उन्हें अपने मोहन मुखड़ेका दर्शन दे कृतकृत्य कर देते हो। पतितपावन! क्या मुझे प्रेमके प्यालेकी एक बूँद पान करनेका भी अवसर न मिलेगा? क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि तुम्हारा एक प्रेम-पथ-पथिक तुम्हारे प्रेम-पथसे गुमराह हो जाय और कँटीले जंगलोंमें भटकता रहे? यह तो बिलकुल सही है कि मेरे अंदर व्रजललनाओंका-सा प्रेम नहीं, केवटके-से प्रेम-लपेटे अटपटे बैन नहीं, गजका-सा आर्तनाद नहीं, प्रह्लादकी-सी अनन्यता, निष्कामता नहीं, ध्रुवका-सा विश्वास नहीं, द्रौपदीकी-सी पुकार नहीं, सूरदासकी-सी लगन नहीं और गोस्वामी तुलसीदासका-सा भरोसा नहीं, फिर भी तुम ठहरे पतितपावन और मैं ठहरा तुम्हारा एक पतित। यदि तुम्हारा दावा है कि मैं पतित-से-पतितका भी उद्धार करता हूँ तो मैं इसी नाते तुमसे कहता हूँ और करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन कब आयेगा जब तुम इस पतितका उद्धार कर अपने पतितपावन नामको सार्थक करोगे।

मेरे हृदयके राजा! वह दिन कब आयेगा जब मैं सांसारिक झंझटोंको छोड़, विषयोंसे मुखमोड़, सोनेकी बेड़ी तोड़ तुम्हारे पादपद्मोंसे सम्बन्ध जोड़ूँगा? कब तुम्हारे चरणोंका स्पर्शकर शान्ति-लाभ करूँगा, तुम्हारे कमलनयनोंको देखकर तृषित नेत्रोंको शान्त करूँगा, तुम्हारे मुखकंजको निरख-निरख कलेजेकी कसकको मिटाऊँगा और तुम्हारी सुखमयी गोदमें बैठकर तुम्हारे शीतल कर-स्पर्शसे उस आनन्दका अनुभव करूँगा जिसका करोड़ों जिह्वाएँ भी मिलकर वर्णन नहीं कर सकतीं।

वह दिन कब आयेगा जब मैं भी सूरदासकी नाईं कहूँगा—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि।
हृदयसे जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

तुम आगे-आगे भागते जाओगे और मैं पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा और तबतक नहीं छोड़ूँगा जबतक तुम पकड़ न जाओगे।

मेरे जीवनाधार! अब न तरसाओ! बस, बहुत हो चुका। सभी बातोंकी एक हद होती है, सभी कामोंका एक अन्त होता है ***'का बरषा जब कृषी सुखाने'*** अगर मिलना ही है तो अभी मिलो, इसी क्षण मिलो, मैं कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। देखते-देखते आँखें फूट गयीं। रोते-रोते आँसू सूख गये। पुकारते-पुकारते गला बैठ गया, पर तुम न आये! हृदय-कपाट हर समय तुम्हारे लिये खुले पड़े हैं और प्रेमशय्या भी बिछी है, तुम जब चाहो उसपर शयन कर सकते हो। तुम्हें यह कहनेका भी मौका नहीं मिलेगा कि 'द्वार खटखटाया पर उत्तर न मिला।' द्वार खुला रहनेसे चोर-डाकू बड़ा तंग करते हैं पर तुम्हारे ही कारण मैंने उन्हें खोल रखा है और तबतक खुला रखूँगा जबतक उनका तनिक भी अस्तित्व रह जायगा। यदि मैं यह समझ लूँ कि तुम नहीं आओगे तब भी मुझे विश्वास नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हें आना ही पड़ेगा। अवश्य ही अब मैंने समझा, तुम्हारे कर्णरन्ध्रतक मेरी करुण पुकार नहीं पहुँची है, नहीं तो तुम अपना वाहन छोड़ पैदल ही दौड़े चले आते।

याद रखो, यदि देर करके आये तो तुम मुझे नहीं पा सकते।

प्रान तृषातुरके रहें, थोड़ेहू जलदान।
पीछे जल भर सहस घट, डारेहु मिले न प्रान॥

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है। उसका अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजमें ही हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा संतशास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा, यह शंका सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है, परंतु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक षट् सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध* होनेपर भी प्रकारभेदसे अनेकरूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्-परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले पथिककी भाँति मैं भी धन्य हो जाऊँगा। इस प्रकारकी मूढ़-मतिवालोंकी बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेसे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—**'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते'**। इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन-धर्म-कर्म—सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामें उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने-आपको प्रियमिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी, कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किंचित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-वंशरी नन्दकिशोर॥

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उसके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त

---

* अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

वेगका संचार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी! घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर सीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिसोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है॥
अब बिलंब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहबरकी बिचरूँ साँझ सबेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो।
'ललितकिसोरी' तन मन आकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्द्रकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ।
बंसीवट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ॥
रिझऊँ स्याम मनाइ, गाइ गुन, गुंज-माल गल डारूँ।
परमानन्द भूलि सगरौ, जग स्यामहि स्याम पुकारूँ॥

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है!

आवश्यक साधन

'कल्याण' के पाठक बड़े-बड़े संतोंके अनुभूत वचनोंसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य 'श्रीभगवान्' को या उनके 'अनन्यप्रेम' को प्राप्त करना है। वस्तुतः मुक्ति, मोक्ष, ज्ञान, सनातन शान्ति, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं। जीवन बहुत थोड़ा है और वह भी अनेक बाधा-विघ्नोंसे भरा हुआ है। आजकल तो चारों ओरसे ही विघ्न-बाधाओंकी और दुःख-कष्टोंकी मानो बाढ़-सी आ रही है। ऐसे आपद्-विपद्से पूर्ण क्षुद्र जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है। याद रखना चाहिये, यह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यर्थकी बातोंमें बीत गया तो पीछे पछतानेके सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये। जो लगे हुए हैं, वे आगे बढ़ें; जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें। आजकल मौत बहुत सस्ती हो रही है। कुछ लोग तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी। उस घटनेवाली मनुष्यसंख्यामें हमलोग भी तो होंगे। इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये। विशेष कुछ न हो तो नीचे लिखे नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। रोज अपनी रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि हो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बनाकर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और नियम टूटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैसोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न टूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बातका पूरा ध्यान रहे।

१—सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२—प्रातःकाल जगते ही भगवान्‌का स्मरण करना।

३—दोनों समय भगवान्‌की प्रार्थना करना या संध्या करके गायत्रीका जप करना।

४—कम-से-कम २१,६०० भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५—कम-से-कम आध घण्टे उपनिषद्, गीता, रामायण या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्संग करना।

६—जानकर किसीका बुरा न करना।

७—जानकर झूठ न बोलना

८—पुरुष हो तो परस्त्रीको और स्त्री हो तो परपुरुषको बुरी नजरसे न देखना। न जानकर स्पर्श करना।

९—किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०—भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्‌को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११—दूसरेके हककी किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको ही चलने देना।

१२—अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना।

१३—हँसी-मजाक न करना।

१४—माता-पिता आदि बड़ोंको प्रतिदिन प्रणाम करना।

१५—सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्‌से भरा है, सारा जगत् भगवान्‌से ही निकला है, भगवान्‌में ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना।

१६—क्रोधके त्यागका अभ्यास करना। क्रोध आनेपर प्रत्येक बार सौ बार भगवान्‌का नाम लेकर उसका प्रायश्चित्त करना।

१७—किसी भी जीवसे घृणा न करना।

१८—सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्‌को स्मरण करना।

१९—प्रतिज्ञापूर्वक नियमोंका पालन करना और किसी नियमके टूट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना।

२०—नियमोंके पालनका ब्यौरा रोज लिखना।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेगा तो आशा है भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और आप भगवान्‌के प्रेमपथपर अग्रसर एक सच्चे साधक हो सकेंगे। संत-महात्माओंने बहुत तरहके साधनोंका वर्णन किया है और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परंतु अन्तःकरणकी शुद्धि प्रायः सभी साधनोंमें आवश्यक है, इसलिये उपर्युक्त साधनोंका अभ्यास सभीको करना चाहिये। इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और फिर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें मुख्य हेतु बन जायँगे।

दस प्रकारकी नौ-नौ बातें

(माननेकी और छोड़नेकी)

१—किसी व्यक्तिके घर आनेपर नौ अमृत खर्च करें—(१) मीठे वचन, (२) सौम्य दृष्टि, (३) सौम्य मुख, (४) सौम्य मन, (५) खड़े होना, (६) स्वागत पूछना, (७) प्रेमसे बातचीत करना, (८) पास बैठना और (९) जाते समय पीछे-पीछे जाना।

इससे गृहस्थकी उन्नति होती है।

२—दूसरोंको बहुत कम खर्चकी नौ वस्तुएँ गृहस्थोंको जरूर देनी चाहिये—(१) आसन, (२) पैर धोनेको जल, (३) यथाशक्ति भोजन, (४) जमीन, (५) बिछौना, (६) घास, (७) पीनेको जल, (८) तेल और (९) दीपक।

इनसे गृहस्थकी अभीष्टसिद्धि होती है।

३—नौ बातें उन्नतिमें बाधक हैं; इसलिये उनका त्याग करना चाहिये—(१) चुगली या निन्दा, (२) परस्त्री-सेवन, (३) क्रोध, (४) दूसरेका बुरा करना, (५) दूसरेका अप्रिय करना, (६) झूठ, (७) द्वेष, (८) दम्भ और (९) जाल रचना।

इनके त्यागसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है।

४—नौ काम गृहस्थोंको रोज अवश्य करने चाहिये—(१) स्नान, (२) संध्या, (३) जप, (४) होम, (५) स्वाध्याय, (६) देवपूजन, (७) बलिवैश्वदेव, (८) अतिथिसेवा और (९) श्राद्ध-तर्पण।

इनसे सुखकी प्राप्ति होती है।

५—नौ बातें गृहस्थको गुप्त रखनी चाहिये—(१) जन्म-नक्षत्र, (२) मैथुन, (३) मन्त्र, (४) घरके छिद्र, (५) वंचना, (६) आयु, (७) धन, (८) अपमान और (९) स्त्री।

इनके प्रकाश करनेसे अनेकों प्रकारकी हानियाँ होती हैं।

६—नौ बातें गृहस्थको प्रकाश करनी चाहिये—(१) छिपकर किया हुआ पाप, (२) निष्कलंकता, (३) ऋणदान, (४) ऋणशोधन, (५) उत्तम वंश, (६) खरीद, (७) बिक्री, (८) कन्यादान और (९) गुण-गौरव।

इनसे गृहस्थकी उन्नति होती है।

७—नौ जनोंको गृहस्थको जरूर दान देना चाहिये—(१) माता, (२) पिता, (३) गुरु, (४) दीन, (५) अनाथ, (६) उपकार करनेवाला, (७) सत्पात्र, (८) मित्र और (९) विनयशील।

यह दान अनन्त फलदायक होता है।

८—नौ आदमियोंको दान नहीं देना चाहिये—(१) खुशामदी, (२) स्तुति करनेवाला, (३) चोर, (४) कुवैद्य, (५) व्यभिचारी, (६) धूर्त, (७) शठ, (८) कुश्तीका पेशा करनेवाला और (९) अपराधी।

इनको देनेसे कोई फल नहीं होता।

९—नौ वस्तुओंको किसी हालतमें विपत्ति पड़नेपर भी नहीं देना चाहिये—(१) संतानके रहते सर्वस्व-दान, (२) पत्नी, (३) शरणागत, (४) दूसरेकी रखी हुई चीज, (५) बन्धक रखी हुई चीज, (६) कुलकी वृत्ति, (७) आगेके लिये रखी हुई चीज, (८) स्त्री-धन और (९) पुत्र।

इनके देनेपर प्रायश्चित्त किये बिना शुद्धि नहीं होती।

१०—ये नौ नवक अवश्य पालन करनेयोग्य हैं। इनसे सुख-समृद्धिकी वृद्धि होती है। अब एक नवक और है, जो धर्मरूप है और जिसके पालनसे अत्यन्त पारमार्थिक लाभ होता है।

(१) सत्य, (२) शौच, (३) अहिंसा, (४) क्षमा, (५) दान, (६) दया, (७) मनका निग्रह, (८) अस्तेय और (९) इन्द्रियोंका निग्रह।

इन दस नवकोंका पालन करनेसे लोक, परलोक दोनों बनते हैं। (स्कन्दपुराण-काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध)

मनुष्य-जीवनके कुछ दोष

कुसंगति, कुकर्म, बुरे वातावरण, खान-पानके दोष आदि अनेक कारणोंसे मनुष्यमें कई प्रकारके दोष आ जाते हैं, जो देखनेमें छोटे मालूम होते हैं, बल्कि आदत पड़ जानेसे मनुष्य उन्हें दोष ही नहीं मानता, पर वे ऐसे होते हैं, जो जीवनको अशान्त, दुःखी बनानेके साथ ही उन्नतिके मार्गको रोक देते हैं और उसे अधःपातकी ओर ले जाते हैं। ऐसे दोषोंमेंसे कुछपर यहाँ विचार करते हैं—

१—मुझे तो अपनेको देखना है—इस विचारवाले मनुष्यका स्वार्थ छोटी-सी सीमामें आकर गंदा हो जाता है। 'किस काममें मुझे लाभ है, मुझे सुविधा है', 'मेरी सम्पत्ति कैसे बढ़े', 'मेरा नाम सबसे ऊँचा कैसे हो', 'सब लोग मुझे ही नेता मानकर मेरा अनुसरण कैसे करें',—इसी प्रकारके विचारों और कार्योंमें वह लगा रहता है। 'मेरे किस कार्यसे किसकी क्या हानि होगी', 'किसको क्या असुविधा होगी', 'किसका कितना मानभंग होगा', 'किसके हृदयपर कितनी ठेस पहुँचेगी', 'कितने मेरे विरोधी बन जायँगे'—इन सब बातोंपर विचार करनेकी इच्छा गंदे स्वार्थी हृदयमें नहीं होती। वह छोटी-सी सीमामें अपनेको बाँधकर केवल अपनी ओर देखा करता है; फलस्वरूप उसके द्वारा अपमानित, क्षतिग्रस्त, असुविधाप्राप्त लोगोंकी संख्या सहज ही बढ़ती रहती है, जो उसकी यथार्थ उन्नतिमें बड़ी बाधा पहुँचाते हैं।

२—भगवान् और परलोक किसने देखे हैं?—भगवान् और परलोकपर विश्वास न करनेवाला मनुष्य यों कहा करता है। ऐसा मनुष्य स्वेच्छाचारी होता है और किसी भी पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। अमुक बुरे कर्मका फल मुझे परलोकमें—दूसरे जन्ममें भोगना पड़ेगा या अन्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान् सब कर्मोंको देखते हैं, उनके सामने मैं क्या उत्तर दूँगा—इस प्रकारके विश्वासवाला मनुष्य सबके सामने तो क्या, छिपकर भी पाप नहीं कर सकता। पर जिसका ऐसा विश्वास नहीं है, वह केवल कानूनसे बचनेका ही प्रयत्न करता है। उसे न तो बुरे कर्मसे—पापसे घृणा है, न उसे किसी पारलौकिक दण्डका भय है। आजकलकी घूसखोरी-चोरबाजारीका प्रधान कारण यही है। और जबतक यह अविश्वास रहेगा, तबतक कानूनसे ऐसे पाप नहीं रुक सकते। पापोंके रूप बदल सकते हैं पर उनका अस्तित्व नहीं मिटता। और जब मनुष्यका जीवन इस प्रकार पापपंकमें स्वेच्छापूर्वक फँस जाता है, तब उसकी उन्नति कैसे हो सकती है? वह तो वस्तुतः

अवनतिको ही—अधःपातको ही उन्नति और उत्थान मानता है। ऐसे मनुष्यको इस लोकमें दुःख प्राप्त होता है और भजन-ध्यानकी उससे कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अतः मनुष्यजीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे भी वह वंचित ही रहता है। उसे भविष्यमें बार-बार आसुरी योनि और अधमगति ही प्राप्त होती है।

भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६।२०)

३—मेरा कोई क्या कर लेगा?—संसारमें सभी मनुष्य सम्मान चाहते हैं। जो मनुष्य ऐंठमें रहता है, दूसरोंको सम्मान नहीं देता, कहता है, 'मुझे किसीसे क्या लेना है, मैं किसीकी क्यों परवा करूँ, मेरा कोई क्या कर लेगा?' वह इस अभिमानके कारण ही अकारण लोगोंको अपना वैरी बना लेता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, उसके घरके और बन्धु-बान्धव भी उसके पराये हो जाते हैं। वह अभिमानवश स्वयं किसीकी परवा नहीं करता, किसीके सुख-दुःखमें हिस्सा नहीं बँटाता और उनसे अपनेको पुजवाना चाहता है। फलस्वरूप सभी उससे घृणा करने लगते हैं और उसके द्वेषी बन जाते हैं। वह इसे अपना आत्मसम्मान (Dignity) मानता है, पर होती है यह उसकी मूर्खता। इस प्रकारका अभिमान उसे सबसे बहिष्कृत—अकेला असहाय बना देता है और इससे उसकी उन्नति रुक जाती है।

४—क्या करूँ, मैं तो निरुपाय हूँ, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता—इस प्रकार आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धासे विहीन मनुष्य निरन्तर निराशा, विषाद, शोकमें निमग्न और अकर्मण्य-सा बना रहता है। 'पाप हैं पर मुझसे वे नहीं छूट सकते', 'मुझमें अमुक दोष है पर मैं उससे लाचार हूँ', 'काम तो बहुत उत्तम है पर मैं उसे कैसे कर सकता हूँ', 'भगवान् हैं,' महात्माओंको मिलते होंगे! पर मुझको क्यों मिलने लगे?' 'भजन करना अच्छा है पर मुझसे तो बन ही नहीं सकता',—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें उत्साहहीन होकर जीवनयापन करनेवाला मनुष्य न तो कभी उत्तम आरम्भ कर सकता है और न जीवनके किसी भी क्षेत्रमें सफलता ही पा सकता है।

५—मेरा कोई नहीं है, सभी मुझसे घृणा करते हैं—अपनेमें हीनताकी भावना करते-करते मनुष्यको ऐसा दीखने लगता है कि मुझसे सभी घृणा करते हैं। यों सोचते-सोचते वह स्वयं भी अपनेसे घृणा करने लगता है और अपनेको किसी भी योग्य न समझकर मुँह छिपाता फिरता है; 'कोई मुझे देख न ले, देखेगा तो घृणा करेगा।' यों किसीके सामने आकर कुछ भी करनेका साहस उसका नहीं होता। ऐसा मनुष्य प्रायः घुल-घुलकर रोता हुआ मरता है।

६—मैं तो बस, दुःख भोगनेके लिये ही पैदा हुआ हूँ—बात-बातमें चिढ़नेवाले और जरा-जरा-सी प्रतिकूलतापर दुःख माननेवाले पुरुषका सारा पौरुष चिढ़ने, अंदर-ही-अंदर जलने और दुःख भोगनेमें ही समाप्त हो जाता है। उसका दुःखदर्शी चिड़चिड़ा स्वभाव उसे पल-पलमें दुःखी करता है। बिना हुए ही उसे दीखता है कि 'अमुक मुझे चिढ़ा रहा है। अमुक मुझे दुःख देनेके लिये ही हँस रहा है।' 'मुझपर दुःख-ही-दुःख आ रहे हैं।' 'मैं सुखी होनेका ही नहीं, मेरे भाग्यमें तो बस दुःख-क्लेश ही बदा है।' इस प्रकार कल्पित दुःखके घोर जंगलमें वह अपनेको घिरा पाता है। ऐसे मनुष्योंमें कई पागल हो जाते हैं। कुछ आत्महत्यापर उतारू हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य गम्भीरतासे किसी विषयपर विचार नहीं कर पाते, दिन-रात दुःखचिन्तनमें और सभीको दुःख देनेवाले मानकर उनसे द्वेष करनेमें लगे रहते हैं। उदासी, निराशा, मुर्दनी, क्रोध, उद्विग्नता, मस्तिष्कविकृति, उन्माद आदि दोष इन लोगोंके नित्य संगी बन जाते हैं।

७—जगत्में कोई अच्छा है ही नहीं—दोष देखते-देखते मनुष्यकी इस प्रकारकी आँखें बन जाती हैं कि बिना हुए भी उसको सबमें दोष ही दिखायी देते हैं। वैसे ही, जैसे हरा चश्मा लगा लेनेपर सब चीजें हरी दिखायी देती हैं। उसे फिर कोई अच्छा दीखता ही नहीं। महापुरुष और भगवान्में भी उसे दोष ही दीखते हैं। उसका निश्चय हो जाता है कि जगत्में कोई भला है ही नहीं। अतएव वह स्वयं भी भला नहीं रह सकता। दिन-रात दोषदर्शन और दोषचिन्तन करते-करते वह बाहर और भीतरसे दोषोंका भंडार बन जाता है।

८—लोग मुझे अच्छा समझें—इस भावनावाले मनुष्यमें दम्भकी प्रधानता होती है। वह अच्छा बनना नहीं चाहता, अपनेको अच्छा दिखलाना चाहता है। यों

जगत्‌को ठगने जाकर वह आप ही ठगा जाता है। उसके जीवनसे सचाई चली जाती है। लोग जिस प्रकारके वेष-भाषासे प्रसन्न होते हैं, वह उसी प्रकारका वेष धारण करके वैसी ही भाषा बोलने लगता है। उसके मनमें न खादीसे प्रेम है, न गेरुआसे और न नाम-जपसे। पर अच्छा कहलानेके लिये वह खादी पहन लेता है, गेरुआ धारण कर लेता है और माला भी जपने लगता है। पर ऐसा करता है दूसरोंके सामने ही, जहाँ उनसे बड़ाई मिलती है। और यदि इनके विरोध करनेपर लोग भला समझेंगे तो वह इन्हींका विरोध भी करने लगेगा। उसका प्रत्येक कार्य दम्भ और छल-कपटसे भरा होगा।

९—मैं न करूँगा तो सब चौपट हो जायगा—यह भी मनुष्यके अभिमानका ही एक रूप है। वह समझता है कि बस, 'अमुक कार्य तो मेरे किये ही होता है। मैं छोड़ दूँगा तो नष्ट हो जायगा। मेरे मरनेके बाद तो चलेगा ही नहीं।' ऐसे विचार दूसरोंके प्रति हीनता प्रकट करते हैं और उनके मनमें द्रोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। संसारमें एक-से-एक बढ़कर प्रतिभाशाली पुरुष पैदा हुए हैं—होते हैं। तुम अपनेको बड़ा मानते हो, पर कौन जानता है कि तुमसे कहीं अधिक प्रभाव तथा गुणसम्पन्न संसारमें कितने हैं, जिनके सामने तुम कुछ भी नहीं हो। किसी पूर्वजन्मके पुण्यसे अथवा भगवत्कृपासे किसी कार्यमें कुछ सफलता मिल जाती है तो मनुष्य समझ बैठता है कि 'यह सफलता मेरे ही पुरुषार्थसे मिली है, मेरे ही द्वारा इसकी रक्षा होगी। मैं न रहूँगा तो पता नहीं, क्या अनर्थ हो जायगा।' यों कहकर उसका अभिमान नाच उठता है। और जहाँ मनुष्यने अभिमानके नशेमें नाचना आरम्भ किया कि चक्कर खाकर गिरा!

१०—अपनेको तो आरामसे रहना है—यह इन्द्रियाराम विलासी पुरुषोंका उद्‌गार है। पैसा पासमें चाहे न हो, चाहे यथेष्ट आय न हो, चाहे कर्जका बोझ सिरपर सवार हो, पर रहना है आरामसे। आजकल चला है उच्चस्तरका जीवन—(High standard of living) इसका अर्थ है—स्वाद-शौकीनी-विलासिता, फिजूल-खर्ची और झूठी शानकी गुलामी। सादा धोती-कुर्ता पहनिये तो निम्नस्तर है—कोट-पतलून उच्चस्तर है। जूते उतारकर हाथ-पैर धोकर फर्शपर बैठकर हाथसे खाइये तो निम्नस्तर है—टेबलपर कपड़ा बिछाकर बिना हाथ-मुँह धोये, जूते पहने, कुर्सीपर बैठकर सबकी जूँठन खाना उच्चस्तर है। कुएँपर या नदीमें नदीकी मिट्टी मलकर नहाना और सादे कपड़े पहनना निम्नस्तर है—पाखानेमें नंगे होकर टबमें बैठकर साबुन-क्रीम आदि लगाकर झरते हुए नलसे नहाना—उच्चस्तर है; अपनी हैसियतके अनुसार साधारण साग-सब्जीके साथ दाल-रोटी खाना निम्नस्तर है और किसी प्रकारसे प्राप्त करके चाय-बिस्कुट खाना, अंडे खाना, शराब पीना और कबाब उड़ाना उच्चस्तर है। घरमें कथा-कीर्तन करना निम्नस्तर है और सिनेमा देखना उच्चस्तर है। सीधे-सादे व्यापार-व्यवहारसे थोड़ी जीविका उपार्जन करना निम्नस्तर है और ऊपरी चमक-दमक तथा छलभरे व्यवहारसे दूसरोंको ठगकर अधिक पैसा कमाना उच्चस्तर है। थोड़े खर्चसे घरका—ब्याह-शादीका काम चलाना निम्नस्तर है और बहुत अधिक खर्च करके आडम्बर करना उच्चस्तर है। ऐसे उच्चस्तरमें सबसे अधिक आवश्यकता होती है—प्रमादकी और धनकी। सो प्रमादमें तो कोई कमी रहती नहीं, पर धनका अभाव रहता है। धनाभावकी पूर्तिके लिये चोरी, ठगबाजी, डकैती, घूसखोरी और बेईमानीके रास्ते पकड़ने पड़ते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।

(गीता १६। १२)

'विषय-भोगोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायसे अर्थ-संग्रहका प्रयत्न करते हैं।' हमारे यहाँ उच्चस्तरके जीवनका अर्थ था—सादगी, सदाचार, त्याग, तपस्या, पवित्र आचरण, आदर्श चरित्र, साधुभाव और भगवद्भक्ति। इसके स्थानमें आज झूठ, कपट, छल, विलासिता, उच्छृंखलता, दुराचार, यथेच्छाचार, अनाचार और भोगमय जीवनको उच्चस्तरका जीवन माना जाता है। तमसाच्छन्न विपरीत बुद्धिका यही परिणाम है। इस प्रकार प्रमाद और पापमें लगे रहनेवाले मनुष्योंकी सच्ची उन्नति कैसे हो सकती है?

इसी प्रकारके और भी बहुत-से दोष हैं, आदत या स्वभावसे बने हुए हैं। इन सब दोषोंसे सावधान होकर इनका तुरंत त्याग कर देना चाहिये। लौकिक उन्नति चाहनेवाले और मोक्षकी इच्छावाले—दोनोंके ही लिये ये दोष घातक हैं।

अशरण-शरण

भगवान् अशरणके शरण हैं, जो सब कुछ होते हुए भी अपने मनसे सबकी शरण छोड़ देता है वही भगवान्की शरण पानेका अधिकारी होता है। जबतक वह धन, जन, प्रभुत्व, विद्या, बुद्धि, साधन, पुरुषार्थ, कर्म, योग, ज्ञान, मनुष्य, यक्ष, देवता आदिका आश्रय लिये रहता है, तबतक भगवान्का अनन्याश्रयी नहीं होता। कभी भगवान्की प्रार्थना करता है; कभी अन्य किसी देवताको मनाता है, कभी दान-पुण्यके फलसे परम सुख पाना चाहता है, कभी सिद्धियोंके चमत्कारसे आनन्द लूटना चाहता है और कभी साधनके बलपर भवसागरसे तरना चाहता है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान्से भी उतना ही आश्रय पाता है जितना वह उनसे चाहता है। परंतु जब वह सबका आश्रय छोड़कर एकमात्र भगवान्पर निर्भर हो जाता है तब भगवान् भी उस अनन्याश्रयी भक्तकी सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेते हैं। जगत्का भरोसा रखनेवाले लोग न तो इस स्थितिके सुखका अनुमान ही कर सकते हैं और न ऐसा बनना ही चाहते हैं; इसीसे वे बारंबार एक दुःखके बाद दूसरे दुःखसे पीड़ित होते और विविध प्रकारके तापोंसे जलते रहते हैं। वे लोग भगवान्को अशरण-शरण और दीनबन्धु तो कहते हैं परंतु स्वयं जगत्की शरण छोड़कर अशरण होना और अभिमान त्यागकर दीन बनना नहीं चाहते। गीतामें भगवान्ने अपने श्रीमुखसे स्थान-स्थानपर इसी अनन्याश्रयतापर जोर दिया है और अनन्याश्रयी अशरण भक्तको शरण देकर उसका योगक्षेम स्वयं वहन करने और उसे सर्वपापोंसे मुक्तकर प्रेम प्रदान करने और भवसागरसे अति शीघ्र तारनेकी प्रतिज्ञाएँ की हैं। तनमें, मनमें, बुद्धिमें दूसरेके लिये स्थान ही नहीं होना चाहिये। जो स्त्री अपने प्रेमका जरा-सा भी भाग पति-बुद्धिसे किसी दूसरेको देती है, वह व्यभिचारिणी है। अव्यभिचारिणी तो वह है जिसके पति-प्रेमका पूरा अधिकारी एकमात्र पति ही है। इसी प्रकार जो अपने एकमात्र स्वामी भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसी आश्रयसे सुख चाहता है और वह भगवान्का भक्त भी बनता है, उसकी भक्ति व्यभिचारिणी है। कबीरजी कहते हैं—

कबिरा काजर-रेख भी अब तो दई न जाय।
नैननि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

आँखोंमें काजलकी रेखतक लगानेकी गुंजाइश नहीं रही। कारण उनमें सर्वत्र एकमात्र प्रियतम ही रम रहा है, दूसरेके लिये स्थान ही नहीं! जब स्थूल आँखकी यह गति होती है, तब मनके लिये तो कहना ही क्या है। इसीलिये भगवान्के प्रेमी भक्त मोक्ष भी नहीं चाहते। यदि वे मोक्ष चाहें तो उनकी शरणागतिमें व्यभिचार हो जाय; वे पूरे अशरण न रहें और अशरण हुए बिना भगवान्के शरणका अधिकार नहीं मिल सकता। श्रीभगवान्ने इसीलिये स्पष्ट आज्ञा दी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'सब धर्मोंको यानी सब प्रकारके कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा' ऐसे शरणप्राप्त भक्त त्रिभुवनका साम्राज्यविभव मिलनेपर भी आधे पलके लिये भगवान्को भुलाना नहीं चाहते; क्योंकि उन्हें एकमात्र भगवान्के सिवा अन्य किसीके आश्रयसे सुख नहीं मिलता। बात भी वस्तुतः यही है। जो स्वयं विनाशी है, वह अविनाशी पूर्ण सुख कैसे दे सकता है, जगत्की सारी वस्तुएँ विनाशी हैं, सारे साधन साध्यकी प्राप्ति होनेपर नष्ट हो जाते हैं, फिर उनसे कभी नष्ट न होनेवाली स्थिति कैसे मिल सकती है? जो स्वयं अधूरा है वह दूसरेको पूरा कैसे बना सकता है? फिर बुद्धिमान् पुरुषको ऐसे पदार्थोंका आश्रय क्यों ग्रहण करना चाहिये? इसीलिये मीरा पुकार उठी थी—

ऐसे बरको क्या बरूँ जो जनमै और मर जाय।
बर बरिये एक साँवरो मेरो चुड़लो अमर हो जाय॥

सदा सुहागिन तो वही रह सकती है जिसका स्वामी अमर हो। अमर एक भगवान् हैं, इसलिये उन्हींको पतिरूपमें वरणकर जीवरूप स्त्री सदाके लिये सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। विषयोंका सुहाग कितने दिनका। आज है कल नहीं। पलक मारते-मारते विषय ध्वंस हो जाते हैं, उनपर आस्था रखनेवाला पुरुष कदापि सुखी नहीं हो सकता। इसलिये उनका आश्रय त्यागकर एकमात्र उन परमात्मदेवका आश्रय ग्रहण करना चाहिये, जो नित्य, अचल, ध्रुव, सनातन, सर्वसुखाकर और परमानन्दरूप हैं। वह आश्रय दूसरे सारे आश्रयोंको छोड़नेसे ही मिल सकता है। जिस किसीने जगत्का

आसरा छोड़कर भगवान्‌की शरण चाही, उसीके मस्तकपर उनका अभय हस्त स्थापित हो गया। फिर वह सदाके लिये निश्चिन्त हो गया, मौज पा गया, मस्त हो गया, अशरण-शरण भगवान्‌की गोदमें पहुँचकर धन्य हो गया। इसके बाद चाहे सारा विश्व बदल जाय, उसको कुछ भी सुख-दुःख नहीं होता। वह द्वन्द्वातीत और नित्य आनन्दमय बन गया। स्वामी रामके मतवाले शब्दोंमें उस प्रेममें डूबे हुए निश्चिन्त निर्भय मौजी भक्तकी स्थिति सुनिये—

बादशाह दुनियाँके हैं मुहरे मेरी शतरंजके।
दिल्लगीकी चाल है, सब रंग सुलहो-जंगके॥
रक्शे शादीसे मेरे जब काँप उठती है जमीं।
देखकर मैं खिलखिलाता, कहकहाता हूँ वहीं॥

वह भक्त परमात्माकी शरण पाकर तद्रूप हो जाता है। उसमें और उसके स्वामीमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। स्वामीका गोत्र ही सेवकका गोत्र और स्वामीकी सत्ता ही सेवककी सत्ता होती है।

गुसाईंजी कहते हैं—

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोक परलोक रघुनाथहीके हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखाने नहिं बूझें लोग,
मालिकको गोत, गोत होत है गुलामको।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

हमारा पाप

एक शिक्षित सज्जनने लम्बा पत्र लिखा है, उसमें उन्होंने बड़े दुःखके साथ एक घटनाका वर्णन किया है। उनके पत्रका सार है—'मैं अपने कुछ मित्रों और उनकी पत्नियोंके साथ, बड़ी प्रशंसा सुनकर एक महात्माके पास गया। वहाँ जानेपर उनकी बहुत बड़ाई सुनी। भक्तलोग उनको साक्षात् भगवान्‌का अवतार बतलाते थे। महात्माजी विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परंतु उनके उपदेश बहुत आकर्षक होते थे। वे अपने उपदेशोंमें शरणागति, समर्पण और गुरु-सेवापर बड़ा जोर देते। हमने देखा—बहुत-से नर-नारी बड़ी श्रद्धाके साथ उनकी सेवा करते हैं। हमारी भी इच्छा हुई। हमलोगोंने उनसे वैष्णवी दीक्षा ली और परम कल्याणकी आशासे वहीं रहकर उनकी सेवा करने लगे। हमलोगोंमें एक सज्जनको उन्होंने अपने अन्तरंग सेवकोंमें ग्रहण कर लिया। उन सज्जनने उनकी कई बातें संदेहजनक देखीं; परंतु श्रद्धाके कारण उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। उनकी नवयुवती पत्नी भी महात्माजीके द्वारा दीक्षा प्राप्त कर चुकी थी। वे उसको गुरुजीके पास उपदेश-ग्रहणके लिये भेजते। किसीके मनमें कोई सन्देह था ही नहीं। एक दिन उन महात्माजीने एकान्तमें उस देवीके साथ गंदी चेष्टा की। लड़कीने पहले तो समझा कि गुरुजी उसकी परीक्षा कर रहे हैं; परंतु जब बात आगे बढ़ी तो वह बेचारी काँप गयी और किसी तरह वहाँसे भाग आयी। उसके पतिको सब हाल मालूम हो गया। बात फूटनेपर महात्माजीने उन दोनोंसे एकान्तमें क्षमा माँगी और यहाँतक कहा कि 'हम तो इन धनियोंको उल्लू बनाकर अपना मतलब साधा करते हैं। तुमसे बड़ी आशा थी, परंतु अब हमारी यह बात किसीसे कहना मत। नहीं तो हमारी बड़ी अप्रतिष्ठा हो जायगी।' महात्माजीने और भी एक नवयुवती स्त्रीके साथ ऐसी ही चेष्टा की और पता लगनेपर कह दिया कि हम तो उसकी परीक्षा करते थे। पत्र-लेखकका कहना है कि ये महात्मा भगवान्‌के नामपर भयंकर अनाचार फैला रहे हैं। लोगोंका धन और भले घरोंकी देवियोंका शील हरण कर रहे हैं।

पत्रमें लिखी घटना यदि सत्य है तो बड़ी भयानक है, परंतु इसमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं है। ऐसी घटना बिरली ही नहीं होती। आये दिन ऐसी और इससे भी अधिक भयानक घटनाओंके समाचार सुने और पढ़े जाते हैं। अधिकांश घटनाएँ तो प्रकाशमें ही नहीं आतीं। इसका कारण यह है कि हमलोगोंमें वस्तुतः भगवत्परायण पुरुष बहुत ही थोड़े हैं, सब इन्द्रियपरायण ही हैं। इसीसे आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक—सभी क्षेत्रोंमें ऐसे पाप होते हैं। शिक्षालय, त्यागी पुरुषोंके आश्रम, सदाचारके स्थान और विधवाश्रम आदि पवित्र स्थान भी इस दोषसे नहीं बचे हैं। वनवासी

त्यागी पुरुषोंके मनोंमें भी संगदोषसे विकार पैदा हो जाते हैं, फिर आजकलके दूषित वातावरणमें रहनेवाले इन्द्रियपरायण लोगोंके जीवनमें ऐसा हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है। दुःखकी बात तो यह है—कुछ लोग जान-बूझकर महात्मा, संत या साधुके वेषमें दुराचार करते हैं और परमार्थ-पथके बदले अपने साथ ही अपने पास आनेवाले नर-नारियोंको भी नरकके मार्गपर घसीट ले जाते हैं। असलमें यह महात्मा या साधुसमाजका, वैष्णवादि किसी सम्प्रदायका दोष नहीं है। दोष तो उन दाम्भिक मनुष्योंका है, जो ऊपरसे महात्मा, साधु या भक्त बनकर, उद्धारक और सहायकका बाना पहनकर, सच्चे महात्मा, भक्त और सहायकोंको भी संदेहास्पद बना देते और बदनाम करते हैं। सबसे बड़ी दुःखकी बात तो यह है कि भगवान्‌के नामपर भी ऐसा होता है! और-और कारणोंके साथ ही नास्तिकताकी वृद्धिका यह भी एक प्रबल कारण है। यह बड़ा पाप है जो लोगोंके मनमें भगवान्‌के मार्गमें अविश्वास पैदा करवाकर उन्हें नास्तिकताकी ओर ले जाता है। इसके लिये, जो झूठा स्वाँग बनाकर अपना स्वार्थ-साधन करते हैं उनसे तो कुछ कहना ही नहीं है, वे हमारी बात क्यों सुनने लगे। जबतक उनके पापका भण्डा नहीं फूटेगा, तबतक वे तो अपना काम चलाना ही चाहेंगे। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे भी कुछ कहना हमारे लिये अनधिकार चर्चा है। उनसे तो इतनी ही प्रार्थना है कि लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उनको भी शास्त्रमर्यादाका पालन ही करना चाहिये। हमारी प्रार्थना तो उन भोले साधकोंसे है जो यथार्थमें भगवान्‌के मार्गकी ओर बढ़नेकी इच्छा रखते हुए भी कुसंगवश या पूजा-प्रतिष्ठाके लोभमें पड़कर धन और स्त्रियोंके संसर्गमें आकर उनके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं और आखिर पापपंकमें पड़कर उसमें फँस जाते हैं, तथा अपनी ही भूलसे अपने जीवनको दोषमय बनानेका कारण बनते हैं। उन्हें सावधान होना चाहिये। वे विलासिता तथा इन्द्रियोंके आरामकी ओर न ताककर संयम-नियमोंका दृढ़ताके साथ पालन करें और जहाँतक हो—धन और स्त्रीके संसर्गसे अपनेको बचाये रखें। चुपचाप अपना साधन करें। किसीको भी शिष्य न बनावें। कम-से-कम स्त्रियोंको तो कभी शिष्य बनावें ही नहीं। किसी स्त्रीसे एकान्तमें तो कभी मिलें ही नहीं।

दूसरे, हम उन भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं जो अपनी स्त्रियों और बहिन-बेटियोंको दीक्षा, उपदेश आदिके लिये एकान्तमें किन्हींके पास भेजते हैं। याद रखना चाहिये कि इन्द्रियोंपर सर्वथा विजय पाये हुए पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं। एकान्तमें स्त्री-पुरुषका एक साथ रहना बड़े-बड़े संयमी पुरुषोंके लिये भी पतनका कारण होता है। जो अपने घरकी स्त्रियोंको इस प्रकार एकान्तमें भेजते हैं, उनके घरमें तो पाप आता ही है, वे उन साधकों और महात्माओंके भी पतनमें सहायक होते हैं। अन्तमें हम अपनी माता-बहिन और पुत्रियोंसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं—वे इस बातका ध्यान रखें कि आजकलका वातावरण बहुत ही बिगड़ा हुआ है। कोई कितना भी सात्त्विक स्वभावका आदमी हो—है तो वह इसी वातावरणमें रहनेवाला मनुष्य ही न? पता नहीं कब किसकी बुद्धिमें विकार आ जाय। दूसरी बात, ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो वास्तवमें असाधु होनेपर भी साधु या भक्त सजे हुए हैं और जिस किसी प्रकारसे अपनी पाप-वासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं। अतएव किसी भी पुरुषसे, चाहे वह कितना ही बड़ा महात्मा या भक्त क्यों न माना जाता हो—एकान्तमें नहीं मिलना चाहिये। युवती स्त्रियोंके लिये किसी भी पुरुषको गुरु बनाकर उनसे एकान्तमें दीक्षा लेना और मिलना सर्वथा अनुचित है। सधवा स्त्रियोंके गुरु उनके पति हैं। भगवान् तो सभीके गुरु हैं। अतएव सधवा, विधवा सभीको चाहिये कि वे श्रीभगवान्‌को गुरु बनाकर उन्हींके मन्त्रसे दीक्षित हों और उनके आज्ञानुसार शास्त्र-मर्यादाको मानकर अपने गृहस्थधर्मका पालन करती हुई अपने जीवनको सफल बनावें।

धर्म और भगवान्‌के नामपर भी जब यहाँतक होने लगा है तब सहशिक्षा, युवतीविवाह, सिनेमाओंमें अभिनय आदिका परिणाम कितना भयंकर होगा, भगवान् ही जानें!

पत्रलेखक महोदयसे निवेदन है कि वे इस घटनाको शिक्षारूप समझें। उनमें साहस हो तो सच्ची बातको प्रकाशित कर दें और ऐसा करनेमें कोई विपत्ति आवे तो उसको खुशीसे सहन करें। इस घटनासे उन्हें जो वैष्णव-सम्प्रदाय और वैष्णव-चिह्नोंसे घृणा हो

है और ग्राममें रहनेकी इच्छा अर्थात् भोगकी इच्छा बन्धन करनेवाली रस्सी है। पुण्यवान् पुरुष इस रस्सीको काटकर मुक्ति पाते हैं। पापी पुरुष इस बन्धन-रज्जुको नहीं काट सकते।

जो पुरुष मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, जो किसीके भी जीविकाके साधनोंका नाश करके किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, उस पुरुषकी कोई हिंसा नहीं करता। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सत्य बोलना चाहिये, सत्य आचरण करना चाहिये, सत्यपरायण रहना चाहिये और सत्यकी ही कामना करनी चाहिये। सब प्राणियोंमें और सब स्थितियोंमें समभाव रखना, इन्द्रियोंका दमन करना और सत्यके द्वारा मृत्युको जीतना चाहिये। अमृत और मृत्यु दोनों हमारे साथ हैं। विषयोंमें मोहसे मृत्यु होती है और सत्यसे ब्रह्मरूप अमृतकी प्राप्ति होती है। अतएव मैं अहिंसाव्रतसे रहकर काम-क्रोधसे दूर रहूँगा। मोक्षसुखका आश्रय लेकर क्षेमके लिये सत्यका अवलम्बन कर मृत्युपर विजय प्राप्त करूँगा। इन्द्रियोंका दमन करके शान्तियज्ञमें रत हुआ ब्रह्म-यज्ञमें स्थित रहूँगा। मनसे आत्म-विचाररूप मनोयज्ञ, वाणीसे भगवन्नामजपरूप वाक्-यज्ञ और शरीरसे अहिंसा, शौच और गुरुसेवादि कर्म-यज्ञ करूँगा। मैं हिंसायुक्त पशु-यज्ञ कभी नहीं कर सकता। मैं स्वयं आत्म-यज्ञ करूँगा। मेरे पुत्र नहीं है तो क्या है? अपने उद्धारके लिये पुत्रकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस पुरुषकी वाणी और मन वशमें हैं जिसने तप, त्याग और योग किया है वह सब वस्तुओंको पा जाता है। ज्ञानके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं है, आसक्तिके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है। एकान्तवास, समता, सत्यता, सच्चरित्रता, दण्डधारण (मन, वाणी, शरीरसे हिंसाका त्याग), सरलता और उपरामता—द्विजोंका यही असली धन है, इसके समान और कोई भी धन नहीं है। आप ब्राह्मण हैं और आपको मरना है। फिर आपको धनसे, स्त्रीसे तथा बन्धुओंसे क्या प्रयोजन है? विचार कीजिये—आपके पिता और दादाजी कहाँ गये? अतएव आप अपने आत्माकी गुफामें प्रवेशकर आत्माका पता लगाइये!'

पुत्रकी इन बातोंको सुनकर पिता सावधान होकर उसी क्षणसे सत्य और आत्मपरायण हो गया।

(महाभारतके आधारपर)

यज्ञ

भारतवर्ष आज गरीबोंका देश है। करोड़ों नर-नारी ऐसे हैं, जिनको भर पेट अन्न और लज्जा-निवारणके लिये पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलता। ऐसी दशामें जो सम्पन्न भारतवासी, इन गरीब भाइयोंके दुःखोंकी कुछ भी परवा न कर केवल अपने शरीर और परिवारको आराम पहुँचानेमें ही व्यस्त रहते हैं, उन्हें कुछ विचार करना चाहिये। शास्त्रोंमें यज्ञसे बचे हुए अन्नको अमृत बतलाया है और वैसे अमृतरूप पवित्र अन्नपर जीवन-धारण करनेवालेको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। मेरी समझसे इन भूखे भाइयों और बहिनोंके पेटमें जो क्षुधाका दावानल धधक रहा है, उसीमें अन्नकी आहुति देनी चाहिये, तभी हमारा शेष अन्न अमृत होगा। मतलब यह कि हम जो कुछ भी उपार्जन करें; उसमेंसे कुछ भाग इन गरीब भाइयोंके हितार्थ पहले व्यय करें, तभी हमारा उपार्जन सार्थक है।

एक घरमें दो भाई भूखों मरें और एक भाई खूब माल उड़ावे। दो बहिनोंको कपड़ा न मिले और एक बहिन रेशमी साड़ियोंसे संदूकें भरी रखे, यह बहुत ही लज्जाकी बात है। उचित तो यह है कि हमलोग स्वयं कष्ट भोगकर कष्टमें पड़े हुए इन भाई-बहिनोंको कष्टसे बचावें, दुःख सहकर इन्हें सुख दें। परंतु यह बात तो दूरकी है। हम तो आज अपने सुखके लिये इन्हें दुःख पहुँचा रहे हैं, अपने आरामके लिये इनको संकटमें डाल रहे हैं। यदि इनको भी अपने-जैसे मनुष्य समझकर अपने ही समान इन्हें भी आराम पहुँचानेका खयाल रखें तो इनका बहुत-सा संकट दूर हो सकता है। हमारे मौज-शौककी सामग्री और अनाप-शनाप खाने-पीनेके खर्चमें कुछ कमी कर उससे बचे हुए पैसे इन गरीब भाइयोंकी सेवामें लगा दिया करें तो बिना ही प्रयास इनके दुःख कम हो सकते हैं और हमारी अनेक बुरी आदतें सहज ही छूट सकती हैं। अपने आरामके लिये प्रत्येक क्रिया करते समय हम इन्हें

स्मरण कर लिया करें और पहले इनके लिये कुछ देकर फिर क्रिया आरम्भ करें तो हमारी वही क्रिया यज्ञरूप हो सकती है। भारतमें इस यज्ञकी अभी बड़ी आवश्यकता है।

मानवताका कल्याण

मनुष्य मूलमें परमात्माका सनातन अंश जीव है, पीछे मनुष्य है, उसके बाद वह अमुक देशवासी, तदनन्तर क्रमशः अमुक वर्ण, अमुक जाति, अमुक सम्प्रदाय और अमुक परिवारका है। मूलमें वह भगवान्‌का अंश है। भगवान्‌मेंसे आया है, अब भी भगवान्‌में है और अन्तमें फिर भगवान्‌में ही जायगा। उसका मूल आत्मस्वरूप भगवान्‌से अभिन्न है। जीवके नाते भगवान् उसके अंशी हैं। समस्त चराचर प्राणियोंका भी वस्तुतः यही स्वरूप है। इस नाते सभी भगवत्स्वरूप हैं—सभी आत्मस्वरूप हैं। सभी वन्दनीय हैं और सभी आत्मीय हैं। श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र-मण्डल, जीवसमूह, दिशाएँ, वृक्ष-लतादि, नदियाँ, समुद्र आदि जो कुछ भी हैं सभी श्रीहरिके शरीर हैं। यह समझकर अनन्य मनसे सबको प्रणाम करना चाहिये।'

सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इसलिये जगत्‌में कोई भी प्राणी 'पर' नहीं है, अतएव द्वेष्य कोई भी नहीं है, सभी प्रेमके पात्र हैं। जो मनुष्य प्राणियोंसे द्वेष करता है उससे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होते।

भक्तके लक्षण बतलाते समय सबसे पहले भगवान्‌ने बतलाया—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

(गीता १२।१३)

'जो सब प्राणियोंमें द्वेषसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी, मित्र और हेतुरहित दयालु है······वही मेरा प्रिय भक्त है।'

सबमें भगवान्‌को देखने-समझनेवाला मनुष्य या सबमें अपने आत्माकी तसवीर देखनेवाला मनुष्य कैसे किससे वैर और द्वेष करेगा?

अब हौं कासों बैर करौं?
कहत पुकारत प्रभु निज मुख सो घट घट हौं बिहरौं॥

× × × ×

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

संक्षेपमें, यह मनुष्यका स्वरूप है और इसके अनुसार उसका कोई भी द्वेष्य नहीं हो सकता।

दूसरी दृष्टिसे देखें, तो भी मनुष्यको किसीसे द्वेष या वैर नहीं करना चाहिये।

मनुष्य जैसा करता है, वैसा ही भोगता है। जो कुछ देता है, वही अनन्तगुना होकर उसे वापस मिलता है—यह नियम है। अतएव एक मनुष्य या एक जाति किसीसे वैर या द्वेष करके उसका बुरा चाहेगी तो बदलेमें उसे भी वैर-द्वेष और बुरा चाहनेवाले ही मिलेंगे। और यह परम्परा यदि चलने लगे तो जगत्‌में उत्तरोत्तर वैर-विरोध और फलस्वरूप परस्परका अहित-साधन बढ़ता ही जायगा। इस स्थितिमें मनुष्य अपने मूल भगवत्स्वरूप या आत्मस्वरूपको तो भूल ही जायगा। वह मानवताको भी खोकर नृशंस, क्रूर पिशाच हो जायगा। फिर सारा जगत् पैशाचिक कुकृत्योंकी क्रीडा-स्थली—फलतः प्रत्यक्ष घोर नरक ही हो जायगा! इसीलिये शास्त्र, संत और महात्मा पुरुष बारंबार अपने शब्दों, आचरणों, त्याग-तपस्याओं और बलिदानोंसे जगत्‌के जीवोंको यह शिक्षा देते रहते हैं कि किसीसे वैर-विरोध मत करो, किसीसे द्वेष मत करो, किसीका बुरा मत चाहो और किसीका भी बुरा कभी न करो। इसीमें अपना और विश्वका कल्याण है। बुराईका फल बुराई ही होता है और भलाईका भलाई। अतएव बुराई करनेवालेकी बुराईको भूलकर उसकी भी भलाई करो। श्रीशंकरजीने यही तो कहा है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

भला करनेवालेका तो भला सभीको करना चाहिये और मनुष्यत्वको प्राप्त प्राणी ऐसा करते ही हैं। उत्तम

मनुष्य या संत पुरुष तो वह है कि जो बुरा करनेवालोंका भला करके जगत्के सामने उच्च आदर्श रखता है और जगत्को घोर नरकानलसे निकालकर शान्ति-सुखरूप भगवत्-राज्यकी ओर ले जाना चाहता है। उसके साथी और समर्थक थोड़े ही होते हैं, पर वह जिस सत्यका साक्षात्कार कर चुका है, उसे वह कभी छोड़ नहीं सकता। वह तो प्रह्लाद, अम्बरीष, ईसा, हरिदास आदि भक्तोंकी भाँति मारनेकी चेष्टा करनेवालोंका भी भला ही करता है। स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण ही करना चाहता है। ऐसे ही महान् पुरुषोंसे जगत्को भलाईकी शिक्षा मिलती है। अतएव भविष्यमें जगत्की और अपनी भलाई हो, इस उद्देश्यसे भी किसीके साथ न तो द्वेष-वैर करना चाहिये और न किसीका कभी अहित ही करना चाहिये। याद रखना चाहिये—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इतना होनेपर भी, संसार त्रिगुणात्मक है। भगवान्ने इसकी सृष्टि ही गुण-वैषम्यको लेकर की है। इसीसे यहाँ प्रत्येक प्राणीके स्वभाव, स्थिति, रूप और रुचिमें कुछ-न-कुछ वैषम्य अवश्य पाया जाता है। इस वैषम्यमें गुणोंका तारतम्य ही प्रधान कारण है। मनुष्यको निरन्तर ऊँचे उठनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये। उसके लिये साधन है। प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है। वह सहज ही नीचेकी ओर जाती है। सात्त्विक-गुणविशिष्ट पुरुष भी यदि निश्चेष्ट होकर बैठ जायगा तो वह धीरे-धीरे रजोगुणकी ओर बढ़ने लगेगा। इसी प्रकार रजोगुणी मनुष्य तमोगुणकी ओर! अतएव निरन्तर यह चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे वह अपनी स्थितिसे उत्तरोत्तर ऊपरको ही उठता रहे। जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय तबतक किसी भी स्थितिमें संतोष न करे। श्रेष्ठ स्थितिका संतोष वस्तुतः संतोष नहीं है, प्रमाद है और इस प्रमादसे उस स्थितिकी मृत्यु हो जाती है और तत्काल उससे निम्नस्तरकी दूसरी स्थिति उत्पन्न होकर वहाँ अपना अधिकार जमा लेती है। इसीसे भगवान्ने चेतावनी दी है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(६।५)

'अपने द्वारा आप ही अपना उद्धार करे, अपनेको कभी नीचे न गिरने दे।' त्रिगुणात्मक संसारमें कर्मवश गुणवैषम्य होता है तथा गुणवैषम्यको लेकर लोगोंमें प्रकृतिभेद होता है और उसीके कारण परस्पर संघर्ष भी होते हैं। संसारमें कोई भी मनुष्य संघर्षसे सहज ही बच नहीं सकता। कई जगह तो संघर्ष आवश्यक हो जाता है। पर संघर्षके समय भी अपने मूल स्वरूपको न भूले तथा उस स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही परिस्थितिके अनुसार यथायोग्य वर्णाश्रमोचित एवं न्यायप्राप्त कर्मोंका भगवत्प्रीत्यर्थ आचरण करे। कर्म स्वरूपतः यज्ञ, दान और तप आदि होनेपर भी तामसी भाव होनेपर तामस हो जाते हैं और उनका फल होता है अधःपतन। श्रीमद्भगवद्गीताके सत्रहवें और चौदहवें अध्यायमें इसका स्पष्ट उल्लेख है और युद्धरूप घोर कर्म भी शुद्ध धर्मरक्षाकी भावनासे होनेपर सात्त्विक एवं भगवत्प्रीत्यर्थ होनेपर तो भगवत्प्राप्तिका हेतु होता है।

अर्जुनको महान् घोर युद्ध करना पड़ा और उसमें उन्हें अपने गुरुजनोंका भी वध करनेको बाध्य होना पड़ा था। गुरुजनों और आत्मीयोंको युद्धमें एकत्रित देखकर ही अर्जुन घबरा गये थे और उन्होंने भगवान्से कहा था कि—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

(१।४५)

'अहो! बड़े ही खेदकी बात है कि हमलोग राज्य-सुखके लोभसे स्वजनोंकी हत्या करनेको तैयार होकर महान् पाप करनेका निश्चय कर चुके हैं।'

भगवान्ने अर्जुनको पहले तो यह समझाया कि अपने न्याय्य राज्यकी प्राप्तिके लिये क्षत्रियका धर्मयुद्धमें संलग्न होना पाप नहीं है। क्षत्रियके लिये ऐसा धर्मयुद्ध स्वर्गका मुक्तद्वारस्वरूप है। अतः धर्मयुद्धमें तो पाप लगेगा ही नहीं। हाँ, 'यदि तुम इस धर्मयुद्धसे मुख मोड़ोगे तो अवश्य तुम्हारे स्वधर्म और सुयशका नाश होगा तथा तुमको पाप लगेगा।'

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

फिर, 'राज्यसुखका लोभ' रहनेपर शायद धर्मयुद्धमें कुछ विकृति आ जाय, क्योंकि लोभ पापका मूल है। अतएव भगवान्ने यह कहा कि तुम राज्यके लिये युद्ध मत करो।' 'सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजयको समान समझकर फिर युद्धमें लगो। ऐसा करनेपर तुम्हें पाप होगा ही नहीं।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

आगे चलकर तो यहाँतक कह दिया कि 'तुम अपने सारे कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे मुझमें समर्पण कर दो और निराशी, निर्मम तथा विगत-संताप होकर युद्ध करो।' (गीता ३। ३०) अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ युद्ध करो। गुण-वैषम्ययुक्त जगत्में कर्तव्यपालनके लिये युद्ध अनिवार्य है; वह करना ही होगा। करना धर्म है; न करना पाप है। परंतु करना होगा इस बातको समझकर कि हम जिनके साथ युद्ध कर रहे हैं, वे भी वस्तुतः भगवान्के ही स्वरूप हैं; यथा—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय॥

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है।' (गीता ७। ७) और 'स्वकर्मोंके द्वारा उन भगवान्की ही पूजा करनी होगी, जिनसे समस्त प्राणी उत्पन्न हुए हैं और जो सबमें व्याप्त हैं एवं इस प्रकार उन्हें पूजकर ही जीवनको पूर्णतया सफल बनाना होगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

सारांश यह कि न तो इस सिद्धान्तको कभी भूलना चाहिये कि जगत्के समस्त प्राणी भगवान्से निकले हैं—उन्हींके सनातन अंश हैं—उन्हींके स्वरूप हैं; और न अपने कर्तव्यकर्मसे ही कभी विच्युत होना चाहिये। निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए आवश्यकता पड़नेपर युद्धसदृश घोर कर्म भी करना चाहिये। परंतु करना चाहिये केवल भगवान्की प्रीतिके लिये ही, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। यही गीताकी शिक्षा है।

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। और मनुष्यकी गति होती है उसके अन्त समयकी मानस-स्थितिके अनुसार। भगवान्ने अर्जुनसे यही कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको (भगवान्को) स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे भावको (भगवद्भावको) ही प्राप्त होता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

क्योंकि अन्तकालके भावके अनुसार ही उसको अगली गतिकी प्राप्ति होती है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति .... ॥

(गीता ८। ६)

मान लीजिये—अंग्रेज और जर्मन सिपाहियोंमें युद्ध हो रहा है। दोनोंमें परस्पर द्वेष तथा वैरभाव है और उस वैरभावको लेकर ही वे लड़ रहे हैं। लड़ते-लड़ते किसी अंग्रेजको गोली लगी और वह मर गया। अब यदि मरते समय अन्तिम क्षणमें उसे उस जर्मन वैरीकी स्मृति रहेगी तो सम्भव है वह अगले जन्ममें जर्मन होगा और पूर्वजन्ममें अपनेको जिस अंग्रेज जातिका पुरुष मानकर उसमें ममत्व तथा आसक्तिके पाशमें बद्ध था, अब उसी अंग्रेज जातिका शत्रु बनकर उसे मारनेकी चेष्टा करेगा! पिछले दिनोंके भारतके हिंदू-मुसलमानके झगड़ोंको ही ले लीजिये। यदि कोई मुसलमान हिंदू-वैरका स्मरण करता हुआ मरता है तो सम्भव है वह अगले जन्ममें अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार हिंदू होगा और मुसलमानोंको मारेगा। इसी प्रकार मुसलमानके वैरको मनमें रखकर मरनेवाला हिंदू भी मुसलमान बनकर हिंदुओंको मारेगा। अतएव द्वेष और वैर रखनेमें तो कोई लाभ है ही नहीं। सर्वथा हानि-ही-हानि है।

परंतु जहाँ धर्मतः न्यायप्राप्त कर्तव्यवश मरने-मारनेकी आवश्यकता हो, वहाँ कैसे मरना-मारना चाहिये, जिसमें मरने और मारने दोनों ही कर्मोंमें परम कल्याणकी प्राप्ति हो? गीतामें इसकी शिक्षा दी गयी है। अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही अगले जन्ममें गति प्राप्त होती है, यह कहकर भगवान्ने खास तौरपर अर्जुनसे कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

अतएव तुम सब समय मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धि अर्पण कर चुके हुए तुम निस्सन्देह मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होओगे।

इसमें भगवान्ने चार बातें बतलायी हैं—

१—सर्वकालमें भगवत्स्मरण करना;

२—युद्ध करना;

३—इस प्रकार मन-बुद्धिका भगवान्‌के प्रति अर्पण, और—

४—फलस्वरूप निस्सन्देह ही भगवत्प्राप्ति।

बस, इसीमें सारा रहस्य भरा है। मनुष्य बुद्धिसे निश्चय करता है और मनसे मनन। बुद्धिसे निश्चय कर लिया कि तत्त्वतः सब कुछ भगवान् हैं और सब कुछ भगवान्‌का है। श्रद्धा और प्रेमके साथ आज्ञाकारी सेवककी भाँति उनकी आज्ञाके अनुसार उन्हींके प्रीत्यर्थ सब कुछ करना है। उनकी सेवाके सिवा अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है। और मनको उनकी सेवामें समर्पण करके यह स्वभाव बना लिया कि जिसमें एकमात्र उन परम प्रियतम प्रभुका ही सतत स्मरण होता रहे। मन दूसरी बात सोचे ही नहीं। जैसे पतिव्रता स्त्रीके मन, बुद्धि पतिके समर्पित हो जाते हैं, उसके सारे कर्म पति-सेवाके निश्चयसे ही होते हैं और उसका मन स्वाभाविक ही पतिसेवामें संलग्न रहता है। इससे भी बढ़कर—जैसे परम भाग्यवती प्रेममूर्ति गोपांगनाओंने भगवान् श्यामसुन्दरके मनमें अपने मनको, उनके प्राणोंमें अपने प्राणोंको मिलाकर उनके सुखके लिये समस्त दैहिक सम्बन्धोंको तिलांजलि दे दी थी—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

उसी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए जीवनके प्रत्येक क्षणको उन्हींकी संलग्नतामें बिताना और उनमें लगाये हुए मन-बुद्धिके द्वारा ही उन्हींके इच्छानुसार युद्ध भी करना। इसका फल निस्सन्देह भगवत्प्राप्ति होगा ही; क्योंकि जब कभी भी मृत्यु होगी—तभी उसके मन-बुद्धि भगवान्‌में ही लगे रहेंगे। अतएव अन्तकालकी भगवत्स्मृतिके सिद्धान्तानुसार उसे निश्चित ही भगवत्प्राप्ति होगी। वस्तुतः ऐसे भक्त भगवत्प्राप्तिकी भी परवा नहीं करते, वे तो अपने प्रियतम प्रभुकी सेवामें जन्म-जन्मान्तर बितानेकी विशुद्ध प्रेममयी कामना करते हैं। फिर प्रभु उनके लिये जो विधान कर देते हैं, वे उसीमें संतुष्ट रहते हैं; क्योंकि उनको तो जो कुछ भी करना या न करना है सब प्रभु-प्रीत्यर्थ ही है। [इसीलिये उनका 'कुछ भी न करना' भी (प्रभु-प्रीत्यर्थ) करना है; और सब कुछ करना भी (अपने लिये न होनेके कारण) न करना है।]

इस प्रकार प्रभुका स्मरण करते हुए मरनेवाला और प्रभुको पहचानकर उनके आज्ञानुसार उनकी सेवाके लिये ही धर्म तथा कर्तव्यकी प्रेरणासे किसीको न्यायोक्त दण्ड देनेवाला—दोनों ही परम कल्याणको प्राप्त होते हैं।

अतएव किसी भी प्राणीसे कभी द्वेष तथा वैर तो कभी भूलकर भी करना ही नहीं चाहिये; परंतु शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार न्यायप्राप्त कर्तव्य आ जानेपर हटना भी नहीं चाहिये। वहाँ अहिंसाका आश्रय लेकर और प्रतीकारशून्य होकर आततायीके हाथों मरने और भीख माँगकर खानेकी प्रवृत्ति धर्मसंगत नहीं है। अर्जुनने यही तो चाहा था। वे आततायियोंको मारनेमें पाप बतलाते थे और उनके हाथों मरनेमें अपना कल्याण मानते थे तथा ऐसे राज्यकी अपेक्षा भीख माँगकर खानेको उत्तम बताते थे। देखिये गीतामें उन्हींके शब्द—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥

(१।३६)

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

(१।४६)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

(२।५)

'हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी। इन आततायियोंको मारनेपर तो हमें पाप ही लगेगा। इससे तो मैं हथियार छोड़ दूँ और इनका कुछ भी सामना न करूँ एवं ये धृतराष्ट्रके पुत्र हाथमें हथियार लेकर मुझको मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये विशेष कल्याणकारक होगा। अतः इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर संसारमें मैं भीख माँगकर खाना भी कल्याणकारक समझता हूँ।'

आजकी अहिंसाकी व्याख्याके अनुसार तो हथियार छोड़कर बैठे हुए और कुछ भी प्रतीकार न करनेवाले अर्जुन पूरे सत्याग्रही थे। परंतु धर्मके साक्षात् आधार धर्मसंरक्षक स्वयं भगवान्‌ने अर्जुनकी इन उक्तियोंको अनार्योचित, स्वर्ग तथा कीर्तिकी नाशक, बिलकुल बेमौकेका मोह, नपुंसकत्व और हृदयका क्षुद्र दौर्बल्य बतलाया (गीता २।२)। और उन्हें सब प्रकारसे

समझाकर युद्धके लिये तैयार किया एवं ऐसा उपदेश दिया कि जिससे इस प्रकारका धर्म-युद्ध ही भगवत्पूजन तथा भगवत्प्राप्तिका परम सफल साधन बन गया।

आज भगवान् श्रीकृष्णको, उनकी गीताको और धर्मशास्त्रोंको माननेवाले प्रत्येक भारतवासीको चाहिये कि वह किसी भी वर्ण, जाति या देशविशेषसे, मनुष्यसे, किसी प्राणीसे भी—जरा भी द्वेष न करके यथासाध्य सबकी सेवा करे और समय पड़नेपर कर्तव्यवश भगवत्-सेवाके ही भावसे निष्काम होकर राग-द्वेषरहित बुद्धिसे धर्मरक्षाके लिये कर्तव्यसे भी न चूके।

हाँ, यह बात जरूर याद रखनी चाहिये कि गीताकी किसी शिक्षाका दुरुपयोग कदापि न हो। गीतामें धर्मयुद्धकी आज्ञा है, इसलिये बात-बातमें युद्धकी ही घोषणा न की जाय। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं दूत बनकर यथासम्भव युद्ध टालनेकी ही चेष्टा की थी, परंतु जब दूसरा कोई साधन नहीं रहा, तब युद्ध करना पड़ा। इसी प्रकार धर्मसंगत और अनिवार्य प्रसंग आनेपर ही हथियार उठावें। किसीसे बेमतलब झगड़ा मोल न लें। जहाँतक बने सहनशील और क्षमापरायण हों। अपने प्रेमपूर्ण सद्भावों और सद्व्यवहारोंसे दूसरोंके चित्तको जीतनेकी चेष्टा करें। कभी किसीके साथ जरा भी दुर्व्यवहार करें ही नहीं। बल्कि अपनी हानि सहकर भी दूसरेका कल्याण करनेकी चेष्टा करें। हाँ, जब कोई आततायी प्राणी अन्यायपूर्वक उनके धर्मयुक्त अस्तित्वपर ही आक्रमण करे, और प्रेमपूर्ण व्यवहारका सर्वथा अनुचित लाभ उठाया जाय तब सिद्धान्ततः सावधान रहते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही उस समयके न्यायप्राप्त कर्तव्यका—चाहे वह कितना ही घोर हो—निःसंकोच पालन करें। यही धर्म है और इसीमें मानवताका कल्याण है।

प्रेममें ही सबका कल्याण है

यह वस्तुतः बड़े ही दुःखका विषय है कि पिछले दिनों हिंदुस्थानमें हिंदू-मुसलमान एक-दूसरेके विश्वासी बन्धु, मित्र, सहायक और सेवक न होकर परस्पर अविश्वाससे भरपूर पराये, शत्रु, संहारक और विनाशक बन गये थे। वह दोनोंके ही लिये महान् अनिष्टकर प्रसंग था। राजनीतिक लाभके उद्देश्यसे मियाँ जिन्ना-सरीखे नेताओंकी कुटिल नीतिका यह भीषण परिणाम था। जीव न हिंदू है, न मुसलमान; वह अपनी कर्मपरम्परासे कर्मफल-भोगके लिये मानव-शरीरमें आता है और कर्मफल भोगनेके साथ ही नवीन शुभाशुभ कर्मोंका बड़ा भारी संचय लेकर चला जाता है। फिर नाना योनियोंमें उन्हीं अतीतकालके कर्मोंके अनुसार फल भोगता है। परस्पर द्वेष और वैरको लेकर जिनका जीवन जाता है, वे यहाँ तो शान्ति पाते ही नहीं, अपने द्वेष तथा वैरजनित कुकर्मोंके कारण अगले जन्मोंमें भी सुख-शान्तिसे वंचित ही रहते हैं। मानव-जन्मकी इससे अधिक विफलता और क्या होगी। महात्मा गाँधी इसीलिये उस समय पूर्व-बंगालके गाँवोंमें पैदल घूमे थे कि किसी प्रकार दोनों जातियोंके हृदयोंमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो। वे बड़े आशावादी थे, इसलिये आशाको साथ लेकर ही चल रहे थे। यदि भगवत्कृपासे उनकी आशा पूर्ण हो जाती तो मानव-जातिका बहुत बड़ा कल्याण होता। जबतक दुराग्रह तथा द्वेषपरायण नेताओंका हृदय नहीं बदलता, तबतक एक बार महात्माजीके प्रभावसे गाँवोंके मुसलमानोंमें सद्भाव पैदा होनेपर भी उसके स्थायी होनेमें सन्देह ही था। महात्माजीने एक पत्रमें लिखा था—'इस बारका काम मेरी जिंदगीमें सबसे ज्यादा अटपटा काम है। ***'मार्ग सूझे नहिं घोर रजनीमें, निज शिशुको संभाल—मेरा जीवन पंथ उजाल'***—इस भजनको आज मैं सौ फीसदी वाजिब तौरपर गा सकता हूँ। मुझे याद नहीं पड़ता कि मेरे रास्तेमें ऐसा अँधेरा पहले कभी आया हो और रात लंबी दिखायी पड़ती है। संतोष सिर्फ यह है कि मैं न तो हारा हूँ और न नाउम्मेद हुआ हूँ। जो होना होगा, सो होकर रहेगा। खयाल है कि यहीं करना और यहीं मरना। 'करने' का मतलब यह है कि या तो हिंदू-मुसलमान दोस्तकी तरह रहने लग जायँ, या इस कोशिशमें मैं मर मिटूँ। यह काम कठिन है। ***'हरि करे सो होय!'***

इन वाक्योंमें गाँधीजीके हृदयकी तड़पनका पता लगता है। सचमुच कोई भी साधुहृदय पुरुष यह नहीं चाह सकता कि हिंदू-मुसलमान आपसमें लड़ें। असलमें साधारण जनतामें सभी बुरे नहीं होते। बुराईकी जड़ तो

वे नेता होते हैं जो अपने राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये बेचारे नासमझ लोगोंको धर्मके नामपर भड़काकर उनका अनिष्ट करवाते हैं। पर उनके लिये भी क्या कहा जाय। भगवान् उनको सुबुद्धि दें। परंतु इतना सभीको स्मरण रखना चाहिये कि पापसे पापका उच्छेद नहीं हुआ करता। इसलिये पापके बदलेमें पाप करनेकी प्रवृत्ति किसीमें भी नहीं होनी चाहिये। यदि मुसलमानोंने कहीं शिशु-हत्या की, अबलापर बलात्कार किया, किसीको बलात् धर्मान्तरित किया और निरीह निर्दोषकी हत्या की तो हिंदुओंको भी ऐसा करना चाहिये—यह विचार कदापि अभिनन्दनीय नहीं है। इन कुकृत्योंका ऐसे ही कुकृत्योंद्वारा बदला लेनेकी भावना सचमुच बड़ी भयंकर है। उचित तो यह है कि भगवान्‌से ऐसी करुण प्रार्थना की जाय कि वे सबको सुबुद्धि दें। किसीके भी हृदयमें ऐसी पापभावना न पैदा हो और किसीके भी द्वारा ऐसा कुकृत्य न बने। ऐसा करनेके साथ ही आवश्यकतानुसार बलसंग्रह भी किया जाय, जिससे अत्याचार करनेवाले मनुष्यका साहस टूट जाय। एक बार साहस टूट गया, कुकृत्य नहीं बन सका तो सम्भव है आगे चलकर उसकी मति भी बदल जाय। बलसंग्रह और आवश्यकता पड़नेपर बलप्रयोग करते समय भी मनमें द्वेष या वैर तो कदापि नहीं आना चाहिये।

संसारमें सबसे बड़ी चीज प्रेम है। मानवमात्रमें ही नहीं, जीवमात्रमें प्रेम होना चाहिये। फिर हिंदू-मुसलमान तो सदियोंसे एक ही स्थानमें पड़ोस-पड़ोसमें बसते हैं। समझदार मुसलमान तथा समझदार हिंदू भाइयोंको परस्पर प्रेम बढ़े, इसके लिये सच्चे मनसे सदा प्रयत्न करना चाहिये। मानव-जीवनको हिंस्र पशुओंकी भाँति मार-काटमें और पिशाच-राक्षसोंकी भाँति पापकर्मोंमें लगाये रखना बहुत बड़ी हानि है और बहुत बड़े दुःखका कारण है। इस बातको समझना चाहिये और परस्पर सौहार्द, प्रेम, विश्वास तथा अपनापन बढ़े, इसके लिये कोशिश करनी चाहिये। प्रेममें ही सबका कल्याण है।

भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारते ही रक्षा हो गयी

अपबल तपबल और बाहुबल चौथो बल है दाम।
सूर किसोर कृपातें सब बल हारेको हरिनाम॥

कुछ वर्षों पूर्व कलकत्ते और पूर्व-बंगालमें जो अमानुषिक अत्याचार हुए थे उनमें कई ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनमें भगवान्‌की कृपासे विलक्षणरूपसे लोगोंकी गुंडोंके हाथोंसे रक्षा हुई थी। उन घटनाओंसे यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारनेपर तत्काल उत्तर मिलता है और किसी-न-किसी प्रकारसे विपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है। यहाँ ऐसी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। पाठकोंको इन घटनाओंसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि जिस समय मनुष्य सब ओरसे असहाय होकर विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारता है उस समय भगवान् उसकी बड़ी विचित्र रीतिसे रक्षा करते हैं। खेदकी बात है कि आज हमारा भगवान्‌पर उतना विश्वास नहीं रहा। इसीसे हम भगवत्कृपासे वंचित रहते और पद-पदपर विपत्तिके जालमें फँसते हैं। आज भी यदि हम विश्वासपूर्वक सामूहिकरूपसे भगवान्‌को पुकारें तो हमारे सारे संकट टल सकते हैं।

(१)

कलकत्तेकी घटना है। एक हिंदू-गृहस्थके बड़े परिवारको आक्रमणकारी गुंडोंने घेर लिया था। बाहरी फाटक तोड़कर गुंडे अंदर घुसना ही चाहते थे। तब घरके लोग घबराकर हतबुद्धि-से हो गये और एक-दूसरेका मुँह ताकने लगे कि अब क्या होगा? किसीने कहा कि 'इस विपद्‌से तो भगवान् ही बचा सकते हैं। द्रौपदीने भगवान्‌को ही पुकारा था। अतः उसी अशरण-शरण प्रभुको ही पुकारना चाहिये, वे ही हम अनाथोंके नाथ हमें बचा सकते हैं और कोई उपाय नहीं है।' बात भी सच्ची है। जब मनुष्य सब ओरसे निराश हो जाता है तब एकमात्र भगवान्‌की शरण खोजता है और वे अकारण दयालु प्रभु उसे सँभाल लेते हैं। किंतु इस भगवद्विश्वासके विरोधी विषैले वातावरणके कारण भोले-भाले मानवोंकी बुद्धि भ्रमित-सी हो रही है, अतः इसीके प्रभावमें आये हुए एक भाईने निराशाके स्वरमें उत्तर दिया, 'क्या होगा भगवान्‌को पुकारनेसे?' इसपर दूसरेने आश्वासन देते हुए कहा, 'भाई! पुकारो तो सही, इसमें अपना लगता ही क्या है?' इसपर सब कोई

मिलकर व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारने लगे। पुकारते-पुकारते उन्हींमेंसे एक सज्जन ऊपर छतपर चले गये, सड़कपर उनकी दृष्टि पड़ी। देखा कि फौजी सिपाहियोंकी एक लारी मकानके नीचेसे जा रही है। यह देखकर वे और भी जोरसे भगवान्‌को पुकारकर कहने लगे, भगवान् बचाओ, रक्षा करो। यह करुणक्रन्दन भगवान्‌ने सुना, लारी वहीं रुक गयी। गुंडे भागे। उस हिंदू-परिवारके सब लोगोंको लारीवालोंने लारीमें बैठा लिया और उन्हें सुरक्षित स्थानमें पहुँचा दिया।

(२)

कलकत्तेकी ही एक दूसरी घटना है। किसी फ्लावर मिलमें कुछ आदमी काम कर रहे थे, बदमाशोंके एक दलको आते देखकर उन्होंने जल्दीसे फाटक बंद कर लिये। इतनेमें ही आक्रमणकारी गुंडे वहाँ पहुँच गये और बाहरसे किंवाड़ तोड़ने लगे। इससे अंदरवाले लोग घबराकर आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारने लगे। पुकारका ही यह फल था कि उन गुंडोंमेंसे एकने अपने साथियोंसे कहा कि 'अरे, यहाँ क्या मिलेगा। चलो आगे बढ़ो।' आक्रमणकारी अनायास ही वहाँसे चल दिये। सबकी जान बची।

(३)

नोआखालीसे लौटते हुए एक परिवारके एक वीर युवकने हवड़ा स्टेशनपर अपना हाल बतलाया था कि मैं किसी आवश्यक कामसे बाहर गया हुआ था, घरपर मेरे माता-पिता और पत्नी—इतने लोग थे। बाहरसे लौटनेपर पड़ोसियोंसे ज्ञात हुआ कि आक्रमणकारी गुंडे मेरे पिताकी हत्या करके मेरी माता और पत्नीको अपहरण करके ले गये। यह सुनते ही मैं 'मैं' नहीं रहा। भगवान्‌से मैंने प्रार्थना की, कहींसे मुझे एक छुरा दिला दो। मुझे तुरंत एक छुरा मिला। उसे उठाकर भगवान्‌के भरोसे मैं पता लगाता हुआ उन बदमाशोंके अड्डेपर जा पहुँचा। देखा, मेरी माता और पत्नी वहाँ मौजूद हैं और दोनों बदमाश वहाँ अकड़े बैठे हैं। मैंने तुरंत भगवान्‌का नाम लेकर एकके पेटमें छुरा भोंक दिया। वह घावको हाथसे दबाकर उठा, उसका दूसरा साथी भी मुझपर टूट पड़ा। मैंने अपनी माता और स्त्रीको ललकारा कि 'बैठी क्या देखती हो। मारो इन दुष्टोंको।' भगवान्‌की कृपासे हम तीनोंने मिलकर उन दोनोंका काम तमाम किया और वहाँसे निकलकर चले आ रहे हैं। उस युवकके शरीरमें भी कई घाव थे। तीनों ही भगवान्‌का स्मरणकर प्रफुल्लित हो उठते थे।

(४)

नोआखालीके एक मारवाड़ी व्यापारीपर कुछ बदमाशोंने आक्रमण किया। वह भयभीत हुआ भागकर निकटकी पुलिस-चौकीपर चला गया। उसने पुलिस दारोगासे रक्षाके लिये प्रार्थना की। दारोगाने कहा कि 'भैया! हम तुम्हें नहीं बचा सकते, न हमारे पास काफी पुलिस है, न हथियार ही। तुम अपना बचाव आप ही कर लो।' लाचार वह वहींके एक पाखानेमें छिप गया और वहीं एकाग्र मनसे अशरण-शरण, अनाथोंके नाथ, जगत्‌के एकमात्र रक्षक, परम दयालु भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारने लगा। वह व्यक्ति तत्कालीन बीकानेर जिलेके साँडवा ग्रामका अधिवासी था। उसने बताया कि 'गुंडोंने आकर पुलिस दारोगासे मेरा नाम लेकर पूछा कि वह कहाँ है? दारोगाने कह दिया, 'हम नहीं जानते, यहाँ तो कोई वैसा आदमी आया ही नहीं।' गुंडोंने कोना-कोना छान डाला! मैं जिस पाखानेमें छिपा था, वहाँ भी ये लोग कई बार आकर निकल गये। मैं उन्हें देखता रहा। वे मुझे, पता नहीं कैसे, देख नहीं सके। भगवन्नामका ही यह प्रभाव था जिसे सोचकर मैं गद्‌गद होता रहता हूँ।' स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजसे उसके सगे भाई मिले थे।

(५)

युक्तप्रान्त—लखनऊके पास किसी स्टेशनकी घटना है। किसी भले घरकी चार-पाँच महिलाओंको कुछ गुंडे भगाये लिये जा रहे थे। बेचारी महिलाएँ आर्तभावसे मन-ही-मन अशरण-शरण भगवान्‌को पुकार रही थीं—प्रभु! तुमने द्रौपदीकी लाज रखी, गजराजका उद्धार किया, आज हमारी भी इन राक्षसोंके हाथोंसे तुम्हीं रक्षा कर सकते हो। हमारे पास और बल ही क्या है नाथ! एकमात्र समर्थ चरणकमलोंका सहारा है। प्रभु! दया करो, नाथ!' इसी प्रकार रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना कर रही थीं कि इतनेहीमें उसी डिब्बेमें एक टिकट-चेकर आया। उसे देखकर उन अबलाओंमेंसे एकने उसके पैरको अपने पैरसे दबाकर संकेत किया। उस टिकट-चेकरने समझा, सम्भव है मेरा पैर उसके पैरसे भूलसे दब गया होगा और उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। पर दूसरी और फिर तीसरी बार भी जब वही संकेत हुआ, तब उसका ध्यान गया और तुरंत

बाहर जाकर पुलिसको साथ लिये लौटा। उसने उन महिलाओंके साथ जो गुंडे थे उनसे पूछा, 'ये महिलाएँ कौन हैं? किसके साथ हैं?' गुंडोंने जवाब दिया—'हमारे घरकी स्त्रियाँ हैं।' यह सुनकर उन स्त्रियोंने अपना सिर हिलाकर इनकार किया। इसपर टिकट-चेकरने एक महिलाका बुरका हटाया तो क्या देखा कि उसके हाथ पीछेकी ओर बँधे हैं और मुँहमें कपड़ा ठूँसकर ऊपरसे पट्टी बँधी है। चारों महिलाओंका यही हाल था। गुंडे गिरफ्तार किये गये, स्त्रियोंके बन्धन खुले और वे उनके अपने स्थान पहुँचायी गयीं। उन महिलाओंने यह बतलाया कि हमारे आदमियोंको पता नहीं है कि इन्होंने क्या किया। हमारे सब आभूषण भी इन टीफिन-केरियरोंमें भरकर रखे हैं।

(६)

एक घटना ऐसी सुननेमें आयी थी कि एक गुंडा किसी भले घरकी लड़कीको भगाकर लिये जा रहा था। रेलके जिस डिब्बेमें वह लड़की बुरकेमें छिपी हुई मन-ही-मन अशरण-शरण भगवान्‌को रो-रोकर पुकार रही थी, उसीमें उसीके पास भले घरकी एक स्त्री अपने पतिके साथ आकर बैठ गयी। तब इस लड़कीने बहुत सावधानीसे अपनी विपद्-गाथा लिखकर उस महिलाको दी। उसने वह परचा अपने पतिको दिया। उसने अगले स्टेशनपर जब गाड़ी रुकी, पुलिसको इत्तला दी और पुलिसको उस गुंडेके पीछे लगा दिया। अगले किसी बड़े स्टेशनपर गुंडेको गिरफ्तार करके उस लड़कीको उसके घर पहुँचा दिया गया।

(७)

पूर्व-बंगालके एक गाँवमें चारों ओर लूट-पाट मची हुई थी। एक गुंडा किसी घरमें घुसा। उस समय घरमें कोई पुरुष नहीं था। एक अट्ठाईस वर्षकी लड़की घरमें थी। गुंडेने पहले तो जो कुछ गहना-कपड़ा हाथ लगा सो लूटा। फिर वह उस लड़कीकी ओर झपटा। वह पहलेसे ही डरी हुई थी और भगवान्‌को पुकार रही थी। जब दुष्ट उसकी ओर बढ़ा, तब उसके मनमें न जाने कहाँसे साहस आ गया। वह जोरसे आगे बढ़ी और बड़े जोरसे उस झपटते हुए बदमाशकी छातीपर एक लात जमा दी। सहसा लात लगते ही वह पीछेकी ओर गिर पड़ा और उसी क्षण हृदयकी गति बंद होनेसे मर गया। इतनेमें लड़कीके भाई और पिता आ गये। लड़कीका सतीत्व तथा घरका सामान बच गया!

(८)

कालीपद नामक एक बंगीय सज्जनने बताया था कि एक दिन दो गुंडोंने उसे घेर लिया और वे मारनेको तैयार हो गये। वह उनसे डरकर जोर-जोरसे अशरण-शरण भगवान्‌को पुकारता हुआ भागा। संध्या हो चली थी। वह डरकर एक जले हुए घरमें घुस गया। दोनों गुंडे पीछे-पीछे गये। वह तो घरके पीछेसे निकल गया और उन दोनोंपर जली हुई छतसे एक लकड़ी टूट पड़ी, जिससे दोनों घायल होकर वहीं गिर पड़े!

पता नहीं, ऐसी कितनी घटनाएँ हुआ करती हैं।

पाँच प्रश्न

एक सज्जनके ये पाँच प्रश्न हैं—

(१) प्रकृतिका क्या स्वरूप है और परमात्माके साथ उसका क्या सम्बन्ध है?

(२) संसार क्या है और कबसे है?

(३) जीव क्या है और जीवका यह बन्धन कबसे है?

(४) दो पुरुष और एक पुरुषोत्तम—इससे क्या त्रैतवाद सिद्ध होता है?

(५) क्या ज्ञानी, भक्त और योगी मुक्तपुरुष सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्योंमें परमेश्वरके समान ही शक्तिसम्पन्न होते हैं?

प्रश्न बड़े गहन हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर वही पुरुष कुछ दे सकता है, जिसने अनुभवसे इन विषयोंकी यथार्थताका ज्ञान प्राप्त किया हो। केवल अध्ययनके आधारपर कुछ भी कहनेमें भूल न होना बहुत ही कठिन है। फिर मैं तो अध्ययनका भी दावा नहीं कर सकता। मैंने प्रश्नकर्ता महोदयसे दूसरे महानुभावोंसे पूछनेके लिये प्रार्थना की थी, परंतु उन्होंने आग्रहपूर्वक मुझसे ही उत्तर माँगे हैं। इसलिये बाध्य होकर लिख रहा हूँ। प्रश्नकर्ता महोदयने मेरी परीक्षाके लिये ही यदि प्रश्न किये हों तब तो मैं पहले ही अपनेको अनुत्तीर्ण मान लेता हूँ। हाँ, उन्होंने जिज्ञासुकी दृष्टिसे पूछा है तो

सम्भव है उन्हें अपनी श्रद्धाके बलसे इस धूलके ढेरमें भी कोई एकाध रत्न मिल जाय।

परमात्माकी स्वकीय नित्यशक्तिका नाम प्रकृति या माया है। जिस प्रकार परमात्मा अनादि हैं, उसी प्रकार उनकी यह शक्ति प्रकृति भी अनादि है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

जबतक शक्तिमान् पुरुष हैं तबतक उनकी शक्तिका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा जबतक हैं तबतक उनकी शक्ति भी है और परमात्मा अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी हैं, उनका कभी जन्म और विनाश नहीं होता, इसलिये उनकी शक्तिका भी विनाश सम्भव नहीं। परंतु जब वह क्रियाहीन रहती है, शक्तिमान्में लीन रहती है तबतकके लिये वह अदृश्य या शान्त हो जाती है। इसलिये उसे अनादि और सान्त भी कहते हैं। परमात्मा इस प्रकृतिकी भाँति कभी अदृश्य नहीं होते। प्रकृतिका सारा खेल—कालतक प्रकृतिमें लय हो जाता है और सबकी जननी यह प्रकृति भी जिसमें लय हो जाती है, इन सबके लय होनेके बाद भी अविलयरूपसे नित्य अचल वर्तमान रहनेवाले उस परम तत्त्वका नाम ही परमात्मा है। प्रकृतिके उनमें प्रविष्ट हो जानेपर केवल वे परमात्मा ही रह जाते हैं, इसीलिये वे नित्य, अविनाशी, अपरिणामी, परम सनातन अव्यक्त पुरुष कहलाते हैं। संसारकी कारणरूपा मूल अव्यक्त प्रकृति शक्तिरूपसे इन्हींमें समाहित रहती हैं, इन्हींके संकल्पानुसार विकसित होकर व्यक्त होती हैं, पुनः सिमटकर इन्हींमें लीन हो जाती हैं। इसीसे ये सनातन अव्यक्त हैं।

प्रकृतिके भी दो स्वरूप हैं—एक अविकसित यानी अव्यक्त, दूसरा विकसित। जब प्रकृति अक्रिय है तब वह अव्यक्त है, उस समय प्रकृतिसे प्रसूत कार्य-करणका (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—पाँच सूक्ष्म भूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय ये दस कार्य हैं। एवं बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये तेरह करण हैं) विस्तार यह समस्त संसार मूलप्रकृतिसहित परम सनातन अव्यक्त परमात्मामें समा जाता है। शक्ति शक्तिमान्के अन्दर निस्तब्ध होकर स्थित रहती है। उस समय जगत्के समस्त जीव अपने-अपने कर्मसंस्कारोंसहित मूल-प्रकृतिरूप महाकारणमें लीन रहते हैं। माता उन सबको आँचलमें छिपाकर ही पिताके अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाती है। इसी अवस्थाको महाप्रलय कहते हैं।

परमात्माकी सत्ता-स्फूर्ति और संकल्पसे प्रकृतिदेवी जब घूँघट खोलकर अन्तःपुरसे बाहर निकलती हैं—क्रियाशीला होती हैं, तब उसे विकसित कहते हैं। इसके व्यक्त होते ही संसार पुनः बन जाता है, सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मानुसार व्यक्तित्वको प्राप्त हो जाते हैं। यह विकसित प्रकृति भी अव्यक्त ही रहती है। सर्गके अन्तमें जीव अपने कर्मसमुदायसहित कारण-शरीरको साथ लिये इसी अव्यक्त प्रकृति या ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें लीन रहते हैं और सर्गके आदिमें पुनः उसीमेंसे प्रकट हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

'सम्पूर्ण व्यक्त जीव ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें—सर्गके आदिमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके आगमनकालमें पुनः उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं।' फिर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(गीता ८। २०)

'परंतु उस अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ दूसरा सनातन अव्यक्त तत्त्व है। वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।' बस, वही उपर्युक्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।'

मूल अव्यक्त प्रकृतिका नाम ही अव्याकृत माया है, वही परमात्माकी नित्य, अनादिशक्ति है; न किसीके द्वारा इस शक्तिका निर्माण हुआ है और न यह किसीका विकार है। इसलिये यह मूल और अव्याकृत है। परमात्मा जब इस प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करते हैं, तभी गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति प्रकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। वह विकार क्रमशः सात होते हैं—महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि), अहंकार और सूक्ष्म पंचतन्मात्राएँ। मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं, परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन

सातोंके समुदायको प्रकृति भी कहते हैं। अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रासे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये इन दोनोंके समुदायका नाम 'प्रकृति-विकृति' है। मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व माने गये हैं। इन्हीं चौबीस तत्त्वोंका यह स्थूल संसार है। जीवका स्थूल देह भी इन्हीं चौबीस तत्त्वोंसे निर्मित होता है। ये चौबीस तत्त्व प्रकृति और उसके कार्य हैं।

परंतु यह प्रकृतिका कार्य केवल प्रकृतिसे ही नहीं सम्पन्न होता, परमात्माकी चेतन-सत्तासे ही प्रकृति क्रियाशीला होती है। यह चेतन शक्ति भी भगवान्‌की दूसरी प्रकृति ही है। इसीके द्वारा जगत्‌का धारण किया जाता है। इन दोनों ही प्रकृतियोंकी सत्ता परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तमकी सत्तासे ही है। शक्तिमान्‌से अलग शक्तिकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। शक्तिमान् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही शक्ति कार्य करती है, इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

'अर्जुन! मुझ परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही मेरी यह प्रकृति (माया) चराचरसहित जगत्‌को रचती है और इसी हेतुसे यह संसार चक्रवत् घूमता है।'

इससे यह निष्पन्न होता है कि परमात्माकी सत्ताप्राप्त प्रकृतिका ही परिणाम यह सारा चराचर जगत् है। परमात्माकी चेतनासे ही प्रकृतिका परिणाम यह जगत् चेतन है। इस दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति शक्तिमान्‌से अलग न होनेके कारण शक्तिका परिणाम शक्तिमान् परमात्माका ही परिणाम है, परंतु यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा स्वयं वस्तुतः अपरिणामी हैं। यह बात ऊपर आ चुकी है। परमात्मा स्वभावसे ही सत्ता देकर शक्तिको क्रियाशीला बनाते हैं, परंतु उसके कार्यसे वे स्वयं परिणामी नहीं हो सकते। शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन शक्तिमें ही होता है; क्योंकि शक्तिका विकसित रूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा एक-सा नहीं रहता। शक्तिकी इस अनेकरूपताके कारण ही संसार परिवर्तनशील है।

साथ ही यह भी स्मरण रहे कि शक्ति शक्तिमान्‌से पृथक् न होनेके कारण संसाररूपसे व्यक्त होनेवाला उस शक्तिका यह खेल वस्तुतः परमात्माका अपना ऐश्वर्य ही है। भगवान्‌के ऐश्वर्यके सिवा जगत्‌में किसी भी भिन्न वस्तुकी सत्ता नहीं है। यह सब प्रभुकी लीलाका ही विस्तार है। एक प्रभु ही अपनी शक्तिसे आप ही क्रीडा कर रहे हैं, इससे जगत्‌को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी सत्य ही है।

परमात्माके दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। असलमें एकके ही दो नाम हैं। जब शक्ति बाहर रहती है तब परमात्मा सगुण हैं और जब वह अन्तःपुरमें प्रविष्ट रहती है तब परमात्मा निर्गुण हैं। इसीलिये परमात्मामें परस्पर विरोधी गुणोंका सामंजस्य माना गया है। वे सदा सगुण होते हुए ही नित्य-निर्गुण हैं और नित्य-निर्गुण होते हुए ही सदा सगुण हैं। गुणमयी प्रकृतिमें परमात्माकी इच्छा बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। प्रकृतिका अस्तित्वतक परमात्माकी इच्छासे व्यक्त होता है, नहीं तो, वह सदा उनमें विलीन ही रहती है। और जिस समय वह जाग्रत् होती है उस समय भी उनके सर्वथा अधीन ही रहती है। इसलिये परमात्मा शक्तियुक्त—सविशेष होते हुए भी निर्गुण-निर्विशेष हैं, क्योंकि गुणोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं है।

इस प्रकार परमात्मापर गुणोंका कोई प्रभाव न रहनेपर भी इन्हींके प्रभावसे शक्ति जाग्रत् होकर विविध खेल रचती है और संसारका नियमित संचालन करती है। इससे ये निर्गुण-निर्विशेष होते हुए भी सदा सगुण-सविशेष हैं। इस प्रकार युगपत् उभय-भावयुक्त सर्वगुणसम्पन्न गुणातीत विज्ञानानन्दघन लीलामय नट-नागरका नाम ही परमात्मा है। असलमें परमात्माका रहस्य परमात्मा ही जानते हैं। वे मायावाद, परिणामवाद, सगुण, निर्गुण आदि किसी भी वाद या भावकी सीमामें आबद्ध नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, सबमें हैं और सबसे परे हैं। वे ही वे हैं। वस्तुतः परमात्मा सर्वथा अनिर्वचनीय तत्त्व हैं। वाणीके द्वारा उनका जो कुछ वर्णन होता है सो तो केवल लक्ष्य करानेके लिये होता है और वाणीमें आनेवाला स्वरूप असली स्वरूपसे बहुत ही स्थूल है, परंतु किसी भी बहाने उनकी चर्चा होनेके लोभसे ही ये पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।

परमात्माकी शक्तिको विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जब उससे परमात्मा अपना कार्य करते हैं तब उसका नाम विद्या है। विद्या परमात्माकी सेविका है, जीव और परमात्माका सम्बन्ध जोड़ देनेवाली निर्मल सूत्रिका है। इस विद्याके द्वारा ही बिछुड़ोंका नित्य मिलन और जीवरूप पत्नीके साथ परमात्मारूप पतिका गँठजोड़ा होता है। जिससे आगे चलकर दोनों घुल-मिलकर सम्पूर्णरूपसे एक हो जाते हैं। जीवको मोहित करके उसे परमात्मासे अलग रखनेवालीका नाम अविद्या है। इस अविद्याके मोहसे छूटनेके लिये इसीके दूसरे निर्मल-स्वरूप विद्याकी शरण लेनी पड़ती है।

अब यह प्रश्न रहा कि जीव क्या वस्तु है? जीव असलमें परब्रह्म परमात्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। उन्हींका आत्मरूप सनातन शुद्ध अंश है। समुद्रके तरंगोंकी भाँति उनसे सर्वथा अभिन्न है, परंतु अनादि कालसे प्रकृति और उसके कार्योंके साथ तादात्म्य होनेके कारण जीव-दशाको प्राप्त हो रहा है। यह सम्बन्ध प्रकृतिकी अनादिताकी भाँति ही अनादि है। अनादि न होता, कभी इसका आरम्भ होता तो जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर उन्हें भिन्न-भिन्न योनियों और स्थितियोंमें परमेश्वर क्यों रचते। भेद-पूर्ण संसारमें अकारण ही जीवोंको रचकर पटकनेसे परमात्मामें विषमता और निर्दयताका दोष आता, जो कदापि सम्भव नहीं है। प्रकृतिके जीवका सम्बन्ध अनादि है। जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक वह कभी चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमें; कभी पंचप्राण, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके सूक्ष्म देहमें और कभी मूल प्रकृतिके अंशरूप कारण-देहके साथ संयुक्त रहता है। प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण ही इसकी जीव संज्ञा है और इस प्रकृतिके संगसे ही यह अच्छी-बुरी योनियोंमें जाता-आता और दुःख-सुख भोगता है। (गीता १३। २१)

यह सत्य है कि शुद्ध आत्मामें आने-जाने और जन्म-मृत्युकी कल्पना केवल आरोपित है, परंतु जबतक जीव संज्ञा है तबतक वह वस्तुतः शुद्ध आत्मारूपमें नित्य, अविनाशी, अविकारी होते हुए ही भले-बुरे कर्मोंका कर्ता, उनके फलरूप सुख-दुःखोंका भोक्ता जनन-मरणशील है। परमात्मा, उनकी शक्ति प्रकृति, जीव और प्रकृतिके परिणाम जगत्का परस्परका सम्बन्ध अनादि है। परंतु इतनी बात याद रखनेकी है कि नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन अव्यय परमात्मा अनादि होनेके साथ ही अनन्त भी हैं और जीव भी उनका चेतन सनातन अंश होनेसे अनन्त है। परंतु प्रकृति—शक्ति विकसित और अविकसित दो रूपोंमें रहनेवाली होनेके कारण अविकसित-अवस्थामें सान्त (अन्तवाली) कही जाती है। प्रकृतिका परिणाम जगत् भी प्रवाहरूपसे अनादि और नित्य होनेपर भी विविध रंगमय है और प्रकृतिके पाशसे छूटे हुए मुक्त-पुरुषके लिये तो नष्ट हो जाता है। और भिन्न स्वतन्त्र चेतन सत्ता न होनेसे परमात्माके लिये तो जगत् सर्वथा असत् या परमात्मरूप ही है।

गीतामें दो पुरुषोंका वर्णन है। एक क्षर, दूसरा अक्षर। क्षर—प्रकृतिका कार्यरूप जगत् और अक्षर—नित्य चेतन आनन्दरूप परमात्माका सनातन अंश होनेपर भी अविद्यारूपी प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण असंख्य और विभिन्न रूपोंसे भासनेवाला जीव। इन दोनों पुरुषोंके परे उत्तम पुरुष परमात्मा पुरुषोत्तम नामसे वर्णित है। इस पुरुषत्रयके वर्णनसे कुछ लोग इसे त्रैतवाद भी कहते हैं। परंतु असलमें जीवका परमात्माके साथ अंशांशी सम्बन्ध होनेके कारण वह उनसे अभिन्न है और क्षर जगत् परमात्माकी स्वकीया शक्ति मायाका विलास है, इसलिये वह भी उनसे अभिन्न ही है। अतएव यह नामका त्रैत वास्तवमें अद्वैत ही है।

इसी प्रकार जीव-ब्रह्मकी मूलतः एकता माननेपर भी शक्तिको उनसे अलग समझ लेनेके कारण ब्रह्म-जीवकी व्यवहारमें भिन्नता माननेवालोंका द्वैतवाद भी इस दृष्टिसे उचित होनेपर भी वस्तुतः अद्वैत है। अवश्य ही, जहाँ खेल है, वहाँ द्वैत है और यह द्वैत सदा अभिनन्दनीय है, परंतु खेल है अपने-आपमें ही, इसलिये अद्वैत ही है। सबमें समाये हुए ये एक पुरुषोत्तमभगवान् ही नित्य विज्ञानानन्दघन नित्य-मुक्त अविनाशी गुणातीत ब्रह्म हैं, वे ही सबके आदि महाकारण और शक्तिमान् मायाधीश हैं। और वे ही प्रकृतिके लीलाविस्तारके समय, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर हैं। हम सबको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण जाना चाहिये।

मेरी समझसे ज्ञानी, भक्त या योगी कोई भी मुक्त पुरुष परमेश्वरकी तुलनामें नहीं आ सकता। जीवन्मुक्त महात्मा परमार्थ-दृष्टिसे तत्त्वज्ञानमें ब्रह्मके समान हो

सकते हैं, जगत्-प्रपंचको लाँघकर आनन्दमय बन सकते हैं, मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकते हैं परंतु मायाधीश कभी नहीं हो सकते। जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेकी शक्ति केवल एक नित्यसिद्ध परमेश्वरमें ही है। इसीसे यहाँतक कहा जा सकता है कि जीव ब्रह्म हो सकता है, परंतु परमेश्वर या भगवान् नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्रके—

जगद्व्यापारवर्जम् (४। ४। १७)

—सूत्रके भाष्यमें पूज्यपाद स्वामी श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैव ईश्वरस्य।

'जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, विनाशके सिवा अन्य अणिमादि सिद्धियाँ महापुरुषोंमें होती हैं, परंतु जगद्व्यापारकी सिद्धि तो एकमात्र नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही है।'

अणिमादि सिद्धियाँ भी सभी सिद्ध, ज्ञानी और भक्तोंको नहीं प्राप्त होतीं। योगमार्गसे सिद्धिप्राप्त पुरुषोंको अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, परंतु ये ऐश्वर्य सभी सीमित हैं। मायाके राज्यमें ही हैं। परमेश्वर मायाके स्वामी हैं। उनका मायापर आधिपत्य है, माया उनकी शक्ति है। वे अणिमादि योगके अष्ट ऐश्वर्योंसे परे उनसे अधिक शक्तिसम्पन्न चमत्कारी ऐश्वर्योंकी सृष्टि कर सकते हैं। वस्तुतः अणिमादि ऐश्वर्य भी ईश्वरकी ऐश्वर्यराशिका एक तुच्छ कणमात्र है। योगी ईश्वरके सृजन किये हुए परमाणुओंको सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्म कर सकते हैं, उनका इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं। परंतु नवीन सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं कर सकते। वे सत्यसंकल्प हो सकते हैं। वे अग्नि, जल, अस्त्र, विष आदिका इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं, परंतु ये सभी चीजें मायाके खेलके अन्तर्गत ही होती हैं। यों तो संसारमें प्रत्येक जीव ही अपने-अपने क्षेत्रमें सृष्टि, पालन, विनाश करता है। किसी चीजको बनाना, उसकी रक्षा करना और उसे नष्ट कर देना एक प्रकारसे सृष्टि, स्थिति, संहार ही है, साधारण जीवोंमें यह सामर्थ्य बहुत थोड़ी होती है, योगियोंमें साधन-बलसे इस सामर्थ्यका बहुत अधिक विकास होता है। यहाँतक कह सकते हैं कि इस विषयमें परमेश्वरके नीचे दूसरी श्रेणीमें पहुँचे हुए योगियोंको माना जा सकता है, परंतु परमेश्वरकी तुलनामें तो उनकी शक्ति अत्यन्त ही क्षुद्र रहती है।

ज्ञानी तो इन विषयोंकी परवा ही नहीं करता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। फिर इस प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा ही कौन करे? भक्त अपनेको भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर केवल उन्हींका हो रहता है। भगवान्की मंगलमयी इच्छा ही उसके लिये कल्याणरूपा है। अतः वह भी इस शक्तिको पानेका इच्छुक नहीं होता। जिनकी इच्छा ही नहीं, उन्हें वह वस्तु प्राप्त क्यों होने लगी? कदाचित् मान लिया जाय कि सिद्धिप्राप्त योगी, तत्त्वज्ञानी या प्रेमी भक्तको यह शक्ति प्राप्त होती है, तो वह प्राप्त हुई भी अप्राप्तके समान ही है। उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। जगत्में आजतक किसी भी युगमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता कि जिसमें किसी महापुरुषने अपनी शक्तिसे ईश्वरके सृष्टिक्रमकी भाँति कुछ कार्य किया हो या कार्यतः किसीने ईश्वरत्वका परिचय दिया हो। किसीमें शक्ति हो भी तो वह भी ईश्वरकी शक्तिके अधीन ही रहती है। ईश्वरके विधानके प्रतिकूल कोई कुछ भी नहीं कर सकता। केनोपनिषद्की कथाके अनुसार वायु, अग्नि भी एक सूखे तिनकेको उड़ा या जला नहीं सकते। व्यावहारिक मायानिर्मित जगत्की प्रत्येक क्रिया सदा मायापति ईश्वरके नियन्त्रणमें रहती है। अनादिकालसे जगत्का सारा व्यापार एक ही शक्तिके नियन्त्रणमें एक ही नियमके अनुसार सुशृंखलरूपसे चला आ रहा है। सृष्टि, स्थिति, संहारका कोई भी विधान कभी नियमसे विरुद्ध नहीं चलता। विश्वनाथ परमेश्वरकी इच्छामें हस्तक्षेप करनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। ईश्वरेच्छाके अधीन रहकर ही महापुरुष अपनी योगलब्ध सिद्धियोंका उपयोग या सम्भोग करते हैं। वे दिव्यदृष्टिसे ईश्वरको पहचानकर उसीके अनुसार कार्य करते हैं। इसीसे उन्हें कभी विफलताजनित क्लेशका अनुभव नहीं होता।

महापुरुषगण योग, ज्ञान, प्रेम और आनन्दमें ईश्वरके समान होकर भी ईश्वरके आज्ञाकारी ही रहते हैं। ईश्वरेच्छाके विपरीत उनकी शक्तिका प्रयोग सर्वथा असम्भव होता है। कारण, वे इस बातको जानते हैं कि उनके अंदर ईश्वर ही कार्य कर रहे हैं। योगसिद्धिसे

प्राप्त ज्ञान, प्रेम, शक्ति, ऐश्वर्य, आनन्द आदि सभी चीजें परमेश्वरकी ही हैं। उनकी इच्छा ईश्वरकी इच्छा होती है, उनके जीवनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वरकी क्रियाएँ होती हैं। वे ईश्वरके गुण, शक्ति आदिको पाकर ईश्वरकी ही एक प्रतिमूर्ति बने हुए जगत्में लोककल्याणार्थ विचरण करते हैं। उनका ऐश्वर्य परमात्माके प्रेमरूप माधुर्यमें परिणत हो जाता है। इसलिये थोड़ी देरके लिये उनमें यदि वस्तुतः ईश्वरके समान शक्तिका होना मान भी लिया जाय तब भी वह न होनेके बराबर ही होती है; क्योंकि उनकी शक्ति ईश्वरकी शक्तिके द्वारा ही प्रेरित, परिपूरित और परिचालित होती है, वह अलग कोई कार्य कर ही नहीं सकती।

सेवाकी सात आवश्यक बातें

सेवकमें जब ये सात बातें होती हैं, तब सेवा सर्वांगसुन्दर तथा परम कल्याणकारिणी होती है—१. विश्वास, २. पवित्रता, ३. गौरव, ४. संयम, ५. शुश्रूषा, ६. प्रेम और ७. मधुर भाषण।

इसका भाव यह है कि सेवकको अपने तथा अपने सेवाकार्यमें विश्वास होना चाहिये। विश्वास हुए बिना जो सेवा होगी, वह ऊपर-ऊपरसे होगी—दिखावामात्र होगी। सेवकके हृदयमें विशुद्ध सेवाका पवित्र भाव होना चाहिये, वह किसी बुरी वासना-कामनाको मनमें रखकर सेवा करेगा (जैसे इनको सेवासे संतुष्ट करके इनके द्वारा अमुक शत्रुको मरवाना है, आदि) तो सेवा अपवित्र हो जायगी और उसका फल अधःपतन होगा। जिसकी सेवा की जाय, उसमें गौरवबुद्धि—पूज्यबुद्धि होनी चाहिये। अपनेसे नीचा मानकर या केवल दयाका पात्र मानकर अहंकारपूर्ण हृदयसे जो सेवा होगी, उसमें सेव्यका असम्मान, अपमान और तिरस्कार होने लगेगा, जिससे उसके मनमें सेवकके प्रति सद्भाव नहीं रहेगा और ऐसी सेवाको वह अपने लिये दुःखकी वस्तु मानेगा। अतः सेवाका महत्त्व ही नष्ट हो जायगा। इसीलिये कहा गया है कि जिसकी सेवा की जाय, उसे भगवान् मानकर सेवा करे। सेवककी इन्द्रियाँ संयमित होनी चाहिये—मन-इन्द्रियोंका गुलाम सच्ची सेवा कभी नहीं कर सकेगा। जिसके मनमें बार-बार विषय-सेवनकी प्रबल लालसा होगी, वह सेवा क्या करेगा? सेवकको सेवापरायण होना पड़ेगा। जो मनुष्य किसी सेवाको नीची मानकर उसे करनेमें हिचकेगा, वह सेवा कैसे करेगा। सेवकमें सेव्य तथा सेवाके प्रति प्रेम होना चाहिये। प्रेम होनेपर कोई भी सेवा भारी नहीं लगेगी तथा सेवा करते समय आनन्दकी अनुभूति होगी, जिससे नया-नया उत्साह मिलेगा। और साथ ही सेवकको मीठा बोलनेवाला होना चाहिये। कटुभाषी सेवककी सेवा मर्माहत करती है और मधुरभाषीकी बड़ी प्रिय लगती है। मधुर भाषण स्वयं ही एक सेवा है।

भक्तकी परख

भक्तकी परख तिलक, छापा, माला, कण्ठी, रामनामी, मुण्डन या जटासे नहीं होती। ये सब आवश्यक हैं, उत्तम हैं, परंतु इनसे उसीकी शोभा बढ़ती है जिसका हृदय श्रीभगवान्के प्रेमसे पूर्ण हो गया है। जिसके हृदयमें भगवान्की जगह भोगोंने घर कर रखा हो, उसको न तो यह भक्तोंका बाना धारण करनेका अधिकार है और न इससे कोई लाभ ही है, ऊपरका भेष देखकर किसीने भक्त मान भी लिया तो क्या हुआ? भेषधारीको इससे कोई लाभ नहीं। कंगालको लखपति माननेसे कंगाली नहीं छूट सकती। हृदय पापकी आगसे जलता ही रहेगा। भक्त वह है जो सर्वत्र-सर्वदा अपने भगवान्को देखता है और उसके दिव्य गुण सत्य, प्रेम, करुणा, आनन्द, ज्ञान आदिका अनुसरण प्राणपणसे करता है। बाना हो या न हो।

मनन करनेयोग्य

'ग्रन्थोंके भरोसे मत पड़े रहो, अब इसी बातकी जल्दी करो कि मनको देहभावसे खाली करके भगवान्‌के प्रेमसे भर दो। दूसरे साधन कालके मुँहमें डाल देंगे, गर्भवासके कष्टोंसे कोई भी मुक्त नहीं करेगा।'

'भगवान्‌के पास मोक्षका कोई थैला थोड़े ही रखा है, जो उसमेंसे थोड़ा-सा निकालकर वे तुम्हें भी दे देंगे? इन्द्रिय-विजयसे मनको साधो, निर्विषय बन जाओ। बस, मोक्षका यही मूल है।....तुका कहता है, फल तो मूलके ही पास है; उस मूलको पकड़ो; शीघ्र श्रीहरिकी शरण लो।'

'उन करुणाकरसे करुणा माँगो, अपने मनको साक्षी रखकर उन्हें पुकारो। कहीं दूर जाना-आना नहीं पड़ता; वे तो अन्तरमें साक्षीरूपसे विराजमान हैं। तुका कहता है वे कृपाके सिन्धु हैं, भवबन्धनको तोड़ते उन्हें कितनी देर लगती है!'

'ग्रन्थोंको देखकर फिर कीर्तन करो, तब उसमें (ज्ञानमें) फल लगेगा। नहीं तो व्यर्थ ही गाल बजाया और वासना तो हृदयमें रह ही गयी। तप-तीर्थाटन आदि कर्मोंकी सिद्धि तभी होगी जब बुद्धि हरिनाममें स्थिर होगी। तुका कहता है, अन्य झगड़ोंमें मत पड़ो। बस, यही एक संसार-सार हरि-नाम धारण कर लो।'

'श्रीहरि-गोविन्द नामकी धुन जब लग जायगी, तब यह काया भी गोविन्द बन जायगी, भगवान्‌से दुराव—कोई भेदभाव नहीं रह जायगा। मन आनन्दसे उछलने लगेगा, नेत्रोंसे प्रेम बहने लगेगा। कीट भृंग बनकर जैसे कीटरूपमें फिर अलग नहीं रहता, वैसे तुम भी भगवान्‌से अलग नहीं रहोगे।'

'जो जिसका ध्यान करता है, उसका मन वही हो जाता है। इसलिये और सब बातोंको अलग करो, पाण्डुरंगकी ध्यान-धारणा करो।' —संत तुकाराम

भगवान् प्रेमस्वरूप हैं

कुछ लोगोंकी धारणा है कि भगवान् दण्ड देते हैं। पर असलमें भगवान् दण्ड नहीं देते। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं। वे स्वाभाविक ही सर्वसुहृद् हैं। सुहृद् होकर किसीको तकलीफ कैसे दे सकते हैं? विश्वकल्याणके लिये विश्वका शासन कुछ सनातन नियमोंके द्वारा होता है। यदि हम उन नियमोंका अनुसरण करके उनके साथ जीवनका सामंजस्य कर लेते हैं तो हमारा कल्याण होता है; परंतु यदि हम लापरवाहीसे या जान-बूझकर उन प्राकृत नियमोंका उल्लंघन करते हैं तो हमें तदनुसार उसका बुरा फल भी भोगना पड़ता है, पर वह भी होता है हमारे कल्याणके लिये ही; क्योंकि कल्याणमय भगवान्‌के नियम भी कल्याणकारी ही हैं। अतः भगवान् किसीको दण्ड नहीं देते, मनुष्य आप ही अपनेको दण्ड देता है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं—सर्वथा प्रेम हैं और वे जो कुछ हैं, वे ही सबको सर्वदा वितरण कर रहे हैं!

कुसंग छोड़कर महापुरुषोंका संग करो

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तराज उद्धवजीसे कहते हैं—

संगं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३)

केवल स्त्रीसंग और पेट-पालनेमें लगे हुए दुष्ट पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिये। जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाला अन्धा गढ़ेमें गिरता है वैसे ही ऐसे दुष्ट पुरुषका अनुसरण करनेवाला पतित होता है।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्यछिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। २६)

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका संग छोड़कर सत्पुरुषोंका संग करे, क्योंकि सत्पुरुष सदुपदेशसे उसके मनकी आसक्तिको मिटा देते हैं।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।२७)

सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित, चित्तको मुझे अर्पण कर देनेवाले, प्रशान्त, समदर्शी, 'मेरा और मैं' पनसे रहित, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित तथा अपरिग्रही जन ही सत्पुरुष हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।२८)

महाभाग उद्धव! उन महाभाग्यशाली सत्पुरुषोंमें सदा मेरी कथाएँ ही हुआ करती हैं, जिन हितकारिणी कथाओंके सुननेसे श्रोताओंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और हृदय निर्मल हो जाता है।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।२९)

मेरे परायण रहनेवाले जो पुरुष उन कथाओंको श्रद्धा और आदरपूर्वक कहते, सुनते, गाते और अनुमोदन करते हैं, वे मेरी भक्तिको प्राप्त होते हैं।

भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।३०)

साधो! मुझ अनन्त गुणशाली, आनन्द तथा अनुभवस्वरूप ब्रह्मकी भक्ति प्राप्त होनेपर फिर और कौन विषय उसे मिलना बाकी रह जाता है?

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।३१)

जैसे भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेसे शीत, भय, अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही सत्पुरुषोंका सेवन करनेवालोंके भी पाप, भय, अज्ञान दूर हो जाते हैं।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।३२)

जैसे जलमें डूबकर डुबकी खानेवालेके लिये दृढ़ नौका परम आश्रय है वैसे ही इस भवसागरमें डुबकी यानी नीची-ऊँची योनियोंमें आने-जानेवाले जीवोंके लिये शान्त ब्रह्म महापुरुष ही एकमात्र गति हैं।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।३३)

जैसे अन्न प्राणियोंका प्राण है, जैसे मैं (भगवान्) आर्तजनोंका आश्रय हूँ, जैसे मरनेके बाद धर्मरूप धन ही मनुष्योंके साथ जाता है, वैसे ही महापुरुष संसारसमुद्रमें पड़नेसे डरते हुए पुरुषकी रक्षा करनेवाले हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११।२६।३४)

सूर्य बाहरी नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं, परंतु महापुरुष तो हृदयके अंदरके ज्ञानरूप नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं। ऐसे महापुरुष ही यथार्थ देव और बान्धव हैं तथा ऐसे महापुरुष ही मेरी आत्मा और मेरा रूप हैं।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(भगवच्चर्चा भाग ६)

पूर्ण-समर्पण

[पूर्वप्रकाशित भगवच्चर्चा भाग-६ का नवीन संस्करण]

वास्तविक पूर्ण-समर्पण करना नहीं पड़ता, अपने-आप हो जाता है। जबतक कोई समर्पण करनेवाला धर्मी कर्ता रहता है, तबतक अहंकार शेष है और तबतक पूर्ण-समर्पणमें कमी है। एक ऐसी स्थिति होती है, जब देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार—इन सबके समष्टि-यन्त्रपर प्रभु अपना अधिकार कर लेते हैं—यह यन्त्र प्रभुका स्वच्छन्द क्रीडास्थल या लीलाभूमि वृन्दावन बन जाता है। इस अवस्थामें उनसे कोई भिन्न कर्ता नहीं रह जाता। प्रभु उस यन्त्रसे अपने इच्छानुसार मनमाना कार्य लेते हैं—लेते नहीं, उस यन्त्रमें निरंकुश लीला करते हैं। जैसे लावारिस सम्पत्तिपर सरकारका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार उस लावारिस यन्त्रपर प्रभुका अधिकार स्वाभाविक ही हो जाता है। अहंकारका एक क्षुद्र कण भी जबतक शेष रहता है तबतक यन्त्रको यह लावारिसपन प्राप्त नहीं होता और ऐसा हुए बिना प्रभु उसपर अधिकार नहीं जमाते। स्थूल देहसे लेकर अहंकारतक जब सारी वस्तुएँ कर्माकर्मरूप संचित सम्पत्तिसहित किसीकी अपनी चीज नहीं रह जाती, तब उन सबपर प्रभु स्वयं आ विराजते हैं। फिर प्रभुको बुलाना नहीं पड़ता, न यही कहना पड़ता है कि नाथ! हमें शरण दीजिये; क्योंकि कहनेवाला कोई वहाँपर प्रकटरूपसे नहीं रह जाता। जैसे चुम्बक शुद्ध लोहेको खींच लेता है, इसी प्रकार यह यन्त्र स्वयमेव ही भगवान्के द्वारा खिंचा जाकर उनका परम और चरम आश्रय पा जाता है अथवा प्रभु स्वयं उसके सहज अकर्तृक आकर्षणसे खिंचकर उसमें आ विराजते हैं और उसके प्रत्येक अवयवमें अपना कार्य करने लगते हैं। इसीसे यह पूर्ण-समर्पण करना नहीं पड़ता, हो जाता है।

इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये पहले शरणागतिका साधन करना पड़ता है, जिससे आधार यन्त्रकी परम शुद्धि होकर वह प्रभुकी स्वच्छन्द लीलाभूमि बननेकी योग्यता प्राप्त करता है। इस शरणागतिके साधनमें अनेक भाव हैं, जिनमें नीचे लिखे पंद्रह मुख्य हैं—

१. नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना।

२. प्रभुको ही अखिल विश्वरूपसे प्रकट समझना।

३. कर्ममात्रमें प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिका कार्य देखना।

४. प्रभुको ही सबसे बढ़कर एकमात्र परम प्रियतम समझना।

५. प्रभुपर पूर्ण विश्वास होना।

६. सर्वथा-सर्वदा प्रभुके अनुकूल कार्य करना।

७. सब कुछ प्रभुका समझना और प्रभुसे कभी कुछ भी न चाहना।

८. प्रभुके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न होना और अनुकूलताका अनुभव करना।

९. प्रभुको ही अपना परम स्नेही पिता, परम वात्सल्यमयी माता, परम हितैषी बन्धु, परम सुहृद् सखा, परम कृपालु स्वामी, परम सहायक धन, परम उत्तम गति और परम प्रकाशकारी विद्या समझना एवं कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे सदा उनके नाम-गुणका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना।

१०.प्रत्येक शुभकर्ममें प्रभुको प्रेरक और संचालक समझना।

११.प्रभुके प्रतिकूल कोई भी कार्य न करना और प्रत्येक प्रतिकूल वस्तुसे उदासीन रहना, चाहे वह लौकिक दृष्टिसे कितनी ही आवश्यक, उच्च या प्रियतर हो।

१२.प्रभुके यथार्थ शरणप्राप्त या शरणका मर्म समझनेवाले पुरुषोंका संग करना।

१३.अपनेको प्रभुका नित्य सेवक समझना।

१४.प्रत्येक पाप-कार्यमें अपनेको कर्ता मानना।

१५.अन्त:करणके विशुद्ध होकर प्रभुके प्रति लगनेके लिये आर्तभावसे प्रभु-प्रार्थना करना।

इनमें कुछ साधारण स्थितिके भाव हैं और कुछ शरण-साधनकी बहुत ऊँची स्थितिके। परंतु जब वे उच्च भाव स्वाभाविक लक्षणरूप न होकर करनेकी वस्तु रहते हैं, तबतक वे साधन ही हैं। इन साधनोंके पूर्ण होनेपर आधार परम शुद्ध होकर सर्वथा प्रभुका निवास या क्रीड़ा-क्षेत्र बननेयोग्य हो जाता है, तदनन्तर तुरंत ही भगवान् उसमें आ विराजते हैं। बस, वही पूर्ण-समर्पण है।

अब उपर्युक्त पंद्रह साधनोंपर संक्षेपमें क्रमशः कुछ विचार करना है—

१-नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना, शरणागतिका सर्वप्रधान भाव है। किसी फलके लिये, प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये या आत्मसुखके लिये साधक जो भजन करता है, वह इससे नीचा है। इस भावमें कोई भजन करता नहीं, भजन होता है। क्यों होता है? इसीलिये कि वह ऐसा करनेको बाध्य है। जैसे जीवन धारणके लिये श्वास लेना अनिवार्य और स्वाभाविक है, वैसे ही उसके लिये भजन करना अनिवार्य या स्वाभाविक है। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—प्रत्येक क्रिया करते श्वासोच्छ्वासकी भाँति भजन होता ही रहता है। कभी उस भजनसे विराम नहीं होता। यदि किसी कारणसे कदाचित् क्षणभरको भजन रुक जाता है तो उस समय दम घुटनेपर जैसी व्याकुलता होती है, उससे कहीं अधिक व्याकुलता होती है। इसी भावका वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजीने **'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'** कहा है। इस प्रकार यह भजन नित्य-निरन्तर तो होता ही है, साथ ही इसमें चित्तकी अनन्यता भी सदा समानरूपसे वर्तमान रहती है। प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी चित्तमें नहीं आ पाती। इतनी गुंजाइश भी नहीं रहती कि चित्त-वृत्ति क्षणभरके लिये किसी अन्यकी सत्ता देख सके। इस भावके प्राप्त होनेपर पूर्ण-समर्पण होते देर नहीं लगती। श्रीभगवान् अपने मुखसे कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'अर्जुन! जिसका चित्त अनन्य है (केवल मुझमें ही लगा है) ऐसा पुरुष नित्य-निरन्तर मुझको ही स्मरण करता रहता है और उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको मेरी प्राप्ति सुलभ है।' यों अनन्य भजन करनेवाला किसी भी लोभसे आधे क्षणके लिये भी भजन नहीं छोड़ता। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(११। २। ५३)

'देवतागण निरन्तर ध्यानयुक्त होकर खोज करते हुए भी जिन भगवत्पदारविन्दोंको प्राप्त नहीं कर सकते, त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभव मिलनेपर भी जो आधे क्षण और आधे पलके लिये भी उन चरणोंका चिन्तन नहीं छोड़ता वही मुख्य भगवद्भक्त है।' भगवान्‌के अनन्य भजन करनेवाले भक्त ऐसे ही हुआ करते हैं।

२-समस्त संसार प्रभुसे उत्पन्न हुआ, प्रभुमें निवास करता है और प्रभुमें ही विलीन हो जायगा। यह उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी वस्तुतः प्रभुकी ही लीला है। एकमात्र प्रभु ही हमलोगोंकी विकृत दृष्टिमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे भास रहे हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु किंचित् भी नहीं है, यह सम्पूर्ण संसार सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा है।' आगे चलकर आप कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(गीता ९। ४-५)

'यह समस्त जगत् मुझ अव्यक्तमूर्ति (सच्चिदानन्दघन परमात्मा)-से परिपूर्ण है और वे समस्त चराचर भूत मुझमें स्थित हैं। मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। (यह सारा मेरे योगैश्वर्यका—मेरी अघटनघटना-पटीयसी मायाशक्तिका विलास है) तू मेरे इस योग और ऐश्वर्य अर्थात् माया और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला

और उन्हें उत्पन्न करनेवाला भी मैं वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

इस पहेलीका अर्थ यही है कि प्रभु ही जलमें बर्फकी भाँति जगत्‌में परिपूर्ण हैं—जगत् मानो बर्फ है और प्रभु जल हैं। यह समस्त जगत् प्रभुके संकल्पसे उत्पन्न और संकल्पके आधारसे ही प्रभुमें स्थित है। कोई वस्तु भिन्न हो तो उसमें किसीके पूर्ण या व्यापक होनेका प्रश्न उठे, इसीलिये प्रभु किसीमें हैं भी नहीं। और इसी प्रकार अन्य वस्तुका सर्वथा अभाव होनेसे ये वस्तुएँ भी प्रभुमें नहीं हैं। यह तो प्रभुकी लीला है, जो न होनेपर भी अनेक प्रकारके दृश्य दिखलाती और नानात्वकी रचना करके परस्पर मोहित करती है। वस्तुतः एक प्रभु ही प्रभु हैं।

इस भावके हुए बिना नित्य-निरन्तर अनन्य भजन नहीं हो पाता। इसी भावमें डूबकर भक्त चराचरमें परमात्माके दर्शन कर—भगवान्‌के कथनानुसार '**वासुदेवः सर्वमिति**' का अनुभव कर राग-द्वेष छोड़कर सबको प्रणाम करता है। गोसाईंजी इसी परम पुनीत भावमें निमग्न होकर कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सबमें केवल एक ही दीखता है। कोई कहने-सुननेवाला पृथक् रह ही नहीं जाता।

जिनके दृग हरि-रँग रँगे, हिय हरि रहे समाय।
नभ-जल-अवनि-अनिल-अनल, सबमें स्याम दिखाय॥
कहि न जाय मुख सों कछू स्याम प्रेमकी बात।
नभ-जल-थल-चर-अचर सब स्यामहि स्याम लखात॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को, कासौं केहि बिधि कहा, कहै हृदयकी बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र लखात॥

३-भगवान्‌की दो प्रकृति हैं—एक जड अपरा प्रकृति और दूसरी चेतन जीवरूप परा प्रकृति। इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे जगत् उत्पन्न होता है। भगवान् इन दोनोंमें अनुस्यूत हैं। वे ही जलके रस, चन्द्र-सूर्यके प्रकाश, आकाशके शब्द, पृथ्वीके गन्ध, अग्निके दाहकत्व, वायुकी धारणाशक्ति, जीवनके जीवन, पुरुषोंके पुरुषत्व, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंके तेज और मनस्वियोंके मन हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले समस्त भावोंका उदय उन भगवान्‌से ही होता है। त्रिगुण-भावोंसे मोहित मनुष्य समस्त भावोंके मूलाधार, गुणोंसे परे अविनाशी नित्य, अव्यय भावरूप परमात्माको नहीं जानते। वस्तुतः वही अन्तर्विहारी प्रभु शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको उनके कर्मानुसार अपनी मायासे घुमाया करते हैं। पेड़का एक पत्ता भी उनकी प्रेरणा और शक्ति बिना नहीं हिल सकता। अग्नि और वायु उन्हींकी शक्तिसे वस्तुमात्रको जलाते और उड़ाते हैं। उनकी प्रेरणा और शक्ति ही सबकी जीवनक्रिया और स्थितिका आधार है। मनुष्य भ्रमसे अपनेको कर्ता मानकर बँधता है और जहाँतक यह कर्तापनका भाव है वहींतक उसकी अपने स्वल्प सीमाबद्ध जीवभावके सुख-दुःखके हेतुरूप कर्मोंमें आसक्ति है। इन्द्रियाराम पुरुषोंकी यह आसक्ति ही उनके द्वारा दुष्कर्म होनेमें कारण बनती है। जो पुरुष वस्तुतः इस तत्त्वको समझ लेता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, इस देहयन्त्रके द्वारा जो कुछ होता है, सो प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिसे ही होता है, वह कभी दुष्कर्म-विकर्म नहीं कर सकता। उसके द्वारा होनेवाला प्रत्येक कार्य प्रभु-प्रेरित होनेसे स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल, सर्वथा शुद्ध और सहज लोक-हितकर होता है। यों तो वस्तुतः सभी स्थितियोंमें—शुभाशुभ चेष्टामात्रमें ही प्रभुकी प्रेरणा और शक्ति ही खेला करती है। महाभारतके भयानक युद्धमें प्रत्यक्षदर्शीने देखा था कि वहाँ केवल भगवान्‌का चक्र चल रहा था और शक्तिरूपा द्रौपदी खप्पर भर रही थी। परंतु विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि अज्ञानावृत होनेके कारण ऐसा न मानकर अपने अहंकारसे कर्तापनका आरोप करती रहती है, कर्तृत्वभावसे किये हुए कर्म—(तबतक प्रभुके निमित्त निष्कामभावसे नहीं होते) फलोत्पादक होनेके कारण बन्धनकारक होते ही हैं। जब मनुष्य केवल, 'रघुनाथ गुसाईंको ही उरप्रेरक' समझकर सर्वभावसे उनके शरण हो जाता है, तब उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'अर्जुन! तू सर्वभावसे उस अन्तर्विहारी, प्रेरक परमेश्वरकी शरण हो जा। उस परमात्माके प्रसादसे परम शान्ति और सनातन धामको प्राप्त हो जायगा।'

इस भावकी प्राप्तिसे प्रभु-शरण होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। यह भी शरणागतिके साधनोंमें एक प्रधान साधन है।

४-प्रियतम अनेक नहीं हो सकते। वह एक ही होता है। जगत्‌के समस्त प्रिय और प्रियतर पदार्थ परम प्रियतमके चरणोंपर सहज ही न्योछावर कर दिये जाते हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो प्रियतमकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके। जबतक हृदयमें प्रियतमका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव रहता है तबतक वास्तविक प्रियतमभावकी स्थापना ही नहीं हुई। प्रियतमभावके प्राप्त हो जानेपर उसके सामने सभी पदार्थ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। देवर्षि नारदने इस प्रियतमभावके उपासकोंमें भाग्यवती श्रीकृष्ण-प्रिया व्रजगोपियोंका उदाहरण दिया है, '**यथा व्रजगोपिकानाम्!**' गोपियाँ भगवान्‌से कहती हैं—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३२-३३)

'हे प्रियतम! आप धर्म-मर्मज्ञ हैं। आपने जो कहा है कि पति, संतान और सुहृदोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है, सो हम मानती हैं। आपके इस उपदेशके अनुसार उपदेशदाता आप ईश्वरकी सेवासे ही सबकी सेवा सिद्ध हो जायगी; क्योंकि आप समस्त शरीरधारियोंके प्रिय, बन्धु और आत्मा हैं। प्रियतम! बुद्धिमान् लोग आपपर ही प्रेम करते हैं, क्योंकि आप नित्य प्रिय आत्मा हैं (वास्तवमें आत्मा ही तो प्रियतम है, आत्माके बिना) पति-पुत्रादि क्या सुख दे सकते हैं? वे सब तो दुःख देनेवाले ही हैं। अतः परमेश्वर! हमपर प्रसन्न होइये और हमारी बहुत दिनोंकी आशाको नष्ट न कीजिये।'

आत्मासे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं है। जगत्‌में भिन्न-भिन्न वस्तुओंसे—सम्बन्धियोंसे मनुष्य जो प्रेम करता है, वह आत्मसुखके लिये ही करता है। भगवान् उस आत्माके भी आत्मा हैं, मूलस्वरूप हैं। इसलिये उनसे बढ़कर प्रियतम दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। इसीलिये गोपियाँ कहती हैं—

का स्त्र्यंग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्‌गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ४०-४१)

'प्रियतम! त्रिलोकीमें ऐसी कौन-सी स्त्री (प्रकृतिकी मूर्ति) है जो आप (परम पुरुष)-के विविध मूर्छनाओंसे युक्त मधुर बाँसुरी-गानको सुनकर और आपके त्रिलोक-मोहन स्वरूपको देखकर मोहित न हो जाय और उसका मन अपने धर्म (अज्ञानमय कर्म)-से न डिग जाय! आपके इस त्रिलोकसुन्दर रूपको देखकर और आपकी मुरलीधुनि सुनकर पक्षी, पशु, मृग, गौ और वृक्ष भी आनन्दसे पुलकित हो जाते हैं। जैसे आदिपुरुष नारायण देवोंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही आप व्रजवासियोंकी आर्ति (जागतिक त्रिताप) हरनेके लिये प्रकट हुए हैं, यह निश्चय है। बन्धो! इसलिये आप हम सेविकाओंके तप्त हृदयपर और अवनत मस्तकोंपर अपना (अभयद, परम सुखद) करकमल रखिये।'

इस प्रकार जो भुक्ति-मुक्ति, अनुरक्ति-विरक्ति, सबसे मुँह मोड़कर—सबसे नाता तोड़कर अपने सारे दिलको एकमात्र प्यारेका रंगमहल बना सकता है, जहाँ उस परम प्रियतमके सिवा दूसरेको प्रवेशका ही अधिकार नहीं। यदि कोई प्रवेश करना ही चाहे तो प्रियतमकी पूजा-सामग्री बनकर—प्रियतमका पुजारी बनकर, गोपी बनकर—प्रवेश कर सकता है, अन्यथा सबके लिये सदाको उसके हृदयके द्वार बंद हो जाते हैं, वही प्रियतम-भावको प्राप्त हो सकता है।

गोपियाँ उद्धवसे कहती हैं—

नाहिन रह्यौ हिय मँह ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और॥

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥

....

(सूरदासजी)

कविवर रत्नाकरजीने गोपियोंके अति सुन्दर भावका वर्णन किया है—

सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं, सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम।
कहैं रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम॥
एक ब्रजचंद कृपा-मंद-मुसकानिहीं मैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम।
जाके या वियोग दुखहूँ मैं सुख ऐसो कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुखहू मैं दुख मानैं हम॥

फिर उसके लिये, प्राणाधार परम प्रियतम साँवरेके बिना जगत्‌में और कोई रह ही नहीं जाता।

रहीमने कहा—

प्रीतम छबि नैनन बसी, परछबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

यह बड़ी ऊँची उपासना है। यहाँ केवल इस दृश्य जगत्‌से ही वैराग्य नहीं है, प्रियतमके सिवा किसी भी पदार्थमें राग रह ही नहीं जाता। अपनेको ही परम प्रियतम माननेवाले ऐसे प्रियतम भक्तोंका गुणगान करते हुए स्वयं भगवान् गोपीभावको प्राप्त अपने भक्त उद्धवको कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४—१६)

'जिसने अपना आत्मा मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ, अधिक क्या पुनर्जन्म मिटा देनेवाला सायुज्य-मोक्ष भी नहीं चाहता। उद्धव! (मुझको ही एकमात्र परम प्रियतम माननेवाले ऐसे परमानुरागी) तुम भक्त लोग मुझे जैसे प्यारे हो, वैसे प्यारे मुझे ब्रह्मा, शंकर, बलभद्र, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी नहीं है। ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी भक्तोंकी चरणधूलिसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा ही उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ।' गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जिन्हहिं राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

५-जबतक प्रभुपर पूर्ण विश्वास नहीं होता, जबतक उनकी अतुलनीय गुणावलिपर श्रद्धा नहीं होती, तबतक मनुष्य उनकी तुलनामें सबको नीचा समझकर केवल उन्हींको भजनेके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। विश्वास और श्रद्धा ही भगवत्-प्राप्तिके मार्गके प्रधान सम्बल हैं। इस पाथेयको साथ लिये बिना मनुष्य परमार्थके मार्गपर दो-चार पैंड भी आगे नहीं बढ़ सकता। भगवान् ऐसी वस्तु नहीं हैं जो अपनी सिद्धिके लिये हम-सरीखे जन्तुओंसे प्रमाणपत्र लेनेकी इच्छा रखें। जिसकी सिद्धिसे हम सबकी सिद्धि है, जिसके प्रमाणसे हम सब प्रमाणित हैं, जिसके अस्तित्वसे हम सबका अस्तित्व है, उस प्रभुको हमारी सीमाबद्ध बुद्धिके प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी चेष्टा वातुलता और वाचालतामात्र है। जिन स्वाभाविक दैवी-सम्पदासम्पन्न संत आप्त पुरुषोंने प्रबल साधन करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को जान लिया है, उनके वचनोंपर परम विश्वास करने और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे ही भगवान्‌का साक्षात्कार हो सकता है। विश्वास ही सारे साधनोंकी जड़ है। लौकिक कार्योंमें भी जब श्रद्धा-विश्वास बिना कार्य सिद्ध नहीं होता—सिद्ध होना तो दूर रहा, उसके करनेमें मन ही नहीं लगता, तब मानवी दृष्टिसे सर्वथा अदृष्ट परमात्माकी प्राप्तिके मार्गपर गति बिना श्रद्धा-विश्वासके कैसे हो सकती है। पहले यह ध्रुव विश्वास करना होगा कि परमात्मा हैं, फिर उन निर्गुणकी महान् गुणावलिपर इतना अधिक विश्वास करना होगा कि उनके समस्त सद्‌गुणोंका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, संत और शास्त्र जो कुछ वर्णन करते हैं, सो तो समुद्रकी तुलनामें एक जलकणके बराबर भी नहीं है। उनकी दया, करुणा, शक्ति, प्रेम, ज्ञान आदि सभी अनन्त और अनिर्वचनीय हैं।

परमात्माके मिलनेमें देर नहीं है, जो कुछ देर है सो हमारे यथार्थ विश्वास करके उन्हें चाहने और

पुकारनेमें ही है। परमात्माका विश्वासी भक्त और किसकी आशा करेगा? और किससे अपनी रक्षा या मनोरथकी पूर्ति चाहेगा? सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्याधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वतश्चक्षु, सर्वोपरि, सहजसुहृद्, करुणावरुणालय प्रभुको पाकर वह किसके सामने हाथ फैलायेगा? जबतक वह दूसरेको स्वामी मानता है, दूसरेसे सुखकी आशा करता है, दूसरेके सामने हाथ फैलाता है, तबतक उसे परमात्माके स्वरूप और गुणोंपर विश्वास ही नहीं है। रामचरितमानसमें महात्मा कागभुशुण्डिजीने कहा है—

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥
अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥

भगवान्‌के वचन हैं—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥

विश्वास होनेसे अनन्य भजन होता है और भजनसे भगवान्‌की कृपाका प्रसाद प्राप्त होता है, जिससे यह आधार परमात्माका नित्य-क्रीडानिकेतन बन जाता है। अनन्य विश्वासी भक्तके हृदयमें ही भगवान् बसते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥

६-जो परमात्माको सर्वोपरि, सर्वज्ञानमय, सर्वशक्तिमान् और परमहितैषी मानकर उनके शरण होना चाहेगा, उसके लिये परमात्माके अनुकूल आचरण करना अनिवार्य है। इस स्थूल संसारमें भी मनुष्य जिसको शक्ति, बुद्धि और सुहृदतामें अपनेसे बढ़कर मानकर जिसका सहारा ले लेता है, स्वाभाविक ही उसके अनुकूल आचरण करने लगता है, तब जो परमात्माके शरण है, वह परमात्माके प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता है? उसके कर्म स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल होते हैं। जबतक अनुकूलाचरणका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह बड़ी सावधानीके साथ मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा, संकल्प और भावको प्रभुकी प्रतिकूलतासे बचाकर अनुकूल बनानेका दृढ़ प्रयत्न करता रहता है। यह सावधानी ही साधना है। उसे प्रतिक्षण इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि मुझसे कोई भी चेष्टा स्वामीकी रुचिके प्रतिकूल न बन जाय। मेरा प्रत्येक श्वास स्वामीकी रुचिके अनुसार ही चले। जिस बातमें स्वामी प्रसन्न होते हैं, उसी बातमें वह परम प्रसन्न रहता है। जगत्‌के सुख-दुःख, हानि-लाभकी कुछ भी चिन्ता न कर वह प्रतिक्षण प्रभुकी आज्ञा और अनुकूलताका ध्यान रखता है। बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी वह धीर पुरुष स्वामीकी अनुकूलताके पथसे—धर्ममार्गसे विचलित नहीं होता और जो प्रभुके अनुकूल आचरण करता है, उसीको प्रभु अपना परम प्यारा समझते हैं।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

अनुकूलताका संकल्प शरणागतिका प्रधान अंग माना गया है।

७-मनुष्यकी बुद्धि ममतारूपी रातमें सो रही है, इसीसे वह जगत्‌के पदार्थोंको अपना समझता है और उनकी रक्षा तथा प्राप्तिके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है। संसारमें जो कुछ भी है सो सब परमात्माका ही है। वस्तुतः तो एक परमात्मा ही हैं, उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं। मनुष्यकी जड-बुद्धि ही चिन्मय परमात्मामें जड-जगत्‌का आरोप करती है। परंतु कम-से-कम इतना तो मनुष्यको अपनी परमात्माभिमुखी स्थूल दृष्टिसे भी देखना ही चाहिये कि यहाँ जो कुछ भी है, सब परमात्माकी सम्पत्ति है। वही मायाधीश्वर सुनिपुण नटराज अपनी मायासे जगन्नाटकका अभिनय कर रहे हैं। हम सब मनुष्य उनके इंगितपर खेल करनेवाले पात्र हैं। उन सूत्रधारके इशारेपर नाचना ही हमारा काम है, इसीमें मनुष्यत्व है। जो मनुष्य अपनी पात्रताको भूलकर नाटकके स्वाँगको और खेलको सत् और नित्य एवं खेलकी सामग्रीको अपनी मान लेता है, वह बड़ी भूल करता है। नाटकके अभिनयमें स्वाँग धारण किये हुए पात्रोंके स्वाँगका सम्बन्ध स्टेजतक ही है। जबतक वे स्टेजपर रहते हैं तभीतक परस्पर स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, राजा-प्रजाका यथायोग्य अभिनय करते हैं। स्टेजसे हटकर पर्देके अंदर जाते ही उनका सारा दिखाऊ सम्बन्ध मिट जाता है। यहाँतक कि उनकी पोशाकतक बदल दी जाती है या उतार देनी पड़ती है। इसी प्रकार इस जगन्नाटकमें भी हमारे सारे नाते तथा सारे खेल केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये—उसके खेलको पूर्ण करनेके लिये हैं। इसीलिये

स्वामीने हमें ये स्वाँग देकर अपने-अपने स्वाँगके अनुसार नियमित अभिनय करनेकी आज्ञा दी है। यदि हम इस खेलको और खेलकी सामग्रियोंको उनकी लीला और सम्पत्ति न मानकर अपनी मान लेते हैं तो वैसे ही मूर्ख और अपराधी सिद्ध होते हैं, जैसे नाटकका पुरुषपात्र नाटकके अभिनयमें बनी हुई स्त्रीको अपनी सगी पत्नी और नाटककी सामग्रियोंको अपनी सम्पत्ति मान लेनेपर होता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह जगत्के समस्त पदार्थोंको परमात्माकी सम्पत्ति समझे। और सेवाके लिये अपनेको मिले हुए समझकर आसक्ति और फलकामनासे रहित हो केवल प्रभुकी लीला सम्पन्न करने—उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उचित रीतिसे उन पदार्थोंकी—स्वजन, परिवार, गृह आदिकी सच्चे मनसे, बेगार न मानकर सेवा और सँभाल करे तथा आवश्यकतानुसार प्रभुकी आज्ञाके अनुकूल प्रभुकी उन चीजोंको प्रभुके ही कार्यमें समर्पण करता रहे।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'

—में भक्तका यही भाव दिखलाया गया है। इस प्रकार जो नाट्य-निपुण विवेकी पुरुष है, वही मनुष्य है; शेष माया-मुग्ध अविवेकी पशु हैं जो बात-बातमें अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव कर हर्ष-शोकके प्रवाहमें ही निरन्तर बहा करते हैं। उनके हँसने-रोनेकी अज्ञानसम्भूत क्रिया कभी बंद होती ही नहीं। दिन-रात उसीमें रचे-पचे रहना उनके जीवनका स्वरूप होता है। ऐसे लोग परमात्माका यथार्थ भजन नहीं कर सकते। परंतु जो लोग सब कुछ परमात्माका जानते हैं, वे लौकिक योगक्षेमकी परवा न कर निष्कामभावसे परमात्माका भजन किया करते हैं। वे परमात्मासे कभी कुछ माँगते ही नहीं। असलमें तो उस अवस्थामें माँगनेकी बुद्धि ही उदय नहीं हो सकती; क्योंकि वे सारे विश्व-प्रपंचको भगवान्की लीला समझकर अपनी पात्रतामें ही परम सुखी रहते हैं। उनकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। फिर परमात्माके इशारेपर नाचनेमें उन्हें जो दिव्य सुख मिलता है, उसकी तुलनामें जगत्का कोई पदार्थ रखा भी नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि बचे-खुचे मोहवश कभी संसारके पदार्थ सत् भी प्रतीत होते हैं तो सर्वज्ञ परम दयालु भगवान्के शरणागत भक्त भगवान्से उनको माँगते नहीं; क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ हैं तथा हमारे परम हितैषी हैं; हमारा यथार्थ हित कौन-सी बातमें है, इसको वे भलीभाँति जानते हैं। हम अदूरदर्शी हैं, निर्बोध बालकके साँप माँगनेकी भाँति हम अज्ञानवश परिणाममें महान् दुःखदायिनी आपातरमणीय वस्तुको माँग सकते हैं, परंतु प्रभु हमारा सच्चा हित देखकर हमारे लिये जो वस्तु उपयोगी होगी, वह आप ही दे देंगे। वास्तवमें बात भी यही है। प्रभुसे माँगना तो ठगाना ही है; क्योंकि हम अपने हितकी उतनी दूरतककी कल्पना ही नहीं कर सकते, जितनी दूरतकका हमारा हित भगवान् समझते हैं। इसीलिये भक्तगण भगवान्के सेवा-भजनको छोड़कर मोक्षतककी इच्छा नहीं करते। वे यदि कभी माँगते हैं तो भक्त प्रह्लादकी भाँति बस यही कि—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

'स्वामिन्! वरदानियोंमें श्रेष्ठ! यदि आप मुझे मनमाना वर देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी कुछ माँगनेका अंकुर ही न पैदा हो। मैं यही वर माँगता हूँ।' अथवा यह कि—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

८-'ऐसे शरणागत भक्त भगवान्के प्रत्येक मंगलमय विधानमें सतत संतुष्ट होते हैं। उनका यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान् कभी अमंगल-विधान कर ही नहीं सकते, शिव कभी अशिव नहीं हो सकते। सद्वैद्यकी कड़वी दवा या डॉक्टरद्वारा चीर-फाड़की भाँति उनका कठोर-से-कठोर भी प्रत्येक कार्य जीवके सहज कल्याणार्थ ही हुआ करता है। वैद्य या डॉक्टर तो हितैषी होनेपर भी भूल कर सकते हैं, परंतु सर्वज्ञ भगवान्से कभी भूल नहीं होती। वैद्य-डॉक्टरोंके पास ऐसे जहर भी रहते हैं जिनके प्रयोगसे आदमी मर सकता है, परंतु भगवान्के अमृत-भंडारमें जहर है ही नहीं। उनके किसी भी प्रयोगसे किसीका परिणाममें अनिष्ट हो ही नहीं सकता। लौकिक जहर भी यदि उनके स्पर्श हो जाता है तो वह भी 'मीराके जहरके प्याले' की भाँति अमृत बन जाता है। अवश्य ही उनकी कृपाका स्वरूप कभी बड़े मधुर, कोमल, मृदुरूपमें प्रकट होता है तो कभी भयानकरूपमें। यह भयानकता और मधुरता भी

हमें अपने भावके अनुसार ही दीखती है। वस्तुतः भगवत्कृपा सदा ही कोमल और मधुर है। विश्वासी शरणागत भक्त सुदर्शन हाथमें लिये मारनेको प्रस्तुत भगवान्की भयावनी मूर्तिमें भी उनकी कोमलता और मधुरताके दर्शन पाकर उनका स्वागत करते हैं। हाथमें चाबुक लेकर मारनेको सामने आते हुए कालरूप भगवान्को देखकर भक्तवर भीष्मजी कहते हैं—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते॥
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ॥
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः।
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ।

(महाभारत, भीष्मपर्व १०६। ६४—६७)

'आइये, आइये! पुण्डरीकाक्ष! आइये! देवदेव! आपको नमस्कार है। सात्वतश्रेष्ठ! आज इस महायुद्धमें मेरा वध कीजिये! परमात्मन्! श्रीकृष्ण! गोविन्द! आपके हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण हो जायगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हो गया हूँ। निष्पाप! आप मुझपर मनचाहा प्रहार कीजिये। मैं तो आपका दास हूँ।'

भगवान्के इस भक्तवत्सल परमप्रिय कालरूपको भीष्मजी जीवनमें नहीं भूले। प्राण छोड़ते समय भी उन्होंने इसी रूपमें दर्शन देनेकी प्रार्थना की। भक्त सूरदासने भीष्मके भावका वर्णन यों किया है—

वा पट पीतकी फहरान।
कर धरि चक्र चरनकी धावनि, नहिं बिसरति वह बान॥
रथतें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच-रजकी लपटान।
मानो सिंह सैलतें निकस्यौ, महामत्त गज जान॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेटि बेदकी कान।
सोई सूर सहाय हमारे, निकट भये हैं आन॥

भगवान्के विधानको बदलनेमें असमर्थ और निरुपाय होनेके कारण संतुष्ट रहना दूसरी बात है और उसमें पहले प्रतिकूल रहनेपर भी, भगवान्का दिया हुआ दान समझकर उसमें सहज अनुकूलताका अनुभव करके परम संतुष्ट होना दूसरी बात है। भक्त वास्तवमें निरुपाय होनेके कारण मन मारकर संतुष्ट नहीं रहता, बल्कि प्रत्येक प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें मंगलरूप भगवान्का मंगलमय हाथ देखकर अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ परम प्रसन्न होता है। उसे उसमें वस्तुतः अतिशय आनन्द मिलता है। वह प्रभुकी रंग-बिरंगी आकृति और लीलाओंको देख-देखकर पद-पदपर प्रमुदित होता है। यह भी शरणागतिका एक प्रधान साधन है।

९-भगवान् श्रीकृष्ण (गीता ९। १७-१८ में) कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

अर्जुन! इस समस्त जगत्का धारण करनेवाला और कर्मफलोंको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तत्त्व, ऋक्, साम और यजुर्वेद, सबकी परम और चरम गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका एकमात्र स्वामी, सबके समस्त शुभाशुभका द्रष्टा, सबका मूल निवासस्थान, सबका शरण्य, सबका सुहृद्, सबको अपनेसे उत्पन्न और अपनेमें लीन करनेवाला, सबका आधार, सबके सूक्ष्म शरीरोंका निधान और अव्यय बीज (कारण) मैं ही हूँ।'

जो भगवान्को इस प्रकार जान लेता है, वह भगवान्का ही भजन (नाम-गुण-श्रवण, कीर्तन, स्मरण) करता है और पद-पदपर भगवान्के इन स्वरूपोंका अनुभव करता हुआ विलक्षण आनन्द प्राप्त करता है, ऐसे भक्तका हृदय भगवान्का निवासस्थान बन जाता है। महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे यही बात कही थी—

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

भक्त एक ओर भगवान्में इन सब सम्बन्धोंको स्थापित करता है, दूसरी ओर इन सम्बन्धोंमेंसे, जिन सम्बन्धोंके सम्बन्धी उसके होते हैं, उनमें भगवान्का स्वरूप देखता है। इस प्रकार दोनों ओरसे भगवान्में ही मन रमाता हुआ कभी उन्हें पिता समझकर अपनेको उनकी गोदमें देखता है, कभी स्नेहमयी जननी जानकर उनका मधुर स्तन-पान करता है, कभी स्वामी समझकर उनकी सेवामें लग जाता है, कभी परम गुरु समझकर उनका सेवा-परायण शिष्य बन जाता है, कभी सखा समझकर उनके साथ निःशंक खेलता है, कभी पति मानकर पत्नीभावसे अपना तन, मन उनके अर्पण कर उनके नाम-गोत्रको ग्रहण कर लेता है, कभी पुत्र

समझकर वत्सलभावसे उनके लालन-पालनकी लीला करता है और कभी उन्हें परम धन समझकर प्राणपणसे हृदयमें रक्षा करता है। इस प्रकार उसका मन नित्य-निरन्तर श्रीपरमात्मामें ही लगा रहता है। वह उन्हींके पवित्र नामका उच्चारण करता है, उन्हींके गुण-नामका गान करता है, उन्हींका गुण-श्रवण करता है, उन्हींके ध्यानमें रहता है और पल-पलमें उन प्रभुकी दया और प्रेमका प्रत्यक्ष अनुभव कर उन्मत्तकी भाँति प्रभुकी महिमामें मग्न हुआ नाचता है। श्रीमद्भागवत (११। १४। २४-२५)-में ऐसे भागवतसर्वस्व प्रेमी भक्तका गुण वर्णन करते हुए श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

'जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, चित्त प्रेमसे पिघल जाता है, जो (मेरा) स्मरण करके कभी जोर-जोरसे रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गुणगान करने लगता है और कभी नाच उठता है; ऐसा मेरा परम भक्त तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है। जैसे अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्यागकर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार मेरे (प्रेमयुक्त-भजन-कीर्तनरूप) भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मजालसे छूटकर अपने स्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

१०-यों तो जगत्की प्रवृत्तिमात्र ही भगवान्की सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। प्रत्येक स्फुरणा और क्रियाके मूल-सूत्र वे ही हैं; परंतु यह सिद्धान्त समझमें आना बहुत कठिन है। कहीं-कहीं तो इस सिद्धान्तका मर्म न समझनेके कारण सभी शुभाशुभ कर्मोंमें भगवान्को प्रत्यक्ष संचालक और प्रेरक बताकर और अपनी जिम्मेवारी भूलकर मनुष्य पाप-कर्मोंमें लग जाते हैं। इसीलिये संत पुरुषोंने केवल शुभ कर्मोंमें भगवान्को संचालक और प्रेरक माना है और यह सिद्धान्त युक्तियुक्त होनेके साथ ही सर्वथा निरापद भी है। मनुष्यके हृदयमें आत्माकी जो प्रेरणा होती है, वह स्वाभाविक ही शुभ होती है। जिनके आचरण बुरे होते हैं, उनके अंदरसे भी आत्माकी आवाज बुरे आचरणोंके विरुद्ध और सत्कर्मोंके लिये प्रेरक आती है। परंतु कुसंगति तथा आसक्तिवश मनुष्य उस आत्मध्वनिकी अवहेलना कर कुकर्म कर बैठता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके अंदर आत्म-क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान प्रभु सदा ही शुभ प्रेरणा करते रहते हैं। जो लोग सत्संगके प्रभावसे परमात्माकी कृपाका विशेष अनुभव करते हैं, वे प्रेरणाके साथ शुभ ही कर्मोंमें प्रभुका संचालन भी देख पाते हैं। प्रभु ही उनके हृदयमें शुभ कर्मकी प्रेरणा करते हैं और प्रभु ही अपनी शक्तिसे उसका संचालन भी करते हैं। भक्त साधकके हृदयमें यह बात प्रत्यक्ष-सी भासती है। वह इसका अनुभव करता है और बार-बार कृतज्ञ हृदयसे प्रभुको धन्यवाद देता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

अतएव मनुष्यको यह निश्चय करना चाहिये कि मेरे द्वारा जो कुछ भी शुभ कर्म होते हैं, वे सब भगवान्की कृपासे उनकी प्रेरणा तथा संचालनमें ही होते हैं।

११-जो कार्य प्रभुके प्रतिकूल है, उसे प्रभुका शरणागत भक्त कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो वस्तु प्रभुके प्रतिकूल है, वह भी उस भक्तको प्रतिकूल ही भासती है। यही नाता भक्तसे भगवान्का है। भगवान्ने महाभारतमें यह स्पष्ट कहा है कि 'जो पाण्डवोंके मित्र हैं, वे मेरे मित्र हैं और जो उनके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं।' अपने प्रियतमके मनसे प्रतिकूल कार्य प्रेमी कैसे कर सकता है? और कैसे वह उस वस्तुसे ही प्रेम कर सकता है जो प्रियतमको दुःख देनेवाली होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रियतमके प्रतिकूल किसी वस्तुविशेषकी तो बात ही क्या है, जीवनकी भी बलि चढ़ा देता है। हमारे लिये जीवन बहुत ही मूल्यवान् और प्रिय पदार्थ है। परंतु यदि प्रियतमकी प्रसन्नता हमारे इस जीवनकी बलि लगनेमें ही है तो इस अवस्थामें क्या हम प्रियतमके मनके प्रतिकूल जीवित रहना चाहेंगे? अपने प्रियतमके रुचिपर जीवन और जीवनके सारे सुखोंको न्योछावर कर देना तो सच्चे प्रेमियोंका स्वभाव ही होता है? ऐसे असंख्य

प्रेमी हो गये हैं जिन्होंने अपने प्रियतमके प्रतिकूल समझकर, जीवनको सुख देनेवाले समस्त भोगोंका तृणवत् नहीं, विषवत् त्याग कर दिया है। धन-मान-परिवार किसको अच्छे नहीं लगते? परंतु उनमें जब प्रेमीको प्रियतमकी प्रतिकूलताकी गन्ध आने लगती है तो फिर वे सब उसे सुहाते नहीं। इसीसे स्त्री-पुत्र, धन-धान्य और स्वजन-परिवारसे भरे हुए घरको छोड़कर प्रेमी लोग फकीरीका बाना धारण कर लेते हैं। तरुणी पत्नी, इकलौते बच्चे और धन-सम्पत्तिसे पूर्ण राज्यको छोड़कर बुद्धदेव भिक्षु बन गये। महाप्रभु चैतन्यदेव माता और पत्नीके स्नेह-बन्धनको तोड़कर फकीरीका बाना धारण करनेके लिये माघके जाड़ेमें सूर्योदयसे पहले ही गंगामें कूदकर उस पार जा पहुँचे। क्या ये सब पागल थे? अवश्य ही जिनके हृदयमें प्रियतम परमात्माका स्थान विषयने ग्रहण कर रखा है, उनकी दृष्टिमें पागल ही थे। परंतु वस्तुतः वे ही सच्चे सयाने थे, वे इस बातको जान गये थे कि इस संसारके प्रपंचमें पड़े रहना उस प्रियतमके प्रतिकूल है, इसीसे वे सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। इधर प्रभु नित्यानन्दजी महाप्रभु चैतन्यदेवके मनके प्रतिकूल होनेके कारण चिरकालके संन्यास-धर्मको त्यागकर पुनः गृहस्थी बन गये। भक्त भीलकुमार एकलव्यने गुरु द्रोणके मनके प्रतिकूल होनेके कारण प्रसन्नताके साथ अपने दाहिने हाथका अँगूठा काटकर दे दिया था।

सारांश यह कि प्रभु या प्रियतमके प्रतिकूल कार्य करना या प्रतिकूल वस्तुमें प्रेम रखना सेवक या प्रेमीके लिये असम्भव है। इसीलिये भक्तगण भगवान्‌के प्रतिकूल कोई कार्य भूलकर भी नहीं करते।

१२-शरणागतिके यथार्थ रहस्यका उद्घाटन भगवान्‌के शरण प्राप्त संत ही कर सकते हैं, इसीलिये सत्संगकी इतनी महिमा है। सच्चे संतोंका क्षणभरका संग भी बहुत अधिक लाभदायक हुआ करता है। सभी शास्त्रों और अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्‌ने भी सत्संगकी बड़ी महिमा गायी है। यथार्थमें है भी यह सच्ची बात। **सत्संगके बिना भगवान्‌का महत्त्व नहीं जाना जाता, महत्त्व जाने बिना उनकी शरणके साधन नहीं होते। शरणागति बिना जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता। परमार्थके साधनमें तो श्रद्धाके बाद दूसरा नम्बर** सत्संगका ही है, परंतु सच्ची श्रद्धा भी सत्संगसे ही प्राप्त होती है। सत्संगमें दो बातें खास ध्यान देनेकी हैं। १—जिनका संग किया जाय वे सच्चे संत पुरुष हों और २—आचरणमें लानेके लिये तत्त्व जाननेकी सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपट भावसे श्रद्धापूर्वक उनका संग किया जाय। इन दोनोंमेंसे किसी एकका अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता। यद्यपि इस जमानेमें भगवान् श्रीकृष्ण-सरीखे उपदेशक गुरु और भक्त अर्जुन-उद्धव-सरीखे जिज्ञासु शरणागत शिष्य मिलने असम्भव हैं, तथापि जहाँतक सम्भव हो—तत्त्वज्ञानी, शक्तिसम्पन्न, सच्चे सद्‌गुरुकी खोज की जाय और सच्चे अधिकारी पात्रको ही तत्त्वका उपदेश किया जाय, तो बड़ा लाभ हो सकता है। साधारणतः संतके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। २९—३१)

'जो सब जीवोंपर कृपा करता है, किसीसे भी द्रोह नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें तितिक्षु है, सत्यव्रती है, शुद्ध-चित्त है, समदर्शी है, सबका उपकार करनेवाला है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे घिरी हुई नहीं है, जो जितेन्द्रिय है, कोमल-हृदय है, बाहर और भीतरसे पवित्र है, जो सर्वस्व परमात्माके अर्पण करके अकिंचन हो चुका है, निरपेक्ष है, मिताहारी है, शान्तचित्त है; मुझ परमात्मामें स्थिर-बुद्धि है, मेरी एकमात्र शरणको प्राप्त है, नित्य मेरे मननमें लगा रहता है; मेरी भक्तिमें कभी प्रमाद नहीं करता, गम्भीर-हृदय है; बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी जिसका धैर्य नहीं छूटता, जिसने (भूख-प्यास, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु इन प्राण, बुद्धि और देहके) छः गुणोंको जीत लिया है, जो स्वयं सर्वथा मानरहित है, दूसरोंको मान देता है, चतुर है, सबका मित्र है, दीनोंपर दया करनेवाला है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता कवि है।'

ऐसे संतोंके संगसे अवश्य ही लाभ होता है परंतु

शीघ्र सच्चा लाभ उन्हींको होता है, जो निष्कपट हृदयसे लाभकी इच्छासे सत्संग करते और तदनुकूल आचरण करते हैं और जैसे वर्षाका जल यथास्थान ग्रहण करनेके लिये किसान खेतको भलीभाँति तैयार रखता है, वैसे ही हृदयरूपी खेतको संतवचनरूपी अमृतधाराके ग्रहण करनेके लिये शुद्ध करके तैयार रखते हैं। ग्राहक भाव-शून्य विकारी और पूर्ण विश्वासरहित हृदयमें शक्तिका संचार सहजमें नहीं होता। गुरु चाहता भी है और शक्तिका प्रयोग भी करता है, परंतु यदि शिष्यका हृदय उसे ग्रहण नहीं करता तो वह शक्ति बार-बार वहाँसे प्रतिहत होकर लौट आती है। आधारकी योग्यतासे ही शक्तिका ग्रहण हो सकता है। इसीलिये गुरुमें श्रद्धा करके उसकी सेवामें लगे रहनेकी विधि है। परीक्षाके लिये, कौतूहल निवृत्तिके लिये या मनोरंजनके लिये जो लोग सत्संग करते हैं, उन्हें बहुत ही कम लाभ होता है। सद्‌गुरुकी परीक्षा साधारण मनुष्य अपनी विद्या-बुद्धि या योग्यतासे कदापि नहीं कर सकता; क्योंकि उसकी विद्या-बुद्धि और योग्यता गुरुके गुणों तथा शक्तियोंकी छायाको भी छूनेकी योग्यता नहीं रखती। ऐसी हालतमें श्रद्धायुक्त सच्ची जिज्ञासा ही लाभदायक होती है। जो पुरुष गुरुमें दोष देखा करते हैं या उनके कार्योंको अपनी कसौटीपर कसकर उनके अच्छे-बुरे होनेकी मीमांसा किया करते हैं, वे प्रायः कोरे ही रह जाते हैं। यद्यपि आजकल ऐसे महात्मा पुरुषोंका मिलना बहुत ही कठिन है—परंतु असम्भव नहीं है। भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर भगवान् स्वयं सच्चे जिज्ञासुके लिये ऐसे सद्‌गुरुकी व्यवस्था कर देते हैं जो शिष्यके समस्त अज्ञानको हरनेमें समर्थ होता है।

१३-जो मनुष्य अपनेको प्रभुका दास मानता है अर्थात् जो दास्यरतिसे प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पणकर प्रभुका बन जाता है, प्रभु उसपर बड़ी भारी कृपा करते हैं। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी प्रभृति महान् भक्त इस दास्यरतिके ही परम उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इस साधनमें साधकको भ्रमवश गिरनेका भय नहीं है। वह स्वामीके असीम बलसे सदा सुरक्षित और बलवान् रहता है। स्वामीके भयसे पाप-ताप उसके समीप नहीं आ सकते। काम-क्रोधादि चोर-डाकू उसका पीछा नहीं कर सकते। सरकारका छोटा-सा नौकर भी जैसे सरकार समझा जाता है, उसके अपमानसे सरकारका अपमान, उसके तिरस्कारसे सरकारका तिरस्कार, उसके कार्यमें हस्तक्षेप करनेसे सरकारी कार्यमें हस्तक्षेप करना माना जाता है तथा उसके कार्योंकी जिम्मेवारी सरकारपर रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के सेवक भक्तका अपमान या तिरस्कार भगवान्‌का अपमान या तिरस्कार माना जाता है। अतएव कोई भी पाप-ताप आदि भगवान्‌के भयसे उसको नहीं सता सकते। उसके कार्यकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर रहती है; क्योंकि वह बिना किसी वेतन या पुरस्कारके, संकल्पके दिन-रात तन-मनसे प्रभुकी सेवामें लगा रहनेके कारण उन्हींका स्वरूप या खास प्रतिनिधि-सा बन जाता है। *'मालिकको गोत गोत होत है गुलामको।'* गुसाईंजी महाराजका यह कथन देवर्षि नारदजीके इस सूत्रसे भी समर्थित होता है—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'

अर्थात् भगवान्‌में और उनके सेवकमें भेदका अभाव होता है। दोनों एक रूप ही हो जाते हैं। यह स्थिति उसी सेवककी हो सकती है, जो सेवाके लिये ही सेवा करता है, सेवाके बदलेमें देनेपर भी कुछ नहीं लेता, सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। सेवामें ही उसे परम आनन्द मिलता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं अपने ऐसे सेवककी स्थिति बतलाते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३। २९। १३)

वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई सालोक्य (भगवान्‌के लोकमें वास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति), सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्‌के समान स्वरूप प्राप्त होना) और सायुज्य (ब्रह्ममें आत्माका मिल जाना)—इन पाँचों प्रकारकी मुक्तिको भी ग्रहण नहीं करते।

भगवान्‌ने जब प्रह्लादजीसे वर माँगनेको कहा तब उन्होंने उत्तर दिया—'स्वामिन्! मालूम होता है आप सेवककी परीक्षाके लिये ही इन कामनाओंकी ओर मुझे प्रेरणा कर रहे हैं, जो कामनाएँ संसारकी बीज और

हृदयकी ग्रन्थिरूप हैं। नहीं तो जगद्गुरो! आप करुणामय, अपने भक्तोंको अनर्थरूप विषयोंकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकते। प्रभो! जो मनुष्य आपके दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख चाहता है, वह तो सेवक नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है। स्वामीसे जो पुरुष सेवाके बदलेमें लाभकी आशा करता है वह सेवक नहीं है। और जो अपने प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकका भला करता है वह प्रभु नहीं है। मैं आपका बिना मोलका चाकर हूँ और आप मेरे अभिसन्धिशून्य दयालु स्वामी हैं। अतएव दूसरे साधारण मालिक और नौकरोंकी तरह मुझको और आपको किसी भी अभिसन्धिका प्रयोजन नहीं है।' उन निष्काम सेवकोंकी यह स्थिति होती है। वे लेनेकी तो बात भी नहीं सुनना चाहते, परंतु सेवा करनेमें एक क्षणके लिये भी विराम नहीं लेते। आलस्य और प्रमाद छोड़कर सदा स्वामीकी सच्ची और अनुकूल सेवामें लगे रहना ही उनका सहज स्वभाव होता है। भगवान् कहते हैं, मैं ऐसे सेवकका ऋणी बन जाता हूँ। बदलेमें मोक्ष ले ले तब भी किसी तरह ऋण उतर जाता है, पर जो कुछ लेता ही नहीं और सेवा भी छोड़ता नहीं, उसका ऋण कैसे उतरे? भगवान् श्रीरामने हनुमान्‌जीसे कहा है—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

भगवान्‌के सच्चे दासकी क्या चाह रहती है, इस विषयपर, मरते हुए भक्तराज दैत्यपति वृत्रासुरके उद्गार पढ़िये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २४—२६)

'हरे! मैं मरकर भी फिर आपके दोनों चरण ही जिनके आश्रय हैं उनके दासोंका दास ही होऊँ। प्राणनाथ! मेरा मन आपके गुणोंके स्मरणमें, वाणी गुण-कीर्तनमें और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपके दासत्वको छोड़कर स्वर्गका राज्य, ब्रह्माका पद, सार्वभौम राज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि, यहाँतक कि अपुनर्भव—मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे बिना पाँखके पक्षियोंके बच्चे भूखसे व्याकुल हो माताके आनेकी बाट देखा करते हैं, जैसे रस्सीमें बँधे छोटे भूखे बछड़े गौका दूध पीनेके लिये छटपटाया करते हैं और जैसे विरहपीड़िता स्त्री परदेश गये हुए पतिको पानेके लिये व्याकुल होती है। कमलनयन! वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनकी अभिलाषा करता है।'

सेव्य-सेवक-भावके आचार्य गोसाईं तुलसीदासजी महाराज अपनी मनःकामना प्रकट करते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि, सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लैं जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥

भक्तकवि कुलशेखर कहते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

१४-मनुष्यके द्वारा जितने पाप होते हैं, उनमें विषयासक्ति ही प्रधान कारण है। यद्यपि संचित और प्रारब्धके कारण पापकी स्फुरणाएँ मनमें हो सकती हैं, परंतु विषयासक्ति न होनेसे अथवा महान् सत्संगके प्रभावसे वे स्फुरणाएँ क्रियारूपमें परिणत नहीं हो

सकतीं। भगवान्‌से अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'भगवन्! पाप करनेकी इच्छा न रहनेपर भी यह मनुष्य, मानो कोई बलात् उसे पाप करनेके लिये बाध्य करता है, ऐसे बाध्य होकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है?'

भगवान्‌ने उसी क्षण स्पष्ट कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'(आसक्तिरूप) रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है; यही महा-अशन (अग्निकी भाँति भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) पापी शत्रु है, (जिसकी प्रेरणासे मनुष्य पाप करता है।) अर्जुन! तुम इसीको वैरी समझो।'

''जैसे धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका जाता है, वैसे ही यह काम ज्ञानको ढक लेता है। यह ज्ञानका नित्य-वैरी काम इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें रहता है और उन्हींके द्वारा ज्ञानको ढककर जीवको मोहमें डालकर पाप करवाता है; इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाशक पापी कामका वध करो। यह न समझो कि इन्द्रियाँ तुमसे बलवान् हैं। इन्द्रियाँ बलवान् हैं; परंतु इनसे बलवान् मन है और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है एवं तुम आत्मा तो बुद्धिसे भी अति श्रेष्ठ हो। तुम्हारा बल अप्रतिम है। इस प्रकार अपनेको बुद्धिकी अपेक्षा श्रेष्ठ और बलवान् जानकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वशमें करके महाबाहो! इस दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो।''

दयामय भगवान्‌के इस उपदेशसे यह सिद्ध हो गया कि पाप होनेमें आसक्तिसे उत्पन्न काम ही प्रधान कारण है और इसका नाश मनुष्य चाहे तो कर सकता है। नहीं करता तो, वह आसक्तिके वश होकर अपने कर्तव्यको भूल रहा है। इसीसे पापका कर्ता और उसके फलका भोक्ता मनुष्य माना जाता है। जो मनुष्य इस सिद्धान्तको न समझकर पापमें प्रभुको प्रेरक मानकर पापकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर मँढ़ना चाहते हैं, वे अभक्त और मूढ़-धी हैं। भक्तको तो ऐसा ही मानना चाहिये कि मुझसे जो कुछ भी पाप-कर्म बनते हैं, उनका कर्ता मैं हूँ और भगवान्‌से बलकी प्रार्थना करके भगवत्कृपा प्राप्त करके पापोंसे छूटना चाहिये।

१५-भगवान्‌की सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल है। प्रार्थना दो तरहकी होती है। एक भगवान्‌के गुणोंका निष्काम गान और दूसरी कष्ट-निवारणार्थ या शक्ति प्राप्त करनेके लिये आर्त-करुणक्रन्दन। इनमें पहलीको स्तुति कहते हैं और दूसरीको प्रार्थना। दोनों भावोंका मिश्रण भी कहीं-कहीं हो जाता है। प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, फिर उसका फल तत्काल होता है। भगवान् सबकी सच्ची पुकार सुनते हैं। अपनी साधारण भाषामें सच्ची आर्तिके साथ भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे जैसे माता बच्चेका करुणक्रन्दन सुनकर सारे काम छोड़ उसके हितार्थ दौड़ी आती है, इसी प्रकार भगवान् भी दौड़े आते हैं। प्रार्थनामें प्रधान बातें दो होनी चाहिये—भगवान्‌पर पूरा भरोसा और अपनेमें यथार्थ आर्तता। जहाँ ये दोनों बातें होती हैं, वहाँ प्रार्थनामें हाथोंहाथ सफलता मिलती है। यह अनुभूत सत्य है। पापसे बचनेके लिये, पाप-नाशके लिये, किसी कामनाके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, शरणके साधन बननेके लिये, शरण-प्राप्तिके लिये, आत्म-शक्तिकी प्राप्ति और विकासके लिये या अन्य किसी भी सत् हेतुसे प्रार्थना की जा सकती है। दूसरेके अनिष्ट या पाप-कर्ममें सफलता पानेके लिये कभी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। सकामभावसे भी बचता रहे तो अति उत्तम है। परंतु यदि नहीं रहा जाय तो सकाम प्रार्थना भी करे। भगवान्‌में प्रयुक्त होनेवाला सकामभाव भी भगवत्कृपासे अन्तमें प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है और भगवत्प्राप्तिका कारण बनता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—मुझको कोई कैसे भी भजे अन्तमें मुझको ही पाता है। **'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** यही भगवद्भजनकी विशेषता है।

श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकी जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥

गति देखु बिचारि बिभीषनकी,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट-कोटि-कृपानहि रे॥
(कवितावली)

अतएव प्रभु-प्रार्थनामें विश्वास रखकर प्रार्थना करनी चाहिये।

इस प्रकार शरणागतिके पंद्रह साधनोंका यह संक्षिप्त वर्णन है। विशेष बातें सुयोग्य और विज्ञ गुरुसे जानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये। ज्यों-ज्यों आधार शुद्ध होकर समर्पणके योग्य होगा, त्यों-ही-त्यों अशान्ति, विषाद, शोक, अहंता और ममता आदि नाश होते दिखायी देंगे। प्रत्येक स्थितिमें प्रभुके मंगलमय विधानका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे चित्त सदा प्रफुल्लित रहने लगेगा। धीरे-धीरे प्रत्येक कार्यमें भी प्रभुकी प्रेरणा भासने लगेगी, तदनन्तर संचालनमें भी प्रभुका हाथ दिखलायी देगा। इसके बाद प्रत्यक्ष यह प्रतीत होगा कि मानो भागवती शक्ति स्वयं इस आधारमें अवतीर्ण होकर अपना काम करने लगी है। बस, इस स्थितिके अनन्तर ही प्रभु इस आधारपर पूर्ण अधिकार जमा लेंगे। सब कुछ स्वयमेव समर्पण हो जायगा। यही दिव्य जीवन है। ऐसे भगवान्के क्रीड़ाकेन्द्र पुरुषके कर्म ही दिव्य कर्म हैं। उसीकी वाणी शास्त्र है। वह तो तर ही गया, पर वह उन सबको भी तार सकता है जो किसी प्रकारसे भी उसके सम्बन्धमें आकर उसके हृदयका स्पर्श पा जाते हैं। उसका जन्म, जीवन, कर्म, आचार सर्वथा धन्य है! उसके निवाससे भूमि पवित्र और धन्य होती है। उसके स्नानसे तीर्थ तीर्थ बन जाते हैं। उसके गुण-गानसे वाणी पवित्र होती है। उसके जन्मसे कुल और देश कृतार्थ हो जाते हैं। उसके आदर्श जीवनकी लीलाओंसे पीढ़ियोंको प्रकाश मिलता है और उस प्रकाशके सहारे शताब्दियों और युगोंतक लोग जगत्के अन्धकारमय गहन वनमें निकलकर नित्यनिकेतन प्रभुके प्रकाशमय दिव्य धाममें पहुँचकर सुखी हो सकते हैं।

मातर्गीते!

माता श्रीभगवद्गीते! अनन्त असीम गुणातीत विश्वातीत विशुद्ध स्वतन्त्र सत्-चित्-आनन्दरूप परब्रह्मकी अभिन्न ज्योति! विश्वलीलामें प्रवृत्त सृजन-संहार-मूर्ति, नियन्त्रणकलानिपुण, सर्वशक्तिमान्, सर्वसंचालकगुणविशिष्ट भगवान्की चिरसंगिनी! अपनी विश्वातीत सत्तामें नित्य अनन्त रूपसे स्थित रहते हुए भी विश्वलीलामें अपनी लीलासे ही नयनाभिराम त्रिभुवनकमनीय पूर्णसत्त्व दिव्य नरदेहधारी भगवान्की दैवी वाणी! विश्वलीलामें असंख्य प्राणियोंके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न भावोंसे अंशरूपमें प्रतिभासित, अपनी ही मायासे लीलाहेतु-स्वरूपविस्मृत निद्रित-से प्रतीत होनेवाले सनातन चेतन आत्माको लीलाके लिये ही प्रबुद्ध करनेवाली दिव्य-दुन्दुभि! सम्पूर्ण विश्वके समस्त चेतनाचेतन पदार्थोंमें—ग्रीष्म-वर्षा, शरत्-वसन्त, शीत-उष्ण, पर्वत-सागर, स्वर्ण-लोष्ट, शिशु-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, देव-दानव, सुन्दर-भयानक, करुण-रौद्र, हास्य-क्रन्दन, जन्म-मृत्यु और सृष्टि-प्रलय आदि समस्त भावोंमें, सभीके अंदरसे अपने नित्य सत्य केन्द्रीभूत सौन्दर्य और अखण्ड पूर्ण अस्तित्वको अभिव्यक्त करनेवाले विश्वव्यापी भगवान्की प्रकृत मूर्तिका उद्घाटन करनेवाली माँ! तुझे बार-बार नमस्कार है।

माता! तुझ दयामयीके विश्वमें विद्यमान रहते हम विश्ववासियोंकी यह दुर्दशा क्यों हो रही है? स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्ति! तू भगवान्का हृदय है, तू मार्गभ्रष्टोंकी पथ-प्रदर्शिका है, तू घन अन्धकारमें दिव्य प्रखर प्रकाश है, तू गिरे हुएको उठाती है, चलनेवालेको विशेष गतिशील बनाती है, शरणागतका हाथ पकड़कर उसे परमात्माके अभय चरणकमलोंमें पहुँचा देती है। ऐसी अद्भुत लीलामयी शान्तिदायिनी माताके रहते हम असहाय और अनाथकी भाँति क्यों दुःखी हो रहे हैं? अमृतसमुद्रके शीतल सुखद तटपर निवास करके भी त्रितापसे संतप्त क्यों हो रहे हैं?

देवि! हमारा ही अपराध है। हमने तेरे स्वरूपको यथार्थ नहीं पहचाना। तेरी स्नेहपूरित मुखच्छविको श्रद्धासमन्वित तर्कशून्य सरल दृष्टिसे नहीं देखा। इसीसे भूलभुलैयामें पड़े हैं, इसीसे तेरे अगाध आनन्दाम्बुधिमें मतवालेकी तरह कूदकर जोरसे डुबकी लगानेमें प्राण हिचकिचाते हैं; इसीसे तेरे नित्य प्रज्वलित प्रचण्ड

ज्ञानानलमें अविद्या-राशिको फेंककर फूँक डालनेमें संकोच होता है। इसीसे घर-घरमें तेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा होनेपर भी विधिसंगत पूजा नहीं की जाती, इसीसे निराधार अबोध मातृपरायण शिशुकी भाँति तेरे चरण-प्रान्तमें हम अपनेको लुटा नहीं देते, इसीसे तेरी प्रमत्तकारी प्रेममदिराका पान कर तेरे मोहन-मन्त्रसे मुग्ध होकर दिव्यानन्दके दीवाने नहीं बन रहे हैं। अरे! इसीसे आज अमूल्य रत्न-राशिके हाथमें रहते भी हम शान्तिधनसे शून्य दीन-हीन राहके भिखारी बने दारुण दाहसे दग्ध हो रहे हैं।

विश्व-ज्ञान-प्रदायिनि अनन्तशक्ति माँ! आज हम सूर्यको दीपककी क्षुद्र ज्योतिसे प्रकाशित करनेकी बालकोचित हास्यास्पद चेष्टाके सदृश तेरे विश्वव्यापी प्रकाशके किसी क्षुद्रातिक्षुद्र ज्योति:कणसे प्रकाशित मनुष्य-विशेषोंके विनाशी उद्‌गारोंद्वारा तेरी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। तेरे अनन्त ज्ञानको अपने सीमाबद्ध स्वल्प ज्ञान और मन:प्रसूत अनित्य मतके रूपमें परिणत कर प्रसिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। तेरी विश्वातीत और विश्वव्याप्त अद्‌भुत अनन्त राशिको संकुचितकर पर-मत-असहिष्णुताके कारण हम अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें ही उसका प्रयोग करना चाहते हैं। तुझे सर्वशास्त्रमयी कहकर ही तेरा गौरव बढ़ाना चाहते हैं। कुछ दिनोंके लिये प्राप्त कल्पित देश-जाति-नामरूपके अभिमानमें मत्त होकर सारे विश्वसे इसीलिये अपनेको भिन्न और श्रेष्ठ समझकर लोक-समुदायमें और भी मानास्पद बननेके निमित्त तुझे केवल अपने ही घरकी वस्तु बतलाकर, तुझ असीमको ससीम बनाकर अपने गौरवकी वृद्धिके लिये किसी भी तरह श्रद्धा-अश्रद्धासे तेरी प्रतिमा घर-घर पहुँचाना चाहते हैं। माता! यह हमारे बालोचित कार्य हैं। हम बालक हैं, इसीसे ऐसा करते हैं एवं दयामयी! इसीसे हमारी इन चेष्टाओंको देख-सुनकर भी तू नाराज नहीं होती। तू समझती है कि ये अबोध हैं, इसीलिये मेरे वास्तविक स्वरूपको न पहचानकर—मुझ नित्यानन्दमयी स्नेहार्द्रहृदया जननीकी शरण न लेकर मुझ मधुरातिमधुर शान्ति सुधा-सागरके अगाध अन्तस्तलमें निमग्न न होकर केवल बाह्य लहरियोंकी ओर निहार रहे हैं। इसीसे तू अपनी इन लहरियोंकी मधुर तान सुना-सुनाकर हमारे मनको मोहती और अपनी सुखमयी गोदमें बैठाकर अमृत स्तन्यपानके लिये आवाहन करती है।

माता! वास्तवमें तेरी इन लहरियोंका दृश्य बड़ा मनोहर है, तेरी यह तान बड़ी श्रुति-मधुर है, इसीसे आज तेरे तटपर विश्वके सभी प्राणी दौड़-दौड़कर आ रहे हैं। यद्यपि अभी सबमें कूद पड़नेकी श्रद्धा और साहस नहीं है, पर तेरी मधुर लहरी-ध्वनि हृदयोंमें एक अद्‌भुत मतवालापन पैदा कर रही है, इसीलिये कुछ लोगोंमें तेरे प्रति पवित्र आकर्षण देखनेमें आ रहा है। वह देखो, कुछ तो कूद ही गये, गहरे जलमें निमग्न हो गये और भी कूद रहे हैं, कूदेंगे।

भाई विश्वनिवासियो! दयामयी ज्ञानदायिनी जननीका मधुर आवाहन सुनो और तुरंत आकर सदाके लिये उसकी सुखद क्रोडमें बैठकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ।

गीताके विभिन्न अर्थोंकी सार्थकता

एक बार देवता, मनुष्य और असुर पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्य-भावसे शिक्षा प्राप्त करनेको गये और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। ब्रह्मचर्यव्रत पूरा होनेपर सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तर एक ही अक्षर कह दिया 'द'। फिर उनसे पूछा कि 'क्यों, तुमने मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ समझा कि नहीं?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हम देवताओंके लोकोंमें भोगोंकी भरमार है। भोग ही देवलोकका प्रधान सुख माना गया है। कभी वृद्ध न होकर हम देवगण सदा इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। हमारे विलासमय जीवनपर ध्यान देकर हमें सन्मार्ग-प्रवृत्त करनेके लिये) आपने कहा है—तुमलोग इन्द्रियोंका दमन करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। तुमसे मैंने यही कहा था।'

फिर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनको भी

वही 'द' अक्षर सुना दिया। तदनन्तर पूछा कि 'तुमलोग मेरे उपदेशको समझ गये न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग कर्मयोनि होनेके कारण लोभवश नित्य-निरन्तर कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। हमारी स्थितिपर सम्यक् विचार करके हमलोगोंके कल्याणके लिये) आपने हम लोभियोंको यही उपदेश दिया है कि तुम दान करो।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही भाव था, तुमलोग ठीक समझे।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनसे भी कह दिया 'द'। फिर पूछा कि 'मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं?' असुरोंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग स्वभावसे ही अत्यन्त क्रूर और हिंसापरायण हैं। क्रोध और मार-काट हमारा नित्यका काम है। हमें इस पापसे छुड़ाकर सन्मार्गपर लानेके लिये) आपने कहा है—'तुम प्राणिमात्रपर दया करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। मैंने तुमलोगोंको यही उपदेश दिया है।'

'द' अक्षर एक ही है, परंतु अधिकारिभेदसे ब्रह्माजीने इसका उपदेश विभिन्न तीन अर्थोंको मनमें रखकर किया और ऐसा करना ही सर्वथा उपयुक्त था। यही तो भगवद्वाणीकी महिमा है। वह एक ही प्रकारकी होनेपर भी सर्वतोमुखी और विश्वके समस्त विभिन्न अधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार विभिन्न मार्ग दिखलाती है। सबका लक्ष्य एक ही है—परमधाममें पहुँचा देना अथवा भगवत्-प्राप्ति करवा देना।

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्के श्रीमुखकी वाणी है। इसीलिये वह सर्वशास्त्रमयी है और किसी भी दिशा और दशामें पड़े हुए प्राणीको ठीक उपयुक्त मार्गपर लाकर अच्छी स्थितिमें परिवर्तितकर कल्याणकी ओर लगा देती है। भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकार रखनेवाले मनुष्योंको उनकी रुचि और अधिकारके अनुसार ही कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कर भगवान्की ओर गति करा देती है। यही कारण है कि शुद्ध अन्तःकरणवाले महापुरुषोंने भी गीताको भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा है और उसके अर्थको भी विभिन्न रूपोंमें समझा है। यह भगवान्की वाणीका महत्त्व और विशेषत्व है कि वह *'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* के अनुसार विभिन्न अर्थोंमें आत्मप्रकाश कर सबको कल्याणके दर्शन करा देती है। अतएव गीताके अर्थोंमें विभिन्नता देखकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

गीताके अनुभवी प्रातःस्मरणीय आचार्यों और महात्माओंने भी इसी दृष्टिसे लोकोपकारार्थ गीतापर भाष्य और टीकाओंकी रचना की है। उनमें परस्पर विरोध देखकर एक-दूसरेको नीचा समझनेकी या किसीकी निन्दा करनेकी जरा भी रुचि और प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उन महापुरुषोंने जो कुछ भी कहा है, अपने-अपने अनुभवके अनुसार हमलोगोंके कल्याणार्थ सर्वथा सत्य और समीचीन ही कहा है। जिसकी जिसमें रुचि और श्रद्धा हो, उसको आदर और विश्वासके साथ उसीका अनुसरण करना चाहिये। प्राप्तव्य सत्य वस्तु या भगवान् एक ही हैं, मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और उनका भिन्न-भिन्न होना सर्वथा सार्थक और आवश्यक है। पुष्पदन्ताचार्यने ठीक ही कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'जिस प्रकार सभी नदियोंका जल अन्ततः समुद्रमें ही जाता है; उसी प्रकार रुचिकी विभिन्नताके कारण सीधे और टेढ़े—नाना मार्गोंपर चलनेवाले सभी मनुष्योंके ध्येय गन्तव्य-स्थान आप ही हैं।'

गीतापर विभिन्न भाषाओंमें सैकड़ों भाष्य, टीका, अनुवाद, निबन्ध और प्रवचन लिखे जा चुके और लिखे जा रहे हैं। इनमें जो दैवी सम्पत्तियुक्त भगवत्परायण शुद्धान्तःकरण तथा विवेक-वैराग्य-सम्पन्न साधकों और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा लिखे गये हैं, वे चाहे किसी भी भाषामें हों, सभी परस्पर मतभेद रखते हुए भी भगवद्वाणीकी दृष्टिसे सर्वथा यथार्थ और सम्मान्य तथा मनन करनेयोग्य हैं। इन महानुभाव भाष्य और टीका लेखकोंका ही अनुग्रह है, जिससे आज लोग गीताको किसी-न-किसी अंशमें समझनेमें समर्थ हो रहे हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकाएँ संस्कृत भाषामें हैं। भगवान् शंकराचार्यसे पूर्ववर्ती आचार्यों और विद्वानोंके भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं, परंतु मालूम होता है कि गीतापर आचार्य शंकरसे

पूर्व भी बहुत कुछ लिखा गया था। इस समय प्राप्त भाष्यों और टीकाओंमें कुछ तो खास आचार्योंके स्वयं लिखे हुए हैं और कुछ उनके अनुयायी विद्वानोंके। यों तो अनेकों सम्मान्य मतवाद हैं, परंतु उनमें जिनके अनुसार गीतापर भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं, वे प्रधानतया निम्नलिखित छः ही हैं।

१-श्रीशंकराचार्यका अद्वैतवाद। २-श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद। ३-श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद। ४-श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद। ५-श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद और ६-श्रीचैतन्य-महाप्रभुका अचिन्त्य भेदाभेदवाद।

उपर्युक्त वादोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—अद्वैतवाद

सिद्धान्त—इसमें सम्पूर्ण प्रपंचको दो प्रधान भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह नित्य और चेतन तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करता है और दूसरा वह जो अनुभवका विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियोंके द्रष्टाका नाम 'आत्मा' है और उसका जो कुछ विषय है वह सब 'अनात्मा' है। यह आत्म-तत्त्व सत्, नित्य, निरंजन, निश्चल, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, असंग, कूटस्थ, एक और सनातन है। बुद्धिसे लेकर स्थूल भूतपर्यन्त जितना भी प्रपंच है उसका वस्तुतः आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें वह असत् है, अविद्याके कारण ही जीव असत् देह और इन्द्रियादिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करके अपनेको देव-मनुष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मूर्ख-विद्वान्, सुखी-दुःखी और कर्ता-भोक्ता आदि मानता है। बुद्धिके साथ जो आत्माका यह तादात्म्य है, इसीका नाम अध्यास है। अविद्याजनित इस अध्यासके कारण ही सम्पूर्ण प्रपंचमें सत्यत्वकी प्रतीति हो रही है। मायाके कारण ही इस दृश्यवर्गकी सत्ता और विभिन्नता है, वस्तुतः तो एक, अखण्ड, शुद्ध-बुद्ध, नित्यनिरंजन, विज्ञानानन्दघन, चिन्मात्र आत्मतत्त्व ही है। इसीको 'अध्यासवाद,' 'विवर्तवाद' या 'मायावाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—सम्पूर्ण पृथक्-पृथक् प्रतीतियोंमें एक अखण्ड, नित्य शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन आत्मतत्त्वका अनुभव करना ही ज्ञान है और सबके अधिष्ठान तथा सबको सत्ता देनेवाले इस एक अखण्ड आत्मतत्त्वपर दृष्टि न रखकर भेदमें सत्यत्व-बुद्धि करना ही अज्ञान है। जैसे भाँति-भाँतिके मिट्टीके बर्तन वस्तुतः केवल मिट्टी ही हैं, सोनेके विविध प्रकारके गहने सब सोना ही हैं, स्वप्नका विचित्र संसार सब स्वप्नद्रष्टा ही है और जलमें दिखायी पड़नेवाले भँवर और तरंगें सब जल ही हैं; वैसे ही विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह जगत् केवल शुद्ध, बुद्ध एकमात्र ब्रह्म ही है और वही अपना आत्मा है। इस प्रकारका यथार्थ बोध ही ज्ञान है। इस बोधके होते ही जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता है और सम्यक् बोधके कारण अविद्याके अध्यासका सर्वथा अभाव होनेसे जीव जीव-भावसे मुक्त होकर दूसरोंकी दृष्टिमें शरीरके बने रहनेपर भी जीवन्मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान है। जबतक जीव इस ज्ञानको प्राप्त नहीं होता तबतक उसकी अविद्याकी गाँठें नहीं खुलतीं और वह आवागमनमय मिथ्या प्रपंचजालसे मुक्त नहीं होता।

साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—इस ज्ञानके साक्षात् साधन हैं। आत्मतत्त्वको जाननेकी दृढ़ जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही ये साधन किये जा सकते हैं और ऐसी जिज्ञासा अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि हुए बिना उदय नहीं होती। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमानुकूल कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करना और भगवान्की भक्ति करना आवश्यक है। ऐसा करनेपर मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व प्राप्त करता है। तब उसमें जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है। सच्चे जिज्ञासु और बोधसम्पन्न ज्ञानी दोनोंके लिये ही स्वरूपतः '**सर्वकर्मसंन्यास**' की आवश्यकता है। चित्तशुद्धिके अनन्तर कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ही आत्मतत्त्वका सम्यक् बोध और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

२—विशिष्टाद्वैत

सिद्धान्त—ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। अचित् अर्थात् जड प्रकृति, चित् अर्थात् चेतन आत्मा और ईश्वर। स्थूल, सूक्ष्म, चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर हैं। ये सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, चिदचिच्छरीरत्व और समस्त द्रव्यशरीरत्व आदि इनके लक्षण हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी

हैं और अशेष कल्याणमय गुणोंके धाम हैं। अपार कारुण्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य और ऐश्वर्यके महान् समुद्र हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारके भेदसे वे पाँच प्रकारके हैं। शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री, भू और लीलासमन्वित हैं।

जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर हैं। जगत् जड है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं और वे ही जगद्रूपमें परिणत हुए हैं। फिर भी वे विकाररहित हैं। जीव चेतन और अणु है। ब्रह्म और जीवमें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है। ईश्वर कारण हैं, जीव कार्य है। ईश्वर और जीव दोनों स्वयंप्रकाश हैं, ज्ञानाश्रय और आत्मस्वरूप हैं। जीव नित्य है और उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव है। जीव स्वभावत: दु:खरहित है। उपाधिवश संसारके भोगोंको प्राप्त होता है। जीवके कई भेद हैं। इसीको 'परिणामवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—भगवान्के दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। परम धाम वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला महादेवियोंके साथ नारायणकी सेवाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। पांचभौतिक देहसे छूटकर अप्राकृत शरीरसे नारायणका सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवान्के साथ जीवका अभिन्नत्व कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव स्वरूपत: नित्य है; और नित्य दास तथा नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। मुक्तजीव वैकुण्ठ-धाममें अशेष-कल्याण-गुणनिधि भगवान्के नित्य दासत्वको प्राप्त होकर दिव्य आनन्दका अनुभव करते हैं।

साधन—मुक्तिका साधन ज्ञान नहीं, किंतु भक्ति है। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा प्रसन्न होकर जब भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं तभी मुक्ति होती है। भक्तिका सर्वोत्तम स्वरूप प्रपत्ति या आत्मसमर्पण है। वैकुण्ठनाथ, विभु, श्रीमन्नारायणके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर देनेपर ही जीवको परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।

३—द्वैतवाद

सिद्धान्त—भगवान् श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। वे सगुण और सविशेष हैं। वे ही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही सच्चिदानन्दात्मक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं और अनन्त दिव्य कल्याणगुणोंके आश्रय हैं। वे देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं हैं; असीम अनन्त हैं और स्वतन्त्र हैं। जीव अणु है, भगवान्का दास है और अनादिकालसे मायामोहित, बद्ध तथा सर्वथा अस्वतन्त्र है। वह अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है। जगत् सत्य है और भेद वास्तविक है। इस भेदके भी पाँच अवान्तर भेद हैं। १-जीव-ईश्वरका भेद, २-जीव-जडका भेद, ३-ईश्वर-जडका भेद, ४-जीवोंका परस्पर भेद और ५-जडोंका परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं, इनमें कोई औपचारिक नहीं है। सब जीव ईश्वरके अधीन हैं। जीवोंमें भी तारतम्य है। जगत् सत्, जड और अस्वतन्त्र है, भगवान् जगत्के नियामक हैं। इसको 'स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—जीवनमुक्ति या निर्वाणमुक्ति मुक्ति नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर अर्थात् ईश्वरसे जीव पूर्णरूपसे पृथक् है, इसे यथार्थरूपसे जानकर ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि, उनके अनन्त असीम सामर्थ्य, शक्ति और गुणोंका बोध होनेपर ही भगवान्के दिव्य लोक और स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यही मुक्ति है, मुक्त जीव भी ईश्वरका नित्य सेवक ही रहता है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिका प्रधान साधन है। वेदाध्ययन, इन्द्रियसंयम, विलासिताका त्याग, आशा और भयका अभाव, भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण, सत्य-हित-प्रियवचन बोलना और स्वाध्याय करना, दान देना, विपत्तिमें पड़े हुए जीवकी रक्षा करना, शरणागतको बचाना, दया, भगवान्का दासत्व प्राप्त करनेकी इच्छा और हरि, गुरु तथा शास्त्रमें श्रद्धा, इन सबको भगवान्के समर्पण करके करते रहना ही भक्ति है।

४—द्वैताद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं, निर्विकार और निर्गुण हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार ब्रह्मसे ही होता है। ब्रह्म ही इस ब्रह्माण्डके निमित्त और उपादान कारण हैं। ब्रह्म-सत्ताकी चार अवस्थाएँ हैं—१-मूल अवस्था अव्यक्त, निर्विकार, देश-कालादिसे अनवच्छिन्न और अचिन्त्यानन्त स्वगत-सौख्यसिन्धुमय है। २-दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी है। इसमें ईश्वरत्वके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान है। ३-तीसरी अवस्था रूप,

रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शकी यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूतिकी है। इसीका नाम जीव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—एक जो इन व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् अनुभव करते हैं और जो अविद्यासे मुक्त हैं। दूसरे जो इन व्यष्टिगत रूपादिका अनुभव करते हैं, परंतु इनके आश्रयस्वरूप विभु आत्माको नहीं जानते इस कारण जो बद्ध हैं। ४-चौथी अवस्था वह है जिसमें ब्रह्म विश्वके रूपमें व्यक्त होता है। ब्रह्मको छोड़कर इस विश्वकी कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु-विभु, सगुण, निर्गुण सभी कुछ हैं, परंतु उनकी पूर्ण आनन्दसुधा-सिन्धुमयी, सनातनस्वरूप सत्ता सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकरस है।

जीव ब्रह्मका अंश है, ब्रह्म अंशी है। ब्रह्म ही जगत्-रूपमें परिणत हुए हैं। जगत्-रूपमें परिणत होने तथा जगत्के ब्रह्ममें लीन होनेपर भी उनमें कोई विकार नहीं होता। जीव अणु और अल्पज्ञ है। मुक्त जीव भी अणु ही है। मुक्त और बद्धमें यही भेद है कि मुक्त जीव ब्रह्मके साथ अपने और जगत्के अभिन्नत्वका अनुभव करता है और बद्ध जीव ऐसा नहीं करता।

मुक्ति—भगवान् वासुदेव ही वे ब्रह्म हैं और उनकी प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त करके परमानन्दको प्राप्त हो जाना ही मुक्ति है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। भगवान्के नाम-गुणोंका चिन्तन, उनके स्वरूपका ध्यान और भगवान्की युगलमूर्तिकी उपासना करना भक्ति है।

५—शुद्धाद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। वे परम शुद्ध हैं। उनमें माया आदि नहीं है। वे निर्गुण और प्राकृतिक गुणोंसे अतीत हैं। उनकी शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। वे सब कुछ बन सकते हैं। अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्योंका युगपत् समावेश है और गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वे ब्रह्म हैं। वे ही जीवके सेव्य हैं। जीव ब्रह्मका अंश और अणु है, वह भी शुद्ध है। चैतन्य जीवका गुण है। जगत्का आविर्भाव भगवान्की इच्छासे हुआ है और उनकी इच्छासे इसका तिरोधान होता है। वे लीलासे ही जगत्के रूपमें परिणत हुए हैं। वे ही जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। जगत् मायिक नहीं है, परंतु भगवान्का अविकृत परिणाम है, भगवान्से अभिन्न है। आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर भी जगत् सत्य है। तिरोभावकालमें वह कारणरूपसे और आविर्भावकालमें कार्यरूपसे स्थित रहता है।

मुक्ति—भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्ध जीव समस्त जगत्को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्णके प्रेममें जैसे पत्नी पतिकी सेवा करके आनन्दको प्राप्त होती है, वैसे ही स्वामीरूपमें श्रीकृष्णकी सेवा करके वह परमानन्दरसमें तन्मय रहता है।

साधन—भगवत्कृपासे प्राप्त भक्ति ही मुक्तिका साधन है। भगवान्का अनुग्रह ही पुष्टि है और पुष्टिसे जिस भक्तिका उदय होता है वही पुष्टिभक्ति है। यह पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्तिसे अत्यन्त विलक्षण है। इस भक्तिके साथ भगवान्की सर्वात्मभावसे सेवा करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

६—अचिन्त्यभेदाभेदवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म निर्गुण हैं अर्थात् अप्राकृत गुणसम्पन्न हैं। उनकी शक्ति संवित्, संधिनी और ह्लादिनी हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और विज्ञानस्वरूप हैं। जीव अणु और चेतन है। ईश्वरकी विमुखता ही उसके बन्धनका कारण है। ईश्वरके सम्मुख होनेपर उसके बन्धन कट जाते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल—ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा जीव, प्रकृति और काल ईश्वरके अधीन हैं। जीव ईश्वरकी शक्ति है। जीव और ब्रह्म, गुण तथा गुणीभावसे अभिन्न और भिन्न दोनों ही हैं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है, वे इसके निमित्त और उपादान कारण हैं। वे ही अपनी अचिन्त्य शक्तिसे जगत्के रूपमें परिणत होते हैं। जगत् सत् है, परंतु अनित्य है।

मुक्ति—भगवान्का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है, भगवद्धामको प्राप्त हुए जीवका पुनरागमन नहीं होता। न तो भगवान् ही मुक्त जीवको अपने लोकसे गिराना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही कभी भगवान्को छोड़ना चाहते हैं। वे नित्य उनकी सेवाका परमानन्द प्राप्त करते रहते हैं।

साधन—भक्ति ही प्रधान साधन है। ज्ञान, वैराग्य उसके सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके

बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ह्लादिनी और संवित् शक्तिकी सारभूता है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं— साधन, भाव और प्रेम। सामान्य भक्तिका नाम साधन-भक्ति है, यह जीवके हृदयस्थ प्रेमको उद्बुद्ध करती है, इसीसे उसका नाम साधन-भक्ति है। शुद्ध सत्त्वरूप चित्तमें प्रेम-सूर्यका उदय करानेवाली विशेष भक्तिका नाम 'भाव' है। भाव प्रेमकी प्रथमावस्था है। जब भाव घनीभूत होता है तब उसे प्रेम कहते हैं। मधुर भक्तिकी पराकाष्ठा ही इस प्रेमका सार है। यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।

गीताके संस्कृत भाष्य और टीकाओंमें अधिकांश इन्हीं छः मतोंमेंसे किसी मतका आश्रय लेकर उसीके समर्थनमें रचे गये हैं। ये छहों मत ऐसे महान् पुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित हैं कि उनमेंसे किसीको भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। सभी भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महान् पुरुष माने जाते हैं। अतएव इनमें दीखनेवाले मतभेदको भगवद्वाणीका चमत्कार मानकर सभीको शुद्ध हृदयसे उन्हें नमस्कार करना चाहिये और अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथारुचि अपने लाभकी बात सभीमेंसे ले लेनी चाहिये।

गीता और श्रीभगवन्नाम

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नामस्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ताद् भवे-
दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति॥

श्रीहरिनाम! तुम्हारे दो स्वरूप हैं, एक वाच्य और दूसरा वाचक, तुम वाचक हो और श्रीहरि तुम्हारे वाच्य हैं। श्रीहरि और श्रीहरिनाम दोनों ही अभिन्न चिन्मय वस्तु होनेसे एक तत्त्व हैं, परंतु वाच्य श्रीहरिसे उनका वाचक श्रीहरिनाम अधिक दयालु है। जो जीव भगवान्के अनेक अपराध किये हुए होते हैं, वे भी केवल मुखसे श्रीहरिनामकी उपासना (नाम-कीर्तन) द्वारा निरपराध होकर भगवान्के आनन्दरूपमें निमग्न हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताने भी इस हरिनामकी बड़ी महिमा गायी है। भगवान् कहते हैं कि मूर्ख लोग, जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी* प्रकृतिका आश्रय लिये हुए होते हैं—मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझ महेश्वरको साधारण मनुष्य मान लेते हैं, उन अज्ञानियोंकी सारी आशाएँ, उनके सारे कर्म और उनका सारा ज्ञान व्यर्थ होता है। परंतु दैवी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए महात्मागण तो सर्वभूतोंके सनातन कारण और नाशरहित मुझ भगवान्को अनन्य मनसे निरन्तर भजते हैं। (गीता ९। ११—१३) ऐसे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

इस कीर्तनसे नामगुण-कीर्तनका ही लक्ष्य है। प्रसिद्ध टीकाकार गोस्वामी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी 'सारार्थ-वर्षिणी' टीकामें लिखते हैं—**'सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यपेक्षा कर्तव्येत्यर्थः।'**

भगवान्का नामकीर्तन सदैव ही किया जा सकता है, इसमें कर्मयोगकी भाँति शुद्ध देश-काल-पात्रकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि—

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धके॥

श्रीहरिनाम-प्रेमीके लिये देश, काल या अन्य किसी प्रकारका निषेध नहीं है। भगवन्नाम सभी अवस्थामें लिया जा सकता है। श्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं—**'सर्वदा स्तोत्रमन्त्रादिभिः कीर्तयन्तः'** यहाँ मन्त्रसे श्रीभगवन्नाम ही अभिप्रेत है, क्योंकि यही मन्त्रराज है। श्रीबलदेव विद्याभूषण अपने गीताभाष्यमें लिखते हैं—

'सततं सर्वदा देशकालादिविशुद्धिनैरपेक्ष्येण मां कीर्तयन्तः सुधामधुराणि मम कल्याणगुणकर्मानुबन्धीनि गोविन्दगोवर्द्धनोद्धरणादीनि नामान्युच्चैरुच्चारयन्तो मामुपासते।'

देश-कालादिके शुद्ध होनेकी कोई अपेक्षा न रख करके सदा-सर्वदा भगवान्के गुण-कर्मानुसार गोविन्द-गोवर्धनधारी आदि विविध अमृतमय मधुर कल्याणकारी

* ये तीनों आसुरी सम्पत्तिके भेद हैं। आसुरी सम्पत्तिके प्रधान अवगुण काम, क्रोध, लोभ हैं (१६। २१)। इनमेंसे प्रधानतासे कामपरायण मनुष्य मोहिनीके, क्रोधपरायण राक्षसीके और लोभपरायण आसुरी सम्पत्तिके आश्रित कहे जाते हैं।

नामोंका उच्चस्वरसे उच्चारण करके उनकी उपासना करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त और भी स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्‌ने कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो मनुष्य '**ॐ**' इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ नामीका मनमें चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

'**ॐ**' परमात्माका नाम प्रसिद्ध ही है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॐ इति एतत्॥'

इस श्रुति और '**तस्य वाचकः प्रणवः**' इस योगसूत्रके अनुसार '**ॐ**' परमात्माका नाम है। आगे चलकर भगवान्‌ने जपयज्ञको तो '**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' कहकर अपना स्वरूप ही बतला दिया है। जपसे उसी परमात्माके परम पावन नाममन्त्रका ही जप समझना चाहिये; क्योंकि नाम और नामीमें सदा ही अभेद हुआ करता है। अतएव सबको सभी समय भगवन्नामका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। कलियुगमें तो जीवोंके उद्धारके लिये नामके समान दूसरा कोई साधन ही नहीं है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

'दोषपूर्ण कलियुगमें यह एक महान् गुण है कि केवल श्रीकृष्णनाम-संकीर्तनसे ही जीव आसक्तिसे छूटकर परम पदको प्राप्त कर सकता है।' श्रीचैतन्यमहाप्रभु कहते हैं—

नयने गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

'श्रीकृष्ण! वह सुअवसर कब प्राप्त होगा जब तुम्हारा नाम लेते ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह निकलेगी और वाणी गद्‌गद तथा समस्त शरीर रोमांचित हो जायगा।'

गीता और वैराग्य

सम्प्रति कुछ लोग कहने लगे हैं कि 'श्रीमद्भगवद्‌गीतामें वैराग्यका उपदेश नहीं है। भगवद्‌गीता तो केवल कर्म ही करनेका उपदेश देती है। वैराग्यकी हमें आवश्यकता नहीं। इस वैराग्यके भावने देशकी उन्नतिमें बड़ी बाधा डाल रखी है। संसारसे वैराग्य हो जानेके कारण मनुष्य सांसारिक उन्नति-अवनतिकी कोई परवा नहीं करता। वैराग्य संसारसे उपरत बनाकर मनुष्यको निकम्मा और आलसी बना देता है। हमें तो जीवनभर कर्म करते रहकर ही परमात्माको प्राप्त करना है। यही गीताकी शिक्षा है।' परंतु वास्तवमें न तो गीताकी शिक्षा ही ऐसी है और न यथार्थ वैराग्य मनुष्यको निकम्मा और आलसी बनाता है। अवश्य ही वैराग्यवान् पुरुष संसारके भोगोंमें अनासक्त होनेके कारण सभी कर्तव्यकर्म धीर, गम्भीर और शान्त भावसे करता है, जिससे उसकी स्थितिको न समझनेवाले लोगोंकी दृष्टिमें वह उत्साहशून्य-सा प्रतीत होता है, परंतु सच पूछा जाय तो सत्कर्म करनेका सच्चा उत्साह वैराग्यवान् पुरुषके हृदयमें ही होता है। सांसारिक भोग-सुखोंकी आसक्तिमें नहीं फँसे हुए पुरुष ही देशकी या विश्वकी यथार्थ सेवा कर सकते हैं। जिनका मन भोगोंकी लालसामें लगा है, जो पद-पदपर भोग-सुखोंका अनुसंधान करते हैं, वे स्वार्थी मनुष्य कभी यथार्थभावसे कर्तव्य-पालन नहीं कर सकते। देशकी उन्नति सच्चे त्यागी व्यक्तिगत स्वार्थशून्य पुरुषोंके द्वारा होती है, ऐसे पुरुष वैराग्यकी भावनाके बिना बन ही नहीं सकते। सच्ची बात तो यह है कि वैराग्यवान् पुरुषोंके अभावसे ही देशकी दुर्दशा हो रही है।

गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें वैराग्यका उपदेश है। गीताके प्रधान साधन तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनोंमें ही वैराग्य पहले आवश्यक है। जबतक मनमें इस लोक या परलोकके भोगोंकी कामना बनी रहती है, तबतक कर्मोंमें निष्कामता नहीं

आ सकती। जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने या न होनेमें अथवा उसके अनुकूल या प्रतिकूल फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है। इस समत्वभावरूप योगमें स्थित होकर कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है; क्योंकि यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है, इस प्रकारकी समत्वबुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवाले पुरुष जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय परम पदको प्राप्त होते हैं। (गीता २। ४८ से ५१) परंतु बुद्धिकी यह समता वैराग्य बिना नहीं होती, अतएव निष्काम कर्मके लिये सबसे पहले वैराग्यकी परम आवश्यकता है। भगवान् (श्रीमद्भगवद्गीता २। ५२-५३ में) कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

'अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से सर्वथा निकल जायगी, तब तुझे सुने हुए और सुननेके विषयोंमें वैराग्य होगा। एवं वैराग्यके द्वारा जब वह अनेक प्रकारकी बातोंके सुननेसे विचलित हुई बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें निश्चल होकर ठहर जायगी, तब तुझे 'समत्वरूप योग' की प्राप्ति होगी।'

धन-कीर्ति, मान-बड़ाई, पद-गौरवकी सैकड़ों प्रकारकी आशा-आकांक्षाकी फाँसियोंमें बँधे हुए विषयासक्त मनुष्य नश्वर जगत्के प्रापंचिक कार्योंमें संलग्न रहकर गीतासे उसका समर्थन करते हुए गीताको वैराग्यकी शिक्षासे शून्य बतलाते हैं, यही आश्चर्य है।

इसी प्रकार ज्ञानके साधनमें भी गीता वैराग्यकी आवश्यकता बतलाती है। '**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**' (१३। ८) और '**वैराग्यं समुपाश्रितः**' (१८। ५२) से यह सिद्ध है। अवश्य ही गीता किसी आश्रम-विशेषपर जोर नहीं देती। सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही वैराग्यकी सिद्धि होती है, गीता ऐसा नहीं कहती। परंतु वैराग्य हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस बातको गीता डंकेकी चोट कहती है। छठे अध्यायमें गीता कहती है कि जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगकी प्राप्ति यानी परमात्माका मिलन अत्यन्त कठिन है और मन वशमें होता है अभ्यास तथा वैराग्यसे। '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**।' इस लोक और परलोकके भोगोंमें वैराग्य हुए बिना उनसे हटकर निश्चलरूपसे मन परमात्मामें नहीं लगेगा और परमात्मामें लगे बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

भक्तिके साधनमें तो भोगोंका त्याग सबसे पहले आवश्यक है, वहाँ तो सब ओरसे मन हटाकर सबकी आशा छोड़कर, '**मामेकं शरणं व्रज**' के लक्ष्यपर चलना है, अपना सारा मन प्रियतमके प्रति अर्पण कर देना है, समूचा हृदय-मन्दिर प्यारेके लिये खाली करके उसमें उसकी प्रतिष्ठा करनी है और वह भी ऐसी कि रोम-रोममें उसे रमा लेना है। गोपियाँ कहती हैं—

नाहिन रह्यो मन महँ ठौर।
नंदनंदन अछत उर बिच आनिये कत और॥

'कहीं जगह नहीं रही, सब ओर मनमोहन समा रहा है।' जब ज्ञान-विज्ञानको ही स्थान नहीं है तब भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है?—प्रेमी भक्त तो प्यारेके लिये सिर हाथमें लिये फिरता है—

'जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजै दौर'।

भोगोंकी तो वहाँ स्मृति ही नहीं है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

इसीसे गीतामें भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(१२। १७)

'जो भोगोंकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, उनके नाशसे द्वेष नहीं करता, नाश हो जानेपर शोक नहीं करता और पुनः प्राप्तिके लिये कामना नहीं करता एवं जो शुभाशुभ किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे बड़ा प्यारा है।' क्यों न हो, यह तो वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप है। '*सब तज हरि भज*' का ज्वलन्त उदाहरण है। अतएव गीता वैराग्यकी शिक्षासे पूर्ण है। जो लोग वैराग्यकी आवश्यकता नहीं समझते, बिना ही वैराग्यके गीताका सार अर्थ समझना चाहते हैं और भोगोंमें पूरी आसक्ति बनाये रखनेकी इच्छा रखते हुए भी भगवान्में प्रेम होना चाहते हैं, वे न तो गीताका अर्थ ही समझ सकते हैं और न उन्हें भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति ही होती है; क्योंकि भोग और भगवान् दोनोंका प्रेम एक साथ नहीं रह सकता। हाँ, भोग

उनकी पूजाकी सामग्रीके रूपमें उन्हें अर्पित होकर रह सकते हैं।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रबि रजनी इक ठाम॥

गीतोक्त समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम

गीताका 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' कौन है, इसका यथार्थ तत्त्व तो गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं तथापि हमारी दृष्टिमें इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण ही वह 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' हैं; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे ही अपनेको 'समग्र' (गीता ७। १)[१] और 'पुरुषोत्तम' (गीता १५। १८)[२] घोषित किया है। परंतु अब प्रश्न यह रह जाता है, उन श्रीकृष्णका स्वरूप क्या है? ब्रह्मवादी महात्मा कहते हैं कि श्रीकृष्णने ब्रह्मको लक्ष्य करके ही अपनेको पुरुषोत्तम बतलाया है। पर द्वैतवादी महापुरुष कहते हैं कि अर्जुनके सामने रथपर विराजित साकारविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण केवल अपने लिये ही ऐसा कहते हैं। अब गीताके द्वारा ही हमें यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप गीतामें क्या है। श्रीकृष्णके स्वरूपका विचार ही 'समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तम' का विचार है और श्रीकृष्णके स्वरूपकी उपलब्धि ही समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तमकी प्राप्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतामें भगवान्ने '**अहम्, मम, माम्, मे, मयि**' आदि पदोंसे सर्वत्र अपनेको ही परमतत्त्व बतलाया है और अन्तमें खुले शब्दोंमें यह आज्ञा दी है कि 'अर्जुन! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर।' (गीता १८। ६६)[३] परंतु विचार यह करना है कि अर्जुनके सामने मनुष्यरूपमें भासनेवाले दिव्यमंगलविग्रह भगवान् उतने ही मानवरूपमें अपनी शरण ग्रहण करनेको कहते हैं या अपनेको कुछ और भी बतलाते हैं। यदि यह मानें कि उतने ही मानवरूपके लिये भगवान्का कथन है तब तो भगवान्के इस कथनका क्या तात्पर्य है कि 'मानुषी तनु' धारण किये हुए मेरे भूत-महेश्वररूपके परम भावको मूढ लोग नहीं जानते। (गीता ९। ११)[४] इससे यह सिद्ध होता है कि उनका भूत-महेश्वररूप परम भाव इस योगमायासमावृत[५] 'मानुषी तनु' से ही प्रकट नहीं है; वह पृथक् है और उसे देखनेके लिये 'मानुषी तनु' से परे दृष्टिको ले जाना पड़ेगा। साथ ही इस मानुषी तनुको तो भगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है—'**वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि**' (१०। ३७) और यदि यह मान लें कि ब्रह्मके लिये ही भगवान्का यह कथन है तो 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' (गीता १४। २७)[६] इस कथनकी व्यर्थता सिद्ध होती है, अतएव यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें क्या हैं? आनन्दकी बात है कि महान् भक्त अर्जुनकी कृपासे हमें भगवान्का वह

१-मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन् मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्य भावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन।

२-यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग—क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

३-सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

४-अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।

५-'योगमाया' भगवान्की स्वरूपाशक्ति है, इसीको गीतामें 'आत्ममाया' भी कहा है।

६-ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।

रहस्य उन्हींके श्रीमुखकी दिव्य वाणीसे उपलब्ध हो जाता है। अर्जुन-सा बछड़ा न होता तो कभी हमें यह भगवत्-रहस्यरूपी गीतामृत न मिलता। भगवान् जहाँ भी कुछ रहस्य बतलाना चाहते हैं, वहीं अर्जुनके प्रेमको कारण बतलाते हैं। अब हमें यह देखना है, वह भगवत्-रहस्य क्या है, जिससे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको जान सकें। इसके लिये सरसरी निगाहसे हमें गीताके प्रारम्भसे ही विचार करना है।

पहले अध्यायमें भगवान् केवल सारथिरूपमें अपना दर्शन देते हैं। अर्जुनके आज्ञानुसार वे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर देते हैं। अर्जुन सेनाको देखकर मोहमें डूब जाते हैं और धनुष-बाण रथके एक किनारे रखकर बैठ जाते हैं। भगवान् कुछ भी नहीं बोलते। दूसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान् अर्जुनको एक बुद्धिमान् प्रतिभाशाली महापुरुषके रूपमें उत्साह दिलाते हैं और समझाते हैं। तदनन्तर अर्जुनके द्वारा यह कहनेपर कि 'मैं आपके शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ, मुझे उपदेश दीजिये (गीता २। ७)।'* भगवान् पहले सांख्ययोग कहते हैं, फिर क्षात्रधर्मका महत्त्व बतलाकर निष्काम कर्मयोगका वर्णन करते हैं और अन्तमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण कहते हैं। इस सारे अध्यायमें एक जगह भगवान् 'मत्पर' शब्दका प्रयोग कर इन्द्रियसंयमपूर्वक युक्तचित्तसे अपने परायण होनेकी आज्ञा देते हैं। यहाँ अपने स्वरूपमहिमाका यह साधारण संकेत है। तीसरे अध्यायमें वे यज्ञ और कर्मकी व्याख्या करते हुए अपनेको लोकसंग्रही आदर्श पुरुष या लोकशिक्षक प्रधान नेताके रूपमें प्रकट करते हैं और अपने लिये कुछ भी प्राप्तव्य या कोई भी कर्तव्य न बतलाकर अपने ज्ञानस्वरूप या नित्य पूर्ण प्रयोजनरहित ईश्वरस्वरूपको व्यक्त करते हैं, परंतु खुलकर कुछ भी नहीं कहते। चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही अविनाशी योगका सर्वप्रथम उपदेशक हूँ, मैंने ही कल्पके आदिमें विवस्वान् या सूर्यको इसका उपदेश किया था। मेरा ही बतलाया हुआ यह सनातन योग परम्पराक्रमसे राजर्षियोंने जाना था, परंतु बहुत कालसे वह योग लुप्तप्राय हो गया था (गीता ४। १-२)।† इससे आपने अपने सनातन जगद्गुरु-पदको व्यक्त किया और अर्जुनको अपना भक्त एवं प्रिय सखा समझकर उस पुरातन योगके व्यक्त करनेकी बात करते हुए अवताररहस्य बतलाया। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कुछ खुले। कुछ रहस्य बतलाया। कहा कि 'मैं अविनाशी, अजन्मा और सबका ईश्वर रहते हुए ही अपनी योगमायाके निमित्तसे अवतार धारण करता हूँ। मेरे जन्म-कर्म दिव्य हैं (गीता ४। ६—९)।'‡ अन्य जीवोंकी भाँति ही मेरे जन्म-कर्मोंको देखनेवाला मुझको नहीं जान सकता। मेरे जन्म-कर्मको तत्त्वतः जानना होगा। फिर कर्म-रहस्य, यज्ञ और ज्ञानकी महिमा आपने बतलायी। पाँचवें अध्यायमें

* कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

† इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था।

‡- अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ अर्थात् साकार-रूपसे प्रकट होता हूँ। साधुपुरुषोंका उद्धार करनेके लिये पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ। अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।

कर्मयोग और संन्यासका निर्णय, सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी मुक्त पुरुषोंके लक्षण आदि बतलाकर अन्तमें अपने रहस्यके पर्देको जरा हटाकर कहा कि 'सारे यज्ञ और तपोंका भोक्ता मैं ही हूँ, कोई किसी देवताके नामसे यज्ञ-तप करे, सब मुझको ही पहुँचता है। मैं समस्त लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और ऐसा होते हुए ही मैं जीवमात्रका सुहृद् हूँ। मेरे इस स्वरूपको जान लेनेसे ही शान्ति प्राप्त हो जाती है।' (गीता ५। २९)* यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने यह दिखलाया कि तुम मुझे अपना सखा समझते हो फिर भी चिन्ता क्यों करते हो? समस्त कर्मोंका नियन्ता, सबका महेश्वर जिसका सुहृद्-सखा हो, यह बात जो जान ले वह दुःख, शोक और संतापको कैसे प्राप्त हो सकता है? वह आसक्ति, अहंकारका शिकार कैसे हो सकता है? फिर छठे अध्यायमें आपने योगके साधन और स्वरूपकी भलीभाँति व्याख्या करके, सिद्ध योगियोंके लक्षण बतलाकर कहा कि 'जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, जो सब भूतोंमें स्थित मुझ एकको भजता है वह सब कुछ करता हुआ मुझमें ही बर्तता है।' (गीता ६। ३०-३१†) यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अपने '**अहम्**' का तात्त्विक स्वरूप दिखलाया और अन्तमें कहा कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी सबकी अपेक्षा इस प्रकार मुझको जाननेवाला योगी श्रेष्ठ है और योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ वह श्रद्धावान् योगी है जो अन्तरात्मासे मुझको ही भजता है (गीता ६। ४६-४७‡) यहाँपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने भजनीय स्वरूपका निर्देश किया। यहाँतक भगवान्ने यह बतलाया कि 'मैं ही लोकशिक्षक आदर्श पुरुष हूँ, मैं ही आदि उपदेष्टा जगद्गुरु हूँ, मैं ही धर्म-संस्थापक, दिव्य अवतारी और दिव्य कर्मी हूँ। मैं ही सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता हूँ, मैं ही सबका परमेश्वर हूँ; जो मुझे अपना सुहृद् समझ लेता है वह उसी क्षण परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। मैं ही सबमें हूँ और सब मेरेमें ही हैं। मैं ही ज्ञानी, तपस्वी, कर्मी सबका आराध्य हूँ।' यद्यपि इस प्रसंगमें संकेतसे कई बार भगवान्ने अपना रहस्य बतलाया, पर इसके आगे अब स्पष्टरूपसे अपना रहस्य खोलकर बतलाने लगे। सातवें अध्यायके आरम्भमें ही आप कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

(गीता ७। १-२)

'अर्जुन! मुझमें मनको आसक्त करके और मेरे शरणागत होकर योगयुक्त होनेपर मुझे 'समग्र' रूपमें संशयरहित होकर किस प्रकार जाना जाता है, सो सुनो! मैं तुम्हें विज्ञानसहित उस ज्ञानको (रहस्यसहित मेरे तत्त्वको) पूरे तौरसे खोलकर कहता हूँ। इस रहस्यको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।' 'समग्र' को जाननेपर शेष रहेगा भी क्या? यहाँ भगवान् यह भी कह देते हैं कि हजारों-लाखोंमेंसे कोई विरला ही मुझे जाननेके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भी कोई विरला ही मुझे समग्ररूपसे तत्त्वतः जानता है (गीता ७। ३)।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण जीव और जगत्, चेतन और जड दोनोंको अपनी प्रकृति बतलाते हुए कहते हैं—

* भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

† यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।

‡ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्र ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे अर्जुन! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ प्रकारसे विभक्त बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्के समस्त उपादान मेरी ही प्रकृति हैं। यह अपरा प्रकृति है। इससे विलक्षण जीव या चैतन्यरूप मेरी दूसरी परा प्रकृति है, जिससे यह सारा जगत् विधृत है।'

वस्तुतः इस द्विविध प्रकृतिके द्वारा ही भगवान्ने अपनेको विश्वरूपमें प्रकट किया है। प्रकृति प्रकृतिमान्से भिन्न नहीं है, इसलिये यह जो कुछ है सब प्रकृतिमान् भगवान्का ही स्वरूप है। भगवान् ही इस रूपमें प्रकट हो रहे हैं, इसीसे आगे चलकर वे कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जैसे सूतकी मालामें सूतकी मणियाँ गुँथी होती हैं, वैसे ही मेरी प्रकृतिसे बना हुआ सारा जगत् मेरी प्रकृतिके द्वारा मुझमें गुँथा है। मैं ही जलमें रस हूँ, चन्द्र और सूर्यमें प्रभा हूँ, समस्त वेदोंमें प्रणव हूँ, आकाशमें शब्द हूँ, पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ। पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, जीवोंमें जीवन, तपस्वियोंमें तप, बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें कामरागविवर्जित बल, मैथुनोत्पन्न प्राणियोंमें धर्माविरुद्ध काम हूँ (गीता ७। ७—११)। फिर अपने भक्तोंकी श्रेणी और महिमा बतलाकर कहा कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं, उनकी उन देवताओंके रूपोंमें मैं ही श्रद्धा करवा देता हूँ, देवताओंकी पूजा भी मेरी ही पूजा है। देवताओंके द्वारा मिलनेवाला फल भी मेरा ही विधान किया हुआ होता है। मूढ लोग योगमायासे समावृत मुझको पहचानते नहीं (गीता ७। २५)। यहाँ भगवान्ने अपने रहस्यका कुछ अंश भलीभाँति खोल दिया। इसके बाद सातवें अध्यायके अन्तमें आप कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

'जो पुरुष मेरे शरण होकर जरा-मरणसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये यत्न (मेरा भजन) करते हैं, वे उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, निखिल कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको सम्यक्-रूपसे जानते हैं, वे ही युक्तचित्त पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते (पाते) हैं।' वे जानते हैं कि सम्पूर्ण विभिन्न भाव एकमात्र उन्हीं पूर्णतम परात्पर भगवान्के ही प्रकाश हैं। इसीसे तद्भाव-भावित होनेके कारण उन्हें अन्तमें भगवान्की ही प्राप्ति होती है।

आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन उत्सुकताके साथ भगवान्से ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका स्वरूप पूछते हैं एवं प्रयाणकालमें भगवान्को जाननेका—पानेका साधन जानना चाहते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ३—५)

जिस समग्र रूपको बतलानेकी भगवान्ने सातवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रतिज्ञा की थी; जिसका उल्लेख अध्यायके अन्तिम श्लोकमें कर दिया था, अब अर्जुनके पूछनेपर उसीका स्पष्टीकरण करते हैं। पूर्णतम भगवान्के अनेकों भाव हैं और भगवान्का भाव होनेके कारण स्वरूपतः उनमेंसे कोई भी अपूर्ण या न्यूनाधिक नहीं है तथापि उनके कार्य और बाह्य रूपके प्रकाशमें भेद होनेके कारण न्यूनाधिकता प्रतीत होती है। उनमेंसे किसी एक भावको पूजनेवाला भी भगवान्को ही पूजता है, परंतु विधिपूर्वक नहीं। समग्रको जानकर ही किसी एक भाव या रूपको पूजना यथार्थ विधिवत् भगवत्पूजन है। ऐसा न होनेके कारण ही अनेकों मतवाद हो रहे हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि 'समस्त कारणोंके परमकारण, उपाधिरहित, नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव, सच्चिदानन्द-स्वरूप, बोधानन्दघन, ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्-तत्त्व है और सब मिथ्या है, उस ब्रह्मके स्वरूपको जानना ही पुरुषार्थ है।' अध्यात्मवादी मानते हैं कि 'आत्मानात्मविचारके द्वारा उपलब्ध स्थूल-सूक्ष्म-कारण

शरीरविहीन अक्षर आत्मा ही एकमात्र परम तत्त्व है। इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर या ब्रह्म नहीं है।' कर्मवादियोंका कहना है कि 'कर्म ही सृष्टिका मूल कारण-तत्त्व है, कर्मके द्वारा ही सबका नियन्त्रण होता है, कर्मसे ही जीवनकी सार्थकता और अभीष्टकी प्राप्ति होती है। अतएव एकमात्र कर्म ही सेवनीय है।' आधिभौतिक लोगोंका मत है कि 'चेतन भी जडका ही एक धर्म है, जड ही वस्तुतत्त्व है, जडको छोड़कर चित्सत्ताका अन्य कोई प्रमाण नहीं है, अतएव जड-जगत्की उन्नति करना, शरीर और शरीरसम्बन्धी पदार्थोंकी उन्नति करना और आरामके लिये धन-दौलतको इकट्ठा करना ही मनुष्यका कर्तव्य है।' आधिदैविक मानते हैं कि 'देवता ही सब कुछ करते हैं, वे ही जगत्के तमाम विभिन्न भोगोंके नियन्ता और अधिष्ठाता हैं; वे ही मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंके संचालक, भर्ता, पोषक और भोगविधाता हैं, यज्ञ-यागादि उपासनाके द्वारा उन्हींको संतुष्ट करनेसे कार्यसिद्धि हो सकती है। उन देवताओंमें भी सबसे प्रधान परमदेव समग्र ब्रह्माण्डके अभिमानी देवता या सबके स्वामी एक ही हैं, जिनको विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, शिव, शक्ति, नारायण, सूर्य आदि विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं।' यह सूक्ष्मदर्शी आधिदैविक पुरुषोंकी मान्यता है। याज्ञिक लोग यज्ञको ही प्रधान धर्म मानते हैं और उनके अधिष्ठातृ-देवताओंकी आराधना भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा करते हैं। इस प्रकार अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी ठीक हैं। तात्त्विक दृष्टिसे भी सब मत अपनी-अपनी पद्धति और भावसे एक ही भगवान्की पूजा करनेवाले होनेसे भगवान्के ही उपासक हैं, परंतु 'समग्र' को न जाननेके कारण उनकी पूजा पूर्णांग नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण अपने 'समग्र स्वरूपकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे यहाँ इन सबका समन्वय करते हुए सबको अपनी ही अभिव्यक्ति बतलाते हैं। इसीसे वे उपर्युक्त गीताके श्लोक (८। ३—५) में कहते हैं—

परम अक्षर 'ब्रह्म' है; मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न होनेवाला जो निर्विकार परा प्रकृतिरूप मेरा (भगवान्का) अपना भाव (अंशरूप) है, वही जीवात्मारूपसे जडके अंदर अनुस्यूत ब्रह्म ही 'अध्यात्म' है। अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप जो मेरा क्षरभाव है वही 'अधिभूत' है। भूतोंका उद्भव और अभ्युदय जिस विसर्ग—त्याग अथवा यज्ञसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, वह विसर्ग ही 'कर्म' है। यह भगवान्का ही एक विशेष विकास है। **'यज्ञो वै विष्णुः'**। पुरुषसूक्तोक्त विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है। इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। प्रत्येक देवता इसका एक-एक अंग है, चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका यही प्राणपुरुष है। भगवान्के इस पुरुषभावका विकास ही 'अधिदैव' है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं और प्रभु हैं। अतएव वे कहते हैं कि मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ और इस शरीरमें ही अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ। अन्तकालमें जो पुरुष इस प्रकारके मुझ 'समग्र' को स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है वह निःसंदेह मेरे ही भावको—मेरे ही साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है।

यहाँ भगवान्ने प्रधान-प्रधान भावोंका समन्वय करके अपने स्वरूपका निर्देश किया। इसके बाद अपने महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्ने यह बतलाया कि मेरे भावविशेषकी अभिव्यक्तिरूप जो कुछ भी और पदार्थ हैं, वे सब कालाधीन हैं, उन सबकी प्राप्ति पुनरावर्तिनी है। ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं। एकमात्र मैं ही कालातीत हूँ, जो मुझको प्राप्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। **'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।'** हाँ, अव्यक्त अक्षर ब्रह्म कालाधीन नहीं है, वह भगवान्का परम भाव है, उसीको परम धाम कहा है, यह परम धाम अव्यक्तरूप मूलप्रकृतिसे भी विलक्षण सनातन अव्यक्त भाव है, यह किसी भी हालतमें सबके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता, अतएव इसको प्राप्त होकर भी जीव वापस नहीं आता। परंतु यही 'समग्र' नहीं है, यह समग्र भगवान्का एक सनातन अव्यक्त परम भाव है। आठवें अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान् छठे अध्यायके अन्तिम श्लोककी भाँति ही ऐसे भगवान्के उपासक योगीकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

इस रहस्यको तत्त्वत: जानकर वह योगी वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्यफल होते हैं, जो गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन सबको लाँघकर, उन सबसे आगे बढ़कर सर्वोच्च आद्य परम स्थानको प्राप्त होता है। यहाँ अपने स्वरूपका और उसके जाननेवाले योगीका महत्त्व बतलाकर नवम अध्यायके आरम्भमें गुह्यतम रहस्यको ज्ञान-विज्ञानसहित बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं और इसे राजविद्या-राजगुह्य, परमपवित्र, प्रत्यक्ष फलरूप, परमधर्म, सुगम और अविनाशी बतलाते हैं (गीता ९। १-२)। फिर कहते हैं—समस्त जगत्‌में मैं ही अव्यक्त मूर्तिके रूपमें परिपूर्ण हूँ, सब भूत मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ, वे भी मुझमें नहीं हैं, यह मेरे ऐश्वरयोगका प्रभाव है कि सब प्राणियोंका धारण-पोषण करनेवाला और सबका उद्भव करनेवाला भी मैं उनमें नहीं हूँ (गीता ९। ४-५)। इसका तात्पर्य यह है कि जगत्‌में साकार मूर्तिसे व्याप्ति नहीं हो सकती। उसमें तो अव्यक्त मूर्तिसे ही व्याप्ति होती है, परंतु वह अव्यक्त मूर्ति, भगवान् कहते हैं कि मेरी ही है, मुझसे भिन्न अव्यक्त कोई दूसरा नहीं है। यह बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् मेरी ही अष्टधा अपरा प्रकृति है और इस प्रकृतिका निवासस्थान—अधिष्ठान स्वामी मैं हूँ, अतएव ये सब मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ; परंतु प्रकृति मुझ प्रकृतिमान्‌से अभिन्न है, इसलिये ये सब भी मुझमें नहीं हैं। वस्तुत: यह सारा जड-चेतन विश्वभुवन मेरी ही अभिव्यक्ति है और स्वरूपत: मुझसे अभिन्न है। यह मेरी लीला है, ऐश्वरयोग है। कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें चले जाते हैं और कल्पके आदिमें मैं पुन: अपनी प्रकृतिसे उन्हें प्रकट कर देता हूँ। इतना होते हुए भी मैं नित्य अपनी महिमामें, अपने स्वरूपमें स्थित हूँ, मैं उदासीनवत् आसीन किसी भी कर्मसे नहीं बँधता (गीता ९। ७९)। तदनन्तर अपनी महिमा और सकाम देवोपासकोंकी पुनरावर्तिनी स्वर्गगतिका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं वे भी मुझको ही पूजते हैं, परंतु 'समग्र' को जानकर नहीं पूजते, इसलिये उनकी पूजा अज्ञानकृत है। मैं ही सबका स्वामी, भोक्ता और सर्वरूप हूँ। इस रहस्यको तत्त्वसे न जाननेके कारण वे लोग पुनरावर्तिनी गतिको पाते हैं, यानी प्राप्त की हुई स्थितिसे गिर जाते हैं (गीता ९। २३-२४)। फिर अपने भजनकी—शरणागतिकी महिमा बतलाकर अन्तमें आप खुले शब्दोंमें परम रहस्यकी घोषणा करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:॥

(९। ३४)

'इस प्रकार मुझ समग्रको जानकर तुम मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो; इस तरह आत्माको लगाकर मेरे परायण—मेरे अनन्यशरण होनेसे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।'

यहाँ भगवान्‌के द्वारा गुह्यतम रहस्य बतलाया गया; परंतु अर्जुन कुछ नहीं बोले। तब दशम अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने कहा कि अच्छी बात है, मैं अब फिर **(भूय:)** तुमसे तुम्हारे हितार्थ अपना परम रहस्ययुक्त सिद्धान्त सुनाता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। देखो, मेरे प्रभावको देवता-महर्षि कोई भी नहीं जानते; क्योंकि मैं ही सबका आदि हूँ, जो मुझको अज, अनादि और लोकमहेश्वर तत्त्वत: जान लेते हैं वे असंमूढ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं। (गीता १०। १—३) इसके बाद अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन किया। इस विभूतिवर्णनमें भगवान्‌ने विष्णु, शंकर, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु प्रभृति समस्त देवताओंको भी अपनी विभूति ही बतलाया है। यह कहा कि 'मैं ही सबका मूल हूँ, अधिक क्या समस्त जगत् मेरे एक अंशमात्रमें स्थित है।' (गीता १०। ४२) इसके बाद एकादश अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर अपना महामहिम विराट् रूप प्रत्यक्ष दिखलाया, अपनेको काल बतलाया और अन्तमें अपने साकार दिव्य विग्रहकी महिमा गाकर अनन्य भक्तिके द्वारा उसे तत्त्वत: जानने, देखने और प्राप्त करनेकी बात कही। बारहवें अध्यायमें सगुण साकाररूपमें अवतीर्ण दिव्यमूर्ति अपने श्रीकृष्णरूपकी परम श्रद्धापूर्वक उपासना करनेवाले योगियोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया और अन्तमें भक्त महात्माओंके लक्षणोंका प्रतिपादन किया। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि नवमसे लेकर द्वादश अध्यायतकके वर्णनमें बहुत थोड़े श्लोक ऐसे हैं जिनमें **'अहम्' 'मम' 'माम्' 'मे' 'मयि'** आदि **अस्मद्** शब्दवाचक पदोंका प्रयोग न हुआ हो।

तेरहवें अध्यायमें प्रकृति-पुरुषका विवेचन है। सातवें अध्यायकी द्विविधा अपरा और परा प्रकृतिका ही यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे वर्णन है। इन्हींको आगे चलकर सूक्ष्म और व्यापकरूपमें 'प्रकृति' और 'पुरुष' कहा है। इस प्रसंगमें सांख्यदर्शनके दोनों मूल तत्त्व 'पुरुष और प्रकृति' को भगवान्‌ने स्वीकार किया और खुले शब्दोंमें यह मान लिया कि समस्त जगत्‌के मूलमें प्रकृति-पुरुष-तत्त्व ही हैं; परंतु इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस बातको स्वीकार नहीं किया। न यही माना कि ये दोनों तत्त्व मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् हैं और इनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌की सृष्टि हुई है। सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है कि पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, गुणातीत और चित्स्वरूप है। प्रकृति विकारशीला, परिणामिनी, सक्रिय और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति सर्वथा विपरीत धर्मवाली दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इनके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। इनमें गुणात्मिका प्रकृति मूल उपादानकारण है। उसीके परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परंतु पुरुषके संयोग बिना प्रकृतिका परिणाम नहीं होता और परिणाम हुए बिना जगत्‌का सर्जन नहीं होता। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर आरोपित होता है और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है, मूलतः दोनों पूर्णरूपेण पृथक् हैं। इनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्वविचारके द्वारा इनके पार्थक्यका विवेक होनेपर संयोग टूट जाता है; परंतु उससे जगत् नहीं मिट जाता। जिस पुरुष-विशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है, उसके लिये जगत् नहीं रहता, वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होनेके कारण अपने नित्य शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग० २। २२)

इसीलिये पुरुष अनेक हैं। यही सांख्यका सिद्धान्त है। भगवान् कहते हैं, पुरुष-प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति हुई है, यह ठीक है; परंतु यही परम तत्त्व नहीं है, इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और भी है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध विकास हैं। वह मूल तत्त्व ही प्रकृति और पुरुषके रूपमें अपनेको अनेकों प्रकारसे व्यक्त करता है। पुरुष और प्रकृति दोनों ही उसकी (परा और अपरा) द्विविध प्रकृति हैं। नित्य परिवर्तनशील असंख्य पदार्थों और शक्तियोंसे तथा उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त यह प्राकृत जगत् उसीकी (उन भगवान्‌की ही) अभिव्यक्ति है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षर भाव चित्स्वभाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार अक्षर, असंग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है और इसी भगवदंशरूप चेतनकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह जगत् विधृत है। भगवान् इस बातको बतलाते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्वज्ञान भी मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करनेसे होता है। (गीता १३। १०) देहमें स्थित पुरुष उस महेश्वरका ही प्रकाश है, वही परपुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, परमात्मा और महेश्वर कहलाता है।

चौदहवें अध्यायमें फिर परम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् यही बतलाते हैं कि 'मैं ही बीजप्रद पिता हूँ, सब भूतोंकी उत्पत्ति मुझसे ही होती है। गुणोंके स्वरूपको जानकर पुरुष गुणातीत होता है। परंतु उसका साधन भी मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति ही है। क्योंकि अविनाशी सनातन ब्रह्म, अमृत, सनातन धर्म और अखण्ड एकरस सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ। ये सब मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। मैं ही इन सब स्वरूपोंमें प्रकट हूँ।' पंद्रहवें अध्यायमें संसारवृक्ष और उसके रहस्यका वर्णन करनेके बाद कहते हैं—'जो सूर्यगत तेज जगत्‌को प्रकाशित करता है, अग्नि और चन्द्रमामें जो तेज है वह सब मेरा ही है। मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी ओजशक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ, मैं ही रसात्मक सोम होकर समस्त ओषधि-समूहको पुष्ट करता हूँ, मैं ही प्राणिमात्रके शरीरमें स्थित वैश्वानर अग्नि बनकर प्राणापानयुक्त हो उनके खाये हुए चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ। अधिक क्या, मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें संनिविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। मैं ही समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य हूँ, मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ और मैं ही वेदोंको जाननेवाला भी हूँ। इस संसारमें क्षर और अक्षर ये दो प्रकारके पुरुष हैं, जिनमें समस्त अचेतन भूत-प्राणियोंके शरीररूप जगत् क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अविनाशी, परमात्मा, महेश्वर दूसरा ही है जो तीनों

लोकोंमें प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है वह पुरुषोत्तम मैं हूँ, क्योंकि मैं क्षरसे तो अतीत हूँ और अक्षरसे उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेद मुझको ही 'पुरुषोत्तम' कहते हैं।' (गीता १५। १२—१८)

सातवें अध्यायमें कथित अपरा प्रकृतिको ही यहाँ क्षर पुरुष बतलाया गया है और परा प्रकृति जीवात्माको ही अक्षर पुरुष। 'पुरुषोत्तम' वही समग्र ब्रह्म है जिसका यह द्विविध प्रकाश है। भगवान्‌का यह 'समग्र' रूप ही गीतोक्त पुरुषोत्तमरूप है। इस 'पुरुषोत्तम' स्वरूपका ही मूर्तिमान् नित्य सत्य मायातीत सौन्दर्य-माधुर्यसमुद्र परम दिव्याति-दिव्य मंगलविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

'अर्जुन! जो पुरुष इस प्रकार तत्त्वतः मुझे 'पुरुषोत्तम' जान लेता है वही असंमूढ है और वही सब कुछ जान गया है। ऐसा ज्ञानी पुरुष सर्वभावसे मुझ (श्रीकृष्ण)-को ही भजता है।' यही गुह्यतम शास्त्र है, इसको जानकर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

जो भगवान्‌को इस प्रकार नहीं जानते वही संमूढ हैं। उन्हींके लिये भगवान्‌ने कहा है, '**अवजानन्ति मां मूढाः।**'

इस विवेचनसे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका किंचित् अनुमान कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द नित्य-शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर अविनाशी आत्मा हैं, भगवान् ही हिरण्यगर्भ हैं, भगवान् ही सर्व देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा हैं, भगवान् ही प्रकृति हैं, भगवान् ही जगत् हैं, भगवान् ही जगद्‌व्यापी विभु अक्षर अव्यक्त सगुण निराकार ब्रह्म हैं, भगवान् ही यज्ञ हैं, भगवान् ही कर्म हैं, भगवान् ही जगत्‌के कर्ता, भर्ता, संहर्ता हैं, भगवान् ही साक्षी और भगवान् ही भोक्ता हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, सूर्य आदिके अंशी हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्म, शक्ति, सूर्य आदि हैं। भगवान् ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंह आदि अवतार हैं, भगवान् ही समस्त सृष्टिके द्वारा विभिन्न रूपोंमें पूजित विभिन्न नामरूपधारी ईश्वरीय नियमविशेष हैं। भगवान् ही विश्वगुरु हैं और भगवान् ही वसुदेवपुत्र, देवकीनन्दन, नन्दनन्दन यशोदालाल, गोपीवल्लभ, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, राधारमण, रुक्मिणीपति, व्रजनवयुवराज, व्रजेश्वर, द्वारिकाधीश और व्यास-भीष्मादिके द्वारा पूज्य परमेश्वर हैं और वही भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ इतिहासप्रसिद्ध 'पार्थसखा' या '**तोत्रवेत्रैकपाणि पार्थसारथि**' हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके सर्वातीत और सर्वमय 'समग्र' स्वरूपको सम्यक्-रूपसे जानकर उनकी जो उपासना होती है, वही श्रीकृष्णकी यथार्थ उपासना है। (जाननेका अर्थ केवल बुद्धिद्वारा समझ लेना ही नहीं है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिये।) यह श्रीकृष्ण न तो केवल एकदेशीय व्यक्त स्वरूपविशेष 'वृष्णिवंशी' वसुदेवसुत 'वासुदेव' हैं और न केवल शुद्ध-बुद्धमुक्त-स्वभाव 'ब्रह्म' ही हैं। ये दोनों ही उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। उनको एकदेशीय माननेमें भी उनके स्वरूपको अल्प और परिच्छिन्न करना पड़ता है। और केवल शुद्ध ब्रह्म माननेसे भी शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और सब कुछका कोई स्वरूप निश्चय नहीं होता। माया या मिथ्या कहकर टालनेसे भी काम नहीं चलता। इसीसे कहा जाता है कि सब कुछ नहीं है सो नहीं है, पर वह सब (ब्रह्मसमेत) भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। सबको लेकर ही भगवान् हैं और वही पुरुषोत्तम हैं। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'धनंजय! मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, यह समस्त जगत् सूतमें सूतकी मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा है। जगत् ही क्यों; अव्यय परब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक आनन्दका आधार भी मैं ही हूँ।' सबका समन्वयात्मक यही गीतोक्त समग्र ब्रह्म या 'पुरुषोत्तम' का स्वरूप है और वे श्रीकृष्ण हैं। इसीलिये वेदान्तज्ञानके उपदेष्टा और ज्ञाता श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद

जिस कर्मयोगको भगवान्ने, '**कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २) कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बतलाया, जिसके आचरण करनेवालोंके लिये '**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥**' (गीता २। ५१) जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय (अमृतमय) परम पदकी प्राप्ति बतलायी, वह गीतोक्त कर्मयोग क्या आधुनिक कर्मवाद ही है? आजकल जगत्के विशिष्ट शिक्षित पुरुष जिस कर्मवादके पीछे पागल हैं, जीवनभरमें कभी जिन्हें इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं मिलती, या जो विचार करना आवश्यक ही नहीं समझते कि 'ईश्वर क्या है, प्रकृति क्या है, जगत्का क्या स्वरूप है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं?' ऐसी बातोंकी कल्पना करना जिनके मन समयका दुरुपयोग करना है और जो रात-दिन केवल भौतिक उन्नतिका आदर्श सामने रखकर ही अपनी-अपनी जातिकी, अपने देशकी और संसारकी भौतिक उन्नतिके लिये, पार्थिव भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये कर्ममें लग रहे हैं। एक मिनटके लिये भी जिनको कर्मसे अवकाश नहीं है, उनका वह कर्म क्या गीतोक्त कर्मयोग है? आजकल कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं, या सिद्ध करना चाहते हैं कि गीतामें इसी कर्मयोगकी शिक्षा दी गयी है। इसीलिये वे अपनी या परायी ऐहिक उन्नतिके लिये कामासक्तिपूर्वक अनवरत कर्म-प्रवाहमें बहते हुए मनुष्योंको 'कर्मयोगी' की पदवी देते हैं और गीताके श्लोकोंसे इसका समर्थन करना चाहते हैं। अतएव इस विषयपर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है।

आधुनिक कर्मवादका स्वरूप

इस कर्मवादके स्वरूपके सम्बन्धमें नाना मतभेद हैं और इसमें अनेकों प्रकारके परिवर्तन भी हो रहे हैं। इसका उत्तम स्वरूप यह है—

कर्म मनुष्यकी उन्नतिका मूल है, कर्मसे ही मनुष्य अपना, देशका और दीनोंका दुःख दूर कर सबको सुखी बना सकता है। अतएव किसी भी दूसरेपर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्यको निरन्तर कर्ममें ही लगे रहना चाहिये। जगत्का सारा दुःख केवल कर्मसे ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले, सबको समानरूपसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति हो, ऐश्वर्य, बल, विद्या, कला, विज्ञान आदिकी वृद्धि हो, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसके लिये सबको सब प्रकारसे आलस्य छोड़कर दुःख-कष्टकी परवा न कर सदा उत्साह और उल्लासपूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। यही मनुष्यका कर्तव्य या धर्म है।

इस कर्तव्यके पालनमें विविध कर्मोंके नानाविध स्वरूप बन गये हैं। कोई कहता है केवल विज्ञानसे ही सबकी उन्नति हो सकती है। रेल, जहाज, तार, टेलीफोन, बेतारका तार, वायुयान आदि अनेक प्रकारके परम अद्भुत यन्त्र और अन्य आवश्यक चीजें, जिनसे संसारमें सभी क्षेत्रोंमें बहुत कुछ सुभीता हो गया है, विज्ञानका ही फल है; इसके अतिरिक्त रक्षक, संहारक अनेक प्रकारकी चीजें विज्ञानने आविष्कार की हैं, जिनसे हम अपनी रक्षा एवं विपक्षका संहार सहज ही कर सकते हैं और नाना प्रकारसे सुखोपभोग करते हुए जीवन बिता सकते हैं, अतएव विज्ञानकी उन्नतिके कर्ममें लगे रहना चाहिये।

कोई कहता है, विज्ञानने मनुष्यको आलसी, विलासी, हिंसक और पक्षपाती बना दिया है। विज्ञानके फलसे ही यन्त्र बने और यन्त्रोंके कारण ही पूँजीवाद और मजदूरवादकी सृष्टि हुई। कुछ लोगोंके पास धन आ गया और शेष जनताका बहुत बड़ा भाग भूखों मरने लगा। अतएव विज्ञानकी ओरसे मन हटाकर यन्त्र-सभ्यताका नाश कर ग्राम्य-जीवनको सुधरे हुए आदर्शपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

कोई कहता है कि देशकी रक्षाके लिये कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाकी बड़ी आवश्यकता है, इसलिये इनकी वृद्धिमें लगना चाहिये और कोई इनसे संसारका अमंगल समझकर अधिकाधिक कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाका विरोध करते हैं। कोई साम्राज्यवादी हैं तो कोई प्रजाराज्यवादी। कोई विषमतासे भलाई मानते हैं तो कोई व्यवहारमें पूर्ण समता चाहते हैं।

इस प्रकार नाना रूपोंमें कर्मका आश्रय लेकर आधुनिक जगत् कर्म और कर्मीकी पूजामें लगा है। इन सबके कर्मका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु ईश्वर और धर्मकी आवश्यकता इनमेंसे किसीको नहीं है। कहीं अत्यन्त क्षीणरूपमें ईश्वर और धर्मकी बात सुनायी

पड़ती है तो वह भी इस ऐहिक उन्नतिके लिये ही; वरं पाश्चात्यशिक्षाप्राप्त लोगोंमें तो अधिकांश प्रायः यही मानते हैं कि ईश्वर या धर्मकी बात करना या सुनना केवल व्यर्थ ही नहीं है, पतनका कारण है। इन पुराने विश्वासोंको—वहमोंको सर्वथा नष्टकर नवीन युगकी नवीन कल्पनाओंपर ही विश्वास करना चाहिये। इसीलिये आज चारों ओर क्रान्ति और अशान्ति है, एवं इसी क्रान्ति एवं अशान्तिके कार्योंको 'कर्मयोग' और दिन-रात इनमें लगे हुए लोगोंको 'कर्मयोगी' कहा जाता है। यह संक्षेपमें वर्तमान कर्मवादका स्वरूप है।

गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना

अब गीताके कर्मयोगपर कुछ विचार कीजिये—अवश्य ही, गीतामें किसी व्यक्ति, जाति, देश या विश्वके हितके लिये कर्म करनेका कहीं भी निषेध नहीं किया है, वरं स्वधर्मपालन और सर्वभूतहितमें रत रहनेकी ही आज्ञा दी गयी है; परंतु गीताकी दृष्टिमें कर्मके बाह्य स्वरूपका उतना महत्त्व नहीं है, जितना कर्ताकी बुद्धिका है। कर्म बाहरसे मृदु हो या कठोर, लोकदृष्टिमें अनुकूल हो या प्रतिकूल, प्रेम हो या युद्ध, भोग हो या त्याग, यदि उसमें ज्ञान, भक्ति और समत्व है तो वही कर्मयोग है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड व्याप्त है अर्थात् जो स्वयं विश्वरूपमें प्रकाशित है, उस (परमेश्वर)-की अपने कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इसमें ज्ञान और भक्तिसे युक्त कर्मकी व्याख्या है। यह जान लेना होगा कि श्रीभगवान् ही जगत्‌भरमें व्याप्त हैं और मनुष्यको उन्हींकी पूजा करनी है, समस्त कर्म उन्हींकी पूजाके लिये हैं। कर्म कौन-से? केवल जप, तप, पूजा, पाठ ही नहीं, जिसका जो स्वकर्म हो, जिसके लिये जो कर्तव्य हो, उन्हींसे भगवान्‌की पूजा होगी। अर्जुन क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध ही कर्तव्य है, वहाँ रणांगणमें आततायी प्रतिपक्षियोंका वध करके उनके रक्तसे ही 'काल' रूपसे प्रसिद्ध भगवान्‌की पूजा करनी होगी। तुलाधार वैश्य क्रय-विक्रयरूप व्यापारसे भगवान्‌की पूजा करता है। धर्मव्याध सेवाद्वारा भगवान्‌को पूजता है, याज्ञवल्क्य और शंकराचार्य संन्यास और ज्ञानद्वारा उनकी पूजा करते हैं। जनकने राज्य-पालन करके उन्हें पूजा। ब्रह्मचारी गुरुसेवा और विद्याध्ययनद्वारा भगवान्‌की पूजा करें। यह आवश्यक नहीं कि पूजाकी सामग्री एक-सी हो, आवश्यकता है पुजारीके हृदयके भावकी। यदि वह भगवान्‌के स्वरूपको समझकर भगवान्‌की पूजाके लिये—किसी फलके लिये नहीं—किसी कर्ममें आसक्त होकर नहीं, केवल यज्ञार्थ—भगवदर्थ—किसी भी कर्तव्यकर्मको करता है तो वही कर्मयोग है। यह याद रखना चाहिये कि ऐसे कर्म करनेवाले कर्मयोगीसे वास्तविक लोकहितसे विपरीत कर्म या पाप-कर्म कदापि नहीं बन सकते। अमृतसे कोई मरे तो गीतोक्त कर्मयोगीसे किसीका अहित हो।

इसी कर्मयोगकी व्याख्या भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके निम्नलिखित श्लोकोंमें की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, कर्मफलके हेतुसे कर्म न कर, (परंतु) कर्म न करनेमें भी मन न लगा। आसक्तिको त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्‌के साथ चित्तको जोड़े हुए ही) कर्म कर (फल श्रीभगवान्‌के हाथमें है, उनकी इच्छासे जो कुछ भी फल होगा, बस वही होना चाहिये, मुझे तो उनके चिन्तनमें चित्त लगाये हुए उनके इच्छानुसार कर्म करने चाहिये) यह समत्व ही योग कहा जाता है।'

असलमें कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, कर्मफलमें अधिकार नहीं है। कोई भी मनुष्य यह दावा नहीं कर सकता कि मैं केवल कर्म करके ही अमुक फल प्राप्त कर लूँगा। किसान खेत जोतकर उसमें बीज डाल सकता है, परंतु उसमें अनाज उत्पन्न होना उसके हाथमें नहीं है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, टिड्डी, चूहे, पाला आदिसे पकी-पकाई फसल भी नष्ट हो सकती है। तथापि खेत जोतकर बीज तो डालना ही चाहिये, क्योंकि यह उसके हाथकी बात है और यही उसका कर्तव्य है। इसपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब

फल अपने हाथमें नहीं है, तब कर्म ही क्यों किया जाय? चुपचाप बैठे रहनेसे भी जो होता होगा सो हो ही जायगा।' इसीलिये भगवान्ने पहलेसे सावधान कर दिया कि 'कर्म-त्यागकी ओर तेरा मन नहीं लगना चाहिये', क्योंकि कर्ममें तेरा अधिकार है। यद्यपि जगत्में सब कुछ भगवान्की इच्छासे ही होता है, उन लीलामयकी ही सारी लीला है, परंतु वे मनुष्यको निमित्त बनाते हैं—इसीलिये उसे कर्मका अधिकार दिया गया है। कौरवोंको भगवान्ने पहलेसे ही मार रखा था, विराट् स्वरूपमें अपनी विकराल दाढ़ोंमें सबको चूर्ण अवस्थामें दिखला भी दिया; अर्जुन निमित्त न बनते, तब भी उनका संहार होता ही, परंतु अर्जुनको निमित्त बनाकर ही भगवान्ने उनका संहार करवाया। अतएव मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिये, परंतु फलकी आशासे नहीं। अवश्य ही कर्म बिना उद्देश्यके नहीं होता, इसलिये मनुष्यके कर्ममें भी कोई उद्देश्य या लक्ष्य रहेगा। व्यापारमें धन मिले, युद्धमें जय हो, दवासे रोग नष्ट हो, यह उद्देश्य व्यापार, युद्ध और औषध-सेवनमें है, कर्मकी सफलताकी ओर दृष्टि है, परंतु वास्तवमें फल कुछ भी हो, धन मिले या न मिले; जय हो या पराजय हो, रोग दूर हो जाय या बढ़ जाय, उसका उसमें समान भाव है; क्योंकि वह आसक्ति और कामनाके वश होकर कर्म नहीं करता, उसके कर्ममें इन कामनाओंकी प्रेरणा नहीं है, उसके कर्मप्रेरक भगवान् हैं, वह भगवान्की पूजाके लिये ही स्वकर्म या स्वधर्मका पालन करता है। उसका राज्य-ग्रहण या संन्यास दोनों भगवान्के लिये ही होते हैं। सब प्रकारकी आसक्ति, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर भगवान्के साथ योगयुक्त होकर कर्म करना ही गीतोक्त कर्मयोग है। इसमें भगवान्का ज्ञान है, भगवान्की भक्ति है और फलमें सर्वथा समत्व है। इसीलिये भगवान्ने आरम्भमें ही कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धमें प्रवृत्त हो; ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।'

ऐसा न करनेसे पापकी सम्भावना है; क्योंकि कामना और आसक्तिके वश होकर केवल फलानुसंधानमें लगे रहकर कर्म करनेसे धर्म और ईश्वरका ध्यान छूट जाता है। जिससे मनुष्य आरम्भमें विश्वहित या देशहित आदि उत्तम उद्देश्य होनेपर भी काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदिके अधीन होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और आसुरीभावके साम्राज्यमें पहुँचकर दुःखोत्पादक अशुभ कार्य करता हुआ नरकका भागी होता है।

भगवान्ने आसुरी भावका वर्णन करते हुए कहा—आसुरी भाववाले लोग कहते हैं कि—'जगत् आश्रयरहित है, इसके मूलमें कोई सत्य नहीं है, ईश्वर भी नहीं है, परस्परके काम-सम्बन्धसे ही सृष्टि हुई है' (प्रकृतिसे ही सब आप ही बन गया है), इस प्रकारकी नास्तिक दृष्टिको आधार बनाकर वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, अत्याचारी मनुष्य जगत्का ध्वंस करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। उनकी कामना किसी प्रकारसे पूरी नहीं होती। वे दम्भ, मान और मदसे पूर्ण हुए मोहवश असत् सिद्धान्तोंका ग्रहण कर हीन, अपवित्र निश्चयों और कार्योंको लेकर ही जगत्में बुरे आदर्शोंका प्रचार करते हुए विचरते हैं। उनकी भोग-चिन्ताओंका कोई पार नहीं, अशेष विषय-चिन्ताओंमें डूबे हुए ही वे मरते हैं। कामोपभोगके सिवा और कुछ नहीं है, यही उनका निश्चित मत है। वे सैकड़ों आशारूपी फाँसियोंमें बँधे हुए, काम-क्रोधपरायण, केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये अन्यायपूर्वक भोगपदार्थोंके संचय करनेमें लगे रहते हैं। आज यह मिला, अब वह मिलेगा; अभी मेरे पास इतना धन है, आगे और भी धन होगा; आज उस शत्रुको मारा है, अब उन शत्रुओंका काम तमाम करूँगा; मैं ऐश्वर्यवान् हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा—इस प्रकारके अज्ञान-विमोहित, अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे सदा भ्रमित चित्तवाले, मोहजालमें फँसे और कामोपभोगमें आसक्त मनुष्य महान् क्लेशमय अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।'

आजके कर्मवादके पीछे पागल जगत्के लोगोंमें प्रायः इन्हीं लक्षणोंकी प्रधानता मिलेगी। ईश्वर और धर्मके बहिष्कार या विनाशकी दर्पपूर्ण कर्म-चेष्टा, ईश्वर और धर्मके नामपर भोगसुख प्राप्त करनेका दम्भपूर्ण प्रयत्न, व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रोंमें परस्पर

विनाश करनेकी हिंसामयी नीति, यूरोपके द्वेष-लोभपूर्ण गत दो भीषण महायुद्ध और आगामी विश्वव्यापी महायुद्धका अणु तथा हाइड्रोजन बम आदिके निर्माणरूपमें वर्तमान उद्योगपर्व, अंदरसे द्वेषपरवश हो बल बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहनेपर भी ऊपरसे मैत्री और शस्त्रसंन्यासकी पाखण्डभरी बातें, दबे हुएको दबाने और उठते हुएको गिरानेकी अभिमानपूर्ण क्रिया, प्राकृतिक अमिट भेदमें अभेद-स्थापनकी और नित्य अचल अभेदमें भेद-स्थापनकी अज्ञानमयी चेष्टा, पुरातनको सर्वथा मिटाकर नवीन शृंखलाविहीन जीवनकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न, अपनेसे भिन्न मत रखनेवालोंको गिराने तथा नष्ट करनेकी कोशिश, परलोक, प्रारब्ध, ईश्वर और सदाचारकी कुछ भी परवा न कर केवल भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मर्यादारहित मनमाना आचरण आदि कार्योंसे इसका पूरा परिचय मिल जाता है। इसमें उनकी नीयतका दोष नहीं है, वस्तुतः ईश्वरको भुलाकर केवल इहलौकिक सुखकी प्राप्तिके हेतुसे, भोग-पदार्थोंके संग्रहके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है। इसीलिये यह समझ लेना चाहिये कि गीताका कर्मयोग ईश्वररहित और आसक्ति तथा कामनायुक्त कर्मवाद नहीं है। गीताका कर्मयोग इससे बिलकुल अलग है। वहाँ तो अर्जुनको भगवान्‌ने (गीता ३। ३० में) स्पष्ट आज्ञा दी है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'अर्जुन! तू मुझमें संलग्न किये हुए चित्तसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके आशारहित और ममतारहित होकर एवं मनस्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर।'

युद्ध करनेकी आज्ञा है, परंतु न राज्यमें ममत्व रहे, न विजयकी आशा रहे और न अभावजनित संतापसे चित्त जले। चित्त भगवान्‌में लगा है और उन्हींके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रेरणासे निष्कामभावसे युद्ध हो रहा है। इस गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना कैसे की जा सकती है?

यह सत्य है कि गीता जिस प्रकार ज्ञानकी अवहेलना नहीं करती, इसी प्रकार संसारकी और सांसारिक कर्तव्यकर्म, जीविका, कुटुम्ब-पालन, माता-पिताकी सेवा, जाति-सेवा, देश-सेवा, आर्त-सेवा, मानवीय अधिकार और धर्मके लिये युद्ध, दुर्बल-रक्षा, अत्याचारीका दमन, अन्यायका विरोध, परोपकार अथवा वर्णाश्रम-धर्मका यथाविधि पालन आदि किसी भी नैतिक धर्मका किंचित् भी विरोध नहीं करती, प्रत्युत इनके लिये उत्साहित करती है और स्वधर्म-पालनके लिये क्षत्रिय अर्जुनको हँसते-हँसते जीवनकी बलि चढ़ा देनेतकके लिये आज्ञा करती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'तुम आत्माके अमरत्व और सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभावको मनमें रखकर, भगवान्‌को समझकर, भगवान्‌के लिये वीरकी भाँति युद्ध करो, रणक्षेत्रमें वीर-गतिको प्राप्त करो या वीरकी तरह विजय-लाभ करो, परंतु मनमें आसक्ति, कामना, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आशा आदि न रखो।' कर्तव्य कर्मके लिये मर-मिटनेका कितना ऊँचा मार्मिक उपदेश है! आधुनिक कर्मवादसे यह क्षत्रिय-धर्म भी कितना ऊँचा है!

जगत् त्रिगुणात्मक है, इसमें निरन्तर तीनों गुणोंके ही कार्य हो रहे हैं। इनमेंसे जब जिस गुणकी प्रधानता होती है, तब उसके कार्यका रूप भी वैसा ही होता है। यह सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, निरन्तर ऊपर उठनेकी चेष्टा न की जाय तो स्वभावसे पतन ही होता है। सत्त्वगुणसे भी यदि ऊपर चढ़नेकी, गुणातीत होनेकी चेष्टा न होगी तो सत्त्व रजोमुखी होकर रजोगुणप्रधान और क्रमशः तमोमुखी होकर तमोगुणकी प्रधानताके रूपमें परिणत हो जायगा, सत्त्व और रज दबकर तम विकसित हो उठेगा। अतएव यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कर्ममें भगवान्‌की ओर दृष्टि और भगवान्‌का आश्रय नहीं है, जो केवल इहलौकिक विषय-लाभकी दृष्टिसे किया जाता है, वह सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्रमशः रजोगुणकी ओर बढ़कर रजःप्रधान हो जाता है। रजोगुणकी वृद्धि होनेपर किन-किन लक्षणोंका उदय होता है? श्रीभगवान् कहते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

(गीता १४। १२)

'अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, कर्मोंका (अनेकमुखी) आरम्भ, चित्तकी चंचलता, विषय-भोगोंके प्राप्त करनेकी स्पृहा—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त रजोगुणी कर्मोंके कर्ताका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥

(गीता १८। २७)

'वह कर्म और फलमें आसक्तिवाला, फल चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र आचरण करनेवाला और हर्ष-शोकमें डूबा रहनेवाला होता है।'

आधुनिक कर्मवाद और कर्मवादियोंमें ये लक्षण प्रायः पूर्णरूपसे चरितार्थ होते हैं। अवश्य ही मोह, अप्रवृत्ति, आलस्य और प्रमादमय तामसिक जीवनसे यह जीवन कहीं श्रेष्ठ है, परंतु यह आदर्श नहीं है। रजोगुण सत्त्वमुखी न होगा तो तमोमुखी हो जायगा और अन्तमें तमोगुणकी प्रधानताका रूप धारण कर लेगा। किसी समय भारतवर्षमें भी जन्म, कर्मफलप्रद भोगैश्वर्य गतिकी प्राप्तिके लिये कर्मकाण्डकी प्रचुरता थी, यद्यपि भारतका वह कर्मकाण्ड आधुनिक नास्तिकतापूर्ण कर्मवादसे बहुत ही ऊँचा था, तथापि उसमें लौकिक कामना और आसक्ति होनेके कारण वह कर्मप्रवृत्ति भी अन्तमें तमोमुखी हो गयी। भारतकी आजकी तामसिकता, उसका मोह और आलस्यमय जीवन इसीका परिणाम है, इसीलिये भगवान्‌ने घोषणा की थी कि भोगैश्वर्यमें आसक्तिवाले पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती।' परंतु गीतोक्त कर्मयोगी भोगैश्वर्यमें आसक्त नहीं होते— वे न तो भोग-सुखकी स्पृहा करते हैं और न वैध भोगका अकारण विरोध ही करते हैं।

भगवान्‌ने उनके विषयभोगकी व्याख्या करते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, जिसमें राग और द्वेष नहीं हैं, वह पुरुष अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है। उस (विमल) प्रसादसे समस्त दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि (एक परमात्मामें) शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।'

मन और इन्द्रियोंका गुलाम होकर विषयोंकी आसक्तिसे नहीं, प्रत्युत मन और इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर यथावश्यक ऊपर उठानेवाले विषयोंका सेवन करनेवाला पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है। इसीलिये गीताके कर्मयोगकी शिक्षामें कामोपभोगकी अनित्यता, सुख-दुःखकी क्षणभंगुरताका बार-बार वर्णन आता है और विषयोंसे मन हटाकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक कामना और फलासक्तिशून्य हृदयसे कर्म करनेकी आज्ञा दी जाती है। भगवान् कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ६०-६१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। ११-१२)

'अर्जुन! प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं। अतएव इन इन्द्रियोंको वशमें करके मनको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाना चाहिये। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये जो सब भोग हैं, वे (मोहवश सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः) निःसन्देह दुःख ही उत्पन्न करते हैं और सदा एक-से नहीं रहकर—कभी उत्पन्न होने और कभी नाश होनेवाले आदि-अन्तरूप हैं, अतएव बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता। इसलिये (ममत्वबुद्धिरहित) निष्काम कर्मयोगी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं, इसीसे वे परमात्मामें चित्त लगाये हुए कर्मयोगी पुरुष कर्मफलको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होते हैं। विषयचिन्तनमें लगा हुआ सकामी पुरुष फलासक्तिके कारण कामनाके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि हुए बिना भगवत्-भाव नहीं होता। भगवत्-भावकी प्राप्ति बिना शुद्ध भगवत्-प्रेरित कर्म नहीं हो सकते। इसलिये कर्मयोगी पहले भगवत्-भावकी प्राप्तिके लिये और भगवत्-भावकी प्राप्ति होनेपर केवल भगवान्‌की प्रेरणावश यन्त्रकी भाँति कर्म करता है। उस समय वह कर्मके बाह्य स्वरूपको न देखकर—अर्जुनकी भाँति गुरु-वध, स्वजन-वध, भीषण हिंसा आदिकी बात न सोचकर—केवल भगवान्‌की प्रेरणाको देखता है। भगवान् ही उसकी गति, नीति, उद्देश्य, जीवन और धर्म होते हैं। भगवान्‌के साथ युक्त होकर भगवदीय कर्म करना ही उसका स्वभाव होता है। यही गीताकी अन्तिम शिक्षा है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंके वशमें होकर, भोग-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे मनमाना करते हुए मनुष्य उसे ईश्वरकी प्रेरणा समझने या कहने लगे। श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए मनुष्यके अन्तःकरणमें जो शुद्ध स्फुरणा हो और जिससे इन्द्रियभोग-लालसा और कामनाका क्रमशः दमन होता हो, जो शास्त्रोक्त कर्म हो—पहले-पहल ऐसे ही शुभकर्मोंकी प्रेरणाको भगवत्-प्रेरणा समझे। साधना करते-करते भगवत्प्रेरणाकी स्पष्ट अनुभूति होने लगेगी। इसीलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः अर्जुन-जैसे योग्य अधिकारीके लिये है। परंतु वह अधिकार भी गीताकी शरण, गीताका अध्ययन और मनन एवं गीताके उपदेशानुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे ही प्राप्त होगा। इसलिये गीताकी शिक्षा वस्तुतः इन्द्रियसंयमी, तपस्वी भक्त अधिकारीके लिये होते हुए भी साधारणतः सभीके लिये है। अनधिकारके कारण ही गीताका दुरुपयोग होता है और इसीसे आधुनिक कर्मवादकी सिद्धि या उसका समर्थन गीताके द्वारा करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है।

गीताका कर्मयोग शुद्ध भगवदभिमुखी है और आधुनिक कर्मवाद केवल भोगाभिमुखी, यही इनमें सबसे बड़ा अन्तर है। भोगाभिमुखी होनेके कारण ही इसमें राग, द्वेष, घृणा, काम, क्रोध और पाप, ताप आदिका प्राबल्य है और इसीलिये ऐसे कर्मवादियोंकी यह समझ है कि बिना कामनाके कर्म कैसे हो सकता है? बिना राग-द्वेषके कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी? यदि फलकी ही इच्छा नहीं है तो कर्ममें बेगारके भावको छोड़कर उत्साह होगा ही क्यों? भोगाभिमुखी रजोगुणी कर्मप्रवृत्तिमें आसक्ति, कामना, क्रोध, द्वेष, राग, घृणा आदि दोष रहते हैं, इसीसे ऐसी समझ बन गयी है। परंतु जिनमें सत्त्वगुणका प्रकाश हो गया है, जिनकी बुद्धि परमात्माभिमुखी है—वे भगवान्‌के लिये कठोर-से-कठोर कर्म करनेमें भी सात्त्विक उत्साह पाते हैं। मजा यह कि फलकी आसक्ति या राग-द्वेषपूर्वक होनेवाले कर्ममें कर्म करते समय कामना, आशंका, भय, उद्वेग, चंचलता आदिके कारण मार्गच्युत होनेका जो डर रहता है और फलके अनुकूल न होनेपर जो विषाद होता है, वह गीतोक्त कर्मयोगीको नहीं होता। वह तो अनुकूल-प्रतिकूल फलको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर यन्त्रीके यन्त्रकी भाँति नित्य नये उत्साह और आनन्दके साथ स्वामी या प्रियतम प्रभुका कार्य करते-करते कभी थकता ही नहीं; क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु उसे अनवरत शक्तिदान करते रहते हैं, वह चलता ही प्रभुकी शक्तिसे है, अपना अहंकार उसे कभी नहीं होता। वह कभी मार्ग नहीं भूलता; क्योंकि उसे निरन्तर प्रभुसे प्रकाश मिलता रहता है। प्रभुके नित्य चिन्तनसे उसके हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति सदा जगमगाया करती है। वह कभी मनमानी वस्तु पाकर या सफलतासे प्रमत्त होकर कर्तव्यच्युत नहीं होता; क्योंकि कोई नयी वस्तु पानेके लिये उसके मनमें अभिलाषा ही नहीं रहती। वह तो प्रभुका सेवक है, व्यापारी नहीं! भगवान्‌की शक्तिसे उसकी शक्ति, भगवान्‌के ज्ञानसे उसका ज्ञान, भगवान्‌के प्रेमसे उसका प्रेम, भगवान्‌की दिव्य बुद्धिसे उसकी बुद्धि सदा शक्ति, ज्ञान, प्रेम और विवेक पाती रहती है। अतएव वह कर्मयोगी अत्यन्त कुशलता, अदम्य उत्साह, अतुल तेज, अमल विवेक, अपार शान्ति, अमित आनन्द और अलौकिक प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ भगवान्‌के लिये सदा उल्लाससहित कर्म किया करता है। वह कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वको समझकर ही कर्म करता है, इससे उसके कर्ममें ज्ञान, भक्ति और समता—तीनोंका संयोग रहता है, जो आसक्ति, कामना, राग-द्वेषादि वैरियोंके वशमें होकर बिना जीते हुए मन-इन्द्रियोंसे कर्म करनेवाले कर्मवादीके लिये कभी सम्भव नहीं है। सात्त्विक कर्ताका लक्षण भगवान् बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(गीता १८। २६)

'आसक्तिसे रहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।'

गीताने तो इस सात्त्विकतासे भी ऊपर उठनेका आदेश किया है; क्योंकि सत्त्वगुण भी जीवको बाँधता है। (यद्यपि सत्त्वगुणका बन्धन जाग्रत् और प्रयत्नशील रहनेपर बन्धन काटनेवाला ही होता है।) इसीसे भगवान्ने कहा है—'**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!**' अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा। गीताके कर्मयोगीके द्वारा फलाभिसन्धि न होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं। इस बातको भगवान्ने तीसरे अध्यायमें स्वयं अपना उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है और निरन्तर निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है एवं अन्तमें उस निष्काम कर्मसे ही शाश्वतपदकी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५६-५७)

'मेरा आश्रयी होकर निष्काम कर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ ही मेरी कृपासे सनातन अव्यय पदको प्राप्त करता है। अतएव सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो समत्व बुद्धि-रूप कर्मयोगका अवलम्बन करके (अर्जुन!) तू निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

जो लोग वास्तवमें कर्मयोगका आश्रय लेकर भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए ही भगवान्के आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका—स्वधर्मका आचरण करें। भगवान्ने गारंटी देते हुए कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'अर्जुन! इसलिये सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध (स्वधर्म-पालन) कर। इस प्रकार युद्धमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे तू निःसंदेह मुझको प्राप्त होगा।'

ऐसे ही मनसे भजन करते हुए भगवदर्थ कर्म करनेवाले योगियोंको भगवान्ने सबमें श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'समस्त योगियोंमें जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें अन्तरात्माको लगाकर निरन्तर मुझे भजता है, वही योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है।'

गीताके इस निष्काम कर्मयोगसे, आधुनिक राग-द्वेषपूर्ण और कामनामय कर्मवादमें कितना महान् अन्तर है, ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठक इसको समझ गये हैं।

गीतामें विश्वरूप-दर्शन

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें भगवान्के विश्वरूपदर्शनका प्रसंग है। प्रसंग बड़ा ही मधुर और हृदयग्राही है। जितना भी मन लगाकर पढ़ा जाता है उतना ही अधिक आनन्द आता है। परंतु यह समझमें आना बहुत ही कठिन हो जाता है कि भगवान्का यह विश्वरूप वस्तुतः था कैसा? अनेक महानुभावोंने इस प्रसंगपर विभिन्न मत प्रकट किये हैं। किन्हींका कहना है कि 'यह भक्तिपूर्ण मनोहर काव्यमात्र है।' किन्हींका कथन है कि 'यह रूपक है, इसमें अर्जुनकी उस समयकी मानस-स्थितिका चित्रण किया गया है।' कोई कहते हैं 'अर्जुनको दिव्यचक्षु देनेका अर्थ है उसे सम्यक्-ज्ञान प्रदान करना और विश्वरूप दिखानेका तात्पर्य है उस ज्ञानको सुदृढ़ करना कि एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ भी भासता है सब मायामात्र है।' इसी प्रकार अन्यान्य बहुत-से महानुभावोंने और भी अनेकों प्रकारसे इसकी व्याख्या की है। गीताके इस विश्वरूप-दर्शनका वास्तविक रहस्य क्या है और विश्वरूपका यथार्थ स्वरूप कैसा है, इसको तो वे ही बतला सकते हैं जिनको इस विश्वरूप-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसे सौभाग्यवान्

एक अर्जुन ही हैं अथवा गौणरूपसे व्यासजीके द्वारा दिव्यदृष्टिप्राप्त संजय हैं। परंतु इस समय ये दोनों ही हमारे सामने नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें विश्वरूपका रहस्य समझनेमें शास्त्र, संत, महात्मा और विद्वानोंके विचार तथा अपने अनुमानके सिवा और कोई उपाय नहीं है। यहाँ इन्हीं उपायोंके सहारे भगवान्के इस विश्वरूप-प्रसंगपर कुछ विचार किया जा रहा है। वस्तुतः लेखकको न तो यथार्थ रहस्यका ज्ञान है, न उनका रहस्योद्घाटनका दावा है और न रहस्योद्घाटनके विचारसे यह प्रयास ही किया जाता है। यह तो केवल '**स्वान्तःसुखाय**' है। आशा है, अनुभवी विज्ञ विद्वान् इस बाल-चपलताके लिये कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

भगवान्का स्वरूप क्या और कैसा है, इसको वस्तुतः भगवान् ही जानते हैं। वे निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार सभी कुछ हैं और सभीसे परे हैं। वे क्या हैं और क्या नहीं हैं, इसका विवेचन पूर्णरूपसे न तो आजतक कोई कर सके हैं, न आगे कर ही सकते हैं। भगवान्का जितना भी वर्णन है, सभी आंशिक है, परंतु आंशिक होनेपर भी है उन्हींका, इसीलिये सभी ठीक है। अनन्तका अन्त तो कौन पा सकता है। यथार्थमें भगवान्के स्वरूप, तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और लीला-गुणादिका वर्णन उनके स्वरूपकी यथार्थ व्याख्याके लिये नहीं, वरं अपने कल्याणके लिये ही किया जाता है और इसी दृष्टिसे लेखकका भी यह क्षुद्र प्रयास है।

भगवान्की सृष्टि अनन्त है। हम जिस भूमण्डलमें हैं, यह तो एक सृष्टिका एक अत्यन्त क्षुद्र अंशमात्र है। नक्षत्रविज्ञानी तत्त्ववेत्ताओंका कहना है कि यह सूर्य हमारी पृथ्वीसे नौ करोड़ मीलकी दूरीपर स्थित है। परंतु ऐसे-ऐसे अति विशाल नक्षत्र भी हैं, जहाँकी आलोक-रश्मिको पृथ्वीतक पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं। जान रखना चाहिये कि वैज्ञानिकोंकी गणनाके अनुसार आलोक-रश्मिकी गति (Speed) प्रति सेकेण्ड एक लाख छियासी हजार मील है। अब हिसाब लगाइये कि इतनी तेज चालसे चलनेवाली आलोक-रश्मिको जिस नक्षत्रसे यहाँतक आते-आते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं, वह यहाँसे कितनी दूरीपर होगा। ऐसे अगणित नक्षत्र हमारे विश्वमें हैं, ये सब नक्षत्र चौदह* प्रधान लोकोंके अन्तर्गत विभिन्न लोकमात्र हैं और ऐसे विश्वोंकी गणना असंख्य है। देवीभागवतमें कहा है—

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते।
प्रतिविश्वेषु सन्त्येवं ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥

'धूलके कणोंकी गिनती हो सकती है, परंतु विश्व-ब्रह्माण्डोंकी नहीं हो सकती। इन ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। अतएव जिस प्रकार ब्रह्माण्डोंकी संख्या नहीं है, इसी प्रकार ये ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि भी असंख्य हैं।'

ये सब ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिनके अंशावतार हैं, वे अवतारी एक महेश्वर हैं। उन्हींको पुरुषोत्तम, महाविष्णु, महाशिव, श्रीकृष्ण, श्रीराम, महाशक्ति आदि कहते हैं।

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥

(लिंगपुराण)

'असंख्य रुद्र हैं, असंख्य ब्रह्मा हैं, असंख्य विष्णु हैं, परंतु महेश्वर एक ही हैं।' सृष्टिके प्रकाशके समय ये सब ब्रह्मा, विष्णु, शिव अपने-अपने ब्रह्माण्डमें प्रकट हो जाते हैं और लयके समय पुनः उन सृष्टियोंके साथ ही महेश्वरमें प्रवेश कर जाते हैं। ऐसी सृष्टियाँ असंख्य हैं—

यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले॥

'जैसे समुद्रमें अपार तरंगें उठती हैं वैसे ही परमेश्वरमें ये सृष्टियाँ महान् वायुमें रजःकणोंकी भाँति उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं।'

ब्रह्माण्डों और सृष्टियोंका यह हाल है। ऐसे-ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड परम महिमामय महेश्वरके उस विराट् देहके क्षुद्रातिक्षुद्र अंगोंमें सुशोभित हैं। महेश्वरका वह विराट् देह ऐसा विलक्षण है कि अनन्त सृष्टिकी समस्त दशाओंका उसके अंदर साक्षात् समावेश है। उसमें समस्त कालोंके, समस्त सृष्टियोंके, सृष्टियोंके अंदर होनेवाली समस्त भूत, वर्तमान और भविष्यकी

* चौदह भुवन हैं—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—ये सात देवताओंके ऊर्ध्वलोक हैं और अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये सात असुरोंके अधोलोक हैं। ये ही चौदह भुवन हैं। इनके अन्तर्गत अनेकों लोक-लोकान्तर हैं।

घटनाओंके प्रत्यक्ष दृश्य उपस्थित हैं। कालभेद और देशभेद हमारी दृष्टिमें हैं। भगवान्‌में भूत या भविष्यत् नहीं है, वहाँ सभी कुछ वर्तमान है और इसी प्रकार सम्पूर्ण देश उनके अन्तर्गत एक ही साथ निहित हैं। जहाँ जो कुछ हो चुका है, हो रहा है, होगा और जहाँ जो कुछ था, वर्तमान है और आगे होगा, वह—क्रिया और वस्तु—सब एक ही साथ महेश्वरके विराट् स्वरूपमें स्थित हैं। समस्त सृष्टियोंके साथ महेश्वरका अच्छेद्य सम्बन्ध है; क्योंकि सारी सृष्टियाँ महेश्वरके ही ऐश्वर योगकी लीला या खेल हैं। महेश्वरका सम्पूर्ण ऐश्वर योग अपनी सम्पूर्ण शक्तियों और क्रियाओंसमेत जिस एक ही महान् दिव्य स्वरूपमें नित्य विराजित है वही महेश्वरका ऐश्वर रूप है। उसीको विराट् या विश्वरूप कहते हैं। यह स्वरूप रूपक या केवल ज्ञानका विषय नहीं है। अंशतः चक्षुओंका विषय ही है। हम रात-दिन जो कुछ देखते-सुनते हैं—करते-कराते हैं, यह भी उस महान् विराट् स्वरूपका ही एक अत्यन्त क्षुद्रतम अंश है। परंतु यह मायाकी आँखोंसे मायाके राज्यमें देखा जाता है, इसलिये अदिव्य है। जिनको भगवान् अपने उस दिव्य तेजोमय, आद्य (सनातन) अनन्त, मन-बुद्धि-वचनके अगोचर लोकोत्तर महान् चमत्कारपूर्ण विराट् स्वरूपकी किंचित् झाँकी कराना चाहते हैं उन्हें वे अपनी दिव्यदृष्टि दे देते हैं। बिना दिव्यदृष्टिके उस महान् तेजोमय स्वरूपको कोई देख ही नहीं सकता। देखनेपर भी यह तो सम्भव ही नहीं है कि उसके समस्त अंग-प्रत्यंगोंके समस्त अवयवोंको और उनमें संलग्न सामग्रीको सम्पूर्णरूपसे कोई देख सके। जिन-जिनको भगवान्‌ने वह स्वरूप दिखलाया है, सबने उसके विभिन्न अंश ही देखे हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है कि **'ईश्वराणां परमं महेश्वरम्'**, **'सर्वलोकमहेश्वरम्'**, **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** आदि रहस्यमय वाक्योंसे जिन ईश्वरोंके महान् ईश्वर, पुरुषोत्तम भगवान्‌का निर्देश किया गया है, उन पूर्ण पुरुषोत्तम समग्र ब्रह्म स्वयं भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे कोई भी इस विश्वरूपको नहीं दिखला सकते। पूर्णावतार भगवान्‌ने श्रीरामरूपसे माता कौसल्याजीको तथा भक्तराज काकभुशुण्डिजीको इस स्वरूपकी किंचित् झाँकी करायी थी और श्रीकृष्णरूपमें गोकुलमें यशोदा मैयाको, कुरुक्षेत्रके रणांगणमें भक्तराज अर्जुनको, कौरवोंकी राजसभामें भीष्म, द्रोणाचार्य आदि और तपोधन मुनिगणोंको एवं ऋषियोंके आश्रमोंमें गुरुभक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीउत्तंकजीको इस स्वरूपके दर्शन कराये गये थे। रामचरितमानसका वर्णन देखिये—बालकाण्डकी कथा है। माता कौसल्याजी शिशुरूप श्रीरामजीको नहलाकर शृंगार करके पालनेमें पौढ़ा देती हैं और स्वयं इष्टदेवकी पूजाके लिये स्नान करके उनकी पूजा करती हैं और भोग चढ़ाती हैं। फिर किसी कार्यसे चौकेमें जाकर लौटकर देखती हैं तो रामजी भोग लगाते दिखायी देते हैं। कौसल्याजी घबराकर पालनेके समीप जाती हैं तो वहाँ भी श्रीरामजीको उसमें सोये पाती हैं, फिर यहाँ आती हैं तो यहाँ प्रसाद पाते देखती हैं। एक ही साथ दो स्थानोंमें श्रीरामजीको देखकर माता घबरा उठती हैं। इतनेमें प्रभु हँस देते हैं और माताको अपना अद्भुत अखण्ड विश्वरूप दिखलाते हैं। विश्वरूप देखकर माता पुलकित हो जाती हैं। वे अपनी आँखें मूँद लेती हैं और सिर नवाने लगती हैं। बस, विश्वरूपका उपसंहार हो जाता है और भगवान् पुनः शिशुरूप बन जाते हैं—

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसु रूप खरारी॥

श्रीअवधपुरीमें बालरूप श्रीरामजीके साथ काकभुशुण्डिजी खेल रहे हैं। श्रीरामजीने काकजीको पकड़नेके लिये हाथ फैलाया। वे उड़े, हाथ पीछे-पीछे चला। लोक-लोकान्तरोंमें, जहाँतक गति थी, काकभुशुण्डि गये; परंतु दो अंगुलके बीचसे सर्वत्र श्रीरामजीके हाथको अपने पीछे देखा। उन्होंने डरकर आँखें मूँद लीं। फिर जब नेत्र खोले तो अपनेको अयोध्याजीमें पाया। इतनेमें भगवान्‌ने हँस दिया, भुशुण्डिजी खिंचकर उनके मुखमें प्रवेश कर गये और अंदर भगवान्‌के विराट्‌रूपके भिन्न-भिन्न स्तरोंमें घूमने लगे। अन्तमें घबरा उठे, व्याकुल हो गये, पूरा न देख सके, तब श्रीरामजी हँसे और उनके हँसते ही वे बाहर आ गये।

देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

श्रीकृष्णरूपमें सबसे पहले यशोदा मैयाको मुखमें दर्शन कराये। यशोदाजीने श्यामसुन्दरके छोटे-से मुखमें विराट्‌स्वरूप देखा। यहाँतक कि उसके एक कोनेमें गोकुल गाँवके श्रीनन्दरायजीके घरमें अपनेको भी देखा। वे मोहित हो गयीं। आगे न देख सकीं। तब

भगवान्‌ने अपना वह रूप संवरण कर लिया। यह कथा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें है।

कौरवोंकी राजसभामें जब दुर्योधनने दूतरूपसे पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णको कैद करनेकी दुरभिसन्धि की, तब आप खिलखिलाकर हँस पड़े। हँसते ही विराट्स्वरूपका प्राकट्य हो गया। उस महान् रूपको देखते ही सब राजाओंने मारे डरके घबराकर आँखें मूँद लीं। वे कुछ भी न देख सके। गुरु द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपोमूर्ति ऋषि-मुनियोंने भगवान्‌के उस स्वरूपको देखा; क्योंकि भगवान्‌ने उनको दिव्य दृष्टि दे दी थी—

प्रादात्तेषां स भगवान् दिव्यचक्षुर्जनार्दनः।

धृतराष्ट्रने भी दिव्य दृष्टिके लिये प्रार्थना की, तब भगवान्‌ने कृपा करके उनको भी दिव्यदृष्टि देकर अपना स्वरूप दिखलाया। तदनन्तर पृथ्वी हिल उठी, समुद्र खलबला उठे, तब भगवान्‌ने अपना वह विराट्स्वरूप संवरण कर लिया। यह कथा महाभारतके उद्योगपर्वमें है।

इसके बाद भीष्मपर्वमें श्रीमद्भगवद्गीताका विश्वरूप-प्रदर्शन-प्रसंग है। इसपर आगे चलकर विचार करना है। इसके अनन्तर अश्वमेधपर्वमें उत्तंक ऋषिको विराट्स्वरूप-दर्शन करानेकी कथा मिलती है। महाभारतयुद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको कारण मानकर उत्तंक ऋषि भगवान्‌को शाप देनेको तैयार हो गये। भगवान्‌ने कहा—'मुनिवर! आप तपस्वी हैं, परंतु मुझे शाप देनेसे आपका तप नष्ट हो जायगा। आपके शापका मुझपर कुछ भी प्रभाव न होगा।' इसके बाद मुनिके पूछनेपर भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप-तत्त्व समझाया और फिर मुनिकी प्रार्थनापर उनको अपना दिव्य विश्वरूप दिखलाया। वैशम्पायनजी कहते हैं—

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद्धनंजयः॥

(५५।४)

'तब उनपर प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णने उनको उसी सनातन वैष्णव स्वरूपके दर्शन कराये; जिसके बुद्धिमान् अर्जुनने दर्शन किये थे।'

भगवान्‌का विराट्रूप देखकर मुनि सहम गये और बोले—

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम्।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम्॥

(५५।९)

'देव! आप अपने इस अक्षय, उत्तम स्वरूपको समेट लीजिये। मैं आपको फिर उसी अपने सनातन श्रीकृष्णरूपमें देखना चाहता हूँ।' तब भगवान्‌ने अपना विराट्रूप संवरण करके उन्हें फिर श्रीकृष्णरूपमें दर्शन दिये।

यहाँ कई प्रकारकी शंकाएँ होती हैं, उनमें प्रधान ये हैं—

१—यदि विराट् या विश्वरूप एक ही है तो सबको अलग-अलग रूपोंके दर्शन क्यों हुए? कौसल्याजी और काकभुशुण्डिजीने रामजीको देखा, यशोदा मैयाने गोकुलसमेत अपनेको देखा, अर्जुनने भीष्म-द्रोणका चूर्ण होना देखा, कौरव-सभामें भीष्मादिने सात्यकि और पाण्डवोंको भी भगवान्‌के शरीरमें देखा। एक ही स्वरूपमें इतने भेद क्यों?

२—यदि विराट्रूप एक नहीं है और समय-समयपर प्रकट होनेवाले अनेक हैं, तो क्या वे सभी नित्य हैं। यदि नित्य नहीं हैं और उन्हींमें गीतोक्त विश्वरूप भी है तो फिर भगवान्‌ने उसको 'आद्य' (सनातन) और 'अनन्त' तथा उत्तंक मुनिने 'अक्षय' (अविनाशी) कैसे बतलाया?

३—यदि सब एक ही है तो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे स्पष्ट ऐसा क्यों कह रहे हैं कि यह रूप तेरे सिवा न किसीने आजतक देखा और न आगे कोई देख सकता है—**'त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्'**, **'त्वदन्येन न द्रष्टुं शक्यः'**। यदि ऐसी बात है तो दूसरोंने उसे कैसे देखा? यदि कहें कि दूसरे किसीने नहीं देखा तो फिर वैशम्पायनजी यह कैसे कह सकते हैं कि उत्तंकने वही रूप देखा जो अर्जुनने देखा था? विचार करनेपर पता लग जायगा कि इन प्रश्नोंका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। समझनेके लिये यहाँ फिरसे उसीको दोहराया जाता है। भगवान् महेश्वरका एक नित्य अनन्त विराट्रूप है। जिसमें भूत, वर्तमान, भविष्य—सभी कालोंकी सभी सृष्टियोंके तथा सभी ब्रह्माण्डोंके पूरे कार्य साक्षात्‌रूपसे रहते हैं। वह विराट्रूप स्वरूपतः एक होनेपर भी जब किन्हींको दिखाया जाता है, तब उस स्वरूपके अपरिमित तेज, प्रभाव, असीम और अनन्त विस्तार आदि ऐश्वर्यका स्तर तो न्यूनाधिकरूपसे

अवश्य ही दिखलाया जाता है; परंतु सृष्टिचक्रकी प्रायः उन्हीं घटनाओंके स्तर दिखलाये जाते हैं, जिनका देखनेवालेसे सम्बन्ध होता है और जिसके दिखलानेकी आवश्यकता समझी जाती है। पूर्णरूप तो अनन्त और अप्रमेय है—उसे तो कोई देख ही नहीं सकता। जैसे सिनेमाकी कोई बड़ी भारी फिल्म हो और उसमें बहुत ही लम्बी घटनावलियोंके चित्र अंकित हों और उसमेंसे जैसे एकके बाद दूसरे दृश्य देखनेवालोंके सामने आते हों। इसी प्रकार महेश्वरके विराट्स्वरूपके अनन्त स्तर हैं और भगवान् उनमेंसे जिसको जिस स्तरसे जिस स्तरके दर्शन कराना चाहते हैं उसीके कराते हैं। फिर या तो स्वयं ही उसे समेट लेते हैं या देखनेवाला ही नहीं देखना चाहता। इससे वह वहींतक देख पाता है। इससे यह पता लगता है कि मूलतः स्वरूप एक ही है; परंतु वह अनन्त है, वह सब नहीं देखा जा सकता। कौसल्याजी, काकभुशुण्डिजी, यशोदा मैया, भीष्मादि, अर्जुन और उत्तंक—इन सबने देखा उस एक ही विराट्स्वरूपको; परंतु अप्रमेय होनेसे तथा आवश्यकता न होनेके कारण पूरा कोई न देख सके और इसीके साथ-साथ सबने देखा अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्योंके स्तरोंको ही। इसलिये वस्तुतः एकको देखनेपर भी उनके दर्शनोंमें भेद रहना उचित ही है और इसीलिये अर्जुनसे भगवान्का यह कहना भी सत्य है कि यह रूप—अर्थात् तुमने लीलाका जो दृश्य देखा उस दृश्यसे युक्त ऐसा विश्वरूप—तुम्हारे सिवा पहले किसीने नहीं देखा और आगे भी कोई नहीं देख सकता। और चूँकि स्वरूप तत्त्वतः एक ही है, इससे वैशम्पायनजीका यह कथन भी ठीक ही है कि अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वही उत्तंकजीको दिखलाया। भगवान्का यह विराट्स्वरूप जिस अनादि और अचिन्त्यकालसे सृष्टिचक्र चला, तबसे है और जबतक यह चक्र रहेगा, तबतक रहेगा। इससे उसको 'आद्य' (सनातन), 'अनन्त' और 'अक्षय' (अविनाशी) कहना भी उचित ही है; क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टिचक्रोंका आधार यही स्वरूप है। सब इसीसे उत्पन्न होते हैं, इसीमें निवास करते हैं और इसीमें लय हो जाते हैं।

अब गीताजीके प्रसंगपर ध्यान दीजिये—

दसवें अध्यायमें संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन करके जब भगवान्ने अन्तमें यह कहा कि 'अर्जुन! बहुत जाननेमें क्या है, तुम यही समझ लो कि इस सारे जगत्को मैंने अपने एक अंशमात्रमें धारण कर रखा है।' बस, तभी अर्जुनके मनमें यह आकांक्षा जाग उठी कि जिस भगवान्के एक अंशमें यह उत्पत्ति विनाशमय सारा 'जगत्' स्थित है, उन भगवान्का पूर्णरूप अवश्य देखना चाहिये। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि जन्मना, रहना, बढ़ना, घटना, रूपान्तर होना और नाश होना—ये छः अवस्थाएँ जैसे व्यष्टि शरीरकी हैं, वैसे ही समष्टि शरीरकी भी हैं। इन छहों अवस्थावाले पदार्थोंसे युक्त छहों अवस्थावाली जो सृष्टि है उसीको जगत् कहते हैं। इसलिये 'जगत्' शब्दसे जगत्में होनेवाले सृजन, पालन और संहार, जगत्के भूत, वर्तमान और भविष्य आदि सभी कुछ आ जाते हैं। ऐसे जगत्को एक अंशमें धारण करनेवाले भगवान्को सर्वांश पूर्णस्वरूपमें देखनेकी इच्छा होनेसे ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुन कहते हैं—'भगवन्! मुझपर कृपा करके आपने परम गोपनीय ऐसा उपदेश दिया कि मेरा मोह नष्ट हो गया। मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका विस्तार और आपके अविनाशी माहात्म्यको भी सुना। परमेश्वर! पुरुषोत्तम! (यहाँ परमेश्वर और पुरुषोत्तम—ये दोनों ही सम्बोधन ध्यान देनेयोग्य हैं) अब मैं आपका वह 'ऐश्वर रूप' प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि मैं उसके दर्शन करनेयोग्य समझा जाऊँ तो मुझे योगेश्वर! आप अपने उस अव्यय (अविनाशी) स्वरूपके दर्शन कराइये।'

इसके बाद भगवान् अपने विश्वरूपका संक्षेपमें वर्णन करते हुए अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं और अपना ऐश्वर योग (इसकी आंशिक सूचना नवें अध्यायमें दी जा चुकी थी) प्रत्यक्ष पूर्णरूपसे देखनेकी आज्ञा करके स्वरूप प्रकट करते हैं। संजय यहाँ कहते हैं कि 'महायोगेश्वर भगवान्ने तब अर्जुनको वह श्रेष्ठ ऐश्वर रूप दिखलाया। इसके बाद श्लोक १० से १३ तक संजयने भगवान्के उस दिव्य विश्वरूपका जो वर्णन किया है उससे पता लगता है कि आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको वही स्तर दिखलाया जो ऐश्वर्य और सौन्दर्यमें पूर्ण था, उसे देखकर अर्जुन आश्चर्य और हर्षमें डूब गये (डरे नहीं) और पुलकित होकर तथा प्रणाम करके मुग्ध होकर उनके स्वरूपका वर्णन करने लगे। सिनेमाके फिल्मकी भाँति विराट्स्वरूपके

स्तर-के-स्तर एकके बाद एक उनके दिव्य नेत्रोंके सामने आ रहे हैं, सिनेमाके जड, विनाशी, क्षुद्र फिल्मके साथ भगवान्‌के उस दिव्य असीम अनन्त रूपकी तुलना किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। (समझनेके लिये यह संकेतमात्र किया गया है। वस्तुतः इससे उसकी किसी अंशमें भी उपमा नहीं दी जा सकती।) अर्जुन देखते हैं और वैसा ही वर्णन करते जाते हैं। विश्वरूपका कहीं ओर-छोर न देखकर १६ वें श्लोकमें अर्जुनके नेत्र और मन-बुद्धि थकित हो जाते हैं। हार मान बैठते हैं और वे कहते हैं—'मैं सब ओर आपके अनन्तरूपको देखता हूँ। आपका न कहीं आदि है, न मध्य है और न अन्त है।' फिर १७ वें श्लोकमें कहते हैं, आप अप्रमेय-स्वरूप हैं, आपके विस्तारका कहीं पार ही नहीं है। इसके बाद १८ वेंमें प्रभावका वर्णन करके १९ वेंमें अर्जुन भगवान्‌के उस चन्द्र-सूर्यके नेत्रवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे जगत्‌को तपानेवाले रूपको और श्लोक २० से २२ तक भगवान्‌के स्वरूपकी अत्यन्त उग्रतासे तीनों लोकोंको व्यथित, देवताओंको भयभीत, ऋषियोंका स्तवनपरायण और रुद्र, आदित्य आदिको विस्मित देखते हैं। ज्यों-ज्यों विश्वरूपके उग्र स्तर नेत्रोंके सामने आते हैं, त्यों-ही-त्यों अर्जुन डरते जाते हैं और २३वें श्लोकमें स्पष्ट कह देते हैं कि आपके महान् उग्र रूपको देखकर सब लोकोंके साथ-साथ मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। इससे पता लगता है कि अर्जुन अब पहलेकी भाँति हर्षितचित्त नहीं हैं, वरं डर रहे हैं और २४ वेंमें तो यहाँतक कह डालते हैं कि डरके मारे मैं अपनेमें 'धीरज और शान्ति नहीं देख पाता हूँ'—'**धृतिं न विन्दामि शमं च।**' फिर २५से ३० तक वे और भी उग्र रूप देखते हैं और ३१वें श्लोकमें अत्यन्त डरकर नमस्कार करते हुए भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं और पूछते हैं कि 'महाराज! बतलाइये, आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?'

बस, यहीं विश्वरूपके अगले स्तरोंके दर्शन बंद हो जाते हैं। अर्जुनने विश्वरूपके जिस भयंकर स्तरको देखकर घबराकर उनसे प्रार्थना की, उसी रूपमें स्थित रहकर भगवान् कहने लगे कि 'मैं काल हूँ, सबका संहार करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र बन जा' इत्यादि। इसके बाद भी अर्जुनके सामने वही उग्र रूप बना रहता है। डरे हुए अर्जुन भगवान्‌की स्तुति आरम्भ करते हैं, नमस्कार करते हैं और पहले की हुई अवज्ञाओंके लिये पश्चात्ताप करते हुए क्षमा चाहते हैं। एवं अन्तमें विश्वरूपका संवरण करके अपना चिरपरिचित सौन्दर्य-माधुर्यसे युक्त गदा-चक्रधारी चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये विनय करते हैं। अर्जुनके इस स्तवनमें पहले ३६ वें श्लोकके बाद ४६ वें श्लोकतक कहीं विश्वरूपके स्वरूपका वर्णन नहीं है। इसका यही तात्पर्य है कि अब विश्वरूपके अन्य स्तरोंके दर्शन रुक गये हैं, केवल वही भयंकर उग्र रूप अर्जुनके सामने है। भगवान्‌का यहींतक अर्जुनको दर्शन करानेका प्रयोजन था और अर्जुन भी इससे आगे देखना नहीं चाहते थे। बिना चाहे भगवान् दिखाते भी क्यों?

इसके बाद भगवान् अपने इस विश्वरूपको परम तेजोमय, आद्य (आदिरूप-सनातन) और अनन्त कहकर इसकी प्रशंसा करते हैं और अर्जुनको आश्वासन देते हुए कहते हैं कि मैंने प्रसन्न होकर ही तुमको ऐसा (वर्तमान महाभारतके वीरोंके संहारके दृश्यसे युक्त) प्रभावशाली महान् महिमामय स्वरूप दिखलाया है, जो अबतक किसीने नहीं देखा तथा आगे कोई देख नहीं सकता। तू मेरे इस घोर रूपको देखकर व्याकुल मत हो। मूढ़ता छोड़ दे। अब तेरे इच्छानुसार इस रूपका संवरण करके मैं तुझे वही चतुर्भुज रूप दिखलाता हूँ। तू उसे देख!

इस प्रकार यह प्रसंग समाप्त होता है। यहाँ दो-तीन शंकाएँ और की जाती हैं—

१-इतना बड़ा भगवान्‌का अप्रमेय स्वरूप जरासे रथपर भगवान्‌ने अर्जुनको कैसे दिखलाया?

२-भगवान्‌का विश्वरूप यदि नित्य, अविनाशी और सनातन है तो उसमें ये विनाशी शरीर आदि प्राकृतिक पदार्थ कैसे रहते हैं?

३-सृष्टिका भविष्य पहलेसे ही निश्चित है और भगवान् उसे जानते हैं, तो फिर अमुक कर्म करो, अमुकका अमुक फल होगा, यह क्यों कहा जाता है?

इन शंकाओंका समाधान क्रमशः यह है कि १-भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे अवकाशमें अनवकाश, अनवकाशमें अवकाश कर सकते हैं, सूईके छेदसे सृष्टिको निकाल सकते हैं। उनके लिये कुछ भी

अशक्य नहीं है, उनके लिये जरा-से स्थानमें अपना विराट्स्वरूप दिखलाना कौन बड़ी बात है?

२-यह सारा जगत् भगवान्का खेल है, खेलकी समस्त वस्तुएँ भगवान्के विराट् शरीरमें ही तो रहती हैं। क्षर, अक्षर सब उस खेलकी वस्तुएँ हैं, इसलिये उनका विश्वरूपमें दीखना उचित ही है। इससे उनके अविनाशीपनमें कोई बाधा नहीं आती।

३-हमारे लिये तो भविष्य निश्चित नहीं है; हमें तो अपने कर्मका ही फल मिलता है। परंतु भगवान्के लिये भविष्य कोई वस्तु ही नहीं है। जहाँ जो कुछ है सब भगवान्की दृष्टिमें है। वे त्रिकालज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं। अनिश्चित और निश्चित दोनोंको ही वे जानते हैं। कैसे जानते हैं इस बातका उत्तर उनके सिवा और कौन दे सकता है?

अन्तमें यह निवेदन है कि जो महानुभाव इस प्रसंगको काव्य, रूपक, ज्ञान-प्रदान या माया कहते हैं, वे भी अपनी-अपनी दृष्टिसे सत्य ही कहते हैं; क्योंकि यह महान् सुन्दर काव्य है ही। रूपक बन ही सकता है। ज्ञान-प्रदान तो निस्सन्देह था ही; और सब कुछ भगवान्की लीला है, तब उसे भगवान्की माया बतावें तो क्या अनुचित है। लीला और भगवान्की स्व-माया एक ही चीज तो है।

किसी भी बहाने भगवान्के गुणोंकी चर्चा करना परम कल्याणकारक है, इसी उद्देश्यसे यह सब लिखा गया है। अज्ञताके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना है।

विषय-चिन्तनसे सर्वनाश और भगवच्चिन्तनसे परम शान्ति

(एक प्रवचनका सारांश)

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
ध्यानाभ्याससवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

पूज्य गुरुजनो और बन्धुओ!

अखिल विश्वनायक सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और समस्त गुरुजनोंके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेके अनन्तर सेवामें कुछ निवेदन करता हूँ।

माता-पिता आदि गुरुजनोंको अपने बच्चेका खेल कैसा भी हो आनन्दप्रद होता है। मैं समझता हूँ कि मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त है, इसीसे आप मुझे कुछ सुनानेकी आज्ञा देते हैं। मैं भी यह आशा करता हूँ कि आप गुरुजन मुझे बालक समझकर मेरे उचित-अनुचित कथनपर ध्यान न देकर सब प्रकार अपना स्नेहपात्र ही समझेंगे।

कई सज्जनोंने मुझसे भिन्न-भिन्न कई प्रश्न किये हैं और उन प्रश्नोंके उत्तरमें निवेदन करनेकी आज्ञा दी है। इस समय मैं जो कुछ कहूँगा, उसमें उनके प्रश्नोंका उत्तर आ जाय तो वे समझ लेंगे। किसी दार्शनिक विषयपर कुछ कहनेकी न तो मुझमें योग्यता है, न अधिकार है, मैं तो एक बालककी तरह जैसा मेरी वाणीसे निकलेगा कहता जाऊँगा। आपलोग क्षमा तो करेंगे ही।

सबसे पहली बात तो यह कहनी है कि विषय-चिन्तनसे हमारा सर्वनाश होता है और भगवच्चिन्तनसे हमें कभी नाश न होनेवाली परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। इसीसे गीतामें एक जगह आता है '**प्रणश्यति**' और दूसरी एक जगह आता है '**न प्रणश्यति**'। भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(२।६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनासे क्रोध पैदा होता है, क्रोधसे भलीभाँति मूढ़ता उत्पन्न हो जाती है, मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश होकर अन्तमें सर्वनाश हो जाता है।' दूसरी जगह श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे (एकमात्र मुझको ही शरण्य मानकर) मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

समझनेकी बात है। एक अच्छा आदमी है, उसके संचित भी अच्छे हैं, वह भी कुसंगतिमें पड़कर यदि विषयचिन्तनमें लग जाता है तो क्रमशः सर्वनाशके पथपर अग्रसर होता है। और एक महापापी भी अच्छे संगके प्रभावसे यदि मनमें निश्चय करके अनन्यभावसे भगवच्चिन्तन करने लगता है तो सब पापोंसे छूटकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त होता है। इसीलिये संतोंने कहा है—आगे-पीछेकी चिन्ताको छोड़कर वर्तमानको सुधारो।

कर्म तीन प्रकारके हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पिछले असंख्य जन्मोंके और इस क्षणसे पूर्वतकके जितने भी कर्म बिना भोगे हुए जमा हैं उनका नाम **'संचित'** है, संचितमेंसे कर्मोंका जितना अंश इस जीवनमें भोग देनेके लिये प्रवृत्त है वह **'प्रारब्ध'** है और जो कुछ सकामभावसे नये कर्म किये जाते हैं वह **'क्रियमाण'** है। मनमें होनेवाली स्फुरणाओंमें प्रधान कारण प्रायः **'संचित'** है। जैसा अच्छा-बुरा संचित होता है वैसी ही अच्छी-बुरी स्फुरणाएँ होती हैं, परंतु अधिकतर स्फुरणाएँ उसी संचितकी होती हैं जो नवीन होता है। किसी गोदाममें बहुत-सी चीजें रखी हैं। उसमेंसे निकालने जानेपर वही चीज सबसे पहले निकलेगी जो सबके बाद रखी गयी है। पुरानी चीजें या तो पीछे पड़ी हैं या नीचे दबी हैं। यद्यपि बीच-बीचमें उनकी भी गन्ध आया करती है। इसी प्रकार हमारे वर्तमान कर्म जैसे होते हैं वैसा ही संचित होता है और उसीके अनुसार स्फुरणाएँ होती हैं। फिर बार-बार जैसी स्फुरणा होती है वैसे ही कर्ममें प्रवृत्ति होती है। जैसे लड़कपनमें जब हम पढ़ते थे, तब पढ़नेके सम्बन्धकी बातें ही अधिक याद आया करती थीं। अब यदि व्यापार करते हैं तो हमें रात-दिन व्यापारसम्बन्धी बातें ही अधिक याद आती हैं; क्योंकि यही वर्तमानका नवीन कर्म है, जो संचित बनता है और उसीके अनुसार स्फुरणा होकर फिर उसी व्यापारमें ही प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार वर्तमान नवीन कर्मके अनुसार नवीन संचित, नवीन संचितके अनुसार स्फुरणा, स्फुरणाओंके अनुसार फिर वैसा ही नवीन कर्म, कर्मके अनुसार फिर संचित और स्फुरणा। यों वर्तमान कर्मके अनुसार एक चक्र बन जाता है जो उसी प्रकारके संचितको बढ़ाता रहता है। अतएव यदि हमारे संचितकी गोदाममें पहलेके बहुत पुण्य जमा हों, परंतु वर्तमानमें कुसंगमें पड़कर यदि हम बुरे कर्म करने लगते हैं तो उन्हींके अनुसार विषयोंका चिन्तन होता है और उनसे फिर वैसे ही बुरे कर्म बनते हैं और हम सर्वनाशके मुँहमें चले जाते हैं। पाप इतने बढ़ जाते हैं कि उनसे दबे हुए पुण्योंकी गन्ध भी कहीं मुश्किलसे आती है और एक महापापी अपने पूर्व पापोंको छोड़कर *'गयी सो गयी, अब राख रहीको'* इस युक्तिके अनुसार अपना शेष जीवन भगवान्‌के समर्पण कर भगवान्‌का अनन्य चिन्तन करने लगता है तो इस चिन्तनरूपी कर्मसे उसका वैसा ही संचित बनता है और वैसी ही स्फुरणा होती है। इस प्रकार भगवच्चिन्तनरूप कर्मका चक्र बन जानेसे ज्ञानाग्नि पैदा होकर उसके कर्मकी सारी गोदामको जला देती है और वह परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

यह बात याद रखनी चाहिये कि पापोंका मूल विषयासक्ति है। कुछ लोग यह कहते हैं कि पाप प्रारब्धसे होते हैं, परंतु यह बात ठीक नहीं। गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुनका प्रश्न है कि 'भगवन्! वह क्या वस्तु है जो इच्छा न होनेपर भी मनुष्यको मानो जबरदस्तीसे पापमें प्रवृत्त कर देती है?' इसके उत्तरमें भगवान् गीता ३। ३७ में कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

यहाँ भगवान्‌ने कामको ही पापका हेतु बताया है। कहा है कि यह रजोगुणसे उत्पन्न है, रज रागात्मक है यानी आसक्ति या संग ही रजोगुण है। यह आसक्ति

विषयोंके चिन्तनसे होती है अतएव विषयचिन्तन ही सर्वनाशका प्रधान कारण है। यदि इस सर्वनाशसे बचकर शाश्वती शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो विषय-चिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। उपर्युक्त ९। ३१ के श्लोकमें भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि मेरे ऐसे भक्तका नाश नहीं होता। यहाँ एक बात और याद आ गयी, उपर्युक्त श्लोकके अन्तिम अर्धांशका यह अर्थ भी किया जाता है कि 'अर्जुन! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरा भक्त नाशको प्राप्त नहीं होता।' यद्यपि यह अर्थ कुछ असंगत-सा मालूम होता है। बात भगवान् कहें और प्रतिज्ञा अर्जुन करें। परंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्ने यहाँ ऐसा कहकर मानो भक्तके साथ अपने एक विलक्षण सम्बन्धका परिचय दिया है। भगवान्की प्रतिज्ञा कभी टलनेवाली नहीं होती, परंतु यदि उस प्रतिज्ञाके विरुद्ध किसी भक्तका प्रण अड़ जाय तो वहाँ भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देनी पड़ती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ ही दिनों बाद महाभारत-युद्धमें मिलनेवाला था। सर्वज्ञ भगवान् इस बातको जानते थे कि भक्त-शिरोमणि भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मुझे अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ेगी। इसीलिये यहाँ अपने कथनको और भी पुष्ट करनेके लिये भक्तवर अर्जुनसे प्रतिज्ञा करवाते हैं। इस विचारसे यह अर्थ भी ठीक बैठता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि बिना भोगे ही पापोंका नाश होना तो कर्म-सिद्धान्तके विपरीत बात है; इसका समाधान यह है कि कर्म-सिद्धान्तकी रचना करनेवाले भगवान्ने ही इस नियमको भी रचा है कि जो पुरुष मेरे शरण होकर मेरा अनन्य चिन्तन करता है, उसके पाप-ताप तुरंत ही नष्ट हो जाते हैं। भगवान्ने श्रीरामके रूपमें भी यही कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

एक सज्जन पूछते हैं कि 'इस समय भजनकी जैसी प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़ रही है यदि यह इसी प्रकार बढ़ती रही और अच्छे-अच्छे सभी लोग इसमें लग गये तो फिर लौकिक कर्तव्यका पालन कौन करेगा?' इसपर मेरा यह निवेदन है कि प्रथम तो ऐसा सम्भव नहीं कि सब लोग भजनमें लग जायँ और यदि सम्भव भी हो तो दूसरी बात यह है कि भगवान्के सच्चे भक्त कर्तव्यकी सीमासे परे पहुँच जाते हैं। वे अपना सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अकर्मण्य बन जाते हैं। उनका अपना कोई कर्म नहीं रहता। भगवान् जैसा चाहें वैसा ही उनके द्वारा करवा सकते हैं। भगवान् जो कुछ करायेंगे वही उन्हें प्रसन्नतासे स्वीकृत होगा। वे कर्मके स्वरूपको प्रधानता न देकर भगवान्की मंगलमयी रुचिको और उनके संकेतको प्रधानता देंगे। अतएव उनके कर्म भगवत्-प्रेरित होनेके कारण स्वाभाविक ही लोकहितकारी, निर्दोष और भगवान्की पूजास्वरूप होंगे। उन कर्मोंमें न आसक्ति होगी, न विषयवासना और न लोकैषणा ही। इस प्रकार भक्तोंके द्वारा कर्म होंगे, पर अमंगल कर्म नहीं होंगे। अतएव इस शंकाको कोई स्थान नहीं। जहाँ जिस लौकिक कर्मको भक्तोंसे करवानेकी भगवान् आवश्यकता समझेंगे वहाँ करा लेंगे और उसमें भक्तोंको कभी इनकार नहीं है। सच्चे भक्तोंके द्वारा जगत्का सर्वथा मंगल ही होता है।

हाँ, जो लोग भजनके नामपर आलस्य और अकर्मण्यताको आश्रय देते हैं, भगवान्के संकेतको न समझकर चुपचाप पड़े रहना चाहते हैं उनकी बात दूसरी है, परंतु जो लोग यथार्थ ही भजनके लिये संसार-त्यागकर वनवासी हो जाते हैं और भगवान्की इच्छासे केवल भजनमें ही रत रहते हैं, वे इनमें शामिल नहीं हैं। ऐसे एकान्तसेवी भजनानन्दी भक्तोंसे जगत्का बड़ा कल्याण होता है। महत्त्व तो भगवत्प्रेममें है, काम छोड़ने और न छोड़नेमें नहीं। गोपियाँ वनवासिनी नहीं थीं, परंतु उनका प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वनवासी गृहत्यागी महात्माओंने भी उन्हें प्रेमपथकी आचार्या माना है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कई बार गोपांगनाओंके महत्त्वका श्रीमुखसे वर्णन किया है। अपनेको उनका ऋणी माना है और उनका महत्त्व बड़े-बड़े देवताओं, महर्षियों, भक्तों और पटरानियोंको दिखलाया है। ऐसी अनेकों कथाएँ मिलती हैं।

एक सज्जनने मुझसे पूछा है कि 'प्रेममें 'अद्वैत' है या नहीं?' मेरा उत्तर है कि अवश्य 'अद्वैत' है। प्रेम अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय तत्त्व अद्वैत ही होता है। प्रेमसे ही यथार्थ तत्त्वका रहस्य जाननेमें आता है और प्रेमसे ही प्रेमास्पदके साथ प्रेमीका सहज एकात्म्य

होता है। किंतु यह अद्वैत 'रसाद्वैत है—आनन्दाद्वैत है।'

एक दूसरे सज्जनका कहना है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं या किसी देशविशेषके निवासी? यदि सर्वव्यापी हैं तो भक्तोंके इस कथनकी संगति कैसे बैठती है—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भगवान् वृन्दावनसे बाहर एक पग भी नहीं जाते और यदि यही ठीक है तो वे सर्वव्यापी कैसे हैं? इसपर मेरा यह निवेदन है कि दोनों ही बातें ठीक हैं। अवश्य ही गोपियोंके भगवान् वृन्दावनको छोड़कर कहीं एक पग भी नहीं जाते। वह निरन्तर उनकी आँखोंके सामने ही रहते हैं। यदि वृन्दावनमें गीताके 'काल' रूप भगवान् आ जायँ तो गोपियाँ उनसे डर जायँ। अर्जुन भी डर गये थे और वृन्दावनमें **'तोत्त्रवेत्रैकपाणयः'** सारथिरूप भगवान्‌की आवश्यकता भी नहीं है। वृन्दावनके भगवान् तो दिव्य सौन्दर्य और माधुर्यके सागर हैं। वे ललित त्रिभंगीलाल हैं। मुरली हाथमें लिये ऐसी बाँकी छटासे नाचते रहते हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस स्वरूपको देखनेकी इच्छा करते हैं और देखते ही सब कुछ भूलकर मोहित हो जाते हैं। ये नटवर मुरलीमनोहर यदि महाभारतकी रणभूमिमें चले जायँ तो रसभंग न हो जायगा? अतएव रसिकशिरोमणि श्रीकुंजविहारीका वृन्दावनकी निकुंज-वीथियोंसे बाहर न निकलना ठीक ही है। भगवान्‌की जहाँ जैसी लीला होती है, उसीके अनुरूप उनका दिव्य मंगल विग्रह होता है। परंतु यह ध्यानमें रहे कि भगवान्‌का मंगलमय विग्रह इस मायाका बना हुआ नहीं होता। वह सच्चिदानन्दघन होता है, इसीसे वाल्मीकिजीने भगवान् श्रीरामसे कहा—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

और इसीसे बड़े-बड़े ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भगवान्‌के दिव्य मंगल विग्रहको देखकर प्रेमकी बाढ़में बह जाते हैं। मिथिलापुरीमें जिस समय ब्रह्मनिष्ठशिरोमणि महाराज जनकने पहले-पहल भगवान् श्रीरामको लक्ष्मणके साथ देखा, उस समय उनका प्रेम इतना उमड़ा कि वे अपने आँसुओंको न रोक सके और विश्वामित्रसे पूछने लगे कि 'भगवन्! ये दोनों कौन हैं? मेरा हृदय स्वाभाविक ही वैराग्यरूप है। मुझे वैराग्यके लिये कोई साधना नहीं करनी पड़ती, परंतु आज इन बालकोंके स्वरूपको देखकर मेरा मन इतना विवश हो गया कि मैं अपने मनको नहीं रोक सकता। इन्हें देखते ही इतना प्रेम बढ़ गया कि बरबस मेरा मन ब्रह्मसुखको त्यागकर इस प्रेमानन्दमें मग्न हो गया—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

भला, भगवान्‌का यह रूप पांचभौतिक होता तो क्या ब्रह्मविद्वरिष्ठ जनकजीको ऐसा मोह हो सकता था? स्वयं जनक इस बातको स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मज्ञानमें मेरा प्रवेश है, परंतु राम और रामके भक्तोंके प्रेमको समझना मेरे अधिकारकी बात नहीं है। जिस समय चित्रकूटमें भरतजी भगवान्‌से अयोध्या लौटनेके लिये आग्रह कर रहे थे, उसी समय जनकजी भी वहाँ जा पहुँचे थे। माता कौसल्याको भरतकी प्रेमातिशयता देखकर यह संदेह हुआ कि राम यदि भरतकी बात न स्वीकार करेंगे तो सम्भव है भरत अपने प्राण विसर्जन कर देंगे। इसलिये उन्होंने जनककी पत्नी सुनयनाके द्वारा जनकजीको संदेश कहलवाया कि वे रामजीको समझा दें। सुनयनाकी प्रार्थना सुनकर जनकजीने कहा—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जिस समय जन्मसे ही सिद्ध ब्रह्मविद्-शिरोमणि सनकादि वैकुण्ठमें पहुँचे, उस समय भगवान्‌के चरणोंकी तुलसीगन्धने उनके चित्तको क्षुभित कर दिया। क्या मायारचित पार्थिव गन्ध ऐसे मुनियोंके चित्तको आकर्षित कर सकती थी? भक्तोंके लिये तो भगवान्‌का दिव्य मंगलविग्रह प्रत्यक्ष सिद्ध है। कोई उसे मायिक बतलावे तो उसकी उन्हें चिन्ता नहीं।

प्रसंगवश भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यमाधुर्यनिधि मंगलविग्रहकी बात बीचमें आ गयी। मैं यह कह रहा था कि वृन्दावनके भगवान्‌का वृन्दावनसे कहीं न जाना ठीक ही है। इसपर एक कथा सुनाता हूँ। बंगालके प्रसिद्ध भक्त और विद्वान् स्वर्गीय शिशिरकुमार घोषका एक बँगला ग्रन्थ है, उसका नाम है 'कालाचाँद गीता'। उसमेंके एक प्रसंगका यह भाव है—

किसी निकुंजमें बैठी पाँच सखियाँ परस्पर श्रीकृष्णकी

चर्चा करती हुई हार गूँथ रही थीं। इतनेमें ही उधरसे एक महात्मा आ निकले। महात्मासे सखियोंने पूछा—स्वामीजी! हमारे श्रीकृष्ण कहीं छिप गये हैं, हम वनमें उन्हें ढूँढ़ रही हैं। आप महात्मा हैं, उन्हें कहीं देखा हो तो बतलाइये, वे कहाँ हैं?

महात्मा—तुम भगवान् श्रीकृष्णकी बात पूछती हो?

सखियाँ—हाँ, हम अपने प्यारे भगवान् श्रीकृष्णकी बात पूछती हैं।

महात्मा—अरी! तुम बड़ी पगली हो। क्या भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार निकुंजमें बैठकर फूल गूँथनेसे मिलते हैं? यदि तुम भगवान्‌को पाना चाहती हो तो इस नखशिख श्रृंगारका त्याग करके तपस्विनी बनो। वेणी बाँधना छोड़ो, पहले अपने केश कटवाओ, व्रत-उपवासादि करके शरीरको कृश करो और फिर दीर्घकालतक तप और ध्यानमें लगी रहकर उनकी आराधना करो।

सखियाँ—(डरकर) 'स्वामीजी! हम वेणी बाँधनेके लिये फूल गूँथ रही हैं। वेणी न बाँधेंगी तो हमारे रसिकशेखरको बड़ा दुःख होगा। उनका स्वभाव हम जानती हैं। हम उपवास करके शरीर सुखाने लगेंगी तो वे कभी प्रसन्न न होंगे। सिरके केश मुड़वा लेंगी तो आँसुओंकी धारासे धोये हुए प्रियतमके अरुण चरण-कमलोंको फिर किस चीजसे पोंछेंगी। हम योग-याग करके उन्हें क्यों भुलाने जायँ? वे तो पराये नहीं हैं। वे हमारे स्वामी हैं। तब हम उनकी सेवा ही क्यों न करें? साधू बाबा! यह तो बताओ, तुम्हारे वे कृष्ण कौन हैं और उनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?'

महात्मा—अरी! तुम भी बड़ी बावली हो। श्रीकृष्ण भी क्या दो-चार हैं। वे भगवान् एक ही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर और सर्वनियन्ता हैं, वे राजराजेश्वर हैं, न्यायकर्ता हैं; वरदाता हैं और दण्डधारी हैं। उनके प्रसन्न होनेपर सम्पत्ति, रूठनेपर विपत्ति मिलती है। हम न मालूम कितना कष्ट उठाते हैं, तब भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर पाते। डरते हैं, कहीं उनका कोई नियम भंग न हो जाय।

सखियाँ—(प्रसन्न होकर) बड़ी विपदा टली। आपके श्रीकृष्ण दूसरे हैं।

महात्मा—अच्छा बतलाओ, तुमलोगोंके श्रीकृष्ण कैसे हैं।

सखियाँ—साधू बाबा! तुम्हारी पहली बात सुनकर तो हमारे प्राण ही निकल-से गये थे। अब तुम्हारी इस बातसे वे मानो लौट आये हैं। तुमने जिनकी बात कही, वे चाहे कोई हों, हमारे प्राणनाथ नहीं हैं। हमारे श्रीकृष्ण तो श्यामसुन्दर हैं। वे हमारे प्रियतम हैं, हमारे स्वामी हैं। वे दण्डधारी नहीं हैं—हमारे निजजन हैं। उनका जो कुछ है, वह सब हमारा ही है, फिर उनसे हम क्या चाहें? भण्डारकी चाभी तो हमारे पास है। दण्डकी बात सुनकर तो डर लगता है। जब हम उन्हींकी प्रेयसियाँ हैं तब वे हमें दण्ड क्यों देंगे? कुपथ्यसेवनसे रोग हो जानेपर यदि हमारे स्वामी कोई कड़वी दवा खिलावें या कहीं फोड़ा होनेपर उसे चिरवा दें तो क्या इसे दण्ड कहते हैं? क्या स्नेहका नाम ही दण्ड है? यह तो प्राणनाथका परम प्रसाद है। तुमलोग पुरुष हो, राजसभामें जा सकते हो, राजाको कर देते हो, हमपर यदि कोई कर लगता होगा तो उसे प्राणनाथ आप ही भर देंगे। हमें दण्ड और पुरस्कारसे क्या मतलब! हम तो तुम्हारे उस राजेश्वर कृष्णको देखकर डर जायँगी। हमारे श्रीकृष्ण राजा नहीं हैं, वे तो रसिकशेखर हैं। हमने अपने देह, मन, प्राण सब उन्हींके चरणोंमें सौंप दिये हैं। हम सरलहृदया स्त्रियाँ तप और आराधनाकी बात क्या जानें? हमारे प्राणनाथ तो इस निकुंजभवनमें ही कहीं छिपे हैं। वे कहीं जाते नहीं, हमसे यों ही खेल किया करते हैं। तुमने कहीं देखा है तो कृपा करके बतलाओ।

सखियोंकी प्रेमभरी सरल बातें सुनकर महात्माका हृदय द्रवित हो गया, उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये। उन्होंने कहा—'अच्छा, तुम अपने श्रीकृष्णके स्वरूपका तो कुछ वर्णन करो।'

स्वरूपकी याद दिलाते ही सखियोंके हृदय आनन्दसे भर गये, उनके मुखकमल खिल उठे और भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते-करते प्रेमातिशयताके कारण देहकी सुधि-बुधि भूलकर वे नाच उठीं। उनके प्रेमसे प्रभावित होकर महात्माजी भी अपने-आपको न रोक सके और श्रीकृष्णके नामका कीर्तन करके नाचने लगे।

ऐसे प्रेमी भक्त अपने भगवान्‌को जहाँ रखना चाहते हैं, वहीं उन्हें रहना पड़ता है। इसलिये भक्तोंका यह कहना है कि भगवान् वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी

कहीं नहीं जाते, सर्वथा सत्य ही है।

अब रही, 'सर्वव्यापी' की बात, इसका उत्तर यह है कि भगवान् अवश्य ही सर्वव्यापी भी हैं। ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ भगवान् नहीं हैं? परंतु सर्वव्यापी होनेपर भी वे केवल सर्वव्यापी ही नहीं हैं, यदि वे सर्वव्यापी हैं तो फिर यह 'सर्व' क्या है? सर्व भी तो वही हैं। वे ही सर्व हैं, वे ही सर्वव्यापी हैं, वे ही सर्वातीत हैं। भगवान् सभी कुछ हैं। हमें तो उनपर विश्वास करके अपनेको उनके चरणोंमें समर्पण कर देना चाहिये। फिर वे क्या हैं, इसका रहस्य वे स्वयं ही हमें समझा देंगे।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

एक प्रश्न और आया था कि 'यदि हम भगवान्की दयापर ही विश्वास करें तो क्या हमें प्रयत्न करना सर्वथा छोड़ देना चाहिये?' हाँ, अहंकारसे प्रेरित प्रयत्न अवश्य छोड़ देना चाहिये अथवा भोगकामनावश किये जानेवाले निषिद्ध प्रयत्नोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, परंतु भगवान्के अनुकूल कर्म तो अवश्य ही करने पड़ेंगे। दयापर विश्वास करनेका यह अर्थ नहीं है कि हम भगवान्के अनुकूल कर्मोंका त्याग करके आलसी बन जायँ। जो यह कहता है कि 'भगवन्! मुझको तो आपकी दयामें ही विश्वास है, परंतु मैं आपकी आज्ञा नहीं मानना चाहता' उसका वास्तवमें भगवान्की दयामें विश्वास ही नहीं है। दयामें विश्वासका तो यही आशय है कि हम स्वार्थवश जो बुरे कर्म करते हैं उन्हें छोड़ दें और कर्तृत्वाभिमान त्यागकर भगवान्की प्रेरणासे ही कर्म करें। यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि भगवान्का स्मरण करते हुए संसारका काम नहीं हो सकता। भगवान्ने तो अर्जुनको आज्ञा दी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

'निरन्तर मेरा स्मरण करो और समयपर युद्ध करते जाओ।' युद्धमें तो बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। एक ही बाणमें मृत्यु हो सकती है। शारीरिक वेदना भी कम नहीं रहती। यदि भगवान्की स्मृति रखते हुए ऐसे संकटमय क्षेत्रमें भी कर्म किया जा सकता है तो भगवान्का स्मरण करते हुए संसारके अन्य साधारण कर्म किये जायँ इसमें कौन बड़ी बात है?

अतएव यदि हमलोग भगवान्की आज्ञा मानकर यथासाध्य विषय-चिन्तनका त्याग करके भगवच्चिन्तन करते हुए ही भगवदर्थ संसारके आवश्यक वैध कर्मोंको करें तो हमें भगवान्का प्रेम अवश्य प्राप्त होगा और हमारा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा।

एक सज्जन पूछते हैं कि मन यदि मुक्ति नहीं चाहता तो क्या चाहता है? मेरा निवेदन है कि वहाँ चाहने-न-चाहनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। भक्त अपने भगवान्के चिन्तनमें ही मस्त हुआ रहता है। यह तो सिद्धान्त ही है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी चाह मनमें वर्तमान है तबतक भक्तिसुख वहाँ कैसे प्रकट हो सकता है। अतएव भक्तको कोई चाह नहीं होती, उसको ऐसी वस्तु मिली रहती है, जिससे सारी चाह समाप्त हो जाती है। उसका जो कुछ कार्य होता है सब अपने प्रियतम भगवान्के लिये ही होता है। उसके रोम-रोमसे मानो यही ध्वनि निकलती है—

अब तो भोग-मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बंधन है मुक्ति चरणसे झरती है॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्

प्राण प्रियतम! वैराग्यका उपदेश देनेवाले लोग कहते हैं मृत्युको याद रखो, मृत्युका भय करो। मुझे उनका यह कथन नहीं जँचता। मृत्युको मृत्यु समझकर स्मरण रखनेकी आवश्यकता ही क्या है? और उससे भय भी क्यों करना चाहिये? जब सभी रूपोंमें तुम भरे हो तब किसी खास समयमें आनेवाले रूपसे ही तुम्हें स्मरण क्यों किया जाय? अभी जिस रूपमें सामने हो उसीको स्मरण रखनेमें क्या हानि है? भयकी तो कोई बात ही नहीं। तुम-जैसे जीवनसंगी प्रियतम सखासे भय करनेकी कल्पना ही कैसी? फिर मृत्युके लिये तो तुम स्वयं पुकारकर कहते हो—

'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' 'सर्वहर मृत्यु मैं हूँ।' जब

तुम्हीं हो तब तुमसे भय कैसा? जो भय करते हैं उन्हें या तो तुम्हारे ये शब्द ही नहीं सुन पड़े हैं और सुने हैं तो इन शब्दोंपर विश्वास नहीं है। जब हम तुम्हारे शब्दोंपर ही विश्वास न करें तब हमारा कैसा वैराग्य और कैसी भक्ति? अतएव नाथ! मुझे ऐसा वैराग्य तो मत दो, जिससे तुम्हारे किसी भी रूपको भयजनक मानकर उसका स्मरण करना पड़े। प्रेमके अगाध उदधिमें भयकी बात सुनकर भी भय लगता है। मुझे तो नाथ! दया करके इसी भयसे बचाओ और ऐसा बना दो जिससे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र केवल तुम्हारे 'प्रेममय' स्वरूपके ही दर्शन कर अथाह आनन्दकी रसमय लहरियाँ ही बना रहूँ।

हमारा पुराण-साहित्य

हमारा पुराण-साहित्य बड़े महत्त्वका है। यह सम्भव है कि उसमें समय-समयपर यत्किंचित् परिवर्तन-परिवर्द्धन किया गया हो, परंतु मूलतः तो वह वेदकी भाँति भगवान्‌का निःश्वासरूप ही है। शतपथ ब्राह्मणमें आया है—

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।*

(१४।२।४।१०)

'गीले काठमें उत्पन्न अग्निसे जिस प्रकार पृथक् धूआँ निकलता है, उसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्याएँ, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब महान् परमात्माके ही निःश्वास हैं।' अर्थात् बिना ही प्रयत्नके परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं—

'... **अप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासो भवत्येवम्** ...' (शांकरभाष्य) वेदोंके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदोंमें भगवान् विष्णु, शिव आदिके, भगवान्‌के विभिन्न अवतारोंके तथा पुराणवर्णित अनेकों कथाओंके प्रसंग आये हैं।

अथर्ववेदमें आया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वं दिवि देवा दिवश्रिताः॥

(११।७।२४)

'यज्ञसे यजुर्वेदके साथ ऋक्, साम, छन्द और पुराण उत्पन्न हुए।' छान्दोग्योपनिषद्‌में नारदजीने सनत्कुमारसे कहा है—

'**स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्**—' (७।११)

'मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद और पाँचवें वेद इतिहास-पुराणको जानता हूँ।'

मनु महाराजने तो पुराणकी मंगलमयताको जानकर आज्ञा ही दी है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥

(३।२३२)

'श्राद्धादि पितृकार्योंमें वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण और उनके परिशिष्ट भाग सुनाने चाहिये।'

ब्रह्माण्डपुराणके प्रक्रियापादमें 'पुराण' शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदान् द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(अध्याय १।१७०-१७१,१७३)

'अंग और उपनिषद्‌के सहित चारों वेदोंका अध्ययन करके भी यदि पुराणको नहीं जाना गया तो ब्राह्मण विचक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि इतिहास-पुराणके द्वारा ही वेदकी पुष्टि करनी चाहिये। यही नहीं, पुराणज्ञानसे रहित अल्पज्ञसे वेद डरते रहते हैं; क्योंकि ऐसे व्यक्तिके द्वारा ही वेदका अपमान हुआ करता है। अत्यन्त प्राचीन

* बृहदारण्यक-उपनिषद् २।४।१० में यह ज्यों-का-त्यों है।

तथा वेदको स्पष्ट करनेवाला होनेसे ही इसका नाम 'पुराण' हुआ है। पुराणकी इस व्युत्पत्तिको जो जानता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

इस प्रकार पुराणोंकी अनादिता, प्रामाणिकता तथा मंगलमयताका स्थल-स्थलपर उल्लेख है और वह सर्वथा सिद्ध एवं यथार्थ है। भगवान् व्यासदेवने प्राचीनतम पुराणका प्रकाश और प्रचार किया है। वस्तुतः पुराण अनादि और नित्य हैं।

पुराणोंकी कथाओंमें असम्भव-सी दीखनेवाली बातें, परस्पर विरोधी-सी बातें और भगवान् तथा देवताओंके साक्षात् मिलने आदिके प्रसंगोंको देखकर स्वल्प श्रद्धावाले पुरुष उन्हें काल्पनिक मानने लगते हैं; परंतु यथार्थमें ऐसी बात नहीं है। इनमें प्रत्येकपर संक्षेपसे विचार कीजिये।

जबतक वायुयानका निर्माण नहीं हुआ था, तबतक पुराण-इतिहासोंमें वर्णित विमानोंके वर्णनको बहुत-से लोग असम्भव मानते थे। पर अब जब हमारी आँखोंके सामने आकाशमें विमान उड़ रहे हैं, तब वैसी बात नहीं रही। मान लीजिये आजके ये रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन आदि यन्त्र नष्ट हो जायँ और कुछ शताब्दियोंके बाद ग्रन्थोंमें इनका वर्णन पढ़नेको मिले तो उस समयके लोग यही कहेंगे कि यह सारी कपोलकल्पना है; भला, हजारों कोसोंकी बात उसी क्षण वैसी-की-वैसी सुनायी देना, आवाजका पहचाना जाना और उसमें आकृति भी दीख जाना कैसे सम्भव है।' हमारे ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदिको लोग असम्भव मानते थे, पर अब अणुबमकी शक्ति देखकर कुछ-कुछ विश्वास करने लगे हैं। पुराणवर्णित सभी असम्भव बातें ऐसी ही हैं, जो हमारे सामने न होनेके कारण असम्भव-सी दीखती हैं।

परस्पर विरोधी प्रसंग तो कल्पभेदको लेकर हैं। पुराणोंके सृष्टितत्त्वको जाननेवाले लोग इस बातको सहज ही समझ सकते हैं।

रही देवताओंके मिलनेकी बात, सो यह भी असम्भव नहीं है। प्राचीन कालके उन भक्तिपूत योगी, तपस्वी, ऋषि-मुनियोंमें ऐसी सात्त्विकी महान् शक्ति थी कि उनमेंसे कई तो समस्त लोकोंमें निर्बाध यातायात करते थे। दिव्यलोक, देवलोक, असुरलोक और पितृलोककी व्यवस्था और घटनाओंको वहाँ जाकर प्रत्यक्ष देखते थे। देवताओंसे मिलते थे और अपने तपोमय प्रेमाकर्षणसे देवताओंको—यहाँतक कि भगवान्को भी अपने यहाँ बुलाकर प्रकट कर लेते थे। पुराणोंकी ऐसी बातें उन ऋषि-मुनियोंकी स्वयं प्रत्यक्ष की हुई ही हैं। अद्वैत-वेदान्तके महान् आचार्य भगवान् शंकरने शारीरकभाष्यमें लिखा है—

इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्, इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद् धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते………।

(देखिये १। ३। ३३ का भाष्य)

'इतिहास और पुराण भी मन्त्रमूलक तथा अर्थवादमूलक होनेके कारण प्रमाण हैं, अतः उपर्युक्त रीतिसे वे देवताविग्रह आदिके सिद्ध करनेमें समर्थ होते हैं। देवताओंका प्रत्यक्ष आदि भी सम्भव है। इस समय हमें जो प्रत्यक्ष नहीं होते, प्राचीन लोगोंके वे प्रत्यक्ष होते थे, जैसे कि व्यासादिके देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहारकी बात स्मृतिमें है।' 'आजकलकी भाँति प्राचीन पुरुष भी देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करनेमें असमर्थ थे, यह कहनेवाला तो जगत्की विचित्रताका ही निषेध करेगा।' 'आजकलके समान अन्य समयमें भी सार्वभौम क्षत्रियोंकी सत्ता नहीं थी' यों कहनेपर तो राजसूय आदि विधिका बाध हो जायगा और ऐसी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि आजकलके समान अन्य समयमें भी वर्णाश्रम-धर्म अव्यवस्थित ही था। तब तो इसकी व्यवस्था करनेवाला शास्त्र ही व्यर्थ हो जायगा। अतएव यह सिद्ध है कि धर्मके उत्कर्षके कारण प्राचीन लोग देवताओं आदिके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे।

इससे सिद्ध है कि पुराणवर्णित प्रसंग काल्पनिक नहीं हैं, वे सर्वथा सत्य हैं। अवश्य ही यह बात है कि हमारे ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें वर्णित प्रसंग ऐसे चमत्कारपूर्ण हैं कि जिनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों ही अर्थ होते हैं। इसलिये जो लोग इनका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं, वे भी अपनी दृष्टिसे ठीक ही करते हैं। पुराणोंमें कहीं-कहीं ऐसी बातें भी हैं, जो घृणित मालूम देती हैं। इसका कारण यह है कि उनमें कुछ प्रसंग तो ऐसे हैं, जिनमें किसी निगूढ़ तत्त्वका विवेचन करनेके लिये आलंकारिक भाषाका प्रयोग किया गया है। उन्हें समझनेके लिये भगवत्कृपा, सात्त्विकी श्रद्धा और गुरु-परम्पराके अध्ययनकी आवश्यकता है। कुछ ऐसी बातें हैं, जो सच्चा इतिहास है। बुरी बात होनेपर भी सत्यके प्रकाश करनेकी दृष्टिसे उन्हें ज्यों-का-त्यों लिख दिया गया है। इसका कारण यह है कि हमारे वे पुराणवक्ता ऋषि-मुनि आजकलके इतिहासलेखकोंकी भाँति राजनीतिक; दलगत, देशगत और जातिगत आग्रहके मोहसे मिथ्याको सत्य बनाकर लिखना पाप समझते थे। वे सत्यवादी, सत्याग्रही और सत्यके प्रकाशक थे।

अब एक बात और है, जो बुद्धिवादी लोगोंकी दृष्टिमें प्रायः खटकती है—वह यह कि पुराणोंमें जहाँ जिस देवता, तीर्थ या व्रत आदिका महत्त्व बतलाया गया है, वहाँ उसीको सर्वोपरि माना है और अन्य सबके द्वारा उसकी स्तुति करायी गयी है। गहराईसे न देखनेपर यह बात अवश्य बेतुकी-सी प्रतीत होती है; परंतु इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का यह लीलाभिनय ऐसा आश्चर्यमय है कि इसमें एक ही परिपूर्ण भगवान् विभिन्न-विचित्र लीलाव्यापारके लिये और विभिन्न रुचि, स्वभाव तथा अधिकारसम्पन्न साधकोंके कल्याणके लिये अनन्त विचित्र रूपोंमें नित्य प्रकट हैं। भगवान्‌के ये सभी रूप नित्य, पूर्णतम और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। अपनी-अपनी रुचि और निष्ठाके अनुसार जो जिस रूप और नामको इष्ट बनाकर भजता है, वह उसी दिव्य नाम और रूपमेंसे समस्त रूपमय एकमात्र भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि भगवान्‌के सभी रूप परिपूर्णतम हैं और उन समस्त रूपोंमें एक ही भगवान् लीला करते हैं। व्रतोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। अतएव श्रद्धा और निष्ठाकी दृष्टिसे साधकके कल्याणार्थ जहाँ जिसका वर्णन है; वहाँ उसको सर्वोपरि बताना युक्तियुक्त ही है और परिपूर्णतम भगवत्सत्ताकी दृष्टिसे सत्य तो है ही। तीर्थोंकी बात यह है कि भगवान्‌के विभिन्न नाम-रूपोंकी उपासना करनेवाले संतों, महात्माओं और भक्तोंने अपनी कल्याणमयी सत्साधनाके प्रतापसे विभिन्न रूपमय भगवान्‌को अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नाम-रूपमें अपने ही साधन-स्थानमें प्राप्त कर लिया और वहीं उनकी प्रतिष्ठा की। एक ही भगवान् अपनी पूर्णतम स्वरूप-शक्तिके साथ अनन्त स्थानोंमें, अनन्त नाम-रूपोंमें प्रतिष्ठित हुए। भगवान्‌के ऐसे प्रतिष्ठास्थान ही तीर्थ हैं जो श्रद्धा, निष्ठा और रुचिके अनुसार सेवन करनेवालेको यथायोग्य फल देते हैं। यही तीर्थ-रहस्य है, इस दृष्टिसे प्रत्येक तीर्थको सर्वोपरि बतलाना सर्वथा उचित ही है।

सब एक हैं; इसकी पुष्टि तो इसीसे भलीभाँति हो जाती है कि शैव कहे जानेवाले पुराणोंमें विष्णुकी और वैष्णव-पुराणोंमें शिवकी महिमा गायी गयी है और दोनोंको एक बताया गया है तथा उक्त पुराण-विशेषके विशिष्ट प्रधान देवने अपने ही श्रीमुखसे अन्य पुराणोंके प्रधान देवताको अपना ही स्वरूप बतलाया है। स्कन्दपुराण एक शैवपुराण माना जाता है; परंतु इसमें स्थान-स्थानपर विष्णुकी अनन्त महिमा गायी गयी है, उनकी स्तुति की गयी है और भगवान् शिवने उनको अपना अभिन्न स्वरूप बतलाया है तथा दोनोंकी एकताके सम्बन्धमें निरूपण किया गया है—

यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।
अन्तरं शिवविष्णवोश्च मनागपि न विद्यते॥

(काशीखण्ड २३। ४१)

'जैसे शिव हैं, वैसे ही विष्णु हैं तथा जैसे विष्णु हैं, वैसे ही शिव हैं। शिव और विष्णुमें तनिक भी अन्तर नहीं है।'

पवित्राणां पवित्रं यो ह्यगतीनां परा गतिः।
दैवतं देवतानां च श्रेयसां श्रेय उत्तमम्॥

(वैष्णवखण्ड वे० मा० ३५। ३८)

'भगवान् विष्णु पवित्रोंको पवित्र करनेवाले हैं, अगतियोंकी परम गति हैं, देवताओंके भी आराध्य हैं और कल्याणोंके उत्तम कल्याण हैं।'

यो विष्णुः स शिवो ज्ञेयो यः शिवो विष्णुरेव सः।

(माहेश्वरखण्ड के० ख० ८। २०)

'जो विष्णु हैं, उन्हींको शिव जानना चाहिये और जो शिव हैं, वही विष्णु हैं।'

भगवान् शिव स्वयं कहते हैं—'विष्णु! जैसे मैं हूँ, वैसे ही तुम हो।'

'यथाहं त्वं तथा विष्णो' (काशी० २७। १८३)

श्रीशंकरजी गरुड़से कहते हैं—'हम ही वे विष्णु हैं और वे विष्णु ही हम हैं, हम दोनोंमें तुम्हारी भेदबुद्धि नहीं होनी चाहिये'—

असावहं स वै विष्णुर्मास्तु ते भेददृक् च नौ।

(काशी० ५०। १४४)

ऐसे असंख्य वचन विभिन्न पुराणोंमें पाये जाते हैं।

लोग कहते हैं कि तीर्थोंकी इतनी महत्ता बता दी गयी है कि सदाचार तथा ज्ञानके साधनोंका तिरस्कार हो गया है। तीर्थसेवनके कुछ अनुचित पक्षपाती लोग भी ऐसा कह देते हैं कि 'बस, अमुक तीर्थका सेवन करो; फिर चाहे जो पापाचार-अनाचार करो, कोई डरकी बात नहीं है।' पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इस भूलमें कोई न रहे, इसीसे पुराणोंमें जहाँ तीर्थादिका माहात्म्य प्रचुर मात्रामें लिखा गया है, वहीं ऐसी बात लिख दी गयी है, जो सारे भ्रमोंको दूर कर देती है। स्कन्दपुराणमें काशीका बड़ा माहात्म्य है। पर साथ ही कहा गया है कि पाप करनेवाले लोग काशीमें न रहें—

पापमेव हि कर्तव्यं मतिरस्ति यथेदृशी।
सुखे नान्यत्र कर्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी॥
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्।
अपि पापकृता काशी रक्ष्या मोक्षार्थिनैकिका॥
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशी निरयः क्व सः॥
अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चात्र प्रतिग्रहैः।
परत्वं कपटैर्वापि काशी सेव्या न तैर्नरैः॥
परपीडाकरं कर्म काश्यां नित्यं विवर्जयेत्।
तदेव चेत् किमत्र स्यात् काशीवासो दुरात्मनाम्॥

(काशी० २२। ९५—९९)

अर्थार्थिनस्तु ये विप्र ये च कामार्थिनो नराः।
अविमुक्तं न तैः सेव्यं मोक्षक्षेममिदं यतः॥
शिवनिन्दापरा ये च वेदनिन्दापराश्च ये।
वेदाचारप्रतीपा ये सेव्या वाराणसी न तैः॥
परद्रोहधियो ये च परेर्ष्याकारिणश्च ये।
परोपतापिनो ये वै तेषां काशी न सिद्धये॥

(काशी० १२२। १०१—१०३)

मैं तो पाप करूँगा ही—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके लिये पृथ्वी बहुत बड़ी पड़ी है। वह काशीसे बाहर कहीं भी जाकर सुखसे पाप कर सकता है। कामातुर होनेपर भी मनुष्य एक अपनी माताको तो बचाता ही है। ऐसे ही पापी मनुष्यको भी मोक्षार्थी होनेपर एक काशीको तो बचाना ही चाहिये। दूसरोंकी निन्दा करना जिनका स्वभाव है और जो परस्त्रीकी इच्छा करते हैं, उनके लिये काशीमें रहना उचित नहीं। कहाँ मोक्ष देनेवाली काशी और कहाँ ऐसे नारकी मनुष्य! जो प्रतिग्रहके द्वारा धनकी इच्छा करते हैं और जो कपट-जाल फैलाकर दूसरोंका धन हरण करना चाहते हैं, उन मनुष्योंको काशीमें नहीं रहना चाहिये। काशीमें रहकर ऐसा कोई काम कभी नहीं करना चाहिये, जिससे दूसरेको पीड़ा हो। जिनको यही करना हो, उन दुरात्माओंको काशीवाससे क्या प्रयोजन है!

'विप्रवर! जो अर्थार्थी या कामार्थी हैं, उनको इस मुक्तिदायी काशीक्षेत्रमें नहीं रहना चाहिये। जो शिवनिन्दामें और वेदकी निन्दामें लगे रहते हैं तथा वेदाचारके विपरीत आचरण करते हैं, उनको वाराणसीमें नहीं रहना चाहिये। जो दूसरोंसे द्रोह करते हैं, दूसरोंसे डाह करते हैं और दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हैं, काशीमें उनको सिद्धि नहीं मिलती।'

पापात्मा तीर्थफलसे वंचित रहता है—यह स्पष्ट कहा गया है—

अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पंचैते न तीर्थफलभागिनः॥

(काशी० ६। ४५)

'श्रद्धाहीन, पापात्मा (तीर्थमें पातकी—पाप करनेवालेकी शुद्धि होती है, पर जिसका स्वभाव ही पापमय है, उस 'पापात्मा' की नहीं होती), नास्तिक, संदेहशील और हेतुवादी—इन पाँचोंको तीर्थफलकी प्राप्ति नहीं होती।'

वस्तुतः तीर्थका फल किसको मिलता है?—

प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वसंगैर्यः स तीर्थफलमश्नुते॥

अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥

(काशी० ६। ४९—५१)

'जो प्रतिग्रहसे निवृत्त है, जिस किसी स्थितिमें ही संतुष्ट है और अहंकारसे भलीभाँति छूटा हुआ है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो दम्भ नहीं करता, सकाम कर्मका आरम्भ नहीं करता, स्वल्पाहार करता है, इन्द्रियोंको जीत चुका है और समस्त आसक्तियोंसे भलीभाँति मुक्त है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो क्रोधरहित है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्यभाषण करता है, दृढ़निश्चयी है और समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके समान ही जानता है, वह तीर्थफलका भोग करता है।' क्योंकि—

ये तत्र चपलास्तथ्यं न वदन्ति च लोलुपाः।
परिहासपरद्रव्यपरस्त्रीकपटाग्रहाः ॥
मलचैलावृताशान्ताशुचयस्त्यक्तसत्क्रियाः ।
तेषां मलिनचित्तानां फलमत्र न जायते॥

(वैष्णव० बदरि० ६। ६९-७०)

भगवान् शंकर स्कन्दजीसे कहते हैं—

'जो चंचलबुद्धि हैं, लोभी हैं और तथ्यकी बात नहीं कहते, जिनके मनमें परिहास, पर-धन और पर-स्त्रीकी इच्छा है तथा जिनका कपटपूर्ण आग्रह है, जो दूषित वस्त्र पहनते हैं, जो अशान्त, अपवित्र और सत्कर्मोंके त्यागी हैं, उन मलिनचित्त मनुष्योंको इस तीर्थमें कोई फल नहीं मिलता।'

तीर्थोंमें किस प्रकार रहना चाहिये, इसपर कहा गया है—

निर्ममा निरहंकारा निःसंगा निष्परिग्रहाः।
बन्धुवर्गेण निःस्नेहाः समलोष्टाश्मकांचनाः॥
भूतानां कर्मभिर्नित्यं त्रिविधैरभयप्रदाः।
सांख्ययोगविधिज्ञाश्च धर्मज्ञाश्छिन्नसंशयाः॥

(अवन्तिकाखण्ड ७। ३२-३३)

'(इस क्षेत्रमें वास करनेवाले) ममतारहित, अहंकाररहित, आसक्तिरहित, परिग्रहसे शून्य, बन्धु-बान्धवोंमें स्नेह न रखनेवाले, मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समान बुद्धि रखनेवाले, मन-वाणी और शरीरके द्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंसे सदा सब प्राणियोंको अभय देनेवाले, सांख्य और योगकी विधिको जाननेवाले, धर्मके स्वरूपको समझनेवाले और संशय-संदेहोंसे रहित हों।'

मानस-तीर्थोंका वर्णन करते हुए यहाँतक कह दिया गया है—

शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे।
येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं यथा।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

(काशीखण्ड ६। २९—४१)

अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—'निष्पापे! मैं मानसतीर्थोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। इन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है। सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं। इनमें ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है। मनकी परम विशुद्धि तीर्थोंका

भी तीर्थ है। जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है; जिसने इन्द्रिय संयमरूप-स्नान किया है, वही स्नान है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है।

'जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दय है, दम्भी है और विषयोंमें फँसा है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है। शरीरका मैल उतारनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता; मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है। जलजन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मैल नहीं धुलता। विषयोंमें अत्यन्त राग ही मनका मैल है और विषयोंसे वैराग्यको ही निर्मलता कहते हैं। चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती। शराबके भाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही रहता है; वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ हैं। जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं; ध्यानसे विशुद्ध हुए राग-द्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञान-जलमें जो स्नान करता है, वही परम गतिको प्राप्त करता है।' ऐसे प्रसंग और भी आये हैं।

इससे यह सिद्ध है कि तीर्थ-व्रत करनेवालोंके लिये भी पापोंके त्याग, इन्द्रियसंयम और तप आदिकी बड़ी आवश्यकता है। इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि भौमतीर्थ कोई महत्त्व ही नहीं रखते। उनका बड़ा महत्त्व है और वह भी सच्चा है। वस्तुतः पुराण सर्वसाधारणकी सर्वांगीण उन्नति और परम कल्याणकी साधन-सम्पत्तिके अटूट भंडार हैं। अपनी-अपनी श्रद्धा, रुचि, निष्ठा तथा अधिकारके अनुसार साधारण अपढ़ मनुष्यसे लेकर बड़े-से-बड़े विचारशील बुद्धिवादी पुरुषोंके लिये भी इनमें उपयोगी साधन-सामग्री भरी है। ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, नियम, सेवा, भूतदया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म, नारीधर्म, मानवधर्म, राजधर्म, सदाचार और व्यक्ति-व्यक्तिके विभिन्न कर्तव्योंके सम्बन्धमें बड़ा ही विचारपूर्ण और अत्यन्त कल्याणकारी अनुभूत उपदेश बड़ी रोचक भाषामें इन पुराणोंमें भरा गया है। साथ ही पुरुष, प्रकृति, प्रकृति-विकृति, प्राकृतिक दृश्य, ऋषि-मुनियों तथा राजाओंकी वंशावली तथा सृष्टिक्रम आदिका भी निगूढ़ वर्णन है। इनमें इतने अमूल्य रत्न छिपे हैं, जिनका पता लगाकर प्राप्त करनेवाला पुरुष लोक तथा परमार्थकी परम सम्पत्ति पा करके कृतकृत्य हो जाता है।

ऐसे अठारह महापुराण हैं तथा अठारह ही उपपुराण माने जाते हैं। इधर चार प्रकारके पुराणोंका पता लगा है—महापुराण, उपपुराण, अतिपुराण और पुराण। चारोंकी अठारह-अठारह संख्या बतायी जाती है, उनकी नामावलि इस प्रकार मिलती है—

महापुराण—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड।

उपपुराण—भागवत, माहेश्वर, ब्रह्माण्ड, आदित्य, पराशर, सौर, नन्दिकेश्वर, साम्ब, कालिका, वारुण, औशनस, मानव, कापिल, दुर्वासस, शिवधर्म, बृहन्नारदीय, नरसिंह और सनत्कुमार।

अतिपुराण—कार्तव, ऋजु, आदि, मुद्गल, पशुपति, गणेश, सौर, परानन्द, बृहद्धर्म, महाभागवत, देवी, कल्कि, भार्गव, वासिष्ठ, कौर्म, गर्ग, चण्डी और लक्ष्मी।

पुराण—बृहद्विष्णु, शिव उत्तरखण्ड, लघु बृहन्नारदीय, मार्कण्डेय, वह्नि, भविष्योत्तर, वराह, स्कन्द, वामन, बृहद्वामन, बृहन्मत्स्य, स्वल्पमत्स्य, लघुवैवर्त और ५ प्रकारके भविष्य।

इन नामोंमें नामावलिके विभागमें और क्रममें अन्तर भी हो सकता है। यहाँ तो जैसी सूची मिली है, वैसी ही दे दी गयी है। यह भी सम्भव है कि इनमेंसे कई ग्रन्थ आधुनिक भी हों। यह अन्वेषण और गवेषणाका विषय है।

पुराण अमूल्य रत्नोंके अगाध समुद्र हैं। इनमें जो श्रद्धाके साथ जितना ही गहरा गोता लगायेंगे, वे उतनी ही विशाल रत्नराशिको प्राप्त कर धन्य हो सकेंगे।

कुछ पारमार्थिक शब्दोंके अर्थ

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविध निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध, लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या प्रेमा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

पंचभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दस दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विधभाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ़ और अधिरूढ़।

द्विविध अधिरूढ़ महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन)।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—अनेक हैं। परंतु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्ति-चालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास-संख्या—२१,६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिंगला, सुषुम्णा।

दस वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्तचक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें ललना-चक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र।

षोडश आधार—१-दाहिने पैरका अँगूठा, २-गुल्फ, ३-गुदा, ४-लिंग, ५-नाभि, ६-हृदय, ७-कण्ठकूप, ८-तालुमूल, ९-जिह्वामूल, १०-दन्तमूल, ११-नासिकाग्र, १२-भ्रूमध्य, १३-नेत्रमण्डल, १४-ललाट, १५-मस्तक और १६-सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और विहंगम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पुं, स्त्री, क्लीब।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी।

योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, लाघव, धैर्य, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, फलमें संदेह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चंचलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व, सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्‌में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

भगवान्‌के आश्वासनपर विश्वास करो

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है। क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इन दो श्लोकोंमें दयामय भगवान् श्रीकृष्णने पापग्रस्त निराश जीवोंको बड़ा ही आश्वासन दिया है। कोई किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसका अबतकका जीवन किसी भी प्रकारसे क्यों न बीता हो, वह कितने ही बड़े-से-बड़े दुराचारमें प्रवृत्त क्यों न रहा हो, यदि वह इस समय अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर ले कि एकमात्र भगवान् ही मेरे त्राणकर्ता, रक्षक और आश्रयदाता हैं, इस रक्षकत्वमें दूसरेको जरा भी भाग न दे, साथ ही यह भी निश्चय कर ले कि जितना जीवन अब बचा है, वह सब-का-सब—पूरा-का-पूरा—केवल भगवान्‌के लिये ही लगाया जायगा और भगवान्‌को पुकारने लगे तो वह तुरंत धर्मात्मा बन जाता है। 'क्षिप्र' शब्द इसी बातको प्रकट करता है। तदनन्तर वह उस परम शान्तिको—शाश्वत परम धामको प्राप्त हो जाता है, जिसको पाकर फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इसी सिद्धान्तको और भी दृढ़ करनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि अर्जुन! इस बातको 'सत्य समझ कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।' अनन्यभाक् होकर भजन करनेका तथा शेष जीवन भगवदर्थ बितानेका निश्चय करनेवालेको भक्तवत्सल भगवान् अपना भक्त—निजजन समझ लेते हैं। जो

अबतक महापापी था, वह तुरंत 'भक्त' हो जाता है। उसने अबतक क्या किया था, इस बातकी ओर भगवान् कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं, केवल उसके मनकी वर्तमान स्थितिको। इस बातको समझकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह विश्वासपूर्वक अपने वर्तमान जीवनको श्रीहरिके चरणोंमें समर्पण करनेकी चेष्टा करे।

भविष्य तो वर्तमानका फल है और वर्तमान जीवन अनन्यभावसे श्रीहरि-चरणाश्रित हो जानेपर भूतकालके सभी पाप-कर्म जल जाते हैं। मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका संचित बनता है। संचितसे स्फुरणा होती है। जो नया कर्म किया जाता है, उसीकी स्फुरणा अधिक और पुरानेकी कम होती है। गोदाममें माल भरा होता है और नया-नया माल भरता जाता है, निकालनेके समय हालका भरा हुआ ऊपरका माल पहले निकलता है और बहुत समय पूर्वका भरा हुआ नीचेका माल पीछे निकलता है, वैसे ही नये कर्मोंके संकल्प अधिक आते हैं। यही सबका अनुभव है कि जिन कर्मोंमें हम दिन-रात लगे रहते हैं, प्रायः उन्हींके संकल्प अधिक आते रहते हैं। पूर्वके कर्मोंको हम धीरे-धीरे भूलते जाते हैं। नवीन संचितकी स्फुरणा ज्यादा होगी। बार-बार जैसी स्फुरणा होगी वैसा ही कर्म होगा और वही कर्म फिर संचित बनकर नयी स्फुरणाओंका हेतु बनेगा एवं उन्हीं स्फुरणाओंसे फिर वैसे ही कर्म होंगे। तात्पर्य यह कि अच्छे कर्मोंसे अच्छा संचित, अच्छे संचितसे अच्छी स्फुरणा और अच्छी स्फुरणासे फिर अच्छे कर्म होते हैं। इस प्रकार शुभके चक्रमें पड़ा हुआ जीवन क्रमशः अत्यन्त शुद्ध बन जायगा एवं अशुभ संचितको अपना कार्य (अशुभ संकल्पोंकी उत्पत्ति) करनेका अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकेगा। पुराने अशुभ संचित नये शुभके नीचे दब जाते हैं और वह शुभ बढ़कर जब भगवान्‌की परमभक्तिरूपमें परिणत हो जाता है तब उन पहलेके समस्त शुभाशुभ संचितमें आग लग जाती है, जिससे वे तमाम जलकर नष्ट हो जाते हैं।

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।'

यही मुक्तावस्था है। इसीलिये *'गयी सो गयी, अब राख रहीको'* इस लोकोक्तिके अनुसार भगवान्‌की उपर्युक्त आश्वासनवाणीका अनुसरण करते हुए महापुरुषगण जीवोंको वर्तमान जीवनके वर्तमान सुधारका उपदेश करते हैं।

कोई यह समझे कि मैं तो बड़ा पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है, मेरे भजन करनेसे क्या होगा? तो उसका यह समझना निरा भ्रम ही है। किसी पर्वत-कन्दराका अन्तरतम प्रदेश लाखों वर्षोंसे चाहे जितने घने अन्धकारसे आवृत क्यों न हो, किसी प्रकार सूर्यका प्रकाश वहाँ पहुँचनेपर वह अँधेरा क्या यह कहकर वहाँ स्थिर रह सकता है कि मैं अनन्त वर्षोंसे यहाँ डेरा डाले बैठा हूँ, इसलिये कुछ समय बाद पीछे हटूँगा। ठीक इसी प्रकार जीवके अशेष पापपुंज भगवान्‌के सम्मुख होते ही जलकर भस्म हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

जब जीव निष्कपट होकर अनन्यभावसे अपने-आपको भगवच्चरणोंमें समर्पित कर सरल हृदयसे पुकार उठता है कि 'प्रभो! मैंने आजतक दुनियाके भोगोंकी सेवा की, विषयोंका गुलाम रहा, धनिकोंकी चापलूसी की, अबसे—इसी क्षणसे आपके प्रणतपापहारी पुण्य चरणकमलोंका आश्रित बनता हूँ, मुझे शरण दीजिये।' बस, तभी तत्काल ही पतितपावन नाथ उसे अपना लेते हैं। जहाँ भगवान्‌ने जिसको अपना लिया वहाँ फिर उसमें नाममात्रको भी कोई पाप नहीं रह जाता। विभीषण रावणका भाई राक्षस था। भगवान्‌के सामने आते ही वह निष्पाप हो गया, परम भक्त बन गया। जीवका भूतकाल कैसा ही रहा हो, यदि उसका वर्तमान सुधर जाय, वह दृढ़ निश्चय कर ले कि आगेका समय केवल भगवद्भक्तिमें ही बीतेगा, तो वे अशरणशरण स्वतः ही अपना अभय हाथ फैलाकर उसे ऊपर उठा लेते हैं और अपनी स्नेह-शान्तिमयी गोदमें बिठा लेते हैं। ऐसा न होता तो जीवका उद्धार कभी होता ही नहीं। जीव समस्त पापोंके फलोंको भोगकर कभी उन्हें निःशेष नहीं कर सकता। भगवान् बड़े दयालु हैं। इसलिये उन्होंने यह नियम बना दिया है कि चाहे कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, मेरे सम्मुख आते ही धर्मात्मा बन जायगा। बात भी सर्वथा ठीक ही है। भला, प्रज्वलित अग्निमें पड़ा हुआ कूड़ा-करकट क्या कभी बिना जले रह सकता है?

खेद तो इस बातका है कि भगवान्‌के इस दयापूर्ण विधानको जानता हुआ भी यह अज्ञानी जीव अपनी कामाग्निको विषय-भोगरूपी घृतकी आहुतियोंसे पूर्णकर

सुखी होना चाहता है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने विषय-भोगपरायण जीवोंको लक्ष्य करके कैसी सुन्दर चेतावनी दी है—

अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्याग दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते॥

मनुष्य चाहता है कि मैं बहुत-से विषयोंको प्राप्त करके सुखी बन जाऊँ, पर यह हो ही नहीं सकता। ज्यों-ज्यों मनचाहे विषयोंकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी लिप्सा बढ़ती चली जाती है। घीसे आग बुझती नहीं, बढ़ती है। भोगोंसे तृप्ति नहीं, ताप होता है; शान्ति नहीं, अशान्ति होती है। इसीलिये गोस्वामीजी चेतावनी दे रहे हैं कि 'इस भ्रमको छोड़ दो, यह तो दुराशामात्र है। इसे छोड़कर अमृतोपम भगवत्प्रेमको प्राप्त करो। यदि तुम विषयोंको न भी छोड़ना चाहोगे तो ये अन्तमें जबरदस्ती छूटेंगे। इससे अच्छा है कि पहलेसे ही तुम इनकी आसक्ति छोड़कर भगवच्चरणकमलोंके अनुरागी भ्रमर बन जाओ।'

वास्तवमें मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य भगवान्‌के चरणारविन्दोंका अनुराग प्राप्त करना ही है। परंतु यह तभी हो सकता है जब जीव परमात्माको अपना एकमात्र आश्रय बनाकर सब प्रकारसे आत्मसमर्पण कर दे और यह वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं, बल्कि भगवत्कृपाके बलसे बहुत ही सहज है, जो लोग ऐसा मानते हैं कि हमारे भाग्यमें भगवत्प्राप्ति लिखी ही नहीं, हमारे वैसे संस्कार ही नहीं, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। भगवान्‌के दरबारका दरवाजा सबके लिये सदा खुला रहता है, वह कभी बंद होता ही नहीं। चाहे कोई आधी रातको अपने प्रियतम परमात्माका द्वार खटखटावे, वे तत्काल उसकी पुकारका उत्तर देकर उसे अपने हृदयसे लगानेको तैयार मिलेंगे। बच्चा जब कभी भी रोकर माँको पुकारता है तो माँ समय-असमयका विचार न कर झटसे अपनी स्नेहभरी गोदमें उठाकर उसे स्तन-पान कराने लगती है। पुकार सुननेपर न तो वह बच्चेका पाप-पुण्य देखती है और न क्षणभर रुकती ही है। उस समय वह स्नेहकातरा जननी केवल दोनों हाथ बढ़ाकर बच्चेको ऊपर उठाना और पुचकारना ही जानती है। फिर भला, भगवान् तो सारी माताओंकी माता—स्नेहके सागर हैं। माँ तो किसी समय शायद दूर रहनेके कारण न भी सुने अथवा किसी दूसरे काममें लगी हो तो उसे पूरा करके भी आवे, पर भगवान्‌में ये दोनों बातें नहीं। वे कहीं दूर नहीं हैं, सर्वदा सर्वत्र वर्तमान हैं। वे तो मन्दिरमें, मूर्तिमें, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे सदा सर्वदा रम रहे हैं, पूर्ण हो रहे हैं। वे सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। एक कामको करते हुए दूसरेको न कर सकें—ऐसी कठिनाईका उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं। वे एक ही समय असंख्य स्थानोंमें प्रकट होकर असंख्य काम कर सकते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सर्वत्र ही रहते हैं। अतः कोई किसी भी कारणसे कभी भी उन्हें पुकारे, वे सुनते हैं और उत्तर देते हैं। उन्हें पुकारनेमें ही कसर है—यह जीवकी ओरसे ही देर हो रही है।

उन्हें पुकारनेमें किसी काल, स्थान, पात्र आदिका कोई भेद नहीं है। पापी न पुकारे, पुण्यात्मा ही पुकारे; नरकमें न पुकारे, स्वर्गमें पहुँचकर पुकारे; आधी रातको न पुकारे, उषाकालमें पुकारे; मूर्ख न पुकारे, विद्वान् पुकारे; गरीब न पुकारे, धनी ही पुकारे; स्त्री या बालक न पुकारे, पुरुष ही पुकारे; चाण्डाल न पुकारे, ब्राह्मण ही पुकारे; गृहस्थ न पुकारे, संन्यासी ही पुकारे—इस प्रकार उनकी पुकारके सम्बन्धमें ऐसी कोई बात नहीं। देवर्षि नारद कहते हैं—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

'भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

पुकार सच्ची होनी चाहिये। पुकारनेवाला कौन है—वे इस बातको नहीं देखते; अवश्य ही पुकारनेवालेकी चाहकी परख करते हैं। ऊपरकी दिखाऊ पुकार उनकी स्नेह-धाराको उमड़ानेमें समर्थ नहीं हो सकती। वे हमारे अंदरकी बात जानते हैं, हमारे भीतरका कोई भेद उनसे छिपा नहीं है। ऊपरकी पुकार होगी तो वे समझ लेंगे कि यह कोरी ठगई है। मनमें चाह नहीं है। कोई ऐसा हो जिसके मनमें पुकार मची हो, परंतु किसी कारणवश बाहरसे न पुकार सके तो उस पुकारको भी वे सुन लेते हैं। उनको हृदयके कपटहीन शब्दोंकी आवश्यकता है, बाह्य शब्दोंकी नहीं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(उत्तर० ८७ क)

भक्तिमती शबरीको उन्होंने अपने विरदका भेद स्पष्ट शब्दोंमें यही बतलाया—

'मानउँ एक भगति कर नाता।'

वास्तवमें यही है भी यथार्थ। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न कोई प्रिय, परंतु जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' जैसे सूर्य किसीको अपना प्रकाश या गरमी देनेसे इनकार नहीं करता, पर जो उसके सामने आकर बैठता है उसीको प्रकाश और गरमीकी अधिक प्राप्ति होती है। जो अपने घरके किवाड़ ही बन्द करके बैठ जाय उसके लिये सूर्य क्या करे? इसी प्रकार भगवान्‌के सम्मुख होनेवाले ही पापमुक्त होकर भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं। उनसे विमुख रहनेवाले नहीं! अमुक मनुष्य ही भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है और अमुक नहीं कर सकता, यह भेद उनमें नहीं है। ध्रुव बालक था। उसके समयमें अनेक राजा थे, ऋषि थे, मुनि थे, पर उन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई हो ऐसी बात नहीं है। जिसे यह पता भी नहीं कि भगवान् क्या वस्तु है, जिसने कभी किसी पाठशालामें जाकर गुरुमुखसे उनके स्वरूपका वर्णन ही नहीं सुना, उनका प्रभाव ही नहीं जाना, वही नन्हा-सा बालक ध्रुव 'पद्मपलाशलोचन—' कमलनेत्र प्रभुकी खोजमें निर्भय होकर निकल पड़ा। विद्या-बुद्धि-बलहीन बालक जब अनन्य भावसे दृढ़संकल्प होकर पुकार मचाने लगा तो वहाँ भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। उस भोले, किंतु अटल निश्चयी ध्रुवको अलौकिक ज्ञान और अचल पद देकर सदाके लिये कृतकृत्य कर दिया। प्रह्लाद भी बालक ही थे, वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध नहीं थे। इसी प्रकारके बहुत-से उदाहरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि भगवद्भक्तिमें विद्या, बुद्धि, बल, आयु आदिका कोई विचार नहीं है। अमुक स्थान और अमुक समयमें ही अमुक व्यक्ति भजन कर सकता है यह बात भी नहीं है, कालका निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा हो तो मरता हुआ आदमी काल अच्छा न होनेपर सद्‌गतिको प्राप्त ही न हो सके। देशका बन्धन हो तो बिना किसी तीर्थस्थानमें गये मुक्ति ही न हो सके। पर यह बात नहीं है। बुरे-से-बुरे देश, काल और वर्णमें जब कभी जीव निष्कपटभावसे परमात्माको पुकारता है, तभी उनकी ओरसे उसे आशापूर्ण आश्वासन मिलता है।

चक्रिक नामक एक भील जंगलमें रहा करता था। वहीं भगवान्‌की एक मूर्ति थी। उसे वह जड पत्थर न मानकर प्रत्यक्ष भगवान् मानता था। घूमते-घूमते उसे वनमें जो फलादि मिल जाते, प्रभुको उनका भोग लगाकर फिर स्वयं प्रसाद पाता। एक बार उसे पियालका एक फल मिला। उसने भूलसे उसको मुँहमें डाल लिया। डालते ही उसे अपनी भूल सूझ पड़ी, पर वह गलेमें उतर चुका था। अपना कोई वश न चलता देख वह फलको नीचे न उतरने देनेके लिये गलेको जोरसे पकड़ दौड़ता हुआ मूर्तिके पास जा पहुँचा। वमनद्वारा बाहर निकालनेकी चेष्टा करनेमें कोई कसर न रखी, पर जिस प्रकार वह उसे पेटमें न गिरने देनेका हठ किये हुए था, उसी प्रकार फल भी बाहर न आनेमें मचल गया। भोग लगाना जरूरी था। अन्तमें कुल्हाड़ीसे गला काटनेकी तैयारी होते ही भक्तवत्सल भगवान् अपनेको रोक न सके। प्रकट होकर हाथ पकड़ लिया। वह जातिका भील था, बुद्धिसे हीन था, पर था सच्चे हृदयसे पुकार मचानेवाला। कोई हो, होना चाहिये केवल सच्चा प्रेमी अन्तस्तलसे पुकारनेवाला भक्त!

यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवत्प्राप्तिमें केवल निष्कपट पुकारकी ही अपेक्षा है, अन्य किसी बातकी नहीं। जिस क्षण सच्ची पुकार होगी उसी क्षण परमात्माका आश्रय मिल सकेगा, इसमें कोई निश्चित कालकी अपेक्षा नहीं है। भोगोंकी प्राप्तिमें काल आदि निश्चित होता है। उचित अवसरपर ही उनकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु भगवत्प्राप्तिके लिये कोई बन्धन नहीं है। इसमें प्रारब्ध कुछ भी बाधा नहीं दे सकता। जब जीव व्याकुल हो जाय, विरह-तापसे जल उठे, प्रियतम श्रीकृष्णके बिना रह न सके, प्यारे रामके बिना उसे तनिक भी आराम न मिले, तभी भगवान् भी उसके बिना नहीं रह सकते। उनकी यह घोषणा ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो मुझको जैसे भजता है उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।'* भगवान्‌का कहना बहुत ठीक है। पर वे भजते हैं अपने स्वरूप और अपनी शक्तिके अनुसार तथा जीव भजता है अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार।

इसलिये यदि जीव इच्छा करे तो उनसे मिलनेमें देर नहीं हो सकती। यदि यह चल पड़े तो वे इतनी जल्दी मिलते हैं कि जीव उतनी जल्दीकी कल्पना ही नहीं कर सकता।

जहाँ हृदयमें विरहजनित व्याकुलता उत्पन्न हुई कि फिर उसे यह आवश्यकता नहीं कि वह वैकुण्ठ जाय। वे स्वयं उसके सामने आकर अपने सुरदुर्लभ दर्शनोंसे, अपनी अलौकिक रूपमाधुरीसे उसे मत्त और कृतार्थ कर देते हैं। छः मासके बच्चेको माँके पास जाना नहीं पड़ता। माता स्वयं ही भागती हुई उसके पास आ पहुँचती है। यदि हम वैसे ही सरल हृदयके मातृपरायण बच्चे बन जायँ तो भगवान्‌रूपी जगज्जननीके आनेमें देर ही क्या है? परायणता अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंमें रहे। जैसे माँकी मारसे बचनेके लिये भी बच्चा माँकी ही गोदमें घुसता है। माँकी गोद वास्तवमें बच्चेके लिये सदा ही खाली रहती है, बच्चा क्या करके आया है इस बातको माता नहीं देखती। इसी प्रकार भगवान् भी यह नहीं कहते कि पापी मेरे सामने नहीं आ सकता। पापियोंके लिये स्वर्गका द्वार बंद है सही, पर भगवान्‌का द्वार तो नरकके कीड़ोंके लिये भी खुला है। वहाँ यह नहीं होता कि पहले पापोंका दुःख भोगो और फिर मेरे यहाँ आओ। जो चाहता है उसीको वैकुण्ठ मिल जाता है। विशेषता यह है कि उसके पापोंका नाश भी वे ही स्वयं कर देते हैं। बस, केवल तीव्र इच्छाकी आवश्यकता है। उन्होंने घोषणा की है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

'अरे! तू मेरी शरण आ जा, तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।' हम कैसे अभागे हैं कि इस घोषणाको सुनकर भी सुख-शान्ति पानेके लिये उनके मुक्त द्वारकी ओर नहीं जाते और मदमाते धनियों तथा झूठे अधिकारियोंके बंद दरवाजे खटखटाते हैं और जगह-जगह ठोकरें खाते हैं।

यदि एक बार भी उस सर्वलोकमहेश्वर, जीवोंके स्वाभाविक सुहृद् परम प्यारे प्रभुके विरदपर विश्वास कर उसकी शरण पानेके लिये उत्कण्ठित हो उठें तो तुरंत निहाल हो जायँ, स्वयं धनियोंके धनी हो जायँ, फिर कुछ भी पाना शेष न रह जाय।

न मे भक्तः प्रणश्यति

भगवान्‌की इस दिव्य वाणीको याद करो—विश्वास करो और सच्चे हृदयसे अपने शेष जीवनको उनके भजनमें लगाकर संसार-सागरसे अनायास ही तर जाओ।

---

* इस सिद्धान्तमें देखनेपर कुछ भ्रम होता है। यदि भगवान् भक्तके अनुरूप ही उसको भजते हैं तो एक रोटीका प्रसाद चढ़ानेपर बदलेमें एक रोटी ही मिलनी चाहिये। एक घंटा ध्यान करनेपर भगवान् भी एक घंटा ध्यान ही कर लें। गजराजने पुकारा, आधा नाम लिया, तो वे भी आधा नाम ले लेते! कोई पत्र-पुष्प-फल भेंट करता है तो वे अनन्त गुणा फल क्यों देते हैं? इसलिये शंका होती है कि यह कथन ठीक नहीं। पर भगवद्वाक्य कभी झूठे हो नहीं सकते! तो फिर बात क्या है? सोचनेपर पता लगता है कि भगवान् भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार एवं हम भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार। मान लीजिये, गरुड़ और एक चींटीमें मैत्री हो गयी। गरुड़से मिलनेके लिये चींटी आगे बढ़ी पर वह बढ़ी अपनी चालसे। गरुड़ भी प्रेमवश आगे बढ़ा। चींटी तो थोड़ी ही दूर चली, पर गरुड़ तुरंत आ पहुँचा। भजते दोनों ही हैं, पर भजते हैं अपनी-अपनी हैसियतसे। राजा और कंगालमें मैत्री होनेपर राजा अपने मित्रको हलवा और मोहनभोग ही खिलायेगा और कंगाल अपने घरपर आये हुए मित्र राजाको साग-रोटी ही खिलायेगा। कंगाल मिलनेको जायगा अपनी बैलगाड़ीपर, पर राजा मिलनेको जायगा अपने वायुयानपर। इसी प्रकार जीव और भगवान्‌के प्रेममें अन्तर है। इसके पास प्रेमकी एक नन्हीं-सी बूँद है और वह है अनन्त प्रेम-सागर! इधरसे जब यह जीव अपनी उस बूँदको लेकर उसीके सहारे प्रभुके लिये बढ़ता है, तब उधरसे प्रेम-सागर उमड़ पड़ता है। यह थोड़ी दूर ही पहुँच पाता है, पर वह उधरसे आकर इसे अपनेमें समा लेता है। फिर दोनों एक हो जाते हैं। यही रसाद्वैत है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेम गली अति साँकरी ता में दो न समाहिं॥

भक्त और चमत्कार

भारतीय भक्तोंकी जीवनीमें कुछ-न-कुछ चमत्कारका उल्लेख रहना एक नियमित प्रथा-सी हो गयी है। भक्त-जीवनमें अलौकिक घटनाओंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो सर्वशक्तिमान् भगवान् '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**' समर्थ है। अघटनघटनापटीयसी माया-नर्तकी जिसके साधारण इंगितपर सदा सावधानीसे पैतरे बदलती हुई चलती हैं। जो संकल्पमात्रसे ही अवकाशमें अनवकाश और अनवकाशमें अवकाश कर सकता है, समस्त विश्वकी रचना, स्थिति और विनाश जिसका केवल क्रीड़ा-कौतुक है, उस प्रकृतिसे पर परमात्मामें सर्वथा आत्मसमर्पण कर चुकनेवाले प्रेमी भक्तोंद्वारा उसी अचिन्त्य-समर्थके सामर्थ्य-बलपर असाधारण और अप्राकृतिक कर्मोंका बन जाना असाधारण बात नहीं है। इसीमें बालक प्रह्लादका अग्निमें न जलना, विषपान करके भी जीते रहना आदि समर्थ विश्वसनीय भी है। हम अभक्तोंको भक्त-जीवनकी अलौकिक घटनाओंपर अविश्वास करनेका कोई अधिकार नहीं है। हमारी अनिश्चयात्मिका विषयरसविमुग्ध बुद्धि उनके यथार्थ स्वरूपको पहचाननेमें समर्थ नहीं हो सकती। अहंकार, बल, दर्पादिके त्यागसे ब्रह्मभावमें स्थिति होनेपर परम भक्तिके द्वारा जब साधक परमात्माके यथार्थ तत्त्वको समझता है, तभी वह उस भक्तके चरित्रको समझनेका अधिकारी होता है। भगवान्की भाँति सच्चे भक्तके कर्म भी दिव्य होते हैं। अतएव प्रह्लादसे लेकर भक्त तुकाराम, तुलसीदास आदिके जीवनकी अलौकिक घटनाओंको पढ़कर, सुनकर उनपर कभी संदेह नहीं करना चाहिये। आजकल हमें ऐसे भक्त दिखायी नहीं देते या हममें ऐसी शक्ति नहीं है, इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि इन लोगोंके चरित्र भी मिथ्या, कल्पित या अतिरंजित घटनाओंके घर हैं। हमें उनपर विश्वास और श्रद्धा करनी चाहिये।

किंतु विचारणीय प्रश्न तो यह है कि क्या, चमत्कार या अलौकिक घटनाओंमें ही भक्त-जीवनकी पूर्णता है? क्या भक्त-जीवनमें चमत्कारकी घटना अवश्य रहनी चाहिये? क्या चमत्काररहित जीवन भक्त-जीवन नहीं बन सकता और क्या भक्तोंकी पहचान चमत्कारोंसे होती है? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी समझमें तो यही बात आती है कि भक्तोंके किये चमत्कार वास्तवमें अत्यन्त तुच्छ चीज है। भक्तोंके चरितमें जिन चमत्कारोंका वर्णन हुआ है उनपर अविश्वास न करता हुआ भी मैं यह अवश्य कहूँगा कि भक्त-जीवनकी पूर्णता तो एक ओर रही, चमत्कारके बलपर भक्त कहलाना या कहना यथार्थ सच्ची भक्तिका तिरस्कार करना है। जो भक्त भगवत्कृपासे असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, उनके लिये किसी एक कोढ़ीका कोढ़ दूर कर देना या एक मृतकको जिला देना बड़ी बात नहीं है। इस तरहकी घटनाओंसे वास्तवमें भक्त-जीवनका महत्त्व कदापि नहीं बढ़ता। भक्तका जीवन तो इन बातोंसे बहुत ही ऊँचा उठा हुआ होता है। भगवान्के यथार्थ तत्त्वका सम्यक् अपरोक्ष ज्ञान हो जानेके कारण भक्तकी दृष्टिमें अखिल विश्व परमात्माके रूपमें बदल जाता है। ऐसी दशामें जगत्में दुःख-भावना उसके मनमें उठ ही कैसे सकती है। सारा जगत् ईश्वररूप है। ईश्वरमें दुःख और कष्टकी कल्पना करना ईश्वरत्वमें बट्टा लगाना है। जब कोई दुःख ही नहीं, तब दुःख दूर करनेकी बात कैसी? परमात्मा नित्य आनन्द-स्वरूप है। उस आनन्दघनमें दुःख नामक किसी अन्यको अवकाश ही कहाँ? जब दुःख ही नहीं, तब मिटाना कैसा? कारण बिना कार्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें अमुक भक्तने अमुकके दुःखसे दुःखी होकर अपने चमत्कारसे उसका दुःख दूर कर दिया यह कहना युक्तिसंगत नहीं। इतना होनेपर भी मंगलमय बन जानेके कारण भक्तके ईश्वरार्पित और ईश्वरमय तन, मन, धनसे जगत्का सदा स्वाभाविक ही मंगल हुआ करता है। अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती। इसी भाँति भक्तसे किसीका अनिष्ट नहीं होता। उसका अन्तःकरण ईश्वरीय गुणसम्पन्न रहनेके कारण स्वभावसे ही अखिल विश्वरूप परमात्माकी सेवामें सदा संलग्न रहता है। शरीर तो अन्तःकरणके अनुसार चलता ही है। अतएव भक्त सदा ही लोकसेवक है। पर वह चमत्कारसे नहीं है; स्वाभाविक वृत्तिसे है।

चमत्कारी वर्णनोंकी अधिक विस्तृति और महत्तापर विश्वास हो जानेके कारण भारतवर्षमें अनर्थ भी कम नहीं हुआ है। चमत्कारने साधुके सच्चे स्वरूपको ढक दिया। साधुकी कसौटी चमत्कारोंपर होने लगी, इसीसे

सच्चे सीधे-सादे संतोंकी दुर्दशा हुई। भण्ड और पाखण्डियोंका काम बना। सिद्ध-साधककी जोड़ी बनाकर अनेक प्रकारकी चमत्कारपूर्ण मिथ्या और अतिरंजित बातें फैलायी जाती हैं। 'अमुक बाबाजीने रोग मिटा दिया, अमुकने छूते ही कोढ़ दूर कर दिया, अमुकने कमण्डलुके जलसे पुत्रदान दे दिया, अमुकने आशीर्वादमात्रसे जज साहबकी मति बदलकर मुकदमा जिता दिया।' कहीं काकतालीय न्यायसे कोई घटना हो गयी कि उसको चमत्कारका रूप दे दिया गया। यों भेड़की खालमें अनेकों भेड़िये घुस बैठे और वे भक्तकी पवित्र गद्दीको कलंकित करने लगे। इसी चमत्कारकी भावनाने अनेक अपात्र और अभक्तोंको— अनेक मिथ्यावादी, व्यभिचारी, शराबखोर, ढोंगी और पाखण्डियोंतकको लोगोंकी दृष्टिमें भक्त बना दिया और वे लोग भक्तके पवित्र नामपर मनमानी घरजानी करने लगे।

इसलिये हमलोगोंको भक्तकी पहचान उसमें किसी चमत्कारको देख-सुनकर नहीं करनी चाहिये। चमत्कार तो चालाकी या जादूसे भी दिखलाया जा सकता है। चमत्कार दिखलानेवाले आजकल अधिकांश तो धोखा ही देनेवाले हैं। भक्तमें तो उसके आराध्यदेव भगवान्‌के सदृश दैवी सम्पत्तिके गुणोंका विकास होना चाहिये। अतएव भक्तकी कसौटी भी उन्हीं गुणोंपर हो सकती है। भक्त-जीवनका सर्वथा शुद्ध लोक-परलोक-हितकारी स्वाभाविक प्रभुमय जीवनमें परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय और स्तुत्य चमत्कार है, भक्त बननेवालोंको अपने अंदर इसी चमत्कारके विकासके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

गीताके दो प्रधान पात्र

(भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन)

गीतामें सर्वप्रधान पात्र दो हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुन। अतएव यहाँ इन दोनोंके जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ तो जीवोंको भवसागरसे तारनेवाली हैं ही; उनके भक्त अर्जुनकी जीवन-कथा भी भगवान्‌के सम्बन्धसे बहुत ही उपकारिणी हो गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। गीतामें उन्होंने अपने श्रीमुखसे तो बार-बार अपनेको साक्षात् भगवान् कहा ही है। अर्जुन और संजयने भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जो भगवान्‌के सिवा किसी भी बड़े-से-बड़े मनुष्यके लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते।

द्वापरके अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें वसुदेवजीके यहाँ कंसके कारागारमें भाद्रपद कृष्णाष्टमी, बुधवारको आधी रातके समय रोहिणी नक्षत्र और वृष लग्नमें चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार शिशुरूप धारण करनेपर इन्हें श्रीवसुदेवजी इन्हींके संकेतानुसार गोकुल पहुँचा आये और वहीं नन्द-यशोदाके यहाँ—ये पुत्ररूपमें पालित हुए। वहाँ रहकर इन्होंने बालकपनमें ही अनेक अलौकिक चरित्र किये। मारनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी हुई पूतनाके प्राणोंको भी दूधके साथ खींच लिया। पालनेमें झूलते हुए दूध और दहीके बर्तनोंसे भरे एक बहुत बड़े छकड़ेको पैरोंके ठोकरसे उलट दिया और बवंडरके रूपमें आकर इन्हें आकाशमें उड़ाकर ले जाते हुए तृणावर्त नामक दैत्यको गला घोंटकर मार डाला और उसका उद्धार कर दिया।

जब बालक श्रीकृष्ण चलने-फिरने लगे तो गोपियोंके घरोंमें घुस जाते और उनकी प्रसन्नताके लिये उनका दूध, दही और माखन ले-लेकर खा जाते, सखाओं तथा बंदरोंको लुटा देते तथा अन्य कई प्रकारका बालचापल्य करके उन्हें रिझाते तथा खिझाते। जब वे शिकायत लेकर यशोदा मैयाके पास आतीं तो अनेक प्रकारकी चातुर्यपूर्ण बातें कहकर उन्हें निरुत्तर कर देते।

एक दिन गोपबालकोंने आकर यशोदा मैयासे कहा कि 'कन्हैयाने मिट्टी खायी है।' मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे? तूने मिट्टी क्यों खायी?' भगवान् बोले— 'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है, विश्वास न हो तो मेरा मुख देख ले।' फिर उन्होंने माताको अपने मुखके अंदर त्रिलोकीका दर्शन कराया, किंतु मातापर इनके इस

अलौकिक प्रभावका संस्कार अधिक देरतक न ठहरा। एक दिन माताने इनकी चपलताके कारण इन्हें ऊखलसे बाँध दिया और इन्होंने ऊखलसे बँधे-बँधे ही यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ डाला और कुबेरपुत्र नलकूबर तथा मणिग्रीवका उद्धार किया। जब श्रीकृष्ण-बलराम कुछ बड़े हुए तब वे बछड़ोंको चराने वनमें जाने और वहाँ गोपबालकोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करने लगे। वहाँ इन्होंने क्रमशः बछड़े और बगुलेका रूप बनाकर आये हुए वत्सासुर और बकासुर नामक दैत्योंका तथा अजगरका वेष बनाकर आये हुए अघासुरका उद्धार किया।

एक बार भगवान् जब वनमें बछड़े चरा रहे थे तो ब्रह्माजीने भगवान्‌की महिमा देखनेके लिये बछड़ों और गोपबालकोंको ले जाकर कहीं छिपा दिया। श्रीकृष्णने यह देखकर स्वयं उन सारे बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण कर लिया और सालभर इस प्रकार अनेक रूप होकर रहे। ब्रह्माजी इस लीलाको देखकर बहुत ही चकित हुए और उन्होंने क्षमा-याचना करके सब बछड़ों तथा गोपबालकोंको लौटा दिया।

जब श्रीकृष्ण छः-सात वर्षके हुए तो ये नन्दजीके आज्ञानुसार गौओंको चराने वनमें जाने लगे। इन्हीं दिनों धेनुकासुर नामक दैत्य गदहेका रूप बनाकर श्रीकृष्णको मारने आया। उसकी भी वही दशा हुई जो इसके पूर्व अन्य दैत्योंकी हुई थी। उन दिनों कालिय नामक महान् विषधर सर्प यमुनाजीमें रहता था, जिसके कारण यमुनाजीका जल विषैला हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीमें प्रवेशकर उस सर्पके साथ युद्ध किया और उसका शासन करके उसको वहाँसे निकाल दिया। रातको जब समस्त गोकुलवासी यमुनाके तटपर सोये हुए थे, वनमें सहसा भयानक आग लगी, जिसने उन सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया। भगवान्‌ने उनका यह कष्ट देखकर उस अग्निको पी लिया और इस प्रकार अपने आश्रितजनोंकी रक्षा की।

एक बार सब गोपगण गायोंको चरानेके लिये एक मूजके वनमें घुस गये। वहाँ भी दैवयोगसे आग लग गयी, जिसके कारण समस्त गोपगण तथा गायें व्याकुल हो गयीं। भगवान्‌ने पुनः उस अग्निको पीकर गौओं तथा गोपोंकी रक्षा की।

एक बार कुछ गोप-कन्याओंने भगवान् श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अगहनके महीनेमें कात्यायनी देवीका व्रत किया। एक दिन जब वे वस्त्रोंको तटपर रखकर यमुनाजीमें नग्न होकर स्नान कर रही थीं तो भगवान् उन्हें शिक्षा देनेके लिये उनके वस्त्रोंको लेकर कदम्बपर जा बैठे। बड़े अनुनय-विनयके बाद उनके वस्त्रोंको लौटाया और उनके मनोरथ पूर्ण करनेका उन्हें वरदान दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी मधुर मुरली बजाते कि गोपबालाएँ तथा व्रजके सभी प्राणी उसे सुनकर मुग्ध हो जाते। एक बार जब गोपगण भगवान् श्रीकृष्णके साथ वनमें गौएँ चरा रहे थे तो उन्हें बड़ी भूख लगी। पास ही कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान्‌ने गोपोंसे कहा कि तुम उन ब्राह्मणोंके पास चले जाओ और उनसे हमारा नाम लेकर अन्न माँगो। गोपोंने वैसा ही किया, किंतु ब्राह्मणोंने उनकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया। तब भगवान्‌ने गोपोंको उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास भेजा और वे भगवान्‌का नाम सुनते ही अधीर होकर वहाँ दौड़ी आयीं और साथमें बहुत-सा भोजनका सामान लेती आयीं। पीछेसे जब उनके पतियोंको यह बात मालूम हुई तो वे मन-ही-मन अपनी पत्नियोंकी भक्तिकी सराहना करने और अपनेको धिक्कारने लगे!

गोपगण प्रतिवर्ष इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये एक बड़ा भारी यज्ञ किया करते थे। भगवान्‌ने इसके बदलेमें गोपोंसे गौओं, ब्राह्मणों और गोवर्द्धन पर्वतकी पूजा करनेके लिये प्रेरणा की और स्वयं एक दूसरा रूप धारणकर गोवर्द्धन पर्वतके अभिमानी देवताके रूपमें पूजाको स्वीकार किया। जब इन्द्रने यह देखा तो वे अत्यन्त कुपित हुए और गोपोंको दण्ड देनेके लिये उन्होंने प्रलयकालकी-सी वर्षा बरसानेका आयोजन किया। भगवान्‌ने उस प्रलयकारी वर्षासे गोपोंकी रक्षा करनेके लिये लीलासे ही गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया और सात दिनतक उसे उसी प्रकार उठाये रखा तथा इस प्रकार इन्द्रके दर्पको चूर्ण किया।

गोवर्द्धन धारण करनेके बाद स्वर्गसे इन्द्र और गोलोकसे कामधेनु—श्रीकृष्णके पास आये। इन्द्रने क्षमा-प्रार्थना की। कामधेनुने अपने दूधसे और इन्द्रने ऐरावत हाथीकी सूँड़से निकले हुए आकाशगंगाके

जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उनका नाम 'गोविन्द' रखा।

एक बार नन्दजी रात्रिके समय यमुनाजीमें स्नान कर रहे थे, उस समय एक वरुणका अनुचर उन्हें उठाकर वरुणलोकमें ले गया। जब भगवान्‌को यह मालूम हुआ तो वे स्वयं वरुणलोकमें जाकर नन्दजीको वहाँसे ले आये। नन्दजीने जब वहाँके वैभव और श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन अपने साथियोंसे किया तो उन लोगोंको भगवान्‌के वैकुण्ठ-धामका दर्शन करनेकी बड़ी उत्कट अभिलाषा हुई। उनकी अभिलाषाको जानकर भगवान्‌ने उन्हें अपने प्रकृतिसे परब्रह्मस्वरूपका और वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया।

इसके बाद भगवान्‌ने कान्तभावसे भजनेवाली गोपियोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तथा कामदेवका मद चूर्ण करनेके लिये अलौकिक रासक्रीडा की। भगवान्‌की मुरली सुनकर गोपियाँ शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिको रासमण्डलमें भगवान्‌के पास पहुँचीं, बीचमें भगवान् अन्तर्धान हो गये। फिर प्रकट हुए। तदनन्तर एक-एक गोपीके बीचमें एक-एक स्वरूप धारण करके भगवान्‌ने दिव्य रासलीला की।

एक बार नन्दादि गोपगण देवाधिदेव महादेवकी पूजाके लिये अम्बिकावनको गये हुए थे। वहाँ रात्रिको एक अजगर सोये हुए नन्दबाबाको निगलने लगा। उनके रोनेकी आवाज सुनकर भगवान् जागे और उन्होंने उस अजगरको पैरोंसे ठुकराया। भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श पाते ही वह विद्याधरके रूपमें परिवर्तित हो गया और भगवान्‌की स्तुति करता हुआ अपने लोकको चला गया। ऋषियोंका अपराध करनेसे उसे सर्पकी योनि प्राप्त हुई थी और भगवान्‌की कृपासे वह उस योनिसे छूटकर अपने असली स्वरूपको प्राप्त हो गया।

एक बार भगवान् वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे, उस समय शंखचूड नामक कुबेरका अनुचर गोपियोंके एक टोलेको उठाकर ले गया। भगवान्‌ने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके मस्तकपरसे उसकी मणिको निकाल लिया।

इस बीचमें अरिष्टासुर नामक दैत्य बैलका रूप धारण कर व्रजमें आया। भगवान्‌ने उसे बात-की-बातमें मारकर अपने धामको पहुँचा दिया। तब कंसने केशी नामक दैत्यको भेजा, जो घोड़ेका रूप धरकर आया; किंतु उसकी भी वही गति हुई।

एक बार भगवान् ग्वालबालोंके साथ चोरोंका खेल खेल रहे थे। कुछ ग्वाल चोर बन गये, कुछ मेढ़े बन गये और कुछ रखवाले बनकर उनकी चोरोंसे रक्षा करने लगे। इतनेमें व्योमासुर नामक दैत्य आया और वह भी गोपवेषमें चोर बनकर मेढ़े बने हुए गोपबालकोंको चुरा-चुराकर एक पर्वतकी गुफामें ले जाकर रखने लगा। भगवान्‌को जब यह पता लगा तो उन्होंने मायासे गोप बने हुए उस दैत्यको खूब मारा और उसके प्राणोंको हर लिया तथा छिपाकर रखे हुए गोपबालकोंको गुफामेंसे बाहर निकाला।

इधर कंसने मथुरामें श्रीकृष्ण-बलरामको मारनेके उद्‌देश्यसे धनुषयज्ञका आयोजन किया और उन्हें बुलानेके लिये अक्रूरजीको भेजा। अक्रूरजी जब श्रीकृष्ण-बलरामको लेकर मथुरा जाने लगे तो गोपियाँ विरह-दु:खसे अत्यन्त कातर होकर रोने लगीं और उनके रथके पीछे-पीछे चलने लगीं। भगवान्‌ने किसी प्रकार समाश्वासन देकर उन्हें लौटाया। वे भी भगवान्‌के लौटनेकी आशासे प्राण धारण करती हुई व्रजमें रहने लगीं। मथुरा पहुँचनेके पूर्व भगवान्‌ने यमुनातटपर विश्राम किया। अक्रूरजीने रथसे उतरकर स्नानके लिये यमुनाजीके अंदर डुबकी लगायी तो उन्होंने जलके भीतर श्रीकृष्णको देखा; उन्होंने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो वहाँ भी श्रीकृष्ण-बलरामको पूर्ववत् बैठे पाया। यह लीला देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ और वे गद्‌गद होकर भगवान्‌की 'स्तुति' करने लगे।

मथुरा पहुँचनेपर भगवान्‌ने अक्रूरजीको पहले भेज दिया और स्वयं पीछेसे गोपोंके साथ नगरीमें प्रवेश किया। नगरीमें उनका बड़ा स्वागत हुआ। रास्तेमें भगवान्‌ने सुदामा मालीकी पूजा स्वीकार की, त्रिवक्रा (कुब्जा) नामक कंसकी दासीका कूबड़ दूर किया और उसके घर आनेका वचन दिया। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर भगवान्‌ने उस धनुषको देखा जिसके निमित्तसे उस यज्ञका आयोजन किया गया था और सब लोगोंके देखते-देखते उसे लीलासे ही तोड़ डाला। रक्षकोंने जब भगवान्‌को ललकारा तो उनको भी मार डाला। दूसरे

दिन भगवान् फिर रंग-मण्डपमें मल्लयुद्ध देखनेके लिये गये। द्वारके सामने कुबलयापीड नामका मतवाला हाथी खड़ा था, उसने महावतके इशारेसे श्रीकृष्णपर आक्रमण किया। श्रीकृष्णने लीलासे ही उसके दोनों दाँतोंको उखाड़ लिया और उन्हींके प्रहारसे हाथी तथा महावत दोनोंको मार डाला। फिर मण्डपमें प्रवेश करके चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लोंको पछाड़ा और अन्तमें सबके देखते-देखते छलाँग मारकर कंसके मंचपर जा कूदे और उसे केश पकड़कर सिंहासनके नीचे ढकेल दिया और बात-की-बातमें उस महाबलीका काम तमाम कर डाला। इसके बाद विधिपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी और उसके पिता उग्रसेनको कारागारसे मुक्त करके उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं कारागारमें अपने माता-पिता वसुदेव-देवकीसे मिलकर उनका बन्धन छुड़ाया और उन्हींके पास सुखपूर्वक रहने लगे।

वसुदेवजीने भगवान्‌का विधिवत् यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और फिर उन्होंने उज्जयिनीमें गुरु सान्दीपनिके यहाँ वेद-वेदांगकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिया। वहीं उनकी सुदामा ब्राह्मणसे मित्रता हुई। बहुत थोड़े समयमें गुरुकुलकी शिक्षा समाप्त कर, चौदह विद्या और चौंसठ कलाओंमें निपुण होकर भगवान् जब वापस आने लगे तो उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। गुरुने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह कहा कि 'हमारा एक पुत्र प्रभासक्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसीको वापस ला दो।' भगवान्‌ने यमपुरीमें जाकर वहाँसे गुरुपुत्रको ला दिया और गुरुकी आज्ञा तथा आशीर्वाद पाकर वे घर लौट आये।

इसके बाद भगवान्‌ने गोपियोंकी सुधि लेने तथा अपने प्रिय सखा उद्धवका ज्ञानाभिमान दूर करके उन्हें प्रेम-मार्गमें दीक्षित करने और गोपी-प्रेमका माहात्म्य बतलानेके लिये व्रजमें भेजा। वहाँ उन्होंने प्रेममूर्ति विरहिणी व्रजांगनाओंकी जो दशा देखी, उससे उनके ज्ञानका गर्व गल गया और वे गोपियोंको प्रबोध करनेका हौसला भूलकर उलटे गोपियोंके दास बन गये तथा उनकी चरणधूलिमें लोटकर अपनेको कृतार्थ मानने लगे। इसके अनन्तर भगवान् अपने वचनको पूरा करनेके लिये कुब्जाके घर गये और उसके प्रेमका सम्मान किया। फिर वे अक्रूरजीके घर गये और उन्हें पाण्डवोंका संवाद लानेके लिये हस्तिनापुर भेजा।

इधर कंसकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उसके श्वशुर मगधराज जरासन्धने सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा नगरीपर चढ़ाई की, किंतु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर लौट जाना पड़ा। अठारहवीं बार वह फिर सेना बटोरकर चढ़ाई करनेहीवाला था कि इस बीचमें कालयवन नामक यवनदेशके राजाने तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा नगरीपर धावा बोल दिया। इस प्रकार दोहरा आक्रमण देखकर व्यर्थके नरसंहारको रोकनेके लिये भगवान्‌ने समुद्रतटपर जाकर एक नयी नगरी बसाने और मथुरावासियोंको वहाँ पहुँचाकर फिर यवनोंके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्‌की आज्ञासे विश्वकर्माने समुद्रके अंदर द्वारका नामकी एक विशाल नगरीका निर्माण किया। समस्त नगरवासियोंको युक्तिसे वहाँ पहुँचाकर भगवान् स्वयं बिना कोई आयुध लिये ही नगरसे बाहर निकल पड़े। उन्हें इस प्रकार पैदल ही नगरसे बाहर जाते देखकर कालयवनने भी पैदल ही उनका पीछा किया। भगवान् दौड़ते-दौड़ते एक गुफामें घुस गये और वहाँ सोये हुए मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्दके द्वारा बिना ही परिश्रम उसे मरवा डाला। फिर मुचुकुन्दको अपने दिव्य दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। श्रीकृष्णने वहाँसे लौटकर अकेले ही यवनोंकी उस विपुल सेनाका संहार किया और वहाँसे द्वारकाको जानेकी तैयारीमें ही थे कि इतनेमें ही जरासन्धने पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापर चढ़ाई की। अब तो भगवान्‌ने वहाँसे भागना ही उचित समझा और भयभीत होकर भागनेका-सा नाट्य करके द्वारका चले आये। तभीसे भक्तलोग उन्हें 'रणछोड़' नामसे पुकारने लगे। जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर वापस अपनी राजधानीको चला गया।

इसके बाद भगवान्‌ने साक्षात् भगवती लक्ष्मीजीकी कलारूपा देवी रुक्मिणीके साथ विवाह किया और विरोधी सेनाका संहार किया। रुक्मिणीका भाई रुक्मी भी रुक्मिणीके अपहरणको न सहकर एक अक्षौहिणी सेना लेकर भगवान्‌के पीछे दौड़ा; किंतु भगवान्‌ने उसकी सेनाका बात-की-बातमें विध्वंस कर डाला और रुक्मीको भी पकड़कर केशहीन एवं कुरूप करके

छोड़ दिया। देवी रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ, जो साक्षात् कामदेवका अवतार था और रूप-गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही प्रतिमूर्ति था।

एक बार स्यमन्तक मणिको ढूँढ़ते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ऋक्षराज जाम्बवान्के पास पहुँचे और उस मणिके लिये उनसे युद्ध किया। जाम्बवान् उनके बलको देखकर यह समझ गये कि मेरे इष्टदेव राम ही इस रूपमें मेरे सामने उपस्थित हुए हैं और अत्यन्त भक्तिभावसे अपनी कन्या जाम्बवतीके साथ उस मणिको भगवान्के भेंट कर दिया। भगवान्ने उस मणिको ले जाकर उसके मालिक सत्राजित् यादवको दे दिया और सत्राजित् यादवने इस उपकारके बदलेमें अपनी कन्या सत्यभामाके साथ भगवान्का विवाह कर दिया और उस मणिको भी दहेजमें दे दिया। भगवान्ने सत्यभामाको तो स्वीकार कर लिया; किंतु मणि लौटा दी। ये सत्यभामा भगवान्की अत्यन्त कृपापात्र महिषी थीं।

रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवतीके अतिरिक्त भगवान्की पाँच पटरानियाँ और थीं जिनके नाम थे—कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती, लक्ष्मणा और भद्रा। इनमेंसे कालिन्दीने तपस्या करके भगवान्को प्राप्त किया, मित्रविन्दाको भगवान् रुक्मिणीकी भाँति हरण करके लाये, नग्नजित्की कन्या सत्याको शुल्करूपमें सात उद्दण्ड बैलोंको एक साथ नाथकर लाये, भद्रासे उसके बान्धवोंके आग्रह करनेपर विवाह किया और मद्रदेशकी राजकन्या लक्ष्मणाको भगवान् अकेले ही स्वयंवरमें सब राजाओंका तिरस्कार करके हर ले आये।

इसके बाद भगवान्ने इन्द्रकी प्रार्थनापर भौमासुर अथवा नरकासुर नामक दैत्यकी राजधानी प्राग्योतिषपुरपर चढ़ाई की और उसका वध करके उसके स्थानपर उसके पुत्र भगदत्तको अभिषिक्त किया। उस भौमासुरके यहाँ नाना देशके राजाओंसे हरण करके लायी हुई सोलह हजार एक सौ कन्याएँ थीं। उन्होंने भगवान्के दर्शन कर मन-ही-मन उन्हें पतिरूपमें वरण कर लिया और भगवान्ने भी उनका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उन्हें द्वारिका भेज दिया। भौमासुर इन्द्रकी माता अदितिके कुण्डल हरण कर लाया था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रलोकमें जाकर इन्द्रकी माताको वापस दे आये और वहाँसे लौटते समय इन्द्रादि देवताओंको जीतकर सत्यभामाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये पारिजातका वृक्ष अपने साथ लेते आये और उसे सत्यभामाके महलोंके पास लगा दिया।

द्वारिकामें लौटकर भगवान्ने उन सोलह हजार एक सौ कन्याओंके साथ एक ही समय उतने ही रूप धारण कर अलग-अलग विवाह किया और उसी प्रकार लक्ष्मीकी अंशरूपा उन स्त्रियोंके साथ अलग-अलग रहने लगे और वे सब भी सेवाके द्वारा उन्हें संतुष्ट करने लगीं।

शोणितपुरके राजा, महाभागवत बलिके पुत्र बाणासुरकी कन्या ऊषाने एक बार स्वप्नमें प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धको देखा और उसी समयसे वह उन्हें पतिरूपमें मानने लगी। उसने युक्तिसे एक बार उन्हें अपने महलोंमें बुलाया और उन्हें बड़े ही सुखपूर्वक वहीं अपने पास महलोंमें ही रख लिया। जब उसके पिताको इस बातकी खबर लगी तो वह बहुत रुष्ट हुआ और उसने अनिरुद्धको कैद कर लिया। जब यह संवाद श्रीकृष्णके पास पहुँचा तो वे बड़ी भारी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे। वहाँ उनका बाणासुरके साथ घमासान युद्ध हुआ। बाणासुर भगवान् शंकरका बड़ा भक्त था, अतः साक्षात् शंकर भी उसकी सहायताके लिये आये और उनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ कई दिनतक संग्राम चला। अन्तमें भगवान् शंकरके अनुरोधसे श्रीकृष्णने उसकी भुजाओंको छेदन कर उसे अभय दे दिया और ऊषा तथा अनिरुद्धको साथ लेकर भगवान् अपनी राजधानीको लौट आये।

एक समय एक बगीचेमें खेलते हुए कुछ यादव-बालकोंको एक अन्धे कुएँमें एक पर्वताकार गिरगिट दिखायी दिया। उसे कुएँमेंसे निकालनेकी उन बालकोंने बहुत चेष्टा की, परंतु वे उस कार्यमें असफल रहे। तब वे श्रीकृष्णको वहाँ बुला लाये और उनके स्पर्शमात्रसे ही वह गिरगिटके रूपको त्यागकर देवरूप हो गया। वह राजा नृग था, जो भूलसे एक दान की हुई गौको दुबारा दान देनेके कारण उस नीच योनिको प्राप्त हुआ था।

एक बार करूषदेशके राजा पौण्ड्रकने 'असली वासुदेव मैं हूँ' ऐसा मानकर भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा और उनको युद्धके लिये ललकारा। उसने

यह चुनौती अपने मित्र काशिराजके यहाँसे भेजी थी, अतः भगवान् श्रीकृष्णने उसकी चुनौतीको स्वीकारकर काशीनगरीपर चढ़ाई कर दी और मित्रसहित उस मिथ्या वासुदेवको मारकर वे द्वारिकाको लौट आये। इधर काशिराजका पुत्र सुदक्षिण अपने पिताके वधका बदला लेनेके लिये अभिचारविधिका प्रयोग करता हुआ अग्निकी आराधना करने लगा। विधिके पूर्ण होनेपर हवनकुण्डमेंसे एक अति भयानक अग्नि उत्पन्न हुई, जो दसों दिशाओंको जलाती हुई द्वारिकापर चढ़ दौड़ी। भगवान्ने उसे माहेश्वरीकृत्या जानकर उसका शमन करनेके लिये सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी। चक्रसे पीडित होकर वह कृत्या काशीको लौट गयी और उसने ऋत्विजोंसहित स्वयं सुदक्षिणको ही जला दिया। सुदर्शन चक्र भी उसके पीछे-पीछे काशी गया और सारी नगरीको जलाकर वापस लौटा।

एक बार देवर्षि नारदजी 'भगवान् गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार रहते हैं?' यह देखनेकी इच्छासे द्वारिकामें गये। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सब जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थका यथायोग्य बर्ताव करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य भिन्न-भिन्न रूपोंमें विधिवत् करते थे। सभामें जानेके समय वे घरोंसे निकलते हुए अलग-अलग रूपमें दिखायी देते थे और फिर एक रूप होकर सभामें प्रवेश करते थे। यह सब देखकर नारदजी दंग रह गये और भगवान्की स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

भगवान् श्रीकृष्णकी दैनिकचर्या आदर्श थी। आप ब्राह्ममुहूर्तमें उठते, तदनन्तर ध्यान करते, फिर स्नान-संध्यादिसे निवृत्त होकर हवन करते और गायत्रीका जाप करते। फिर तर्पण करके गुरुजनोंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करते। तत्पश्चात् सुन्दर सींगवाली तथा चाँदीसे मढ़े हुए खुरों तथा मोतीकी मालाएँ पहनी हुई, एक बारकी ब्यायी, दूधवाली बछड़ेसहित ८४,०१३ गौएँ प्रतिदिन दान करते।

महाराज युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञका उपक्रम किया। इसके लिये देशभरके राजाओंको जीतना आवश्यक था। उनमें सबसे बलवान् जरासन्ध था। उसे द्वन्द्वयुद्धके द्वारा जीतनेके अभिप्रायसे भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों ब्राह्मणका वेष बनाकर उसकी राजधानी गिरिव्रजमें गये। वहाँ भीमसेनके द्वारा जरासन्धको मरवाकर भगवान्ने पाण्डवोंकी विजयका एक बड़ा भारी कण्टक दूर कर दिया और साथ ही उसके यहाँ जो बीस हजार आठ सौ राजा कैद थे, उन्हें मुक्ति दिलवाकर अपने-अपने राज्यमें भेज दिया।

इसके बाद राजसूय-यज्ञकी तैयारी हुई। भगवान्ने यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम स्वीकार किया। वहाँ सबसे पहले सभापतिका पूजन आवश्यक था। सभापतिके आसनके लिये सर्वसम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्ण चुने गये और तदनुसार धर्मराजने सर्वप्रथम उन्हींकी पूजा की और उनके त्रिलोकपावन चरणामृतको मस्तकपर चढ़ाया। उपस्थित सभी सदस्योंने जय-जयकार किया और देवताओंने पुष्पवृष्टि की। भगवान्के इस उत्कर्षको शिशुपाल नहीं सह सका और वह आवेशमें आकर उन्हें अनेक प्रकारके दुर्वचन कहने लगा। भगवान्ने चक्रसे उसके सिरको धड़से अलग कर दिया और सबके देखते-देखते उसकी देहमेंसे निकला हुआ जीवरूपी तेज भगवान्के अंदर प्रविष्ट हो गया।

शिशुपालका एक मित्र शाल्व नामका राजा था। वह अपने मित्रके वधका बदला लेनेके लिये अपना सौभ नामक विमान तथा बड़ी भारी सेना लेकर द्वारिका नगरीपर चढ़ दौड़ा। भगवान् उन दिनों हस्तिनापुर थे। वे अनिष्टकी शंकासे तुरंत द्वारिका चले आये। वहाँ आते ही उन्होंने शाल्वको युद्धके लिये ललकारा और गदासे उसके विमानको चूर-चूरकर चक्रसे उसके मस्तकका छेदन कर दिया।

शाल्वके मारे जानेपर शिशुपालका बड़ा भाई दन्तवक्त्र अकेला गदा हाथमें लेकर पैदल ही श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा। श्रीकृष्णने उसका भी गदाके प्रहारसे बात-की-बातमें काम तमाम कर दिया। शिशुपालकी भाँति उसके शरीरसे भी एक सूक्ष्म तेज निकलकर भगवान्के अंदर प्रवेश कर गया। उसके बाद उसका भाई विदूरथ युद्ध करने आया और भगवान्ने उसका भी मस्तक चक्रके द्वारा धड़से अलग कर दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि सुदामा भगवान्के गुरुभाई थे। ये अत्यन्त दरिद्र थे। आये दिन उपवास

होता था। परंतु ये इतने निःस्पृह थे कि किसीसे कुछ कहते-सुनते न थे। एक दिन लगातार कई उपवास होनेके कारण तंग आकर इनकी स्त्रीने इन्हें अपने बालसखा श्रीकृष्णके पास जानेकी प्रेरणा की। किसीसे कुछ माँगनेकी इच्छा न होनेपर भी भगवान्‌के दर्शनके लोभसे ये द्वारिका पहुँचे। वहाँ भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे इनका आदर-सत्कार किया और आते समय इनके बिना ही जाने इन्हें मालामाल कर दिया।

एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यादव-परिवारके साथ पर्व-स्नानके लिये कुरुक्षेत्र गये। वहाँ नन्दादि गोपगण भी आये थे। सब लोग चिरकालके बाद एक-दूसरेसे मिलकर बड़े ही प्रसन्न हुए। नन्द-यशोदा तथा गोपीजन तो श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर इतने प्रसन्न हुए मानो सूखे धानपर जल गिर गया हो।

वहीं सब ऋषि-महर्षि भी पधारे थे। भगवान्‌ने उनकी महिमा गायी। ऋषियोंने भगवान्‌का महत्त्व कहा। फिर वसुदेवजीने यज्ञ किया। तदनन्तर भगवान्‌ने अपने पिता वसुदेवजीको ज्ञान प्रदान किया।

एक बार गुरु सान्दीपनिकी गुरुदक्षिणाका वृत्तान्त स्मरण कर माता देवकीने अपने दोनों पुत्रोंके सामने यह इच्छा प्रकट की कि जिस प्रकार तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको लाकर अपने गुरुको दिया था, उसी प्रकार मैं भी कंसके द्वारा मारे हुए तुम्हारे छः भाइयोंको देखना चाहती हूँ। इसपर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों सुतल-लोकमें जाकर वहाँसे अपने छहों भाइयोंको ले आये और माताको सौंप दिया। माताने बड़े प्रेमसे उनका आलिंगन किया और उन्हें स्तनपान कराया और फिर उनको विदा कर दिया।

मिथिलापुरीमें श्रुतदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह श्रीकृष्णका परम भक्त था। उस देशका राजा बहुलाश्व भी भगवान्‌की बड़ी भक्ति करता था। उन दोनोंपर ही कृपा करनेके लिये भगवान् एक बार मिथिलापुरी गये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान्‌के चरणोंपर गिरे और दोनोंने ही एक साथ अपने-अपने घर पधारनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान्‌ने दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको न जनाते हुए ही दो स्वरूप धारण करके एक ही साथ दोनोंके घर जाकर उनको कृतार्थ किया।

पाण्डवोंके साथ भगवान्‌का बड़ा ही स्नेहका सम्बन्ध था। ये सदा उनके हितचिन्तनमें लगे रहते थे।

द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए पाण्डवोंको भगवान्‌ने पहचान लिया और फिर वहीं पाण्डवोंको मणि, रत्न, गहने, स्वर्ण, वस्त्र, गृहसामग्री, दास-दासी, असंख्य रथ और हाथी-घोड़े देकर अतुलित ऐश्वर्यशाली बना दिया।

पाण्डव जब वनमें थे तो भगवान् उनसे मिलने गये। द्रौपदीने रो-रोकर अपनी दुःख-कथा सुनायी। भगवान्‌ने वहीं कौरवकुलके नाशकी घोषणा कर दी और द्रौपदीको आश्वासन देकर वे वहाँसे विदा हो गये।

एक बार दुर्योधनने छलपूर्वक दुर्वासाजीको पाण्डवोंके पास भेजा। भगवान्‌ने वहाँ जाकर द्रौपदीकी बटलोईमेंसे एक पत्ता ढूँढ़ निकाला और उसे खाकर सारे विश्वको तृप्त कर दिया और इस तरह दुर्वासाके शापसे पाण्डवोंकी रक्षा की।

कौरवोंको समझानेके लिये भगवान् जब दूत बनकर हस्तिनापुर जाने लगे, तब एकान्तमें द्रौपदीने आकर उन्हें अपने खुले केश दिखलाये और दुःशासनके अत्याचारकी बात याद दिलायी। भगवान्‌ने आश्वासन देकर उसे संतुष्ट किया। हस्तिनापुरकी राहमें ऋषियोंका एक समूह मिला और सब ऋषियोंने हस्तिनापुर जाकर भगवान्‌का भाषण सुननेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्‌की अनुमतिसे सबने वहाँ जाकर भगवान्‌का भाषण सुना।

कौरव-सभामें भगवान्‌ने नाना प्रकारकी युक्ति-प्रयुक्तियोंसे दुर्योधनको समझानेकी बहुत चेष्टा की; परंतु उसने भगवान्‌की एक न सुनी और छलसे भगवान्‌को कैद करना चाहा। तब भगवान्‌ने उसे डाँटकर अपना दिव्य तेजोमय विराट्‌रूप दिखलाया। भगवान्‌के प्रत्येक रोम-कूपसे सूर्यकी किरणें निकल रही थीं और उनके नेत्रों, नासिकाओं और कर्णोंसे आगकी लपटें! भगवान्‌के इस रूपको देखकर सब चौंधिया गये। द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपोधन ऋषियोंने भगवान्‌का यह स्वरूप देखा। फिर भगवान्‌ने विदुरके घर जाकर भोजन किया और वहाँसे लौट गये।

महाभारत-युद्धके लिये अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान्के पास पहुँचे। उनके इच्छानुसार भगवान्ने दुर्योधनको अपनी सेना और अर्जुनको अपनेको सौंपकर समदर्शिता और भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय दिया। महाभारत-युद्धमें भगवान्ने अर्जुनके सारथिका काम किया और पाण्डवोंकी ओरसे प्रायः सारे ही काम भगवान्ने अपनी सलाहसे करवाये। नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे, ऐन मौकोंपर मौतके मुँहसे अर्जुनको बचाया और अन्तमें कौरवोंका संहार करवाकर पाण्डवोंको विजयी बनाया। इसी महाभारत-युद्धके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको दिव्य गीताका उपदेश दिया और विराट्रूप दिखलाया तथा अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमतत्त्वका निरूपण किया।

उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षित्को बचाया। सबको ज्ञानका उपदेश करवाया। अश्वमेध-यज्ञमें पाण्डवोंकी सहायता की और अर्जुनको अनुगीताका उपदेश दिया।

तदनन्तर द्वारिकाको लौटते हुए रास्तेमें महर्षि उत्तंकपर कृपा की और उन्हें अपना विराट्रूप दिखलाकर कृतार्थ किया। द्वारिकामें अनेकों लीलाएँ कीं। गान्धारीके और ऋषियोंके शापसे यदुकुलका संहार हुआ। तदनन्तर व्याधके बाणको निमित्त बनाकर भगवान्ने अपनी इच्छासे परम धामको प्रयाण किया। उस समय वहाँ ब्रह्माजी, भवानीसहित श्रीशंकरजी, इन्द्रादि तमाम देवता, प्रजापति, समस्त मुनि, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि आये और गान करते हुए भगवान्की लीलाका वर्णन करने लगे। पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और आकाश विमानोंकी कतारोंसे भर गया। भगवान् अपने दिव्य देहसे ऊपर उठते हुए सबके देखते-ही-देखते अपने परम धाममें प्रविष्ट हो गये। उन्हींके साथ-साथ सत्य, धर्म, धृति और कीर्ति भी चली गयीं। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता भगवान्की कीर्तिका बखान करते हुए अपने-अपने लोकोंको चले गये।

भक्तवर अर्जुन

गीताके पात्रोंमें दूसरा नंबर अर्जुनका है। अर्जुन 'नर' ऋषिके अवतार और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी थे। ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र थे। अर्जुनमें स्वाभाविक ही इतने गुण थे, जिनके कारण वे भगवान्के इतने प्रिय पात्र हो सके। उनका बल, रूप और लावण्य अपार था। शूरता, वीरता, सत्यवादिता, क्षमा, सरलता, प्रेम, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, बड़े भाईकी भक्ति, बुद्धि, विद्या, इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, आलस्यहीनता, कर्मप्रवणता, शस्त्रज्ञान, शास्त्रज्ञान, दया, प्रेम, निश्चय, व्रतपरायणता, निर्मत्सरता और बहुमुखी अभिज्ञता आदि गुण इनके जीवनमें ओत-प्रोत थे। इन्होंने द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। अपनी गुरुभक्तिसे द्रोणाचार्यको इन्होंने इतना प्रसन्न कर लिया था कि वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी न सिखाकर गुप्त-से-गुप्त अस्त्रोंका प्रयोग इन्हें सिखाते थे।

शिक्षा समाप्त होनेपर एक दिन गुरुने सबकी परीक्षा लेनी चाही। पेड़पर एक नकली पक्षीको बैठाकर उसीके सिरको निशाना बनाया गया। युधिष्ठिर आदि सबसे द्रोणाचार्यने पूछा कि तुमको क्या दीख रहा है। सबने कई चीजें बतलायीं। आखिर अर्जुनने कहा कि 'मुझको तो केवल पक्षीका सिर दीख रहा है।' द्रोणने आनन्दमें भरकर कहा—'बस, तुम बाण चलाओ। लक्ष्यका ध्यान इसी प्रकार करना चाहिये।'

एक बार द्रोणाचार्य अपने शिष्योंके साथ गंगाजी नहाने गये। जलमें उतरते ही एक मगरने उनकी जाँघ पकड़ ली। आचार्यने समर्थ होते हुए भी शिष्योंकी परीक्षाके लिये पुकारकर कहा—'इस मगरको मारकर कोई मेरी रक्षा करो।' द्रोणाचार्यकी बात पूरी होनेके पहले ही अर्जुनने पाँच बाण मारकर जलमें डूबे हुए मगरका काम तमाम कर दिया।

आचार्यकी प्रसन्नताके लिये ही उनके आज्ञानुसार अर्जुनने द्रुपदको जीतकर बंदीके रूपमें उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया था।

स्वयंवरमें द्रौपदीको अर्जुनने जीता था, परंतु माता कुन्तीके कथनानुसार पाँचों भाइयोंसे उनका विवाह हुआ। द्रौपदीको पूर्वजन्मका वरदान था, इसीसे ऐसा हुआ। द्रौपदीके सम्बन्धमें पाँचों भाइयोंने यह नियम बना रखा था कि जिस समय एक भाई उनके पास रहे उस समय चारों भाइयोंमेंसे कोई भी उस कमरेमें न जाय और यदि कोई जाय तो उसे बारह वर्षका निर्वासन हो। एक बार द्रौपदीके महलमें महाराज युधिष्ठिर थे। उस समय एक दिन ब्राह्मणकी गायोंको चोरोंसे छुड़ानेके लिये अर्जुनको अस्त्र लेनेको अंदर जाना पड़ा और युधिष्ठिरके समझानेपर भी अर्जुनने नियमानुसार बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार किया।

अर्जुन तीर्थोंमें घूमते रहे। इसी बीच नागकन्या

उलूपी उन्हें मिली और मणिपुरमें राजकुमारी चित्रांगदासे उनका विवाह हुआ। एक बार अर्जुन ऐसे स्थानमें गये जहाँ पाँच तीर्थ थे, पर उनमें पाँच बड़े भारी ग्राह रहनेके कारण कोई वहाँ नहाता नहीं था। अर्जुन उन सरोवरोंमें नहाये और शापसे ग्राह बनी हुई पाँच अप्सराओंको शाप-मुक्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ इनका बड़ा प्रेम था। वे इनके साथ घूमते और जल-विहार किया करते थे। अग्निको तृप्त करनेके लिये इन्होंने खाण्डव-वनका दाह किया। वहीं अग्निके द्वारा इन्हें दिव्य रथ और गाण्डीव धनुषकी प्राप्ति हुई। वहीं इन्द्रने आकर इनसे वरदान माँगनेको कहा। अर्जुनने दिव्य अस्त्र माँगे और परम प्रेमी भगवान्‌ने इन्द्रसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे।'

वनमें महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे अर्जुनने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। फिर इन्द्रके द्वारा बुलाये जानेपर ये स्वर्गमें गये। वहाँ इन्द्रने अपने आधे आसनपर बैठाकर इनका बड़ा सम्मान किया। वहीं इन्होंने गन्धर्वोंके द्वारा गान और नृत्यकी शिक्षा प्राप्त की।

स्वर्गमें उर्वशीने एकान्तमें अर्जुनके पास जाकर उनसे कामभिक्षाकी प्रार्थना की। अर्जुनने स्पष्ट कह दिया कि 'मैं दिक्पालोंको साक्षी करके कहता हूँ कि जैसे कुन्ती, माद्री और देवी इन्द्राणी मेरी पूजनीया माताएँ हैं, वैसे ही आप भी हैं। मैं तो आपका पुत्र हूँ।' इसपर उर्वशीने कुपित होकर इन्हें एक सालतक नपुंसक होनेका शाप दे दिया। वही शाप अर्जुनके लिये वर हो गया और उसीके प्रभावसे वे सालभरतक कौरवोंसे छिपकर विराट-नगरमें बृहन्नलाके नामसे राजकुमारी उत्तराके नृत्य-गीत-शिक्षक बनकर विराटके महलोंमें रह सके।

निवात-कवचोंको मारकर अर्जुन स्वर्गसे लौटे और अपनी चिन्तामें व्याकुल धर्मराज, भीम आदि भाइयोंसे मिले। इन्द्रके सारथि मातलिके लौट जानेपर स्वर्गसे लाये हुए दिव्य रत्नाभूषणोंको अर्जुनने द्रौपदीको दिया।

अर्जुनने समस्त लोकपालोंको प्रसन्न करके उन सबसे नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे।

वनमें पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर उन्हें ईर्ष्यासे जलानेके लिये दुर्योधन रानियोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ गन्धर्वोंने दुर्योधनको परास्त करके कैद कर लिया। कर्ण इत्यादि सब भाग गये। बचे हुए मन्त्रियोंने युधिष्ठिरके पास जाकर सबको छुड़ानेकी प्रार्थना की। दुर्योधनादिके कैद होनेकी बात सुनकर भीम बड़े प्रसन्न हुए। परंतु धर्मराजने कहा कि 'भाई! आपसमें हम सौ और पाँच हैं, पर दूसरोंके लिये हम एक सौ पाँच हैं। फिर कौरवकुलकी स्त्रियोंका अपमान तो हम किसी तरह नहीं सह सकते। तुम चारों भाई जाओ और सबको छुड़ा लाओ।' आज्ञा पाकर अर्जुन गये। गन्धर्वोंसे घोर युद्ध किया। अन्तमें चित्रसेनने अर्जुनको अपनी मित्रताका स्मरण दिलाकर उनसे प्रेम कर लिया और दुर्योधन आदि सबको छोड़ दिया।

अज्ञातवासके समय विराट-नगरमें अर्जुन हिंजड़ेके रूपमें रहे और राजकुमारी उत्तराको नृत्य-गीतकी शिक्षा देने लगे। अन्तमें कौरवोंके आक्रमण करनेपर अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें ही उनको जीता और वीरोंके वस्त्राभूषण लाकर उत्तराको दिये। तदनन्तर महाभारत-युद्धकी तैयारी हुई और सब लोग युद्ध करनेके लिये कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठे हुए। वहाँ भगवान्‌की आज्ञासे भगवती परमशक्तिरूपिणी दुर्गाजीको प्रसन्न करके अर्जुनने उनसे विजयका वरदान प्राप्त किया। ठीक युद्धकी तैयारीके समय गुरुजनों, स्वजनों और सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनको सात्त्विक मोह हो गया और भगवान्‌ने उन्हें महान् अधिकारी समझकर गीताका उपदेश दिया और उसमें अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमयोगका रहस्य बतलाया तथा सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा दी। अर्जुनका मोह नष्ट हो गया। उन्होंने आज्ञा स्वीकार की और युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धमें भगवान्‌ने अर्जुनके रथके घोड़े ही नहीं हाँके, बल्कि एक प्रकारसे समस्त युद्धका संचालन किया और हर तरहसे पाण्डवोंकी, खास करके अर्जुनकी रक्षा की।

जिस दिन अर्जुनने सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा की, उस रातको भगवान् सोये नहीं और चिन्ता करते-करते उन्होंने अपने सारथि दारुकसे यहाँतक कह डाला कि 'मैं अर्जुनके बिना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता। कल लोग देखेंगे कि मैं सब कौरवोंका विनाश कर दूँगा।' इसीसे पता चलता

है कि अर्जुनका भगवान्में कितना प्रेम था और उस प्रेम-लीलामें भगवान् कहाँतक क्या-क्या करनेको तुल जाते थे।

दूसरे दिनके भयंकर युद्धमें भगवान्ने बड़े ही कौशलसे काम किया। थके हुए घोड़ोंको युद्धक्षेत्रमें ही भगवान्ने धोया और उनके घावोंको साफ किया और अन्तमें अपनी मायासे सूर्यास्तका अभिनय दिखलाकर अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करवायी और अर्जुनसे कहकर जयद्रथके सिरको बाणोंके द्वारा ऊपर-ही-ऊपर चलाकर जयद्रथके पिताकी गोदमें गिरवाया और इस तरह एक ही साथ उसका भी संहार करवा दिया।

एक बार कर्णने एक बड़ा तीक्ष्ण बाण चलाया, उसकी नोकपर भयानक सर्प बैठा हुआ था। बाण छूटनेकी देर थी कि भगवान्ने घोड़ोंके घुटने टिकाकर रथके पहियोंको धरतीमें धँसा दिया। रथ नीचा हो गया और बाण निशानेपर न लगकर अर्जुनके मुकुटको गिराकर पार हो गया। इस तरह भगवान्ने अर्जुनकी रक्षा की।

महाभारत-युद्धके समाप्त होनेपर पाण्डवोंके अश्वमेधयज्ञमें भगवान्ने अर्जुनकी बड़ी सहायता की और उसके बाद उन्होंने अनुगीताका उपदेश दिया।

महाभारत-युद्धके पश्चात् छत्तीस वर्षतक पाण्डवोंके राज्य करनेपर भगवान्ने परमधामको प्रयाण किया। अर्जुन विलाप करते हुए धर्मराजके पास आये। तदनन्तर पाण्डवोंने भी हिमालयमें जाकर महाप्रस्थान किया।

त्यागका स्वरूप और साधन

शास्त्रोंकी ऐसी घोषणा है और सभी विचारशील पुरुष इस बातको स्वीकार करते हैं कि मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। संसारमें बहुत-से लोग इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये यत्किंचित् चेष्टा भी करते हैं, परंतु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं जो शीघ्र ही लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हों। शास्त्रकारोंने और अनुभवी संतोंने भगवत्प्राप्तिके मार्गमें कई विघ्न ऐसे बतलाये हैं जिनको पार किये बिना भगवान्की प्राप्तिके मार्गपर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। उन विघ्नोंमें प्रधान विघ्न है—अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति। अज्ञान या मोह तो इन सबका मूल कारण है ही। अज्ञानके नाशसे इन सबका नाश अपने-आप हो जाता है। अज्ञान कहते हैं न जाननेको। न जानना भगवान्के स्वरूपका। जिनको भगवान्के स्वरूपकी जानकारी हो जाती है, वे इन सारे विघ्नोंको सहज ही पार कर जाते हैं। बल्कि उनके लिये इन विघ्नोंका सर्वथा नाश ही होता है। परंतु जबतक अज्ञान नाश न हो, जबतक भगवान्के तत्त्वस्वरूपकी जानकारी न हो, तबतक क्या हाथ-पर-हाथ धरे यों ही बैठे रहना चाहिये? नहीं। आसक्ति, कामना, ममता और अहंकारका प्रयोग बुद्धिमानीपूर्वक भगवान्में करना चाहिये। आदर्श ऐसा होना चाहिये कि एकमात्र श्रीभगवान्में ही आसक्ति हो, एकमात्र श्रीभगवान्को पानेकी ही अनन्य कामना हो, एकमात्र श्रीभगवच्चरणोंमें ही अहैतुकी ममता हो और एकमात्र श्रीभगवान्के दासत्वका ही भक्तहृदयमें शान्ति-सुधा बरसानेवाला आदरणीय अहंकार हो। इस प्रकार इन चारोंके दिशापरिवर्तनका अभ्यास करनेसे क्रमशः इनका दूषित रूप नष्ट होता जायगा। तब ये मोहके पोषक न होकर उसका नाश करनेमें सहायता देंगे और ज्यों-ज्यों मोहका नाश होगा त्यों-ही-त्यों भगवान्के स्वरूपकी जानकारी होगी और ज्यों-ज्यों भगवान्के स्वरूपका ज्ञान होगा, त्यों-ही-त्यों एकमात्र उन्हींके साथ इन चारोंका सम्बन्ध बढ़ जायगा। फिर तो इनका नाम भी बदल जायगा और इन्हें विशुद्ध अव्यभिचारिणी भक्तिके रूपमें पाकर भक्त कृतार्थ होगा। उस भक्तिके द्वारा भगवान्की यथार्थ जानकारी—भगवत्तत्त्वका सम्यक् ज्ञान होगा और उस ज्ञानका प्रादुर्भाव होते ही भक्त अपने भगवान्का साक्षात्कार प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगा।

विषयोंके दुःख-दोषभरे भयंकर स्वरूपका और भगवान्के चिदानन्दमय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यका—भगवान्के स्वरूपका, स्वभावका हमें ज्ञान नहीं है; इसीसे हमारी चित्तवृत्तियोंकी प्रवृत्ति भगवान्की ओर न होकर विषयोंकी ओर हो रही है। यदि श्रीभगवान्की परमानन्दरूपता और विषयोंकी भयानकतापर वस्तुतः विश्वास हो जाय तो मनुष्यका मन विषयोंकी ओर कभी नहीं जा सकता। आज यदि किसीसे कहा जाय कि तुम्हें सौ रुपये दिये जायँगे, तुम एक तोला अफीम

या थोड़ा-सा संखिया खा लो, तो कोई भी खानेको तैयार नहीं होगा; क्योंकि अफीम और संखिया खानेसे मृत्यु हो जायगी, इस बातपर उसका शंकारहित निश्चित विश्वास है। भगवान्‌ने कहा है—'यह लोक अनित्य और असुख (सुखरहित) है अथवा यह जन्म अनित्य और दुःखालय है, इसे पाकर तुम मुझको ही भजो।' यदि भगवान्‌के इस कथनपर शंकारहित निश्चित विश्वास होता और यदि इन वचनोंके अनुसार जगत्‌के विषय हमें यथार्थमें दुःखरूप और अनित्य जान पड़ते तो हम उनमें क्यों रमते? और यदि भगवान्‌के अखिल-आनन्दसुधा-सिन्धुस्वरूपपर जरा भी विश्वास होता तो हम क्यों उसकी उपेक्षा करते? परंतु ऐसा करते हैं, इसलिये यही सिद्ध होता है कि हम पढ़ते, सुनते और कहते तो हैं, परंतु यथार्थमें हमें इन बातोंपर पूरा विश्वास नहीं है। इसीसे हम इन बातोंकी परवा न करके विषयोंकी ओर दौड़ रहे हैं और जैसे दीपककी ज्योतिके रूप-मोहमें फँसकर उसकी ओर जानेवाला पतंग जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार हम भी भस्म हो जाते हैं।

हमारी वृत्तियाँ सदा ही बहिर्मुखी रहती हैं; विषयोंमें—कार्यजगत्‌में ही लगी रहती हैं। इसमें जहाँ-जहाँ हमें इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले पदार्थ दीख-सुन पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ ही हमारा चित्त जाता है। हम उन्हींमें सुख खोजते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि दिनके साथ रातकी भाँति इस सुखका सहचर दुःख सदा इसके साथ रहता है। हम सुख चाहते हैं और दुःखसे बचना चाहते हैं, इसीलिये हमें दुःख भोगना पड़ता है; यदि वास्तवमें हमें दुःखसे बचना है तो सुखकी स्पृहा भी छोड़ देनी पड़ेगी। हम उस परम सुखको तो चाहते नहीं जो सदा रहता है, जो कभी घटता-बढ़ता नहीं, जो असीम और अनन्त है। हम तो चाहते हैं क्षणिक इन्द्रियसुखको, जो वास्तवमें है नहीं, केवल भ्रमसे भासता है और बिजलीकी-ज्यों एक बार चमककर तुरंत ही नष्ट हो जाता है। परंतु हम अबोध इस बातको जानते नहीं, इसीसे उसके पीछे पड़े रहते हैं और एक दुःखके गड्ढेसे निकलकर तुरंत ही दूसरा गहरा गड्ढा खोदने लगते हैं!

इस इन्द्रियसुखके प्रधान साधन माने गये हैं—दो पदार्थ। एक 'स्त्री' और दूसरा 'धन'। इसीलिये शास्त्रोंने बड़े जोरोंसे इनकी बुराइयोंकी घोषणा करके कामिनी-कांचनके त्यागका बार-बार उपदेश किया है। बात यह है कि विषयासक्त मनुष्यकी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंकी ओर दौड़ती हैं। कामिनी-कांचनमें रमणीयता प्रसिद्ध है। इनकी ओर लगनेके लिये किसीको उपदेश नहीं करना पड़ता। अपने-आप ही इन्द्रियाँ मनको इनकी ओर खींच लाती हैं। जगत्‌के इतिहासको देखनेसे पता लगता है कि संसारके महायुद्धमें—भीषण नरसंहारमें 'कामिनी और कांचन' ही प्रधानतया कारण हुए हैं। यहाँ इतनी बात और याद रखनी चाहिये कि पुरुषके लिये जैसे स्त्री आकर्षक है, वैसे ही स्त्रीके लिये पुरुष है। 'कामिनी' शब्दसे यहाँ केवल स्त्री न समझकर यौनसुख प्रदान करनेवाला व्यक्ति समझना चाहिये। स्त्रीके लिये पुरुष और पुरुषके लिये स्त्री। जैसे पुरुषका चित्त कामिनी-कांचनके लिये छटपटाया करता है, उसी प्रकार स्त्रीका चित्त भी पुरुष और धनके लिये ललचाता रहता है।

परिणाम नहीं जानते, इसलिये पुरुष नारीके सौन्दर्यपर और नारी पुरुषके सौन्दर्यपर मोहित होती है और इसीलिये विलासिताका सामान एकत्र करनेकी अभिलाषासे नर-नारी धनकी ओर आकर्षित होते हैं। जैसे स्त्री या पुरुषके अधिक भोगसे धन, धर्म और जीवनी-शक्तिका नाश होता है, वैसे ही धनके लोभमें भी स्वास्थ्य, धर्म-कर्म और जीवनकी बलि देनी पड़ती है। एक बार इनकी प्राप्ति या संयोगमें कुछ सुख-सा दिखायी देता है, परंतु परिणाममें भयानक दुःख और अशान्तिकी प्राप्ति अनिवार्य होती है। जबतक इनका वास्तविक त्याग नहीं हो जाता तबतक कभी शान्ति नहीं मिलती। शान्तिकी प्राप्ति तो इनके सर्वतोभावेन त्यागसे ही होती है।

परंतु क्या मनुष्यके लिये इनका त्याग सम्भव है? है तो फिर उस त्यागका स्वरूप क्या है और वह त्याग कैसे हो सकता है; संसारमें पुरुष या स्त्री कोई भी ऐसा नहीं है जो स्त्री-पुरुषके संसर्गसे शून्य हो। माता-पिताके रज-वीर्यसे ही शरीर बनता है। पालन-पोषण भी माता-पिता या बहिन-भाई आदिके द्वारा ही होता है। इसी प्रकार सर्वत्यागी संन्यासीको भी कौपीन, फटे कंथे और भिक्षाकी तो आवश्यकता होती ही है, जो

अर्थसाध्य है। ऐसी हालतमें कोई भी स्त्री या धनका सर्वथा त्याग कैसे कर सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि पहले त्यागके अर्थको समझना चाहिये। किसी वस्तुका ग्रहण या व्यवहार न करना बाहरी त्याग है और उस वस्तुमें आसक्तिहीन रहना भीतरी त्याग है। अब विचार कीजिये, हम एक चीजका त्याग कर देते हैं, परंतु मन-ही-मन उसकी आवश्यकता समझते हैं, उसका अभाव हमारे मनमें खटकता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। ऐसी हालतमें उस वस्तुका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। त्याग तो असली वही है, जिससे उस वस्तुमें आसक्ति ही न रहे। जिस त्यागमें वस्तुका चिन्तन और आस्वाद मन-ही-मन होता है वह त्याग वास्तविक नहीं है। अवश्य ही भोगमय जीवनकी अपेक्षा आन्तर त्यागके साधनरूपमें बाह्य त्याग सराहनीय है और आवश्यक भी है, उससे आन्तर त्यागमें सहायता मिलती है और त्यागकी वृत्ति स्वाभाविक होती है; परंतु असली त्याग तो आसक्तिका त्याग ही है। आसक्तिके त्यागसे द्वेष, भय, हर्ष, शोक आदिका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। फिर आगे चलकर तो त्यागके अभिमान और त्यागकी स्मृतिका त्याग करना पड़ता है। यही त्यागका स्वरूप है और इस त्यागकी प्राप्ति आसक्तिके दोष और भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होती है। यह सत्य है कि स्वरूपसे स्त्री और धनका त्याग सभी अंशोंमें होना कठिन है, तथापि शास्त्र इसीलिये इनके त्यागपर इतना जोर देते हैं कि सर्वथा त्यागकी बात कहनेसे ही मनुष्य इनका कहीं उचित रूपमें—व्यवहार-रूपमें ग्रहण करेंगे। मनसे तो त्याग होना ही चाहिये। बाह्य त्यागमें पुरुषको चाहिये कि स्त्रीजातिमें देवीकी भावना करे—'**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' और भगवती जानकर उन्हें मातृभावसे नमस्कार करे। स्त्रियोंको चाहिये कि पुरुषोंको पिता, भाई या पुत्रके रूपमें देखें। जहाँतक हो सके, किसी भी रूपमें स्त्री-पुरुषका परस्पर ज्यादा मिलना-जुलना लाभदायक नहीं है; परंतु जहाँ आवश्यक हो वहाँ उपर्युक्त भावसे मिले। इसी प्रकार न्यायमार्गसे उतना ही धन उपार्जन करनेकी चेष्टा करे जिससे गृहस्थका कार्य सीधे-सादे रूपमें चल जाय। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये और शरीरके आरामके लिये परमेश्वरको भूलकर, न्यायपथको त्यागकर, दूसरेको धोखा देकर, दूसरेका हक मारकर और असत्यका आश्रय लेकर धन उपार्जन करनेकी चेष्टा कभी न करे।

अवश्य ही भगवान्‌की सृष्टिमें स्त्री और धनकी भी सार्थकता है, उसकी भी आवश्यकता है, परंतु वह होनी चाहिये परमार्थमें सहायकके रूपमें। यह भी नहीं समझना चाहिये कि परस्त्रीका तो त्याग करना होगा, पराये धनके त्यागकी उतनी आवश्यकता नहीं है। जैसे नीच कामवृत्तिका गुलाम होनेपर मनुष्य पशुसे भी अधम, नीच या असुर हो जाता है, वैसे ही अर्थलोभी या अर्थसंग्रही मनुष्य भी राक्षस हो जाता है। वह धन बटोरनेके लिये क्या नहीं करता? गरीबोंके—दीन-दु:खियोंके तप्त अश्रुओंसे अपने भोगविलासकी प्यास बुझानेवाला और पापमूलक धनका संग्रह करनेवाला मनुष्य राक्षस नहीं तो और क्या है? अपने शरीरकी रक्षाके लिये जितना आवश्यक होता है, उतने ही अर्थपर वस्तुत: हमारा अधिकार है। श्रीमद्भागवत (७। १४। ८) में कहा है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

'जितनेसे पेट भरे उतनेपर ही मनुष्योंका अधिकार है, जो इससे अधिकको अपना मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये*।'

धन हो, उससे गरीब-दु:खियोंकी सेवा करनी चाहिये। परंतु इस सेवामें भी अहंकार नहीं आना चाहिये। यही मानना चाहिये कि भगवान्‌की प्रेरणासे प्रेरित होकर भगवान्‌की चीजसे भगवान्‌की सेवा की जाती है।

वास्तवमें कामिनी-कांचनकी क्षणभंगुरता, नि:सारता और दु:खरूपताका निश्चय हो जानेपर तो इनमें मन रहेगा ही नहीं। फिर तो इनके त्यागमें एक विलक्षण आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी और जिस त्यागमें आनन्द और शान्ति मिलती है वही यथार्थ त्याग है।

इससे भी बढ़कर त्याग करनेयोग्य एक चीज और है—वह है कीर्तिकी इच्छा। 'किसी प्रकारसे भी हमारी कीर्ति हो; लोग हमें उत्तम समझें; आज कोई चाहे न जाने, परंतु इतिहासोंमें हमारा नाम उज्ज्वल रहे। हमारा नाम न सही, हमारे वंशका, हमारी जाति या हमारे

* इससे बढ़कर 'कम्यूनिज्म' और क्या होगा?

देशका नाम रहे (यद्यपि ऐसी इच्छा व्यक्तिगत कीर्तिकी इच्छासे उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ त्याग है) और इस सुकीर्तिके लिये स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्राण आदि किसी भी वस्तुका त्याग क्यों न करना पड़े।' इस प्रकारकी कीर्ति-कामनाका त्याग होना बहुत ही कठिन है और जबतक इसका त्याग नहीं होता, तबतक बड़े-से-बड़े अनुष्ठान, पुण्यकर्म, साधन और तप इसके प्रवाहमें सहज ही बह जाते हैं। मनुष्य अपने जीवनभरका किया-कराया सब कुछ इस कीर्ति-पिशाचीके चक्रमें पड़कर नष्ट करता रहता है। वह प्रत्येक काम करनेके पहले ही यह सोचता है कि इसमें मेरी कीर्ति होगी या नहीं, इसलिये उसे अकीर्तिकर कल्याणमय कर्मसे वंचित रहना पड़ता है और आगे चलकर ऐसा कीर्तिकामी पुरुष दम्भाचरणका आश्रय लेकर साधनके पथसे पतित हो जाता है। भगवान्‌की स्मृति छूट जाती है। भगवान्‌के स्थानपर हृदयमें बाहरसे बहुत ही सुन्दर सजी हुई कीर्तिकी कराल मूर्ति आ विराजती है और येन-केन प्रकारेण उसीकी सेवामें मनुष्यका बहुमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। इन सब प्रतिबन्धकोंका मूल है मोहरूप विघ्न और उसके सहायक हैं उसीसे पैदा हुए पूर्वोक्त अहंकार, ममता, कामना और आसक्तिरूप दोष। इनका अपने पुरुषार्थसे सहसा त्याग होना बड़ा कठिन है। भगवत्कृपाके बलसे तो सब कुछ हो सकता है। भगवत्कृपा सबपर होते हुए भी उसका अनुभव विश्वासी और नामाश्रयी पुरुषोंको होता है। अतएव भगवान्‌का नाम लेते हुए भगवान्‌की कृपापर विश्वास करना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे इन चारोंका मुँह विषयोंकी ओरसे घूमकर भगवान्‌की ओर हो जायगा। भगवान् अपनेमें ही सबका प्रयोग करा लेंगे। फिर तो गोपियोंकी भाँति हम भी कह सकेंगे—

स्याम सरबस तुम हमारे।
तुम्हींसे अभिमानिनी हम, नित सुहागिनि प्राणप्यारे॥
तुम्हींकौं चाहैं सदा हम, तुम्हींमें मन हैं हमारे।
तुम्हींमें रमतीं निरंतर, तुम्हींसे सुख सब हमारे॥
तुम्हींसे जीवन हमारा, तुम्हीं रक्षक हो हमारे।
तुम्हीं तन-मनमें भरे हो, तुम्हीं हो जीवन हमारे॥
प्राण तुम, प्राणेश तुम हो, प्राणके आधार प्यारे।
ध्यान तुम, ध्याता तुम्हीं हो, ध्येय तुम ही हो हमारे॥
तुम्हीं माता पिता स्वामी बंधु सुत बित तुम हमारे।
तुम्हीं हम हैं, हमीं तुम हौ, खेल हैं ये भेद सारे॥

भक्ति और भक्तका स्वरूप तथा भक्तिकी महिमा

भगवान् नारद भक्तवर इन्द्रद्युम्नसे कहने लगे—

'राजन्! हजारों जन्मोंके अभ्याससे भगवान् विश्वम्भरके प्रति मनुष्यकी भक्ति हुआ करती है। भगवान्‌की भक्तिसे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारोंकी प्राप्ति सहजमें हो जाती है, भक्ति होना अल्प तपस्याका फल नहीं है। **'नाल्पतपसः फलम्।'** अनादिकालीन अविद्याने जड़ जमा रखी है, इससे केवल पंचक्लेश ही बढ़ते रहते हैं। इस अविद्याका नाश एकमात्र विष्णु-भक्तिसे ही हो सकता है—**'एकैवेयं विष्णुभक्तिस्तदुच्छेदाय जायते।'** दुःख-संकटपूर्ण भवाटवीमें भटकते हुए मनुष्यके लिये एकमात्र भक्ति ही सुखप्रदा है। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंकी आँधीसे उछलते हुए संसार-सागरकी भीषण तरंगोंमें निराधार पड़े हुए मनुष्योंके लिये भगवान्‌की भक्ति ही सुदृढ़ जहाजके समान है। संतगण इस जननीरूप भक्तिकी शरण होकर ही सुखसे रहते हैं, इसीसे उन्हें कभी शोक नहीं होता। जो महात्मा भक्तिसुधा पानकर आह्लादित हो चुके हैं, उन विमुक्त पुरुषोंके सामने ब्रह्मपद भी अत्यन्त तुच्छ है। **'ब्राह्मयं पदं स्वल्पलाभः'**। भक्तिरूप प्रज्वलित दावानलमें जीवोंकी त्रिविध (कायिक, वाचिक और मानसिक) पापराशि पतंगके समान भस्म हो जाती है। प्रयाग, गंगादि तीर्थ-सेवन, तप, अश्वमेधयज्ञ, प्रचुर दान और हजारों व्रत-उपवासादि सत्कर्मोंका महान् आचरण भक्तिके हजारवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता। भक्तिकी महिमा अनिर्वचनीय और अतुलनीय है।'

इस प्रकार भक्तिकी महिमा सुनकर राजा इन्द्रद्युम्नने 'भक्तिका स्वरूप' जाननेकी इच्छासे नारदजीसे कहा—'मुनिवर!आपने जिस भक्तिकी महिमा सुनायी, उसका स्वरूप समझनेकी मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा है, अतः कृपापूर्वक मुझे इस भक्तिके लक्षण बतलाइये, इस विषयमें आपके समान जानकार सद्वक्ता मुझे पृथ्वीपर और कोई नहीं मिल सकता।'

भक्तिका स्वरूप

नारदजी बोले—राजन्! तुम सच्चे भक्त हो, सत्पात्र हो इसीसे भक्तिके यथार्थ लक्षण मैं तुम्हें समझाता हूँ। पापपरायण दुष्टहृदय मनुष्योंके सामने ये बातें नहीं कही जा सकतीं। निष्पाप नरपते! तुम मन लगाकर सुनो। मैं उस सनातन भक्तिको सामान्य और विशेषरूपसे बतलाता हूँ।

अत्यन्त कष्ट आ पड़नेपर मनुष्यके लिये एकमात्र भक्तिका ही आश्रय रह जाता है, यह (गौणी) भक्ति गुणोंके भेदसे तीन प्रकारकी है। इसके सिवा एक चौथी भक्ति और है जिसे निर्गुण भक्ति कहते हैं। जो लोग काम-क्रोधके वशमें हैं और केवल दृष्ट पदार्थोंको माननेवाले हैं ऐसे लोगोंके द्वारा सांसारिक लाभके लिये जो भक्ति की जाती है, वह तामसी है। यश, कीर्ति या परलोकके लिये श्रद्धापूर्वक जो भक्ति की जाती है, वह राजसी है। 'एक यही स्थिर है, संसारके अन्य सभी दृष्ट पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं' यह समझकर अपने-अपने वर्ण और आश्रम-धर्मका त्याग न करके आत्मज्ञानकी इच्छावाले मनुष्योंके द्वारा जो भक्ति की जाती है, वह भक्ति सात्त्विकी कहलाती है और यह जगत् ही जगन्नाथ है—'**जगच्चेदं जगन्नाथः**' इसका अन्य कोई कारण नहीं है; न तो मैं इससे भिन्न हूँ और न वह मुझसे भिन्न है। बाह्य उपाधियाँ—स्थूल शरीर और इन्द्रियोंके भोग केवल भ्रमसे ही प्रीति उपजाते हैं, इससे परमात्मा नहीं मिल सकते। यह निश्चय करके जो भक्ति केवल परमात्माके लिये की जाती है, वह अद्वैतसंज्ञक दुर्लभा भक्ति कहलाती है। इसी भक्तिसे भगवान्का अपुनरावर्ती परमधाम मिलता है।

सात्त्विकी भक्तिसे ब्रह्मलोक, राजसीसे इन्द्रलोक और तामसीसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। परंतु भक्तका कभी नाश नहीं होता, पुनर्बार भक्त संसारमें आकर आगे बढ़ता है, तामसी भक्ति करनेवाला राजसी करता है, राजसी करनेवाला सात्त्विकी करता है और सात्त्विकी भक्त अद्वैत भक्तिको पाकर परमात्माको प्राप्त होता है। अतएव किसी भी प्रकारसे परमात्माकी भक्तिका आश्रय लेनेपर क्रमसे मनुष्य मुक्तिमार्गमें अग्रसर हो सकता है। '**एकामपि समाश्रित्य क्रमान्मुक्तिपथं व्रजेत्।**'

भक्तिहीन मनुष्यके श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्म, प्रायश्चित्तादि, तीर्थयात्रा, कृच्छ्रादि व्रत, तप, सत्कुलमें जन्म और शिल्पविद्या आदि सभी केवल लौकिक भूषण हैं और असती स्त्रीके व्यभिचारके समान हैं। इन सब विषयोंसे उसे केवल शारीरिक कष्ट ही मिलता है। जितेन्द्रिय और दृढ़ भक्तिमान् पुरुष कुलाचारहीन होनेपर भी प्रशंसाके योग्य है; परन्तु अष्टादश विद्याओंका ज्ञाता कुलीन धार्मिक पुरुष भी भक्तिहीन होनेपर प्रशंसनीय नहीं है। भक्तिसम्पन्न पुरुष ही भाग्यवान् है, भक्तिसे ही मानव-जीवन सफल होता है। विद्या वही है जिससे भगवान् जगन्नाथ जाने जाते हैं और शुभ कर्म वही है जिससे भगवान्में प्रेम होता है।

भक्तकी महिमा

राजन्! ऐसा भक्ति और विद्यासम्पन्न दृढ़व्रतपुरुष ही भगवान्का भक्त है। ऐसे भक्तके चरण-रज-स्पर्शसे चराचर जगत् पवित्र हो जाता है,—'**पूयेत सचराचरं विश्वम्।**' ऐसे भक्तके लिये पृथ्वीके आधिपत्य और स्वर्गादिकी कामना अत्यन्त तुच्छ है; क्योंकि वह (अपने-आपको भगवान्में मिला देनेके कारण) स्वेच्छासे ही सृष्टि, स्थिति और नाश करनेमें समर्थ है। इस प्रकारके भक्त और भगवान्में कोई भेद नहीं समझना चाहिये।

भक्तोंके लक्षण

अब मैं उन भक्तोंके लक्षण बतलाता हूँ—

भक्तोंका चित्त सदा ही शान्त रहता है। वे सौम्य और जितेन्द्रिय होते हैं। मन, वाणी और कर्मसे कभी किसीका बुरा नहीं करते, उनका हृदय दयासे भरा रहता है, वे चोरी और हिंसा कभी नहीं करते। दूसरेके गुणोंका खण्डन नहीं करते। सदाचारसे रहते हैं और दूसरेके सुखको अपना ही सुख मानते हैं, निर्मत्सर होकर समस्त प्राणियोंमें परमात्माको ही देखते हैं, सदा दीनोंपर दया और परहित करते हैं। देवताओंका कुमारवत् पोषण करते हैं और विषयोंको कालसर्प समझकर उनसे डरते हैं। विषयी पुरुषोंका भोगोंमें जितना प्रेम होता है, उससे करोड़ोंगुना अधिक प्रेम भक्तोंका भगवान्में होता है। भक्तगण शिव और पितृगणोंको भगवान्का स्वरूप समझकर ही नित्य उनकी पूजा करते हैं। वे समस्त जगत्को ही विष्णुमय देखते हैं, परंतु अपनेको सेवक और भगवान्को अपना स्वामी समझते हैं। सर्वगत सर्वरूप मानकर ब्रह्माजी जिनके चरणकमलोंमें प्रणाम करते हैं, भक्तगण उन्हीं

हरिको नित्य प्रणाम करते हैं और उन्हींमें चित्त लगाकर उनका नामकीर्तन करते हैं। ऐसे भक्तोंकी दृष्टिमें समस्त लोक तृणवत् तुच्छ होते हैं।

'सदा परोपकारमें लगे हुए, दूसरोंके कुशलमें ही अपना कुशल समझनेवाले, पराये दुःखोंसे दुःखी, सदाशय, दयालु, दूसरोंकी सम्पत्तिको पत्थर या मिट्टी समझनेवाले, परस्त्री और काँटोंसे पूर्ण शाल्मलीको समान देखनेवाले, कुटुम्बी, मित्र और शत्रुओंमें एक ही आत्मा माननेवाले, चित्तको निरन्तर परमात्मामें एकाग्रतासे लगाये रखनेवाले, गुणवानोंका आदर करनेवाले, दूसरोंकी गुप्त बातोंको ढकनेवाले, सदा सबसे प्रिय बोलनेवाले, कंसहन्ता भगवान् श्रीकृष्णका मधुर और पापनाशकारी शुभनाम भक्तिभावसे कीर्तन करनेवाले, ऊँचे स्वरोंसे सर्वदा उनकी जय बोलनेवाले, शरीर-मन-वाणीसे हरिमें आत्मसमर्पण करनेवाले, दिन-रात हरि-चिन्तनमें ही निमग्न रहकर सुख-दुःखको समान समझनेवाले, नम्र वाणीसे श्रीहरिकी स्तुति करनेवाले और उनकी पूजामें ही लगे रहनेवाले पुरुष भगवान्के भक्त हैं।

'जो भक्त उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न होकर भगवान्के रथ, चक्र, गदा, पद्म, शंख, मुद्रा आदि चिह्नोंको धारण करते तथा मस्तकपर तिलक लगाते हैं, मुरारिके अंगस्पर्शसे सुगन्धित तुलसीपत्रोंको, भगवान्के प्रसादरूप माला-चन्दनादिको धारण करते हुए भक्तिभावसे केवल मुक्तिके लिये भगवान्की पूजा करते हैं, उनकी जय होती है। जिनका दर्प, अभिमान और अहंकार नष्ट हो गया है, देवबन्धु भगवान् नरहरिकी पूजासे जिनका चित्त शुद्ध हो गया है, हरि-चरण-सेवासे जिनका शोक नष्ट हो गया है, ऐसे वैष्णव भक्तोंकी सर्वतोभावसे विजय होती है।'

भगवान् और भक्तोंकी महिमा कहते-कहते नारदजीका चित्त भगवत्-प्रेमसे विह्वल हो गया और वे भगवान्को सम्बोधन करके कहने लगे कि 'भगवन्! आपके भक्तोंको कभी धनकी इच्छा नहीं होती, उन्हें कभी शारीरिक क्लेश नहीं होता, वे सदा शान्तभाव और मृदुवाणीसे आपका नामकीर्तन, भजनोत्सव तथा आपके दास और दास्यभावका ही चिन्तन किया करते हैं।'

अभक्तोंके लक्षण और उनकी संगति छोड़नेके लिये आदेश

नारदजी फिर कहने लगे—'अभक्त मनुष्य स्वयं दुराचारमें लगे रहनेपर भी दूसरोंके उत्तम चरित्रपर दोष लगाया करते हैं। वे अच्छी या बुरी किसी भी अवस्थामें भगवान्का स्मरण नहीं करते, उन्हें विषयोंमें ही सुख दीखता है, इससे वे क्षणमात्रके लिये भी अपने हृदयमें परम सुखास्पद भगवच्चरणोंका चिन्तन नहीं करते, बल्कि मतवाले होकर श्रीहरिनामको मिथ्या जालोंसे ढकनेकी ही चेष्टा किया करते हैं। ऐसे भक्तिहीन मनुष्य परधन और परस्त्रियोंके बड़े लोभी होते हैं, उनकी बुद्धि अत्यन्त नीच होती है और वे दिन-रात केवल अपने उदर-पोषणके कार्यमें ही लगे रहते हैं। भाग्य और भयके फेरमें पड़े हुए ही वे जीवन बिताते हैं, ऐसे मनुष्योंको नर-पशुओंके सिवा और क्या कहा जा सकता है? जो उस नरहरि भगवान्के चरणोंका स्मरण नहीं करते, आठों पहर कुसंगतिमें फँसे रहते हैं, दूसरोंकी बुराईमें लगे रहना और हिंसा करना ही जिनको अच्छा लगता है, ऐसे नराधमोंका संग दूरसे ही त्याग देना चाहिये—'**नरमलिनाः खलु दूरतो हि वर्ज्याः।**' (स्कन्दपुराण)

प्राचीन आचार

आचाराल्लभते चायुराचाराल्लभते सुखम्।
आचारात् स्वर्गमोक्षं च आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
अनाचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
नरके नियतं वासो ह्यनाचारान्नरस्य च।
आचाराच्च परं लोकमाचारं शृणु तत्त्वतः॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

ब्रह्माजी देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—

'मनुष्य आचारसे आयु, सुख, स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करता है। आचारसे अशुभ लक्षणोंका नाश हो जाता है। आचारहीन मनुष्य संसारमें निन्दित, सदा दुःखका भागी, रोगी और अल्पायु होता है। अनाचारी मनुष्यको निश्चय ही नरकमें निवास करना पड़ता है और आचारसे श्रेष्ठ लोककी प्राप्ति होती है; इसलिये तुम आचारका तात्त्विक वर्णन सुनो।'

यद्यपि वर्तमान युगके मनुष्य प्रायः प्राचीन आचारकी

बातोंको बहुत ही क्षुद्र समझकर उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझते; परंतु खोज करनेपर उन छोटी-छोटी दैनिक व्यवहारकी बातोंमें बड़ा तत्त्व मिलता है। यदि आज हम उन सबका तात्पर्य न भी समझ सकें तो भी हमें उनका निरादर नहीं करना चाहिये। यह आचार-पद्धति उन देवों और महर्षियोंद्वारा स्थापित है, जो भूत-भविष्यसे तथा अन्तर्जगत्‌की रचना और संचालनसे परिचित थे। अतएव उसे जानकर यथासाध्य श्रद्धापूर्वक तदनुसार आचरण करनेसे निःसन्देह बहुत लाभ हो सकता है। प्रायः सभी प्राचीन स्मृति और पुराणोंमें कुछ-कुछ न्यूनाधिकताके साथ आचारकी पद्धतियाँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे आज यहाँ पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें नारद-ब्रह्मा-संवादके रूपमें उल्लिखित आचारका वर्णन कुछ संक्षेप करके प्रकाशित किया जाता है। आशा है, श्रद्धालु पाठक इसे अनावश्यक और छोटी बात समझकर इसकी अवहेलना नहीं करेंगे और यथासाध्य इसका पालन करके लाभ उठावेंगे। ब्रह्माजी कहते हैं—

द्विजको रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर प्रतिदिन भगवान्, देवता और पुण्यवान् व्यक्तियोंका स्मरण करना चाहिये। 'गोविन्द, माधव, कृष्ण, हरि, दामोदर, नारायण, जगन्नाथ, वासुदेव, अज, विभु, सरस्वती, महालक्ष्मी, वेदमाता, सावित्री, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्पालगण, ग्रहसमूह, शंकर, शिव, शम्भु, ईश्वर, महेश्वर, गणेश, स्कन्द, गौरी, भागीरथी गंगा, पुण्यश्लोक राजा नल, पुण्यश्लोक जनार्दन, पुण्यश्लोका जानकी, पुण्यश्लोक युधिष्ठिर और अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम—इन सात चिरंजीवी पुरुषोंके नाम जो मनुष्य नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, वह ब्रह्महत्यादि पातकोंसे छूट जाता है।'*

तदनन्तर साफ जगह मल-मूत्रका त्याग करे, रात्रिको दक्षिणाभिमुख और दिनमें उत्तरकी ओर मुख करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। अंगोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें शुद्ध करे। लिंगमें एक बार, गुदामें तीन बार, बायें हाथमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगावे। फिर 'हे मृत्तिके! मेरे सारे पूर्वसंचित पापोंको दूर करो†।' इस मन्त्रसे सारे अंगोंमें मिट्टी लगावे। तदनन्तर गूलर आदिके दाँतुनसे दन्तधावन करके नद, नदी, कुँए या तालाबमें स्नान करे। प्रातःस्नान अत्यन्त ही स्वास्थ्यप्रद और पापनाशक है। स्नानके बाद संयत होकर संध्या करे। प्रातःकाल रक्तवर्णा, मध्याह्नमें शुक्लवर्णा और संध्या-समय कृष्णवर्णा गायत्रीका ध्यान करे। लोकान्तरगत पितृगणोंको उत्तम जल नहीं मिलता, इसलिये पितृव्रतपरायण शिष्य, पुत्र, पौत्र, दौहित्र, बन्धु और मित्र अपने मरे हुए सम्बन्धियोंकी तृप्तिके लिये नित्य तर्पण करें। तर्पण कुश हाथमें लेकर करना चाहिये। पितरोंको काले तिलसे बहुत तृप्ति होती है। अतएव तिल मिले हुए जलसे तर्पण करे। स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने। धोबीसे धुला हुआ कपड़ा अपवित्र होता है, उसे पुनः स्वच्छ जलसे धोकर पहनना चाहिये। नित्य देवपूजन करे। विघ्ननाशके लिये गणेशकी, बीमारी मिटनेके लिये सूर्यकी, धर्म और मोक्षके लिये विष्णुकी, कामनापूर्तिके लिये शिवकी और शक्तिकी पूजा करे। नित्य बलिवैश्वदेव और हवन करे। इस प्रकार सब देवों और सब प्राणियोंकी तृप्ति करनेके बाद स्वयं भोजन करे। स्नान, तर्पण, जप, देवपूजन और संध्योपासना नियमपूर्वक नित्य करे। इनके न करनेसे बड़ा पाप होता है।

घरके कच्चे आँगनको रोज गोबरसे लीपे; बर्तनोंको रोज माँजे। काँसेका बर्तन राखसे, ताँबेका खटाईसे, पत्थरका तेलसे, सोने-चाँदीका जलसे और लोहेका अग्निसे शुद्ध होता है। खोदने, जलाने, लीपने और धोनेसे पृथ्वी पवित्र होती है। बिछौने, स्त्री, शिशु, वस्त्र, उपवीत और कमण्डलु सदा ही पवित्र हैं, परंतु अपने हों तो। दूसरोंके हों तो कभी शुद्ध नहीं हैं। एक कपड़ा पहनकर कभी स्नान या भोजन न करे। धोती और

* गोविन्दं माधवं कृष्णं हरिं दामोदरं तथा। नारायणं जगन्नाथं वासुदेवमजं विभुम्॥
सरस्वतीं महालक्ष्मीं सावित्रीं वेदमातरम्। ब्रह्माणं भास्करं चन्द्रं दिक्पालांश्च ग्रहांस्तथा॥
शंकरं च शिवं शम्भुमीश्वरं च महेश्वरम्। गणेशं च तथा स्कन्दं गौरीं भागीरथीं शिवाम्॥
पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको जनार्दनः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः॥
अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
एतान् यस्तु स्मरेन्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः। ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः॥

† अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे। मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसञ्चितम्॥

अँगोछा दोनों हों। दूसरेका स्नानवस्त्र कभी न पहने। रोज सबेरे बालोंको और दाँतोंको धोवे। गुरुजनोंको नमस्कार करे। दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—इन पाँचों अंगोंको गीले रखकर (धोकर) भोजन करे। जो नियमित पंचार्द्र (इन पाँचोंको गीले रखकर) भोजन करते हैं, वे सौ वर्ष जीते हैं। देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, ब्राह्मण और यज्ञादिमें दीक्षित व्यक्तिकी छायाको जान-बूझकर न लाँघे। गौ, ब्राह्मण, अग्नि और दम्पति (पति-पत्नी)-के बीचसे न जाय। अग्नि, ब्राह्मण, देवता, गुरु, अपना मस्तक, फूलोंका पेड़, यज्ञवृक्ष और अधार्मिक मनुष्य, इनका जूठे मुँह स्पर्श न करे। सूर्य, चन्द्रमा और तारे—इन तीनों तेजमय पदार्थोंको जूठे मुँह ऊपरकी ओर ताककर न देखे। विप्र, गुरु, देवता, राजा, संन्यासी, योगी, देवकार्यमें लगे हुए मनुष्य और धर्मोपदेशक पुरुषको भी जूठे मुँह न देखे। समुद्र और नदीके किनारेपर यज्ञ-(वट, पीपल आदि) वृक्षोंके नीचे, बगीचेमें, पुष्पवाटिकामें, जलमें, ब्राह्मणके घरमें, राजमार्गमें और गोशालामें शरीरका कोई भी मल न त्याग करे। मंगलवारको हजामत न करावे। रवि और मंगलवारको तैल न लगावे। मुखमें नख कभी न ले। अपने शरीरको और आसनको न बजावे। गुरुके साथ एक आसनपर न बैठे। श्रोत्रिय, देवता, गुरु, राजा, तपस्वी, पंगु, अन्धे और स्त्रियोंका धन किसी तरह हरण न करे। ब्राह्मण, गौ, राजा, रोगी, बोझ लादे हुए, गर्भिणी स्त्री और कमजोर मनुष्यके लिये रास्ता छोड़ दे। राजा, ब्राह्मण और चिकित्सक (वैद्य-डॉक्टर)-से विवाद न करे। पतित, कुष्ठरोगी, चाण्डाल, गो-मांसभोजी, समाजबहिष्कृत और मूर्खसे सदा अलग रहे। दुष्टा, बुरी वृत्तिवाली, अपवाद लगानेवाली, कुकर्म करनेवाली, कलहप्रिया, प्रमत्ता, अधिक अंगवाली, निर्लज्जा, बाहर घूमने-फिरनेवाली, खर्चीली और अनाचारिणी स्त्रियोंसे दूर रहे। मलिन अवस्थामें गुरु-पत्नीको प्रणाम न करे। गुरुपत्नीको भी बिना प्रयोजन न देखे। पुत्रवधू, भ्रातृवधू, कन्या तथा अन्य जो भी स्त्रियाँ युवती हों तो बिना प्रयोजन उनकी ओर न देखे, स्पर्श तो कभी न करें। स्त्रियोंके साथ व्यर्थ बातचीत न करे, न उनके नेत्रोंकी ओर देखे, न कलह करे और न अमर्यादित वाणी बोले। तुष, चिनगारी, हड्डी, कपास, देवनिर्माल्य और चिताकी लकड़ीपर पैर न रखे। दुर्गन्धवाली, अपवित्र और जूठी चीज न खाय। क्षणभरके लिये भी कुसंगमें न रहे और न जाय। दीपककी छायामें और बहेड़ाके पेड़के नीचे न रहे। अस्पृश्य, पापात्मा और क्रोधी मनुष्यसे बात न करे। चाचा और मामा उम्रमें अपनेसे छोटे हों तो उनका अभिवादन न करे, परंतु उठाकर उन्हें आसन दे और कृतांजलि हुआ करे। तेल लगाये हुए, जूठे मुँहवाले, गीला कपड़ा पहने, रोगी, समुद्रमें उतरे हुए, उद्विग्न, यज्ञके कर्ममें लगे हुए, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करते हुए, बालकके साथ खेलते हुए, पुष्प या कुश हाथोंमें लिये हुए, और बोझ उठाये हुए, इन मनुष्योंको अभिवादन न करे; क्योंकि बदलेमें उन्हें वैसा करनेमें असुविधा होगी। मस्तक या दोनों कानोंको ढककर, चोटी खोलकर जलमें अथवा दक्षिणाभिमुख होकर आचमन न करे। आचमनके समय पैर धोने चाहिये। सूखे पैर सोना और गीले पैर भोजन करना चाहिये। अँधेरेमें न सोवे, न भोजन करे, क्योंकि बिछौने या भोजनमें जीव-जन्तु रह सकते हैं। पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुँह करके दाँतोंको न धोवे। उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके न सोवे। दक्षिण और पूर्वकी ओर सिर करके सोना चाहिये। दिन-रातमें एक बार भोजन करना देवताओंका, दो बार मनुष्योंका, तीन बार प्रेत-दैत्योंका और चार बार राक्षसोंका होता है।

स्वर्गसे आये हुए मनुष्योंकी चार पहचान हैं—खुले हाथों दान, मीठी वाणी, देवताओंका पूजन और ब्राह्मणोंको तृप्त करना। नरकसे आये हुए जीवोंकी छः पहचान हैं—कंजूसी, मैला-कुचैला रहना, स्वजनोंकी निन्दा, नीच जनोंकी भक्ति, अत्यन्त क्रोध और कठोर वाणी। जो धर्मके बीजसे उत्पन्न हैं, उनकी प्रत्यक्ष पहचान हैं—नवनीतके समान कोमल वाणी और दयासे कोमल हृदय और जो पापके बीजसे पैदा हुए हैं, उनके प्रत्यक्ष लक्षण हैं—हृदयमें दयाका अभाव और केवड़ेके पत्तों-जैसी कँटीली और तीखी वाणी!*

---

* स्वर्गच्युतानामिह जीवलोके चत्वारि तेषां हृदये च सन्ति। दानं प्रशस्तं मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥
कार्पण्यवृत्तिः स्वजनेषु निन्दा कुचैलता नीचजनेषु भक्तिः। अतीवरोषः कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य॥
नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः। धर्मबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम्॥
दयादरिद्रहृदयं वचः क्रकचकर्कशम्। पापबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम्॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

भगवान्‌का भजन करनेकी विधि

यद्यपि परब्रह्म परमात्मा ॐकारस्वरूप भगवान् श्रीशिव और भगवान् श्रीविष्णुके नामस्मरणकी अनन्त महिमा वेद-शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक वर्णित है तथापि कोई-कोई यह कहा ही करते हैं कि 'भाई! हम नित्य ईश्वरका स्मरण करते हैं, फिर भी हमें इसका कुछ भी फल मिलता प्रतीत नहीं होता—इसका क्या कारण है?' इस लेखमें इसी एक प्रश्नको लेकर कुछ विचार किया जा रहा है।

प्रकृतिका यह अटल नियम है कि कोई भी कार्य क्यों न हो, उसे उपयुक्त पद्धति या विधिके साथ करनेसे ही वह सफल होता है। यही बात ईश्वर-स्मरणके सम्बन्धमें भी है। यदि उसे विधिपूर्वक किया जायगा तो निश्चय ही वह शास्त्रोक्त फलका दाता होगा। कितने ही भोले-भाले भाई कहते हैं कि परमात्माके नामस्मरणमें नियमकी आवश्यकता नहीं है। देखो न, श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

तुलसी अपने रामको, रीझ भजौ या खीज।
उलटे सुलटे नीपजै, खेत पड़े सो बीज॥

अर्थात् रामको प्रेमसे अथवा द्वेषसे किसी भी प्रकार भजो उसका फल अवश्य मिलेगा; जैसे खेतमें बीज सीधा पड़े, चाहे उलटा, वह जमेगा अवश्य। परंतु वे भाई गोस्वामी तुलसीदासजीके आशयको समझे नहीं। गोस्वामीजी-जैसे मर्यादाके पोषक महात्मा शास्त्रविरुद्ध आदेश कभी नहीं दे सकते। उन्होंने उपर्युक्त दोहेमें भजन-विधिका खण्डन नहीं बल्कि समर्थन किया है और इसके प्रमाणस्वरूप उक्त दोहेमें 'खेत' शब्द बैठा है। बीज उलटा पड़े या सीधा, इसकी विशेष परवा नहीं है; परंतु उसके लिये नियमानुसार उर्वराभूमि, यथोचित हवा-पानी और रखवालीकी जरूरत तो रहती ही है। इसलिये गोस्वामीजीने जो 'रीझ' और 'खीझ' शब्द रखे हैं, उन्हें विकल्पमात्र मानना चाहिये। दोहेका तात्पर्य तो यही है कि शुद्ध अन्तःकरणरूपी खेतमें ही ईश्वर-नामस्मरणरूपी बीज उगता है, न कि अशुद्ध मनरूपी ऊसर भूमिमें। और साथ-साथ 'खेत' शब्दसे संकेत कर दिया है कि ईश्वर-प्रेमरूपी जल सींचते रहनेसे ईश्वरके नामके (आगे कहे जानेवाले) दस अपराधरूपी घास-फूसको हटा देनेसे, शास्त्रविरुद्ध, मनःकल्पित मतवादरूपी कीड़ों, पशु-पक्षी और तुषारसे उसे बचाते रहनेसे, सच्चे संतोंके सत्संगरूपी प्रचण्ड सूर्यके ब्रह्मविचार या तत्त्वविचाररूपी तापके निरन्तर लगते रहनेसे और मनरूपी चन्द्रमाकी उत्साह (लगन)- रूपी अमृत-वर्षा आदि सम्पूर्ण साधनरूप विधिसे ही भजनरूपी बीज परमात्म-साक्षात्काररूपी धान्य उत्पन्न करनेमें हेतु होता है। इसमें शास्त्र-विधिका निषेध कहाँ है? अवश्य ही यह बात जाननेकी है कि ईश्वर-स्मरण अर्थात् भजन करनेकी शास्त्रोक्त विधि क्या है?

शास्त्रका वचन है—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीतिनिषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

अर्थात् (१) संतोंकी निन्दा, (२) असत् (पापी) पुरुषके सामने नामके वैभवकी कथा कहना, (३) शिव और विष्णु (उनसे उपलक्षित गणेश, सूर्य, शक्ति)-में भेद-बुद्धि रखना, (४) वेद-वचनोंमें अश्रद्धा, (५) शास्त्र-वचनोंमें अश्रद्धा, (६) सद्गुरुके वचनोंमें अश्रद्धा, (७) ईश्वरके नामकी महिमाको अर्थवाद समझनेका भ्रम, (८) सब पापोंको मिटानेवाला ईश्वरका नाम मेरे पास ही है, इसमें मैं जो-जो पाप करूँगा, वे सब-के-सब नाम लेनेसे ही मिटते रहेंगे—ऐसा समझकर पाप करते रहना, (९) ईश्वरके नामसे सबसे अधिक पुण्य होता है, इसलिये संध्या-वन्दन, गायत्री-जप, देव-पूजा, दान-यज्ञ-तप आदि अन्य कृत्य करनेकी कोई आवश्यकता न मानकर नित्य-नैमित्तिक वेद-शास्त्रोक्त शुभ कर्मोंको छोड़ देना और (१०) ईश्वरके नामको अन्य धर्मोंके बराबर समझना—ये ऊपर कहे हुए भगवान् शिव और विष्णुके नाम-जप-सम्बन्धी दस अपराध हैं, अतएव उन्हें छोड़कर ईश्वरका नाम जपना चाहिये। इसी भावको लेकर किसी महात्माने कहा है —

राम राम सब कोई कहे, दसरित कहे न कोय।
एक बार दसरित कहे, (तो) कोटि यज्ञ फल होय॥

अर्थात् 'राम-राम' सभी कहते हैं, परंतु नाम-जपके दस अपराधोंसे रहित होकर नहीं जपते। यदि इन दस अपराधोंसे रहित होकर एक बार भी जपे तो कोटि

यज्ञोंका फल होता है। आश्चर्य है, शास्त्रकी ऐसी स्पष्ट आज्ञा होते हुए भी कोई-कोई शिव और विष्णुमें भेद मानते हैं; परंतु ऐसा करके वे अपना अनिष्ट-साधन करते हैं।

भगवान्के किसी भी नाम और स्वरूपकी निन्दा न करते हुए भगवान्के समस्त नाम मेरे इष्टके ही नाम-रूप हैं —ऐसा समझना चाहिये।

उपरिलिखित दस अपराधोंसे बचते हुए, शुद्ध और स्थिर चित्तसे उत्साह और प्रेमके साथ, प्रतिदिन यथाशक्ति नित्य-नैमित्तिक शुभ कर्मोंको करते हुए, प्रातः-सायं संध्याओंमें तथा यथासम्भव मध्याह्न और मध्यरात्रिके समय एकान्तमें बैठकर नित्यप्रति कम-से-कम एक लक्ष ईश्वरके नाम शान्तिपूर्वक दीर्घकालतक जपने चाहिये। ईश्वरके नामके जपमें चित्तकी वृत्तिको लगाकर राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणपति, सूर्य, शक्ति, नृसिंह, गोविन्द, नारायण, महादेव आदि ईश्वरके प्रसिद्ध नामोंमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी भी नामका जप किया जा सकता है।

यही ईश्वरके भजनकी सामान्य विधि है। इस विधिसे नियमितरूपसे दीर्घकालतक किया हुआ नाम-जप निस्सन्देह शास्त्रोक्त फलोंको प्रदान कर अन्तमें परमपदकी प्राप्ति करानेवाला होता है।

पत्नीका परित्याग कदापि उचित नहीं!

हिंदू-धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे पति-पत्नीका सम्बन्ध सर्वथा अविच्छेद्य है। जिस प्रकार पत्नीके लिये पतिका त्याग किसी भी हालतमें विहित नहीं, उसी प्रकार पतिके द्वारा भी पत्नीका त्याग सर्वथा अनुचित है। इस सम्बन्धमें मार्कण्डेयपुराणमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। सृष्टिके आरम्भकी बात है। मानवी सृष्टिके आदिप्रवर्तक महाराज स्वायम्भुव मनुके पुत्र राजा उत्तानपादके दो संतानें हुईं। उनमें ज्येष्ठ थे महाभागवत ध्रुव—जिनकी कीर्ति जगद्विख्यात है। उनके सौतेले भाईका नाम था उत्तम। इनका जैसा नाम था, वैसे ही इनमें गुण थे। शत्रु-मित्रमें तथा अपने-परायेमें इनका समान भाव था। ये धर्मज्ञ थे और दुष्टोंके लिये यमराजके समान भयंकर तथा साधु पुरुषोंके लिये चन्द्रमाके समान आह्लादजनक थे। इनकी पत्नीका नाम था बहुला। बहुलामें इनकी बड़ी आसक्ति थी। स्वप्नमें भी इनका चित्त बहुलामें ही लगा रहता था। ये सदा रानीके इच्छानुसार ही चलते थे, फिर भी वह कभी इनके अनुकूल नहीं होती थी। एक बार अन्यान्य राजाओंके समक्ष ही रानीने राजाकी आज्ञा मानना अस्वीकार कर दिया। इससे राजाको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने रानीको जंगलमें छुड़वा दिया। रानीको भी राजासे अलग होनेमें प्रसन्नता ही हुई। राजा औरस पुत्रोंकी भाँति प्रजाका पालन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक दिनकी बात है। कोई ब्राह्मण उनके दरबारमें उपस्थित हुआ। उसने राजासे फरियाद की कि उसकी पत्नीको रातमें कोई चुरा ले गया। राजाके पूछनेपर ब्राह्मणने बताया कि उसकी पत्नी स्वभावकी बड़ी क्रूर है, कुरूपा भी है तथा वाणी भी उसकी कठोर है। उसकी पहली अवस्था भी कुछ-कुछ बीत चुकी थी। फिर भी राजासे उसने अपनी पत्नीका पता लगाकर उसे वापस मँगवा देनेकी प्रार्थना की। राजाने कहा—'ब्राह्मण देवता! तुम ऐसी स्त्रीके लिये क्यों दुःखी होते हो। मैं तुम्हें दूसरी स्त्री दिला दूँगा। रूप और शील दोनोंसे हीन होनेके कारण वह स्त्री तो त्याग देनेयोग्य ही है।'

ब्राह्मण शास्त्रका मर्मज्ञ था। उसे राजाकी यह बात पसंद नहीं आयी। उसने कहा—'राजन्! भार्याकी रक्षा करनी चाहिये—यह श्रुतिका परम आदेश है। उसकी रक्षा न करनेपर वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है। वर्णसंकर अपने पितरोंको स्वर्गसे नीचे गिरा देता है। पत्नी न होनेसे मेरे नित्य-कर्मकी हानि हो रही है। धर्मका लोप हो रहा है। इससे मेरा पतन अवश्यम्भावी है। उससे मुझे जो संतति प्राप्त होगी, वह धर्मका पालन करनेवाली होगी। इसलिये जैसे भी हो, आप मेरी पत्नीको वापस ला दें। आप राजा हैं, प्रजाकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है।'

ब्राह्मणके शब्द राजापर असर कर गये। उन्होंने सोच-विचारकर अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। वे ब्राह्मणपत्नीकी खोजमें घरसे निकल पड़े और पृथ्वीपर

इधर-उधर घूमने लगे। एक दिन वनमें घूमते-घूमते उन्हें किसी मुनिका आश्रम दिखायी पड़ा। आश्रममें उन्होंने मुनिका दर्शन किया। मुनिने भी उनका स्वागत किया और अपने शिष्यसे अर्घ्य लानेको कहा। इसपर शिष्यने उनके कानमें धीरेसे कुछ कहा तथा मुनिने ध्यानद्वारा सारी बात जान ली और राजाको आसन देकर केवल बातचीतके द्वारा ही उनका सत्कार किया। राजाके मनमें मुनिके इस व्यवहारसे सन्देह हो गया और उन्होंने मुनिसे विनयपूर्वक अर्घ्य न देनेका कारण जानना चाहा। मुनिने बताया कि राजाने अपनी पत्नीका त्याग करके धर्मका लोप कर दिया है, इसीसे वे अर्घ्यके पात्र नहीं हैं। उन्होंने कहा—'**राजन्! पतिका स्वभाव कैसा भी हो, पत्नीको उचित है कि वह सदा पतिके अनुकूल रहे। इसी प्रकार पतिका भी कर्तव्य है कि वह दुष्ट स्वभाववाली पत्नीका भी पालन-पोषण करे।**' राजाने अपनी भूल स्वीकार की और मुनिसे उस ब्राह्मणपत्नीका हाल जानना चाहा। ऋषिने बताया कि ब्राह्मणपत्नीको अमुक राक्षस ले गया है और अमुक वनमें जानेपर वह मिल जायगी। साथ ही उन्होंने शीघ्र ही उस ब्राह्मणपत्नीको ले आनेके लिये कहा, जिससे उस ब्राह्मणको भी उन्हींकी भाँति दिनोदिन पापका भागी न होना पड़े।

राजाने मुनिको कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम किया और उनके बताये हुए वनमें जाकर ब्राह्मणपत्नीका पता लगाया। वह अबतक चरित्रसे गिरी नहीं थी। राक्षस उसे केवल इसीलिये ले आया था कि ब्राह्मण विद्वान् होनेके कारण सभी यज्ञोंमें ऋत्विज् बनता था और जहाँ कहीं वह राक्षस जाता, उसे रक्षोघ्न मन्त्रोंद्वारा भगा दिया करता था, जिससे उसे परिवारसहित भूखों मरना पड़ता था। राक्षस इस बातको जानता था कि कोई भी पुरुष पत्नीके बिना यज्ञकर्म नहीं कर सकता; इसलिये ब्राह्मणके कर्ममें विघ्न डालनेके लिये ही वह उसकी पत्नीको हर लाया था। राजाको प्रसन्न करनेके लिये वह ब्राह्मणपत्नीको पुनः अपने पतिके घर छोड़ आया और साथ ही उसके शरीरमें प्रवेश करके उसके दुष्ट स्वभावको भी खा गया, जिससे वह सर्वथा पतिके अनुकूल बन गयी। अब राजाको अपनी पत्नीके विषयमें चिन्ता हुई और वे उसका पता लगानेके लिये पुनः ऋषिके पास पहुँचे। ऋषिने राजाको उसका सारा वृत्तान्त बता दिया और पत्नी-त्यागका दोष वर्णन करते हुए पुनः उनसे कहा—'**राजन्! मनुष्योंके लिये पत्नी धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धिका कारण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र—कोई भी क्यों न हो, पत्नीके न होनेपर वह कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रहता। जैसे पत्नीके लिये पतिका त्याग अनुचित है, उसी प्रकार पुरुषोंके लिये पत्नीका त्याग भी उचित नहीं।**' राजाके पूछनेपर ऋषिने उन्हें यह भी बताया कि पाणिग्रहणके समय सूर्य, मंगल और शनिकी उनपर तथा शुक्र और गुरुकी उनकी पत्नीपर दृष्टि थी। उस मुहूर्तमें चन्द्रमा और बुध भी, जो परस्पर शत्रुभाव रखनेवाले हैं, उनकी पत्नीके अनुकूल थे और उनके प्रतिकूल। इसीलिये उन्हें अपनी रानीकी प्रतिकूलताका कष्ट भोगना पड़ा।

रानीको वापस लानेका प्रयत्न करनेके पूर्व राजा उस ऋत्विज् ब्राह्मणके पास गये, जिसकी पत्नी उन्होंने राक्षससे वापस दिलवायी थी और उससे अपनी पत्नीको अनुकूल बनानेका उपाय पूछा। ब्राह्मणने राजासे मित्रविन्दा नामक यज्ञ करवाया। तब राजाने उसी राक्षसके द्वारा, जो उस ब्राह्मणकी पत्नीको हर ले गया था, अपनी पत्नीको भी बुलवा लिया। वह नागलोकमें नागराज कपोतके यहाँ सुरक्षित थी। नागराज उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था; किंतु उसकी पुत्रीने यह सोचकर कि वह उसकी माँकी सौत बनने जा रही है, उसे छिपाकर अपने पास रख लिया, जिससे उसका सतीत्व अक्षुण्ण बना रहा। मित्रविन्दा नामक यज्ञके प्रभावसे उसका स्वभाव भी बदल गया और वह अब अपने पतिके सर्वथा अनुकूल बन गयी। तदनन्तर उसके गर्भसे एक महान् तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ, जो औत्तम नामसे विख्यात हुआ और जो तीसरे मन्वन्तरमें मनुके पदपर प्रतिष्ठित हुआ। ये औत्तम मनु इतने प्रभावशाली हुए कि मार्कण्डेयपुराणमें इनके सम्बन्धमें लिखा है—जो मनुष्य राजा उत्तमके उपाख्यान और औत्तमके जन्मकी कथा प्रतिदिन सुनता है, उसका कभी किसीसे द्वेष नहीं होता। यही नहीं, इस चरित्रको सुनने और पढ़नेवालेका कभी अपनी पत्नी, पुत्र अथवा बन्धुओंसे वियोग नहीं होता।

उपर्युक्त उपाख्यानसे कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। पहली बात तो इससे यही सिद्ध होती है कि विवाह-विच्छेद हिंदू-धर्मको मान्य नहीं है। विवाह-संस्कार

पति-पत्नीको जीवनभरके लिये अत्यन्त पवित्र धार्मिक बन्धनसे बाँध देता है। पतिके बिना पत्नी अधूरी है और पत्नीके बिना पति धर्म-कर्मसे च्युत हो जाता है, किसी भी कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रह जाता। यज्ञ-कर्ममें तो विशेषरूपसे पत्नीका सहयोग अनिवार्य है। पद्मपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है कि माता-पिता और गुरुके समान पत्नी भी एक तीर्थ है। जिस प्रकार पत्नीके लिये पतिसे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है, उसी प्रकार साध्वी पत्नी भी पतिके लिये तीर्थतुल्य है—आदरकी वस्तु है। जिस प्रकार पत्नी यदि पतिको साथ लिये बिना कोई यज्ञ आदि धर्मानुष्ठान करती है तो वह निष्फल होता है, उसी प्रकार पति भी यदि सहधर्मिणी पत्नीके बिना धर्मानुष्ठान करता है तो उसका वह अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है। पद्मपुराणमें पत्नीतीर्थके प्रसंगमें कृकल नामक वैश्यकी कथा आती है। जिसने अपनी साध्वी पत्नी सुकलाको साथमें लिये बिना ही तीर्थाटन किया था; किंतु उसकी इस तीर्थयात्रासे शुभ फल होना तो दूर रहा, उलटे उसके पितर बाँधे गये।

इसके बाद कृकलने घरपर ही रहकर पत्नीके साथ श्रद्धापूर्वक श्राद्ध और देवपूजन आदि पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया। इससे प्रसन्न होकर देवता, पितर और मुनिगण विमानोंके द्वारा वहाँ आये और महात्मा कृकल और उसकी महानुभावा पत्नी दोनोंकी सराहना करने लगे। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर भी अपनी देवियोंके साथ वहाँ गये। सम्पूर्ण देवता सती सुकलाके सत्यसे संतुष्ट थे। सबने उस पुनीत दम्पतिको मुँहमाँगा वरदान देकर उनपर पुष्पोंकी वर्षा की और उस पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये।*

उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू-धर्ममें पत्नीको कितना ऊँचा दर्जा एवं सम्मान दिया गया है और उसके अधिकार कितने सुरक्षित हैं। जिस प्रकार पत्नीके लिये यह आदेश है कि—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः........................॥

—(पति चाहे क्रूर स्वभावका हो, अभागा हो, वृद्ध हो, मूर्ख हो, रोगी अथवा निर्धन हो, पत्नीको चाहिये कि वह कभी उसका त्याग न करे)। उसी प्रकार पतिका भी यह कर्तव्य है कि वह पत्नीका त्याग न करे—चाहे वह कर्कशा हो, कुरूपा हो अथवा परुषवादिनी हो। बल्कि उसके क्रूर स्वभावको मृदु करनेके लिये हमारे यहाँ यज्ञादि दैवी साधनोंकी व्यवस्था की गयी है, न कि विवाह-विच्छेदके द्वारा उसे अलग करनेकी। उपर्युक्त आख्यानसे विवाहके पूर्व वर-कन्याके ग्रह आदि मिलानेकी भी आवश्यकता सिद्ध होती है। ग्रहोंके प्रतिकूल होनेपर भी पति-पत्नीमें कलह आदि होनेकी सम्भावना रहती है। तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था की गयी है कि जिसमें दाम्पत्य-जीवन अन्ततक सुखमय बना रहे, पति-पत्नी दो देह, एक प्राण होकर रहें और परस्पर सहयोगसे धर्म-अर्थ-कामका सम्पादन कर अन्तमें मनुष्य-जीवनके परम ध्येय—मोक्ष अथवा निःश्रेयसको प्राप्त करें। इसी आदर्शको सामने रखकर धर्मशास्त्रके सारे विधान बनाये गये हैं। समाजशास्त्रका जैसा सुन्दर अध्ययन हमारे ऋषियोंने किया है और गार्हस्थ्य-जीवनकी जैसी आदर्श व्यवस्था हमारे शास्त्रोंने बनायी है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। फिर भी आश्चर्य है कि हमारा शिक्षित समाज इस आदर्श व्यवस्थाको न अपनाकर पश्चिमके आदर्शोंको ही अनुकरणीय मानकर उन्हींको ग्रहण करनेके लिये लालायित है! भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

---

* 'सती सुकला' नामक पुस्तक गीताप्रेससे मँगाकर पढ़िये।

पतिका धर्म

आजकल बहुधा यह बात देखनेमें आती है कि पतिको अपने कर्तव्यका ध्यान तो नहीं रहता, परंतु वह पत्नीको सीता और सावित्रीके आदर्शपर सोलहों आने प्रतिष्ठित देखनेकी इच्छा रखता है। यह मनोवृत्ति न्यायसंगत नहीं है। स्त्री हो या पुरुष—दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यका ज्ञान और उसके पालनका पूर्णतः ध्यान रहना चाहिये। जो पुरुष अपने धर्मको नहीं देखता, स्वयं धर्मपर आरूढ़ नहीं रहना चाहता और दूसरेको, विशेषतः अपनी पत्नीको धर्मपर पूर्णतया आरूढ़ न देखकर अथवा उसके स्वधर्म-पालनमें तनिक भी न्यूनता देखकर झल्ला उठता है, उसकी झल्लाहट व्यर्थ है। उससे कोई अच्छा फल नहीं होता।

यदि पुरुष चाहता है, नारियाँ सीता और सावित्री बनें तो उसे सर्वप्रथम अपनेको ही श्रीरामचन्द्र और सत्यवान्‌के आदर्शपर चलना चाहिये। स्त्रियाँ अपने धर्मका पालन करें, यह बहुत आवश्यक है; परंतु पुरुषोंके लिये भी तो धर्मका पालन कम आवश्यक नहीं है। मैंने सुना है, कई बहिनोंके पत्रोंसे भी मालूम हुआ है कि कितने ही पुरुष अपनी स्त्रियोंको इसलिये मारते और गालियाँ देते हैं कि वे उनकी इच्छाके अनुसार नीच-से-नीच पाप-कर्म करनेके लिये उद्यत नहीं होतीं और इस प्रकार अपने पतिव्रता होनेका परिचय नहीं देतीं। आधुनिक सभ्यतामें पले हुए कितने ही पुरुषोंका यहाँतक पतन सुना गया है कि वे अपनी स्त्रीसे वेश्यावृत्तितक कराना चाहते हैं। एक विधवा बहिनका कहना है कि उनके देवरने उन्हें फुसलाकर सादे कागजपर उनकी सही ले ली और अब वह उनकी न्यायोचित सम्पत्तिको भी हड़प लेना चाहता है। ये दो-एक बातें उदाहरणके तौरपर कही गयी हैं। ऐसी घटनाएँ न जाने कितनी होती होंगी। पुरुषोंका अत्याचार बेहद बढ़ गया है। वे अपने दोषकी ओर तो कभी दृष्टि ही नहीं डालते; परंतु पत्नी निर्दोष हो तो भी उसमें उन्हें दोष-ही-दोष दिखायी पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्त्रीके दोषोंकी उपेक्षा की जाय। यदि स्त्रीमें वस्तुतः दोष हैं तो पति अथवा गुरुजनोंका यह धर्म हो जाता है कि वे उसे समझाकर, समझानेसे न माने तो उसके हितके लिये समुचित दण्ड देकर भी राहपर लावें। अवश्य ही यह बात किसी राग-द्वेष या पक्षपात आदिके कारण नहीं होनी चाहिये। किंतु जहाँ पत्नी आदर्श देवी है, वह भारतीय आदर्शके अनुसार स्वधर्मके पालनमें लगी है, वहाँ आधुनिकताके रंगमें रँगे हुए पति महोदय यदि उसे धर्मके विरुद्ध कुछ करनेकी आज्ञा देते हैं और उसको न करनेपर उसे पतिकी आज्ञा न माननेवाली होनेके कारण 'पतिव्रता' नहीं मानते तो यह उनका अन्याय है। उनकी दृष्टिमें तो पत्नीका 'निर्दोष' होना ही 'दोष' बन गया है।

वास्तवमें दोष तो उस पुरुषका ही है जो स्वयं पत्नीके सम्मुख परमात्मा बनकर बैठता है, उसकी न्यायसंगत सम्मतिके विरुद्ध उससे अपनी पूजा करवाना और अनुचित बातोंमें उसका सहयोग प्राप्त करना चाहता है। उसे क्या हक है कि वह अपनी स्त्रीसे पर-पुरुषोंके सामने नाचने-गानेको कहे और वह न नाचे-गाये तो उसे पतिव्रता न समझे। उसे क्या हक है कि वह पत्नीको शराब पिलाकर सिनेमामें ले जाना चाहे और वह हाथ जोड़कर क्षमा माँगे तो उलटे उस देवीपर नाराज हो, उसे सतीधर्मसे गिरी हुई करार दे? पतिको परमेश्वर समझकर उसकी सेवा करे, अवश्य ही यह स्त्रीका धर्म है; परंतु पतिका यह धर्म नहीं कि वह अपनेको परमेश्वर बताकर उससे कहे कि 'तुम मुझे उचित-अनुचित जैसे भी मैं कहूँ, पूजो।' यह तो किसीके धर्मसे अनुचित लाभ उठाना है। जो स्त्री अपने पतिको शराब छोड़ने, तम्बाकू त्याग करने, सिनेमा न देखने और झूठ न बोलनेकी सलाह देती है, वही उसकी सच्ची हितैषिणी है। वही वास्तवमें सहधर्मिणी और पतिका मंगल चाहनेवाली है। यह उसका उपदेश नहीं, सत्परामर्श है और इसका उसे सनातन अधिकार है। जिसे ऐसी सुशीला और सद्‌गुणवती पत्नी प्राप्त हो, उसे अपने सौभाग्यपर गर्व होना चाहिये तथा परमात्माका कृतज्ञ होना चाहिये। पति कभी ऐसा माननेकी भूल न करे कि 'पत्नी पाँवकी जूती है, उसका आदर करना उसे सिर चढ़ाना है।' जो ऐसा सोचता है, वह अपने कर्तव्यसे च्युत होता है। जो पति पत्नीकी बीमारीमें उसकी सेवा करनेमें अपना अपमान समझता है, दुःखमें उसका साथ नहीं देता वह वस्तुतः कर्तव्यविमुख और

धर्मभ्रष्ट है। पति स्वयं सदाचारी, मिष्टभाषी, एकपत्नीव्रती, अपनी ही पत्नीमें अनुराग रखनेवाला तथा उसके साथ मित्रवत् सच्चा प्रेम एवं सद्व्यवहार करनेवाला बने। ऐसा करके ही वह पत्नीके हृदयको जीत सकता है।

स्त्रीका अपराध

एक पत्र मिला है जिसका सार यह है—'एक स्त्रीने ऐसा अपराध किया है जो पातिव्रतधर्मके सर्वथा प्रतिकूल है। यह सत्य है कि अपराधका मूल कारण अज्ञान या लोभ है और जहाँतक अनुमान है, यह उसका पहला अपराध है। अपराध बहुत बड़ा है। उसपर भविष्यमें विश्वास किया जा सकता है या नहीं। पति घोर मानसिक अशान्तिसे पीड़ित है, वह क्या करे? इसका क्या दण्ड या प्रायश्चित्त है? क्या यह स्त्री सर्वथा त्याज्य है?' इस विषयपर उन्होंने शीघ्र सम्मति चाही है। नहीं तो डर है मानसिक अशान्तिके कारण वह और कुछ कर न बैठे।

'वह और कुछ कर न बैठे' इसी वाक्यको पढ़कर इस विषयपर कुछ लिखना आवश्यक समझा गया है। पत्रसे अनुमान होता है घटना चरित्रसम्बन्धी ही है। घटना बड़ी ही दुःखद है, परंतु ऐसी घटनाएँ आजके युगमें बिरली ही नहीं होतीं। मेरी समझसे इसमें प्रधान दोषी पुरुष हैं, जो अपनी बुरी वासनाकी तृप्तिके लिये भोली-भाली स्त्रियोंको कुमार्गपर लाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि स्त्रियोंको बुराईकी ओर खींचनेवाले और लोभ आदि देकर उन्हें धर्मसे डिगानेवाले ऐसे पुरुष जितने महान् पतित और दण्डके पात्र हैं, उतनी स्त्रियाँ नहीं हैं। तथापि जिस बहिनसे यह अपराध हुआ है, उसके पतिको भयानक मानसिक पीड़ा होना स्वाभाविक है। उन भाईका यह कर्तव्य है कि वे आजकलकी पुरुषजातिकी नीचताकी ओर ध्यान देकर और साथ ही यह भी सोचकर कि पुरुषोंके द्वारा ऐसे ही अपराध होनेपर उनको हमलोग कितना दण्ड देते हैं, अपनी पत्नीको क्षमा करें, उसका तिरस्कार न करें। न पाँच आदमियोंमें बदनामी करें, न निन्दा करें और अपने चरित्रसम्पन्न जीवन, पवित्र सदाचार और प्रेमपूर्ण सद्व्यवहारसे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें जिससे पत्नीको अपनी भूलपर महान् पश्चात्ताप हो। मेरी समझसे सच्चे पश्चात्तापसे बढ़कर और कोई प्रायश्चित्त नहीं है। पश्चात्तापहीन दण्ड या प्रायश्चित्त पापकी जड़ नहीं काट सकता। बल्कि देखा जाता है कि दण्ड तो भूलसे पाप करनेवालोंको बार-बार क्लेश भुगताकर स्वाभाविक पापी बना देता है। इसलिये दण्ड न देकर ऐसा अच्छा बर्ताव करना चाहिये, जिससे अपराधीके मनमें आत्मग्लानि जाग उठे और वह पश्चात्ताप करे।

एक बार एक महात्माके पास एक स्त्रीको साथ लेकर पाँच पुरुष आये और उन्होंने कहा कि 'इस स्त्रीका चरित्र खराब है, हम इसे पत्थरोंसे मारना चाहते हैं।' इसपर महात्माने कहा—'जरूर, इसका अपराध भयंकर है, इसे मारना चाहिये, परंतु मारे वही जिसकी आँखें कभी परस्त्रीकी ओर न गयी हों और जिसके मनमें कभी परस्त्रीके प्रति कोई पाप न आया हो। नहीं तो, मारनेवाला ही मर जायगा।' महात्माकी इस बातको सुनकर तो सभी एक-दूसरेका मुँह ताकने लगे। महात्माने कहा, 'मारते क्यों नहीं?' उन्होंने कहा, 'भगवन्! कैसे मारें, ऐसी भूल तो हम सभीसे होती है।' तब महात्मा बोले—'भलेमानसो! तुम स्वयं जो अपराध करते हो, उसीके लिये दूसरेको मारना चाहते हो, तुम्हारे न्यायानुसार पहले तुम्हींको क्यों नहीं मारना चाहिये?'

बात यह है कि पुरुष आज स्त्रियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक मात्रामें पाप करते हैं, पर अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त नहीं करना चाहते, उनका स्त्रियोंको दण्ड देनेका विचार करना एक प्रकारसे हास्यास्पद ही है।

इन सभी बातोंपर विचार करनेसे यही ठीक मालूम होता है कि उस बहिनका प्रथम अपराध और वह भी अज्ञानकृत होनेसे क्षमाके योग्य है और वह अब अपने पति तथा घरवालोंके द्वारा ऐसा प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार प्राप्त करनेकी अधिकारिणी है कि जिससे भविष्यमें उसके मनमें ऐसी कोई पापकी कल्पना ही न आने पावे। यह विश्वास रखना चाहिये कि जिनसे छोटी उम्रमें अज्ञानवश कुसंगतिमें पड़नेसे अपराध हो जाते हैं, उनका भविष्य-जीवन यदि अच्छा संग मिले तो बहुत ही पवित्र हो सकता है। ऐसे बहुत-से उदाहरण हमारे सामने हैं। मानसिक चिन्ता त्यागकर सद्व्यवहार करने

तथा बुरे संगको बचानेसे ऐसा अवश्य हो सकता है। मेरे इस कथनसे जरा भी पापका समर्थन कदापि न समझना चाहिये।

ऐसे अपराधोंमें आजकल एक कारण और हो गया है, वह है स्त्रियोंका पुरुषोंके साथ बेरोक-टोक मिलना-जुलना। स्त्री-स्वातन्त्र्यके नामपर यह यदि बढ़ता रहा तो दशा और भी शोचनीय होगी।

यह सब होते हुए भी जो बहिन किसी भी कारणसे ऐसा पाप कर बैठती है, वह हिंदू-आदर्शकी दृष्टिसे तो बड़ा ही भयानक पाप करती है। किसी प्रकार कुसंगमें पड़कर किसीसे ऐसा पाप बन जाय तो उसे अपने मनमें बड़ा ही पश्चात्ताप करना चाहिये और कम-से-कम एक लाख भगवन्नाम-जप और तीन उपवास करना चाहिये। साथ ही भगवान्को साक्षी देकर दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि किसी भी स्थितिमें अब मैं किसी भी कारणवश ऐसा पाप नहीं करूँगी और भगवान्से करुणभावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे दया करके क्षमा करें। हिंदूस्त्री हँसते-हँसते अपने प्राण त्याग देती है, परंतु ऐसे किसी बुरे विचारको भी सहन नहीं कर सकती। रानी शरत्सुन्दरी छोटी उम्रमें ही विधवा हो गयी थी। अंग्रेज कलक्टरकी स्त्री उनसे मिलने आयी और अपने देशकी प्रथाके अनुसार उनसे पुनर्विवाह करनेको कह दिया। उसके ऐसा कहनेमें कुछ भी बुरा भाव नहीं था, परंतु सती शरत्सुन्दरीको बड़ा ही दुःख हुआ। उनको ऐसी पापकी बात अपने कानों सुननी पड़ी, इसीका बड़ा संताप हुआ और उन्होंने इसके प्रायश्चित्तके लिये अन्न-जलका त्याग कर दिया। कलक्टर-पत्नीको पता लगा तब उसने आकर उनको समझाया और क्षमा माँगी। हिंदू-स्त्रीके लिये सबसे बड़ी मूल्यवान् उसका सम्पत्ति सतीत्व है और इसीके संरक्षणमें उसका लोक-परलोकमें महान् कल्याण निश्चित है। इस विषयपर गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके श्रीरामचरितमानसमें अनसूयाजीने जगज्जननी सीताजीसे जो कुछ कहा है, उसे पढ़ना चाहिये—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥
सो०—सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

अर्थात् शरीर, वचन और मनसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना, स्त्रीके लिये बस, यह एक ही धर्म है, एक ही व्रत है और एक ही नियम है। जगत्में चार प्रकारकी पतिव्रताएँ हैं। वेद, पुराण और संत सब ऐसा कहते हैं कि उत्तम श्रेणीकी पतिव्रताके मनमें ऐसा भाव बसा रहता है कि जगत्में [मेरे पतिको छोड़कर] दूसरा पुरुष स्वप्नमें भी नहीं है। मध्यम श्रेणीकी पतिव्रता पराये पतिको कैसे देखती है, जैसे वह अपना सगा भाई, पिता या पुत्र हो। (अर्थात् समान अवस्थावालेको वह भाईके रूपमें देखती है, बड़ेको पिताके रूपमें और छोटेको पुत्रके रूपमें देखती है।) जो धर्मको विचारकर और अपने कुलकी मर्यादा समझकर बची रहती है वह निकृष्ट (निम्न श्रेणीकी) स्त्री है, ऐसा वेद कहते हैं। और जो मौका न मिलनेसे या भयवश पतिव्रता बनी रहती है, जगत्में उसे अधम स्त्री जानना।

पतिको धोखा देनेवाली जो स्त्री पराये पतिसे रति करती है, वह तो सौ कल्पोंतक रौरव नरकमें पड़ी रहती है। क्षणभरके सुखके लिये जो सौ करोड़ (असंख्य) जन्मोंके दुःखको नहीं समझती, उसके समान दुष्टा कौन होगी। जो स्त्री छल छोड़कर पातिव्रत-धर्मको ग्रहण करती है, वह बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त करती है। किंतु जो पतिके प्रतिकूल चलती है वह जहाँ भी जाकर जन्म लेती है, वहीं जवानी पाकर (भरी जवानीमें) विधवा हो जाती है। स्त्री जन्मसे ही अपवित्र है, किंतु पतिकी सेवा करके वह अनायास ही शुभ गति प्राप्त कर लेती है। [पातिव्रत-धर्मके कारण ही] आज भी 'तुलसीजी' भगवान्को प्रिय हैं और चारों वेद उनका यश गाते हैं।

राजनीतिक आन्दोलनमें भाग लेनेवाले भाई-बहिनोंसे—

यद्यपि हिन्दूधर्ममें राजनीति धर्मका एक अंग है! हमारे दोनों प्रधान अवतार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी राजनीतिसे अलग नहीं थे, परंतु यह अवश्य ही सत्य है कि न तो केवल राजनीति ही हमारे धर्मका या धार्मिक जीवनका एकमात्र कर्तव्य है और न राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धि या स्वराज्यकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है; क्योंकि यह जीवन तो हमारे अनन्त आत्मजीवनका एक क्षुद्र अंशमात्र है। मनुष्यका एकमात्र ध्येय है—परमात्माको प्राप्त करना और गीताके अनुसार थोड़े शब्दोंमें उसके लिये उपाय है—'परमात्माके स्वरूपको समझकर स्वधर्मद्वारा प्राप्त कर्तव्योंके पालनद्वारा श्रद्धाभक्तिपूर्वक संयतचित्तसे परमात्माकी पूजा करना।' जिस भावना या जिस कर्मसे मनुष्यका मन परमात्मासे हटकर विषयकी ओर झुकता हो, चाहे वह कर्म सांसारिक दृष्टिसे कितना ही महान् क्यों न हो, उसका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। पक्षान्तरमें जो कार्य देखनेमें छोटे मालूम होते हों और लोकदृष्टिमें उनका विशेष महत्त्व नहीं भी होता, परंतु यदि वे परमात्माकी पूजाके योग्य हैं और मनुष्यके लक्ष्यको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगाते हैं तो वे ही कार्य मनुष्यके लिये परम कर्तव्य हैं। भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जो परमात्मा समस्त भूतोंमें (बर्फमें जलकी भाँति) व्याप्त है, उसकी अपने कर्मद्वारा पूजा करके ही मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' जिस कर्मसे इस प्रकार परमात्माकी पूजा होती है—उस कर्मका कोई खास एक ही स्वरूप नहीं है। जिसका जो स्वधर्म हो—अपना कर्म हो, प्राप्त कर्तव्य हो, वह उसीका निष्कामभावसे परमात्माके लिये भगवान्की पूजाके निमित्त पालन करे। ऐसे कर्मोंमें गीताके अनुसार भीषण युद्धतकका भी समावेश है, अवश्य ही वह युद्ध स्वार्थ-प्रेरित न होना चाहिये। दूसरोंके स्वत्व-अपहरण करने या अपनी अतृप्त लिप्साको तृप्त करनेके निमित्त, निर्दोषोंको लूटने-मारनेके लिये न होना चाहिये। वह होना चाहिये 'धर्मयुद्ध'। भगवान्ने युद्धको नहीं, 'धर्मयुद्ध' को ही क्षत्रियका धर्म बतलाया है। परंतु वह धर्मयुद्ध भी निष्काम और ईश्वरकी पूजाके योग्य तभी हो सकता है, जब उसमें आसक्ति या लौकिक फलका अनुसन्धान बिलकुल न हो। जब वह भगवान्के आज्ञानुसार केवल भगवान्के लिये ही किया जाता हो। भगवान्ने युद्धकी आज्ञा देते समय अर्जुनको जो उपदेश किया है, उसमें कुछको स्मरण करनेसे यह विषय स्पष्ट हो जायगा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३।३०)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान मानकर तत्पश्चात् तू युद्ध कर, ऐसा करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा। आसक्तिको त्यागकर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित रहता हुआ तू कर्म कर, 'समत्व' का नाम ही योग है। अध्यात्म-चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके आशा और ममतासे रहित होकर सारी व्यथाओंसे भलीभाँति छूटकर युद्ध कर।' इन तीनों श्लोकोंमें **'कृत्वा', 'त्यक्त्वा', 'भूत्वा'** शब्द बहुत ही विचारणीय हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि जो मनुष्य पहले इस प्रकारका बनकर फिर कर्तव्य-कर्म करता है, वही पापोंसे लिप्त नहीं होता और उसीके कर्म निष्काम कर्म कहला सकते हैं। जबतक मनुष्य आसक्ति और कामनाको छोड़कर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर निराशी और निर्मम नहीं हो जाता, तबतक उसका चित्त अशान्त रहता है और अशान्त चित्तसे वह कभी सुखी भी नहीं हो सकता—**'अशान्तस्य कुतः सुखम्?'** परंतु बिना किसी हेतुके कर्म हो ही नहीं सकते, इसलिये निष्काम कर्ममें भी हेतु होना चाहिये

और वह हेतु होता है—ईश्वर-पूजा। इसी हेतुकी प्रधानता रखकर पुनः युद्धके लिये आज्ञा देते हुए भगवान् अर्जुनको इसका साधन बतलाते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये अर्जुन! सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें (भगवान्‌में) अर्पित किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' क्षत्रियको युद्ध करना चाहिये, परंतु राज्यकी आसक्ति या कामनासे नहीं, भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवत्पूजाकी बुद्धिसे। ऐसे ही 'ज्ञानसमन्वित भगवद्भक्तियुक्त निष्काम कर्म' से भगवान्‌की प्राप्ति होती है, जो मनुष्य-जीवनका एकमात्र ध्येय है। इसके विपरीत अन्य हेतुओंसे होनेवाले सभी शुभाशुभ कर्म बन्धनकारक हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(गीता ३। ९)

'अर्जुन! यज्ञ अर्थात् परमात्माकी सेवाके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त अन्य हेतुओंसे होनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त मनुष्य उन कर्मोंद्वारा बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये तू आसक्ति छोड़कर उस परमेश्वरके लिये ही कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे आचरण कर।' कर्म चाहे धर्मोपदेश हो, धर्मयुद्ध हो, वाणिज्य हो, सेवा हो या अन्य कोई हो, होना चाहिये परमात्माकी सेवाके लिये।

इसी सिद्धान्तके अनुसार इस वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनमें प्रवृत्त लोगोंको भी उनकी अपनी-अपनी भावना या हेतुके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होगी। इस बातका तो पता नहीं कि लौकिक दृष्टिमें इसका फल कैसा होगा? पर यह निश्चय है कि परम दयालु और परम न्यायकारी सर्वशक्तिमान् मंगलमय ईश्वरके मंगल-विधानके अनुसार इसका जो कुछ भी चरम फल होगा, वह दोनों ही पक्षोंके लिये परिणाममें लाभदायक अवश्य होगा। देखनेमें वह भले ही एक पक्षके लिये अनुकूल और दूसरेके लिये प्रतिकूल हो। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि परमात्मा किसी भी देश, जाति, धर्म या वर्णके साथ पक्षपात नहीं कर सकते। वे सबके हैं और सारा जगत् उन्हींकी अभिव्यक्ति है। या यों कहिये कि हम सभी एक ही परमात्मारूपी स्नेहमयी जननीकी प्यारी संतान हैं। जननीकी दृष्टिमें सब संतान एक-सी होती हैं। दो भाई परस्पर लड़ते हैं, दोनोंका झगड़ा माताके पास जाता है तो वह दोनोंके प्रति स्नेह रखती हुई जिसका अपराध देखती है उसे धमकाती है, समयपर थप्पड़ भी लगा देती है और जो निर्दोष होता है उससे प्यार करके गोदमें उठाकर उसका मुख चूमने लगती है। परंतु वह जिसे धमकाती या मारती है, उसका भी कल्याण ही चाहती है और कल्याणकामनासे ही उसके साथ वैसा व्यवहार करती है; क्योंकि वह भी उसे उतना-ही प्यारा है जितना दूसरा है। इसी प्रकार परमात्मा भी सबसे समान भावसे प्यार करते हुए किसीको दण्डित और किसीको पुरस्कृत करके उनका कल्याण करते हैं। परमात्मा दोनोंकी सुनते हैं, परंतु पुरस्कारका—उनके प्रत्यक्ष प्रेमका पात्र वही बनता है, जो निर्दोष होता है, जो परमात्माका यथार्थ विनम्र आज्ञाकारी होता है और जो अचल भावसे सत्यपर स्थित होता है। सत्य परमात्माका स्वरूप है। हम चाहे किसी भी पक्षमें हों—अन्तरात्माकी सच्ची प्रेरणाके अनुसार कोई-सा भी काम करते हों, हमें सत्यपर डटे रहकर परमात्माके लिये ही उस कामको करना चाहिये। पद-पदपर बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है, कहीं भगवान्‌के स्थानमें हमारे हृदयमें भोगको स्थान न मिल जाय, हमारा कामनाका विषय परमात्माकी जगह सांसारिक स्वार्थ न हो जाय। सांसारिक स्वार्थ कामना और आसक्तिसे युक्त होता है, एवं कामना तथा आसक्ति ही पापका कारण है। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि विषयोंके चिन्तनसे उनमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनामें बाधा होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे क्रमशः सम्मोह, स्मृति-नाश होकर अन्तमें बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिके नाशसे सर्वनाश होना—परमार्थपथसे गिरना स्वाभाविक ही है। इससे सिद्ध है कि क्रोधके पहले कामना और आसक्तिका होना आवश्यक है। जब अर्जुनने कातर कण्ठसे भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'भगवन्! यह मनुष्य किसीके द्वारा बलात् कराये जानेके सदृश न चाहनेपर भी किससे प्रेरित होकर पापाचरण करता है?' तब भगवान् बोले—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है, यही अग्निके सदृश कभी न तृप्त होनेवाला महान् पापी है, इसे ही तू अपना वैरी जान।' 'रजोगुणका स्वरूप बतलाते हुए भगवान्ने कहा कि '**रजो रागात्मकं विद्धि**'—'रजोगुणको रागात्मक यानी आसक्तिरूप समझ।' इससे यह सिद्ध है कि विषयासक्तिसे कामना होती है और कामनासे क्रोध होता है। निष्काम कर्ममें कामना और आसक्ति नहीं रहती। इसीसे तो वह निष्काम है, अतः जो निष्काम पुरुष है वह क्रोधी नहीं हो सकता। वह लोक-शिक्षाके लिये कभी क्रोधका-सा नाट्य भले ही करे, परंतु उसमें क्रोधरूपी विकार यथार्थमें नहीं रह सकता। ऐसा कामना और आसक्तिका त्यागी पुरुष ही परमात्माका निरन्तर स्मरण करता हुआ परमात्माके लिये सब कार्य करता है, उसीकी मन-बुद्धि परमात्माके अर्पित रहती है और उसीको प्राप्त कर्तव्य कर्मोंके करते हुए ही भगवत्प्राप्ति होती है। इसी प्रकारके कर्मका उपदेश अर्जुनको दिया गया था। आज राजनीतिक क्षेत्रमें भी काम करनेवाले सभी पक्षके लोगोंको यही लक्ष्य रखकर कार्य करना चाहिये। कारागारमें जाना, मरना, कष्ट सहना—सभी कुछ केवल परमात्माके लिये ही होना उचित है, यदि वह धर्मपालनके निमित्तसे, देशसेवा या देशकी दुर्दशा मिटानेके निमित्तसे या दुःखी जीवोंकी सेवाके निमित्तसे हो तो और भी उत्तम है। राजनीतिक क्षेत्रमें लोग जो ईश्वरके अधिष्ठानको भुला देते हैं, ईश्वरप्राप्तिके लिये कर्म करनेकी बात तो अलग रही, ईश्वरके अस्तित्वतककी भी अवहेलना कर आसक्ति और कामनावश मनमाना काम कर बैठते हैं, यह कदापि उचित और परिणाममें सुखदायक नहीं है। काम कैसा ही हो, कर्ताको फल उसकी अपनी भावनाके अनुसार ही प्राप्त होगा। भगवान्के लिये मरनेवालोंको भगवान् और द्वेषके लिये मरनेवालोंको निश्चय ही दुःखोंकी प्राप्ति होगी। श्रीगाँधीजीके इन शब्दोंको प्रत्येक क्षेत्रमें निरन्तर याद रखना चाहिये। ये शब्द सम्मान्य श्रीमहादेव भाई देसाईजीके पहली बार पकड़े जानेपर उन्होंने कहे थे—

'जहाँ महादेव गये हैं, वहाँ मेरा एक-एक साथी चला जाय तो भी क्या है? मैं अपनेको अकेला मानता ही नहीं। मेरा साथी, रक्षक, सलाहकार जो कुछ भी है, एक ईश्वर है। महादेव, स्वामी (आनन्द) या सरदार (श्रीवल्लभ भाई पटेल)-के भरोसे अथवा किसी मनुष्यके भरोसे यह जंग नहीं छेड़ा है। अतएव चाहे जितने साथी क्यों न चले जायँ मैं तो निश्चिन्त हूँ, निर्बलको चिन्ता किस बातकी? बलवान्का बल घटाया जा सकता है, पर निर्बलके बलको कौन मिटा सकता है? लेकिन निर्बल होते हुए भी मैं अपनेको बलवान् मानता हूँ; क्योंकि मैं ईश्वरके बलपर जूझता हूँ।'

वास्तवमें बात ठीक है, निर्बलके बल राम हैं ही। जिनको श्रीरामका बल है, भगवान्का भरोसा है, जो उन्हींके लिये कार्य करते हैं, वे ही तो सत्यके उपासक हैं, वे आसक्तिवश पाप कैसे कर सकते हैं, वे किसीके भी साथ घृणा या द्वेष कैसे कर सकते हैं? हाँ, जो रामके बदले आरामके उपासक हैं, कष्ट सहकर भी जो उसके बदलेमें इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये विषय-भोग ही चाहते हैं, वे ही प्रतिद्वन्द्वीसे घृणा और द्वेष रख सकते हैं और वे ही परिणाममें कष्ट भी पाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो महानुभाव देशके लिये जितना भी त्याग करते हैं और कष्ट सहते हैं, वे चाहे किसी भी भावसे वैसा करते हों, एक प्रकारसे तप ही करते हैं और सराहनीय हैं। तथापि मेरी यह प्रार्थना और भावना अवश्य है कि यदि सब लोग ईश्वर-प्राप्तिकी कामनासे, ईश्वर-प्रीत्यर्थ, यथासाध्य राग-द्वेषको त्यागकर, घृणाके भावको निकालकर, जय-पराजय और सफलता-असफलताकी चिन्ताको छोड़कर कार्य करें तो भगवान्के इच्छानुसार देशका और उनका—दोनोंका ही परम कल्याण हो सकता है। जिनका जितना त्याग है, वे तो अवश्य ही उतने अंशमें परम प्रशंसनीय हैं। देखा-देखी या जोशमें आकर तो नहीं, पर जिनकी अन्तरात्मा इस कार्यके साथ हो, लेकिन जो भय या स्वार्थवश हटे हुए हों, उन्हें तो आत्माके अमरत्वपर विश्वासकर, भय त्यागकर ईश्वर-प्रीत्यर्थ अवश्य ही सानन्द कष्ट सहनेको तैयार हो जाना चाहिये और इस कार्यमें भाग लेकर कर्तव्यका

पालन करना चाहिये। जो जितने अंशमें सत्यतापूर्वक सहमत हैं, वह उतने ही अंशमें साथ दें। परंतु अपनी कमजोरियोंको ढँकनेके लिये कभी बहानेबाजी या मिथ्या युक्तिवादका सहारा लेकर आत्माको धोखा न दें, जेलयात्रा या कष्टसहनसे बचनेके लिये युक्तियोंका बहाना न करें; क्योंकि शरीर-क्लेशके भयसे किये जानेवाले त्यागको भगवान्ने राजस त्याग बतलाया है। अवश्य ही जिनका सिद्धान्त इसके अनुकूल न हो, जो यथार्थमें दूसरे सिद्धान्त रखते हों, वे अपनी-अपनी क्रियाओंद्वारा ही परमात्माकी सेवा कर सकते हैं। स्थूल जगत्के सर्वथा परस्पर-विरोधी कार्योंमें भी सत्पथपर डटे रहनेसे दोनोंको ही सत्यकी प्राप्ति हो सकती है। सुधन्वा और अर्जुनकी भाँति दोनों ही भगवान्के भक्त हो सकते हैं, परंतु होना चाहिये यथार्थमें सत्यका आश्रय!

जेलमें गये हुए या अब जिनको जेलमें जाना पड़े, उन मेरे सम्मान्य भ्राता एवं माँ-बहिनोंसे भी एक नम्र प्रार्थना है कि वे अपने जेल-जीवनको पवित्र, सात्त्विक और ईश्वरमय बनानेकी यथासाध्य पूरी चेष्टा करें। जेलको परमात्माका आशीर्वाद और परम तप समझें। जेलका समय अपनी-अपनी रुचि, अधिकार, योग्यता और अवकाशके अनुसार अपने-अपने विश्वासके अनुरूप परमात्माके ध्यानचिन्तन, नाम-जप, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन, प्रणयन और विचार आदिमें ही बितावें। अपने प्रेमपूर्ण बर्तावसे जेलके अधिकारियों और अन्यान्य सहयोगी भाइयोंके हृदयपर अधिकार कर लें। अपने आदर्श आचरणोंसे साधारण कैदी और जेलके कर्मचारियोंके आचरणोंको उन्नत बना दें। लोकमान्य तिलकने जेल-जीवनमें रहकर 'कर्मयोग-रहस्य' के रूपमें हमें कैसी अपूर्व निधि दे दी।

इन्हीं सब बातोंको आदर्श मानकर जेल-जीवनको पवित्र, शान्त, तपोमय बनाना चाहिये और वहाँसे ऐसे साधनसम्पन्न होकर निकलना चाहिये, जिसमें वापस आकर और भी उत्साह, दृढ़ता, पवित्रता, शान्ति और प्रेमके साथ देशके या अन्य किसी भी निमित्तसे भगवान्की ठोस सेवा कर सकें।

एक बात अहिंसाके सम्बन्धमें भी विचारणीय है। हिंसा मन, वाणी, शरीर—तीनोंसे ही होती है और वह कृत, कारित, अनुमोदित इन तीनों रूपोंमें ही की जा सकती है। शरीरसे किसीको पीड़ा पहुँचाना जैसे हिंसा है, वाणीसे पीड़ा पहुँचाना वैसे ही हिंसा है और मनसे किसीका अनिष्ट-चिन्तन भी वैसे ही हिंसा है। हम एक आदमीको शरीरसे तो पीड़ा नहीं देते, किंतु वाणीसे या लेखनीसे उसका अनिष्ट करते हैं। द्वेषपूर्ण नारे लगाते हैं या मनसे बुरा चाहते हैं तो वह भी हिंसा ही है। स्वयं बुरा करना, बुरा कहना या बुरा चाहना जैसे हिंसा है, वैसे ही दूसरेके द्वारा बुरा करवाना, कहलाना और दूसरेके द्वारा बुरा होते देखकर उसका मन-वाणीसे अनुमोदन करना अथवा किसीके अनिष्टको देखकर प्रसन्न होना भी हिंसा ही है। ऐसी हिंसाओंसे भी जरूर बचना चाहिये। ऊँची बात तो यह है कि भगवद्भक्त प्रह्लादकी भाँति मारनेवालोंके लिये भी ईश्वरसे कल्याण-कामना करनी चाहिये और उनकी बुद्धि शुद्ध होनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये। इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि जगत्में कोई भी जीव हमारा द्वेष्य नहीं है, द्वेष्य हैं तो हमारे दुर्गुण हैं और हमारा असंयत चित्त है। उन्हें ही मारनेकी चेष्टा करना उचित है। श्रीगाँधीजीके इन स्वर्ण शब्दोंको याद रखना चाहिये कि —

'जब हमारे आदमी मारे जाते हैं तो मेरा दिल नहीं धड़कता अथवा धड़कता है तो मैं उसे दबा सकता हूँ। परंतु जब एक भी प्रतिपक्षीका खून हो जाता है तब मुझे शर्म मालूम होती है और हमारी उन्नतिमें भय पैदा हो जाता है × ×। इस लड़ाईका उद्देश्य वैर बढ़ाना नहीं, वैर घटाना है।'

यदि लोग महात्माजीके इन शब्दोंको भुलाकर अपने आचरणोंसे वैर घटानेके बदले बढ़ा लेंगे तो उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। हमारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे हमारी सात्त्विकता घटे, हमारे महान् उद्देश्यका आदर्श नीचा हो जाय। जान-बूझकर किसीका अनिष्ट करनेके लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये। हमारे सभी काम ऐसे होने चाहिये जिनसे सारे विश्वको सुख मिले। हमारा सुख सभीके सुखका कारण हो। अतएव इस दिशामें भी बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। मार खाते हुए भी मन, वाणी, शरीरसे मारनेवालोंकी कल्याण-कामना

करनी चाहिये। हमारी तपस्या उनकी बुद्धिके शुद्ध होनेके लिये होनी चाहिये, न कि उनके विनाशके लिये! तभी वह सच्ची तपस्या है और तभी हमारा वह कर्म ईश्वरको प्रिय होगा। राजनीतिक-क्षेत्रमें इतनी कड़ाईके मौकेपर मानसिक सहिष्णुता कम होकर राग-द्वेष उत्पन्न हो जाना बहुत ही सहज है। समालोचना करना या उपदेश देना जितना सहज है, अन्याययुक्त लाठियाँ या गालियाँ सहते हुए मनसे उनका कल्याण चाहना और उनके प्रति मनमें द्वेषको स्थान न देना उतना ही कठिन है। यह बात सर्वथा सत्य है, तथापि शुद्ध आदर्श तो हमें अपने सामने रखना ही चाहिये। इसी क्षेत्रमें क्यों, प्रत्येक क्षेत्रमें ही, इन्द्रियोंके प्रत्येक अर्थमें ही, राग-द्वेषरूपी लुटेरे तो हमारे हृदयसे परमेश्वरके लक्ष्यरूपी परमधनको—ज्ञानको लूटनेके लिये तैयार रहते ही हैं। हमें सर्वदा सर्वत्र ही उनसे बचनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

'राग-द्वेष प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें स्थित हैं, इन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। ये दोनों ही कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।' जो राग-द्वेषसे बचकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके संसारके विषयोंको भोगता है, उसीका अन्तःकरण प्रसादको प्राप्त होता है। अतएव हम किसी भी कार्यको करें, चाहे वह धर्मका हो, देशका हो, समाजका हो या व्यक्तिगत हो, यदि वह राग-द्वेषरहित 'ईश्वरार्थ' होता है तो वही भक्तिका कारण बन जाता है। इसी बातको ध्यानमें रखकर सभी क्षेत्रोंमें लोगोंको अपने प्राप्त कर्तव्यका पालन करना चाहिये। परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि न तो सबके सिद्धान्त एक-से होते हैं और न सब एक-सा काम ही कर सकते हैं। सिद्धान्तभेदसे मनुष्यकी ईमानदारीमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जो सच्चे हृदयसे जिस लोकहितकर कर्मको धर्म समझता है, उसे वही करना चाहिये और उसीमें उसका कल्याण निहित है। भगवत्‌की प्राप्तिमें मुख्य भाव है, कार्य नहीं।

इसी प्रसंगमें खादीपर कुछ शब्द निवेदन करने हैं। खादीका सम्बन्ध तो सदाचार, वैराग्य, ईश्वरभक्तिसे है, राजनीतिक दृष्टिसे नहीं। मैं तो अपने विश्वासके अनुसार शुद्ध धार्मिक दृष्टिसे ही खादीका व्यवहार करनेके लिये सभी महानुभावोंसे प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ। इस समय ऐसा कोई वस्त्र उपलब्ध नहीं है, जो खादीसे ज्यादा पवित्र हो या जिसमें कम हिंसा होती हो। विलायती और मिलके कपड़ोंमें चर्बी लगती है, जिससे अपवित्रता और हिंसा दोनों ही सिद्ध हैं। रेशमी वस्त्रोंको प्राचीनकालमें शुद्ध मानते थे पर अब तो रेशम बनानेमें ही असंख्य जीव उबलते हुए जलमें डाले जाते हैं। इससे रेशम भी अपवित्र और हिंसामय है। ऊनी कपड़े इस गरम देशमें हमेशा लोग पहन नहीं सकते। परंतु खादी उपर्युक्त दोनोंकी अपेक्षा पवित्र और हिंसारहित है। पवित्रताका असर मनपर होता है जिससे भगवान्‌में मन लगता है।

खादी पहनते ही सादगी आ जाती है, शौकीनी छूटते ही अनेक दोष आप ही चले जाते हैं। खादीके स्वाभाविक ही मोटी होनेसे विलासिता दूर होती है और सहज ही वैराग्य बढ़ता है। सदाचार तो उसमें आ ही गया। पवित्रता, सादगी, सदाचारके मिल जानेसे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो परमार्थमें बड़ी सहायता करती है।

इसके सिवा खादीमें सबसे बड़ी बात है गरीब भूखोंकी सेवा और देशकी संस्कृतिका बदल जाना। हमारे लाखों भाइयोंको कार्यके अभावसे अन्न-वस्त्र नहीं मिलता। देशके लोग खादी पहनने लगें तो पींजने, कातने, बुनने आदिमें लगकर करोड़ों गरीब भाई-बहिन सुखी हो सकते हैं। घरसे कुछ दिये बिना ही बड़ा दान और विराट्‌रूप भगवान्‌की पूजा हो जाती है। साथ ही परमुखापेक्षी जनता स्वावलम्बन सीखकर सुखी हो सकती है।

इस प्रकार खादीमें पवित्रता, अहिंसा, सादगी, स्वावलम्बन, सदाचार, वैराग्य, दान भगवान्‌की पूजारूप परमार्थ भरा है, अतएव सभी भाई-बहिनोंको खादी जरूर ही पहननी चाहिये। परंतु यह भी करना चाहिये मनके पवित्र भावसे। खादी पहननेमें कहीं स्वार्थसाधन, फैशन, नेता बननेकी स्पृहा, पुजवाने या मान-सम्मान प्राप्त करनेकी कामना हो तो उसका फल अच्छा नहीं होगा। अतएव खादीका व्यवहार भी करना चाहिये—

ईश्वरको स्मरण करते हुए ईश्वरके लिये ही भगवान्के इन शब्दोंको कभी नहीं भूलना चाहिये—

'अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तपस्या करता है वह सब मेरे ही अर्पण कर।'* (गीता ९। २७)

प्रेमकी पराकाष्ठा

जगाई-मधाई-उद्धार

श्रीचैतन्यदेवने हरिनाम वितरण करनेके लिये श्रीहरिदास और श्रीनित्यानन्दको विशेषरूपसे आदेश दिया। प्रभुने कहा, 'इस नवद्वीपके घर-घरमें मूर्ख-पण्डित, साधु-असाधु, ब्राह्मण-चाण्डाल सभीको हरिनाम दो और उनका उद्धार करो।' दोनों ही भक्त इस काममें अनुभवी और निपुण थे। प्रथम तो ये परम दयालु और शक्ति-संचार करनेमें समर्थ थे। दूसरे दोनों ही संन्यासी थे। नवद्वीपमें नित्य नियमसे हरिनाम बँटने लगा। हरिदास और नित्यानन्द प्रात:काल किसी गृहस्थके दरवाजेपर जाकर खड़े हुए। गृहस्थने तेज:पुंज संन्यासियोंको देखकर जब भीख देनी चाही, तब वे दोनों कहने लगे, 'तुमलोग कृष्ण-कृष्ण कहो, कृष्णका भजन करो—हमारी यही भीख है।' इतना कहकर भीख बिना लिये ही दूसरे घर चले गये। इसी तरह घर-घर नाम-प्रचार करने लगे।

उस समय जगन्नाथ और माधव नामक दो ब्राह्मण भाई नवद्वीपमें निवास करते थे। एक तरहसे वे नगरके मालिक थे। धनसे काजीको वशमें कर दोनों भाई नवद्वीपमें यथेच्छाचरण करते थे, इन्हें धर्माधर्मका कोई ज्ञान नहीं था, ये सदा शराबके नशेमें चूर रहा करते थे। जरा-सी बातपर खून कर डालना और मनमाने डाके डालना इनके बायें हाथका खेल था। इनके पास बड़ी सेना थी, जिससे बलमें कोई इनसे बढ़कर नहीं था। नवद्वीप-निवासी प्राय: विद्याचर्चामें ही लगे रहते, इससे वे सब इनके प्रतीकारका कोई उपाय न कर चुपचाप अत्याचार सहा करते थे। ये दोनों भाई जगाई-मधाईके नामसे प्रसिद्ध थे।

एक दिन नित्यानन्दने हरिदाससे कहा—'चलो भाई! आज उन दोनों भाइयोंको भी प्रभुका आदेश सुनावें। सुनेंगे तो अच्छी बात है, नहीं तो अपना कुछ बिगड़ता नहीं।' यों सलाह करके दोनों जा पहुँचे। वहाँ दोनों भाई शराबमें मतवाले हुए बैठे थे। नित्यानन्दने जाते ही कहा—कृष्ण कहो, कृष्ण भजो। हमें यही भीख दो।' यह सुनते ही उनके क्रोधका पारा बहुत चढ़ गया। उन्होंने कहा—'ठीक! क्या प्राणोंका डर नहीं है जो हमारे सामने इतनी बड़ी-बड़ी बातें करते हो, पकड़ो तो कोई इन दोनों पाखण्डियोंको।' इतना कहकर स्वयं ही उन्हें पकड़नेको दौड़े। नित्यानन्द और हरिदास जोरसे भाग छूटे। नगरके विरोधी लोग हँसते हुए कहने लगे—'आज खूब हुई पाखण्डियोंमें।'

महाप्रभुके पास पहुँचकर उन्होंने सारी कथा आद्योपान्त सुनायी। तदनन्तर नित्यानन्द कहने लगे—'साधुसे तो कृष्ण-नाम सभी कहला सकते हैं। जगाई-मधाईके मुखसे कृष्ण-नाम कहला सकें, तभी तुम्हारी बड़ाई है। इन दोनों भाइयोंका उद्धार करके जगत्में अपनी दयाका परिचय तुम्हें देना पड़ेगा।' प्रभु हँसकर कहने लगे—'श्रीपाद! जब तुम उन दोनोंकी कल्याण-कामना करते हो तब अवश्य ही उनका उद्धार होगा।' प्रभुके इन वचनोंसे भक्तोंने समझ लिया कि अब जगाई-मधाईका उद्धार हो गया। आनन्दसे भक्तगणोंने हरिध्वनिसे आकाश गुँजा दिया।

श्रीवासके घर कीर्तन हो रहा था। कीर्तनका शब्द सुनकर जगाई-मधाई देखने आये; दोनों ही शराबके नशेमें पागल हो रहे थे। दरवाजा बंद था; इसलिये अंदर नहीं जा सके। बाहर खड़े भीतरसे आती हुई हरिध्वनि सुनने लगे। शराबके नशेमें दोनों नाचने लगे। सारी रात यों ही नाचते बीती। प्रात:काल कीर्तन समाप्तकर जब भक्तोंने गंगाजी जानेके लिये दरवाजा खोला तो सामने जगाई-मधाई नाचते हुए दिखायी दिये। सरलचित्त भक्त डर गये। श्रीचैतन्य एक बगलसे जाने लगे; तब उन

* यह लेख बहुत वर्षों पूर्व राजनीतिक आन्दोलनकी प्रबलताके समय लिखा गया था।

दोनोंने नशेमें झूमते हुए ही कहा, 'निमाई पण्डित! यह तुम्हारा क्या सम्प्रदाय है? क्या मंगलचण्डीके गीत गाते हो, तुम्हारा गाना हमें बहुत अच्छा लगा! एक दिन हमारे घर भी इसी तरह गान करना होगा।' श्रीचैतन्यने कोई उत्तर नहीं दिया और वे सबके साथ गंगास्नानके लिये चले गये।

दोपहरके समय नित्यानन्दजी प्रभुसे कहने लगे— 'प्रभो! साधुओंका उद्धार तो सभी कर सकते हैं। आज जगत्‌में सबसे दीन-हीन जगाई-मधाई हैं। इनका उद्धार करके पतितपावन नामको सार्थक करो।' नित्यानन्दने दूसरे सब भक्तोंको पहलेसे ही गाँठ रखा था अतएव सभीने जगाई-मधाईके उद्धारके लिये प्रभुसे प्रार्थना की।

प्रभुने कहा—'जब तुम सभी उनकी कल्याण-कामना करते हो, तब श्रीकृष्ण उनका उद्धार शीघ्र करेंगे। उनकी पाप-कथाएँ याद आते ही हृदय सूखने लगता है। भविष्यमें मिलनेवाले पापोंके फलको विचारकर हृदय दहल उठता है। ऐसे कठिन रोगकी एकमात्र औषध श्रीहरिका नाम ही है। अत: जाओ। सब भक्तोंको बुला लो। सभी एक साथ कीर्तन करते-करते जाकर उनको हरिनाम देंगे। आज जगत् देखेगा, हरिनाममें कितनी शक्ति है।'

भक्तगण एकत्र हो गये। नगर-कीर्तनकी तैयारी हुई। श्रीचैतन्यका यही पहला नगर-कीर्तन था। इससे पहले बाहरके लोगोंने कभी चैतन्यका कीर्तन नहीं देखा था। भक्तोंमें किसीके हाथमें ढोल है, किसीके करताल है, किसीके शंख है, किसीने भेरी ले रखी है। पैरोंमें सबने घुँघरू बाँध लिये हैं। संध्याका समय है। श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीवास, गदाधर, हरिदास, मुरारि, मुकुन्द और नरहरि आदि सभी भक्त कीर्तन करते हुए चल रहे हैं। श्रीचैतन्यदेव बीचमें हैं, आनन्दसे उनका शरीर डगमगा रहा है, आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयी हैं, प्रेमाश्रुओंकी पिचकारी छूट रही है, अनेक प्रकारसे भाव बता-बताकर प्रभु नृत्य कर रहे हैं, उनके प्रत्येक अंगसे मानो अमृत बरस रहा है। भक्तगण उन्हें घेरकर कीर्तन करते हुए नाचते जा रहे हैं। श्रीनित्यानन्दजी सबसे आगे हैं। वे जगाई-मधाईकी दुर्दशा आँखों देख चुके हैं। उन लोगोंके दुःखसे नित्यानन्दका हृदय विदीर्ण हो गया था। आज प्रभुको तैयार करके वे कमर कसकर दोनों भाइयोंका उद्धार करने जा रहे हैं। आज नित्यानन्दके गौरव और आनन्दकी सीमा नहीं है।

जगाई-मधाई रातभर शराब पीकर इस समय नींदमें बेहोश पड़े हैं। शाम हो गयी है, परंतु अभी वे सोकर नहीं उठे हैं। कीर्तनकी आकाशव्यापी ध्वनिसे उनकी नींद टूटी। हो-हल्लेसे चिढ़कर उन्होंने पहरेदारसे कहा—'जा! कौन हल्ला कर रहे हैं, उन्हें रोक दे, जिससे हमारे सोनेमें बाधा न हो।' पहरेदारने जाकर कीर्तनमें उन्मत्त भक्तोंसे यह बात कही। पर वहाँ उसकी कौन सुनता था। भक्तगण और भी उच्च स्वरसे कीर्तन करने लगे। उसने लौटकर अपने मालिकोंसे कहा— 'सरकार! निमाई पण्डित कीर्तन करते हुए इधर चले आ रहे हैं। मेरी बात किसीने नहीं सुनी।'

इस समय जगाई-मधाईका नशा उतरा हुआ था, पहरेदारके मुखसे आज्ञा न माननेकी बात सुनकर दोनों क्रोधसे भर उठे। कपड़े पहनते-पहनते ही उठकर दौड़े। लाल-लाल आँखें करके कहने लगे—'आज नदियाके इन सब वैष्णवोंका नाश कर देना है।'

भक्तगणोंने उन्हें आते देखा, परंतु आज किसीको कोई भय नहीं हुआ, कीर्तन और नृत्य अधिक उत्साहसे होने लगा। इसे जगाई-मधाईकी क्रोधाग्निमें मानो घृतकी आहुति पड़ गयी। हरिनामसे तो उनकी स्वाभाविक चिढ़ थी, दोनों भाई भक्तोंको मारने दौड़े। नित्यानन्द सबसे आगे थे; इससे सबसे पहले वे ही इनके सामने पड़े। इन लोगोंको क्रोधके आवेशमें सामने आते देखकर भी नित्यानन्दको भय या क्रोध नहीं हुआ, वरं उनकी इस दशापर निताईको बड़ी दया आयी। उनकी छाती फटने लगी। उन दोनों भाइयोंकी दुर्गति देखकर उनकी ओर देखते हुए वे रोने लगे। दीनदयार्द्रचित्त नित्यानन्द बड़ी ही करुणाभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख-देखकर आँसू बहा रहे थे, परंतु इससे उन दोनों भाइयोंका हृदय द्रवित नहीं हुआ। उनमें नरमी नहीं आयी; प्रत्युत उनका क्रोध और भी बढ़ा। नित्यानन्दने दोनों भाइयोंको सामने आया देखकर और मधाईकी अपेक्षा जगाईका कुछ भला जानकर रोते-रोते गद्गद स्वरसे कहा, 'जगाई! हरि बोलो, एक बार हरिनाम उच्चारण करके मुझे खरीद लो।' नित्यानन्दके इन शब्दोंने जगाईको कुछ स्पर्श किया, वह चुप होकर खड़ा हो गया। परंतु मधाईका हृदय बहुत ही कठोर था।

अतः उसका मन नहीं पसीजा, वह क्रोधसे काँपने लगा। क्रोधान्ध मधाईको वहाँ और तो कुछ नहीं मिला, एक फूटे घड़ेका गलौबा पड़ा था, उसे उठाकर नित्यानन्दके सिरपर जोरसे दे मारा, उन्हें गहरी चोट लगी, खूनकी पिचकारी छूट गयी। नित्यानन्द हरिनाम ले-लेकर जोर-जोरसे नाचने लगे।

नित्यानन्द इसी आनन्दमें नाच रहे थे कि अब निश्चय ही इनका उद्धार हो जायगा। वे बार-बार 'गौर-गौर' पुकारने लगे। मधाई तो क्रोधमें पागल हो रहा है, एक बारकी मारसे उसे संतोष नहीं हुआ, उसने फिर घड़ेका गलौबा उठाकर मारना चाहा; पर उसी समय जगाईने उसका हाथ पकड़कर कहा—'भाई! क्या कर रहे हो? इस विदेशी संन्यासीको मारनेमें तुम्हारा कौन-सा पौरुष प्रकट होगा? और इसमें लाभ ही क्या है?'

नित्यानन्दने नाचते-नाचते कहा—'मुझे तुमने मारा, अच्छा किया, मैं मारकी चोट सह सकता हूँ; परन्तु तुम लोगोंकी, दुर्गति मुझसे नहीं सही जाती। भाई! मुझे मारनेमें कोई नुकसान नहीं है। एक बार मुखसे मधुर हरिनाम तो बोलो।'

इतनेमें एक भक्तने जाकर प्रेमोन्मत्त श्रीचैतन्यको निताईके चोट लगनेकी खबर दी; सुनते ही प्रभु दौड़कर वहाँ आ गये और निताईको पकड़ लिया। बड़े प्रेमसे प्रभुने नित्यानन्दको गोदमें बैठाया और वे अपने कपड़ेसे उनका खून पोंछने लगे। तदनन्तर उन्होंने कातर स्वरसे मधाईको सम्बोधन करके कहा—'मधाई! तूने मेरे प्राणप्यारे निताईको किसलिये मारा?' यह कहते-कहते प्रभुको क्रोध आ गया, वे दोनों भाइयोंसे कहने लगे—'अरे पापात्माओ! इतने पाप करके भी तुमलोगोंकी पाप-तृष्णा अभी शान्त नहीं हुई? अब भी पापोंसे अलग होनेकी इच्छा नहीं हुई? जीवनभर पापोंमें लगे रहकर, आज श्रीनित्यानन्दको चोट पहुँचाकर तुमलोगोंने पापकी पराकाष्ठा ही कर दी!'

जगाई-मधाईने आजतक किसीके सामने सिर नहीं झुकाया था। इस समय वे दोनों भाई अपने घरके सामने अनेक शस्त्रधारी रक्षकोंसे घिरे हुए थे। वे चाहते तो इशारेसे ही भक्तोंको मरवा सकते थे। एक तरहसे वे नवद्वीपके राजा थे। इतनेपर भी वे आज निमाई पण्डित (चैतन्य)-के ऐसे कठोर वचन चुपचाप क्यों सह रहे हैं? इसका कारण यह है कि जगाई तो पहलेसे ही नरम हो गया था, प्रभुको देखते ही मधाईमें भी इतनी शिथिलता आ गयी कि उसमें हाथ-पैर हिलानेकी शक्ति भी जाती रही। प्रभु फिर कहने लगे, 'रे पापात्माओ! नित्यानन्दने तुमलोगोंका क्या बिगाड़ा था, तुमने उन्हें क्यों मारा? इस विदेशी संन्यासीको मारते तुम्हारे मनमें तनिक-सी भी दया नहीं आयी? तुमलोगोंके और त्रिभुवनके परम सुहृद् क्रोध और अभिमानशून्य नित्यानन्दको घायल कर आज तुमलोगोंने अपने पापका घड़ा पूरा भर लिया है। अब दण्ड सहनेको तैयार हो जाओ।'

जैसे खूनी मनुष्य न्यायाधीशके सामने उसके मुँहकी ओर ताकता हुआ काँपा करता है, उसी प्रकार वे दोनों भाई आज क्या दण्ड होगा, इस बातकी चिन्ता करते हुए प्रभुके मुखकी ओर देख-देखकर काँपने लगे। उनके मनमें यह विश्वास हो गया कि हम बड़े अपराधी हैं और प्रभु हमें दण्ड देनेमें सर्वथा समर्थ हैं। इतनेमें प्रभुने उच्च स्वरसे 'चक्र, चक्र' पुकारा। यह देखकर सभी स्तम्भित हो गये। मुरारि गुप्तके शरीरमें हनुमान्‌का आवेश हुआ करता था। उसने गरजकर कहा—'प्रभु! चक्रको क्यों स्मरण करते हैं, मुझे अनुमति दें। मैं अभी इन दोनोंको यमसदन पहुँचा देता हूँ।'

यह सब देख-सुनकर नित्यानन्द अपनी चोटकी वेदना भूल गये। उन्होंने मुरारिके दोनों हाथ पकड़कर कहा—'भाई! क्षमा कर।' इतनेमें पीछेकी ओर देखा तो उन्हें दिखायी दिया मानो सुदर्शन चक्र अग्निका आकार धारण कर जगाई-मधाईकी ओर बढ़ रहा है। नित्यानन्द अत्यन्त व्याकुल होकर हाथ जोड़कर कहने लगे—'सुदर्शन! क्षमा करो। इन दोनों भाइयोंको न मारो, मैं प्रभुके चरण पकड़कर अभी इनके लिये प्राणभिक्षा लेता हूँ।' इतना कहकर वे प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े और बोले—'प्रभो! क्या कर रहे हो, क्या सब भूल गये? इस बार तो तुम्हें किसीको दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। अबकी बार तो भक्ति और करुणाके रसमें डुबाकर ही मलिन जीवोंका उद्धार करनेकी बात हुई थी न? जो दुष्ट हैं, उन्हींका वध करोगे तो फिर उद्धार किसका करोगे?'

नित्यानन्द इस तरह कह रहे हैं, जगाई-मधाई, भक्तगण और उपस्थित नागरिक चुपचाप देख-सुन रहे हैं। निताई फिर कहने लगे—

'प्रभो! इन दीनोंके प्राणोंकी मुझे भीख दो! मैं इन दोनों जीवोंको पाकर तुम्हारे दीनबन्धु और पतितपावन

आदि नामोंकी महिमा रखूँगा।' यह सुनकर भी श्रीचैतन्य कोमल नहीं हुए। प्रभुकी यह अवस्था देखकर नित्यानन्द फिर कहने लगे—'प्रभो! मेरे सिरमें मामूली चोट लगी थी, वह भी दैवात् लग गयी थी। जगाई-मधाई तो मुझे केवल डराना चाहते थे। मुझे मारना इनका उद्देश्य नहीं था। मैं सच कहता हूँ, मुझे जरा-सा भी दुःख नहीं हुआ। प्रभो! अब इस मायाको छोड़ो, तुम इस समय जो कुछ कर रहे हो, सो केवल मेरा गौरव और मान बढ़ानेके लिये कर रहे हो। प्रभो! मेरे मानको धूलमें मिल जाने दो। अपने अभय चरणोंमें इन दोनों महान् दुःखी जीवोंको स्थान दो!' इतना कहकर नित्यानन्द बड़े ही करुणभावसे रोने लगे।

इतना सब होनेपर भी श्रीचैतन्य नरम नहीं पड़े। तब नित्यानन्दने कहा—'प्रभो! एक बात और है, तुम इन दोनोंको तो दण्ड दे ही नहीं सकते। कारण जगाईने स्वयं मेरे प्राण बचाये हैं।' इतना सुनते ही प्रभुका कठोर भाव जाता रहा। वे कहने लगे—'हैं! क्या जगाईने तुम्हारे प्राण बचाये हैं?' निताईने कहा—'हाँ, मधाई जब दूसरी बार मुझे मारनेको तैयार हुआ तब जगाईने ही उसे समझाकर उसका हाथ पकड़कर रोक लिया था!'

प्रभुने कहा—'क्या यह सच है? इसी जगाईने मधाईका हाथ पकड़कर तुम्हें बचाया था? इसी जगाईने बचाया था? अरे जगाई! तूने ही मेरे नित्यानन्दके प्राणोंकी रक्षा की थी? तब तो मैं तेरा ही हो चुका। आ, इधर आ!' इतना कहकर श्रीचैतन्यने सबके सामने अस्पृश्य पामर सैकड़ों खून करनेवाले नराधम जगाईको जोरसे छातीसे लगा लिया। जगाईने कुछ कहना चाहा, पर जबान रुक गयी, वह बेहोश होकर जड़ कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा!

मधाई सब कुछ देख रहा है। उसने देखा प्रभुका रुद्र रूप! फिर देखा, जगाईपर कृपा करते हुए प्रभुका सौम्य रूप! अब देखता है, अपने सारे पापोंके आधे हिस्सेदार भाई जगाईको धूलमें लोटते हुए और श्रीगौरांगके दाहिने पैरको हृदयपर रखकर उसे अश्रुजलधारासे धोते हुए! मधाईको होश हुआ और वह भी 'रक्षा करो, रक्षा करो' पुकारता हुआ महाप्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा।

प्रभु कुछ पीछे हटकर कहने लगे—'अरे तू तो नदियाकी हुकूमतमें पागल होकर जीवोंपर अत्याचार कर रहा था, आज उस हुकूमतको भूलकर यहाँ धूलमें किसलिये लोट रहा है? क्या यह तेरी शानके अनुकूल है? क्या इसमें तुझे लज्जा नहीं आती?' मधाईने कातर-स्वरसे कहा—'प्रभो! तुम जगत्-पिता हो, यदि तुम्हीं मुझे त्याग दोगे तो मैं किसके पास जाऊँगा? हम दोनोंने साथ ही पाप किये थे। तुम दयामय हो, तुमने जगाईको अपना लिया और मुझे छोड़ दोगे? क्या यह उचित होगा?' प्रभु बोले—

'जगाई मेरा अपराधी था, उसका अपराध क्षमा करना मेरे अधिकारमें था, पर मधाई! तू तो नित्यानन्दजीका अपराधी है, भक्तद्रोहियोंको तो दण्ड ही देना उचित है।' मधाईने फिर कहा, 'प्रभो! मैंने जैसे भयानक कुकर्म किये हैं, उनको देखते क्षमा माँगनेका मेरे लिये कोई मार्ग ही नहीं रह गया है। इससे मैं तुमसे क्षमा नहीं चाहता, केवल अपने मनकी बात सरलतासे कहता हूँ। मेरे हृदयसे आशा दूर नहीं हो रही है। तुम बिलकुल त्याग दोगे। ऐसी धारणा मेरे मनमें होती ही नहीं। मुझे बतलाओ, किस उपायसे मेरा उद्धार होगा। तुम कहोगे वही करूँगा।'

प्रभु पिघल गये हैं। मनका भाव छिपाना चाहते हैं, परंतु करुणाभरी आँखें छिपाने नहीं देतीं। तथापि यथासाध्य मनके भाव छिपाकर श्रीचैतन्यने कहा—'मधाई! तुमने नित्यानन्दके शरीरसे खून बहाया, तुम उनके अपराधी हो, श्रीनित्यानन्द दयामय हैं, उनके दोनों चरण पकड़ लो। यदि वे तुम्हारा अपराध क्षमा कर देंगे तो तुम्हारा काम बन जायगा।' नित्यानन्दजी प्रभुकी इस करुण लीलाको देख-देखकर मन-ही-मन प्रफुल्लित और संकुचित हो रहे थे। प्रफुल्लता मधाईपर प्रभुकी कृपा देखकर हो रही थी और संकोच प्रभुको अपना गौरव बढ़ाते देखकर हो रहा था। मधाईने तुरंत ही संकोचसे पीछे हटते हुए नित्यानन्दजीके चरण पकड़ लिये और कहा—'प्रभो! तुम्हारे क्षमा करनेसे ही भगवान् मुझे अपने चरणोंमें स्थान देंगे।'

इतनेमें श्रीचैतन्यने नित्यानन्दका हाथ पकड़कर कहा—'श्रीपाद! तुम बड़े दयालु हो, इसके क्षमा चाहनेसे पहले ही तुम क्षमा कर चुके हो, यह सभी जानते हैं। परंतु ऐसा करना कुछ अनुचित है, क्योंकि इससे पापी अपने अपराधको कम समझने लगते हैं। अब मैं इस अधमका अपराध क्षमा करनेके लिये तुमसे विनय करता हूँ, इससे इसको यह ज्ञान होगा कि मेरा

अपराध बहुत भारी है। श्रीपाद! तुम मधाईको क्षमा करो; साधुगण अनुतप्त और चरणाश्रित व्यक्तियोंको सदासे ही क्षमा करते आये हैं। अतएव इस अधमका अपराध क्षमाकर इस बातका—साधु और पापियोंके भेदका परिचय करा दो।'

इसपर नित्यानन्दजी गद्‌गद होकर कहने लगे—'प्रभो! तुम मुझे उपलक्ष्यकर इन दोनों पापियोंका उद्धार करोगे; यह मैं जानता हूँ। मेरा गौरव बढ़ानेके लिये ही तुम मुझसे अनुमति चाहते हो। यही हो। मैं इसे क्षमा करता हूँ। इतना ही नहीं; यदि मैंने किसी भी जन्ममें कोई सत्कर्म किये हैं तो उन सबका पुण्य भी मैं मधाईको देता हूँ। तुम इस परम दुःखी अनुतप्त जीवको चरणोंमें आश्रय दो। तदनन्तर नित्यानन्द चरणोंमें पड़े हुए मधाईको सम्बोधन करके बोले—'रे निर्बोध! देख कृपामय प्रभुकी तुझपर पहलेसे ही कितनी कृपा है। आज तेरे लिये प्रभु मुझसे विनय कर रहे हैं। आ, आ मेरे प्यारे मधाई! तुझे छातीसे लगाऊँ।' इतना कहकर नित्यानन्दने मधाईको उठाकर हृदयसे लगा लिया; परंतु मधाई तुरंत ही बेहोश होकर जगाईके पास गिर पड़ा। दोनों भाई धूलमें पड़े हैं, आँखें खुली हुई हैं। उनमेंसे कुछ-कुछ आँसू निकल रहे हैं। बाह्यज्ञान बिलकुल नहीं है। समस्त अंग शिथिल हो रहे हैं। भक्तगण 'हरि बोल', 'हरि बोल' की ध्वनि करते हुए दोनोंको घेरकर नाचने लगे।

उस समय नवद्वीपमें इतना कोलाहल मचा कि भक्त, अभक्त सभी विह्वल हो गये। जगाई-मधाईको इसी अवस्थामें छोड़कर श्रीचैतन्यदेव भक्तोंसहित घर लौट गये। थकावट मिटानेके लिये भक्तगण इधर-उधर जा बैठे। इस अद्‌भुत घटनाको देखकर सभी प्रेमानन्दमें निमग्न हो रहे थे। संध्या हो गयी थी। इतनेमें ही बाहरसे पुकार सुनायी दी—'प्रभो! प्रभो!' पता लगानेपर मालूम हुआ कि जगाई-मधाई दरवाजेपर खड़े पुकार रहे हैं। प्रभुने मुरारिको उन्हें लानेके लिये बाहर भेजा। मुरारि वीरकी तरह दोनों भाइयोंको पीठपर उठा लाया। अंदर आते ही दोनों सूखे काठकी तरह सीधे गिर पड़े। तब प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! दोनोंको गंगातटपर ले जाकर कानोंमें श्रीहरिनाम दो।' इतना कहकर भक्तोंके साथ प्रभु चल पड़े। जगाई-मधाई बेहोश थे। अतएव मुर्देकी तरह उन्हें उठाकर भक्तगण कीर्तन करते हुए निकले। ले जाकर घाटपर लिटा दिया। जगाई-मधाईकी इस दशाको देखनेके लिये नगर उलट पड़ा। कुछ समय पहले जो नदियाके राजा थे, जो चाहते सो कर सकते थे, वे ही दोर्दण्ड प्रतापशाली राजबन्धु आज दीनकी तरह धूलमें पड़े हैं!

श्रीचैतन्यने वज्रगम्भीर स्वरसे कहा, 'श्रीपाद! ये दोनों जीव मैं आपको सौंपता हूँ, आप इन्हें गंगास्नान करवाकर हरिनाम प्रदान करें।' नित्यानन्द दोनों भाइयोंको पुकारकर कहने लगे—'आओ, मेरे प्यारे जगाई-मधाई! मुझे मारा, बहुत ही अच्छा किया; आओ, आज 'हरि बोल' बोलो और नाचो। तुम्हारे प्रहारका दण्ड यह हरिनाम ही है।' जगाई-मधाई अभीतक बेहोश थे। भक्तोंने महान् आनन्दसे दोनोंको कंधोंपर उठाया। जब दोनों भाइयोंको भक्तगण जलके अंदर ले गये, तब उन्हें होश हुआ। सभीने गंगामें स्नान किया।

गंगातटपर भीड़ लग रही है। हजारों नर-नारी कौतुक देख रहे हैं। चाँदनी रात है, अतएव दीखनेमें कोई बाधा नहीं है। भक्तोंके बीचमें श्रीगौरांग और जगाई-मधाई खड़े हैं। जगाई-मधाईके हाथमें तुलसी दी गयी। महाप्रभुने कहा—'भाई माधव! भाई जगन्नाथ! मुझे एक चीज देनी पड़ेगी। देनेकी प्रतिज्ञा करो।' जगाई-मधाई तो प्राण देनेको प्रस्तुत थे, उन्होंने कहा—'प्रभो जो इच्छा हो सो ले सकते हो!' यह सुनकर प्रभु बोले—'भाई! तुमलोगोंने अबतक जितने पाप किये हैं, वे सब ताम्र, तुलसी और गंगाजल हाथमें लेकर मुझे दान कर दो। तुमलोग निष्पाप और निर्मल हो जाओ!' इतना कहकर महाप्रभुने सबके सामने पाप ग्रहण करनेके लिये हाथ बढ़ा दिया।

इस बातको सुनकर जगाई-मधाईको जो मार्मिक पीड़ा हुई सो अकथनीय है। वे अत्यन्त कातर हो गये। उन्होंने प्रभुके करुणमुखकी ओर देखकर कहा—'भक्त तो तुम्हारे चरणोंपर पुष्प-चन्दन चढ़ाते हैं और हम दोनों भाई—पापात्मा, नीच तुम्हारे हाथोंमें पाप-दान करें? प्रभो? यह नहीं होगा। हमने अपराध किये हैं, बड़ी खुशीसे दण्ड भोगेंगे। तुम केवल इतनी ही कृपा करो कि पापोंके निमित्त चाहे जितना कष्ट सहते समय भी तुम्हारे श्रीचरणोंकी विस्मृति न हो। हम तुम्हें पाप नहीं दे सकते।'

प्रभुने उनकी बातोंका कुछ भी उत्तर न देकर

केवल यही कहा, 'जगाई-मधाई! तुम्हारे पाप मुझे देकर तुमलोग सुखपूर्वक हरिनाम लो।' जगाई-मधाईने बार-बार क्षमा माँगी, पाप देनेसे सर्वथा इनकार किया। परंतु अन्तमें महाप्रभु और श्रीनित्यानन्दजीके आग्रहसे उन्हें बाध्य होकर पापोंका दान करना पड़ा। नित्यानन्दजीने संकल्पका मन्त्र पढ़ा, प्रभुने दान लेकर गम्भीर स्वरसे कहा—'तुमलोगोंके पाप मैंने ग्रहण किये।'

अन्तरंग भक्तोंने देखा प्रभुके स्वर्ण-वर्णपर कुछ कालिमा-सी आ गयी!

तदनन्तर स्नान करके सब घर लौट आये। रातभर नृत्य-कीर्तन होता रहा। तबसे जगाई-मधाई घर नहीं गये। वे अनशन करने लगे, उनके दैन्यको देखकर भक्तोंको बड़ा दुःख होने लगा।

जगाई-मधाई गंगाके तीरपर जा बैठे। फटा-मैला कपड़ा पहन रखा है; उपवास, क्रन्दन और नींदसे शरीर दुर्बल हो गया है। दो लाख नामजप प्रतिदिनका नियम है। जो कोई घाटपर आता है, मधाई उठकर उसीके चरणों पड़ता और कातर स्वरसे रो-रोकर कहता है—'आप कृपा करके मेरा उद्धार करें। मैंने जानमें-अनजानमें आपको कोई दुःख दिया है उसके लिये आप मुझ दीनको क्षमा करें।'

बालक-वृद्ध, नर-नारी, ब्राह्मण-चाण्डाल सभीके चरणोंमें पड़कर रोते हुए क्षमा-प्रार्थना करना और नामजप करते रहना—यही उनकी जीवनचर्या है।

मधाईने अपने हाथों एक घाट बनाया था, वह नवद्वीपमें अब भी मधाईके घाटके नामसे प्रसिद्ध है। मधाईके वंशज अभी हैं, वे श्रोत्रिय ब्राह्मण और परम वैष्णव हैं।

हरिनामका महत्त्व

प्रभु श्रीचैतन्यदेव नीलाचल चले जा रहे हैं, प्रेममें प्रमत्त हैं, शरीरकी सुध नहीं है, प्रेममदमें मतवाले हुए नाचते चले जा रहे हैं, भक्त-मण्डली साथ है। रास्तेमें एक तरफ एक धोबी कपड़े धो रहा है। प्रभुको अकस्मात् चेत हो गया, वे धोबीकी ओर चले! भक्तगण भी पीछे-पीछे जाने लगे। धोबीने एक बार आँख घुमाकर उनकी ओर देखा फिर चुपचाप अपने कपड़े धोने लगा। प्रभु एकदम उसके निकट चले गये। श्रीचैतन्यके मनका भाव भक्तगण नहीं समझ सके। धोबी भी सोचने लगा कि क्या बात है? इतनेमें ही श्रीचैतन्यने धोबीसे कहा—'भाई धोबी एक बार हरि बोलो।' धोबीने सोचा, साधू भीख माँगने आये हैं। उसने 'हरि बोलो' प्रभुकी इस आज्ञापर कुछ भी खयाल न करके सरलतासे कहा—'महाराज! मैं बहुत ही गरीब आदमी हूँ। मैं कुछ भी भीख नहीं दे सकता।'

प्रभुने कहा—'धोबी! तुमको कुछ भी भीख नहीं देनी पड़ेगी। सिर्फ एक बार 'हरि बोलो!' धोबीने मनमें सोचा, साधुओंका जरूर ही इसमें कोई मतलब है, नहीं तो मुझे 'हरि' बोलनेको क्यों कहते? इसलिये हरि न बोलना ही ठीक है। उसने नीचा मुँह किये कपड़े धोते-धोते ही कहा—'महाराज! मेरे बाल-बच्चे हैं, मजूरी करके उनका पेट भरता हूँ। मैं हरिबोला बन जाऊँगा तो मेरे बाल-बच्चे अन्न बिना मर जायँगे।'

प्रभुने कहा—'भाई! तुझे हमलोगोंको कुछ देना नहीं पड़ेगा, सिर्फ एक बार मुँहसे हरि बोलो। हरिनाम लेनेमें न तो कोई खर्च लगता है और न किसी काममें बाधा आती है। फिर हरि क्यों नहीं बोलते, एक बार हरि बोलो भाई।'

धोबीने सोचा अच्छी आफत आयी, यह साधु क्या चाहते हैं? न मालूम क्या हो जाय? मेरे लिये हरिनाम न लेना ही अच्छा है। यह निश्चय करके उसने कहा—'महाराज! तुमलोगोंको कुछ काम-काज तो है नहीं, इससे सभी कुछ कर सकते हो। हम गरीब आदमी मेहनत करके पेट भरते हैं। बताइये, मैं कपड़े धोऊँ या हरिनाम लूँ।'

प्रभुने कहा—'धोबी! यदि तुम दोनों काम एक साथ न कर सको तो तुम्हारे कपड़े मुझे दो। मैं कपड़े धोता हूँ। तुम हरि बोलो।'

इस बातको सुनकर भक्तोंको और धोबीको बड़ा आश्चर्य हुआ। अब धोबीने देखा इस साधुसे तो पिण्ड छूटना बड़ा ही कठिन है। क्या किया जाय जो भाग्यमें होगा वही होगा—यह सोचकर प्रभुकी ओर देखकर धोबी कहने लगा—'साधू महाराज! तुम्हें कपड़े तो नहीं धोने पड़ेंगे? जल्दी बतलाओ, मुझे क्या बोलना पड़ेगा,

मैं वही बोलता हूँ' अबतक धोबीने मुख ऊपरकी ओर नहीं किया था। अबकी बार उसने कपड़े धोने छोड़कर प्रभुकी ओर देखते हुए उपर्युक्त शब्द कहे।

धोबीने देखा साधु करुणाभरी दृष्टिसे उसकी ओर देख रहे हैं और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है। यह देखकर धोबी मुग्ध-सा होकर बोला, 'कहो महाराज! मैं क्या बोलूँ।' प्रभुने कहा—'भाई! बोलो 'हरि बोल'।'

धोबी बोला। प्रभुने कहा—धोबी! फिर 'हरि बोल' बोलो, धोबीने फिर कहा—हरि बोल। इस प्रकार धोबीने प्रभुके अनुरोधसे दो बार 'हरि बोल', 'हरि बोल' कहा। तदनन्तर वह अपने आपेमें नहीं रहा और विह्वल हो उठा। बिलकुल इच्छा न होनेपर भी वह ग्रहग्रस्तकी तरह अपने-आप ही 'हरि बोल', 'हरि बोल' पुकारने लगा। ज्यों-ज्यों हरि बोल पुकारता है, त्यों-त्यों विह्वलता बढ़ रही है। पुकारते-पुकारते अन्तमें वह बिलकुल बेहोश हो गया। आँखोंसे हजारों-लाखों धाराएँ बहने लगीं। वह दोनों भुजाएँ ऊपरको उठाकर 'हरि बोल', 'हरि बोल' पुकारता हुआ नाचने लगा।

भक्तगण आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। अब प्रभु नहीं ठहरे। उनका कार्य हो गया। इसलिये वे वहाँसे जल्दीसे चले। भक्तगण भी साथ हो लिये। थोड़ी-सी दूर जाकर प्रभु बैठ गये। भक्तगण दूरसे धोबीका तमाशा देखने लगे। धोबी भाव बता-बताकर नाच रहा है। प्रभुके चले जानेका उसे पता नहीं है। उसकी बाह्य दृष्टि लुप्त हो चुकी है। भाग्यवान् धोबी अपने हृदयमें गौर-रूपका दर्शन कर रहा है।

भक्तोंने समझा धोबी मानो एक यन्त्र है। प्रभु उसकी कल दबाकर चले आये हैं और वह उसी कलसे हरि बोल पुकारता हुआ नाच रहा है।

भक्त चुपचाप देख रहे हैं। थोड़ी देर बाद धोबिन घरसे रोटी लायी। कुछ देरतक तो उसने दूरसे खड़े-खड़े पतिका रंग देखा, पर फिर कुछ भी न समझकर हँसी उड़ानेके भावसे उसने कहा—'यह क्या हो रहा है? यह नाचना कबसे सीख लिया?' धोबीने कोई उत्तर नहीं दिया। वह उसी तरह दोनों हाथोंको उठाये हुए घूम-घूमकर भाव दिखाता हुआ 'हरि बोल' पुकारने और नाचने लगा। धोबिनने समझा पतिको होश नहीं है। उसको कुछ-न-कुछ हो गया है। वह डर गयी और चिल्लाती हुई गाँवकी तरफ दौड़ी तथा लोगोंको बुलाने और पुकारने लगी। धोबिनका रोना और पुकारना सुनकर गाँवके लोग इकट्ठे हो गये। धोबिनने डरते-डरते उनसे कहा कि 'मेरे मालिकको भूत लग गया है।' दिनमें भूतका डर नहीं लगा करता, इसलिये गाँवके लोग धोबिनको साथ लेकर धोबीके पास आये। उन्होंने देखा धोबी बेहोशीमें घूम-घूमकर इधर-उधर नाच रहा है। उसके मुखसे लार टपक रही है। उसको इस अवस्थामें देखकर पहले तो किसीका भी उसके पास जानेका साहस नहीं हुआ। शेषमें एक भाग्यवान् पुरुषने जाकर उसको पकड़ा। धोबीको कुछ होश हुआ और उसने बड़े आनन्दसे उस पुरुषको छातीसे लगा लिया। बस, छातीसे लगनेकी देर थी कि वह भी उसी तरह 'हरि बोल' कहकर नाचने लगा। अब वहाँ दोनोंने नाचना शुरू कर दिया। एक तीसरा गया, उसकी भी यही दशा हुई। इसी प्रकार चौथे और पाँचवें क्रम-क्रमसे सभीपर यह भूत सवार हो गया। यहाँतक कि धोबिन भी इसी प्रेममदमें मतवाली हो गयी। प्रेमकी मन्दाकिनी बह चली, हरिनामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश गूँज उठा, समूचा गाँव पवित्र हो गया।

श्रीविष्णुप्रियाजीको पादुका-दान

श्रीगौरांगदेव संन्यासके बाद घर आ रहे हैं, परसों वे नवद्वीप पहुँचेंगे, माता शची और गौरांगप्रिया देवी श्रीविष्णुप्रिया इस बातको जानती हैं। श्रीविष्णुप्रिया दिन गिनती हैं। वे कभी-कभी प्रेमावेशमें इस बातको भूल जाती हैं कि 'श्रीगौरांग इस समय संन्यासी हैं, उनका अब मुझसे पति-पत्नीका कोई सम्बन्ध नहीं रहा।' वे सोचती हैं, मानो स्वामी परदेशसे घर लौट रहे हैं, इसीसे पल-पलमें उन्हें स्मरणकर वे व्याकुल हो रही हैं।

प्रभु कुलिया पधारे हैं, बीचमें नदी है। संन्यासीको एक बार जन्मभूमिमें जाना चाहिये। इसीलिये वे नवद्वीप आ गये, लाखों लोगोंकी भीड़ साथ है, शहरभरमें कोलाहल मच रहा है, सभी देखनेको दौड़ते हैं। स्त्रियाँ

अटारियों और छतोंपर खड़ी होकर यह अभूतपूर्व दृश्य देख रही हैं। प्रभु खड़ाऊँ पहने घाटपर उतरे और चिरपरिचित स्थानोंको देखते हुए आगे बढ़े!

प्रभुका घर आ गया, वे घरके सामने वहीं खड़े हो गये, जहाँ छः वर्ष पहले गयाके गदाधरके चरणकमलोंका वर्णन करते हुए मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे! माता शचीसे तो पहले भी भेंट हो गयी थी, परंतु श्रीविष्णुप्रियाजीका संन्यासके बाद पति-मुख-दर्शनका यह पहला ही अवसर है। विष्णुप्रिया सोचती हैं—'प्रभु तो अब केवल मेरे स्वामी ही नहीं हैं, उन्होंने तो जगत्‌भरके दुःखियोंका दुःख दूर करनेका ठेका लिया है। वे तो अब सबकी सम्पत्ति हैं, जैसा उनसे सबका सम्बन्ध है, वैसा ही मेरा भी है। फिर मैं उनपर अपना अधिकार विशेष क्यों समझूँ? पर क्या करूँ, मन नहीं मानता, उनके आनेके समाचारसे ही चित्तमें जो भाव-तरंगें उठीं और जिन्होंने कई बार मनमें ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया कि एक बार वे आ जायँ। उनके चरण पकड़कर धरना दूँगी, अपने हृदयके प्रेम-सिन्धुकी मर्यादा तोड़कर उसके प्रबल प्लावनमें सारे नवद्वीपके स्त्री-पुरुषोंके साथ ही उनको भी बहा दूँगी। वे मेरे हैं, मेरे हृदयके धन हैं, क्या मेरी अवहेलना करेंगे? पर आज सोचती हूँ, मेरा हृदय तो उन्हें अर्पित है, उनके सुखमें ही मुझे परम सुख है, जीवोंकी बड़ी ही बुरी दशा है, उनके उद्धारके लिये ही प्रभुने मेरा त्याग किया है। पतितोंको पावन करनेवाली प्रभुकी इस विशाल भावधारामें क्या मुझे कभी आपत्ति करनी चाहिये? नहीं, नहीं! मेरे स्वामी! जगत्‌के कल्याणके लिये तुम जो कुछ कर रहे हो, उसीमें मुझे बड़ी प्रसन्नता है, मेरे त्यागसे तुम्हारे जगत्-उद्धारके कार्यमें लाभ पहुँचता है, यही मेरे लिये बड़ा गौरव है, परंतु नाथ! क्या मेरा उद्धार नहीं होगा? क्या मैं इसके लिये पात्र नहीं हूँ?' इस तरह श्रीविष्णुप्रियाके मनमें अनेक तरंगें उठ रही हैं और उसे प्रभु-दर्शनके लिये व्याकुल कर रही हैं। इस समयकी श्रीविष्णुप्रियाके मनकी दशाका पता उन्हींको है, दूसरा कोई उसका अनुमान नहीं कर सकता।

परंतु श्रीविष्णुप्रिया क्या गौरांगके पास जायँगी? प्रभु तो स्त्रीको देखते ही दूर हट जाते हैं, प्रभु उससे क्यों बोलेंगे। फिर जहाँ लाखोंकी भीड़ है, वहाँ एक कुलकामिनी सबके सामने कैसे जा सकती है? उन्नीस सालकी तरुण अवस्था है, कभी घरसे बाहर नहीं निकलीं, आज कैसे बाहर जायँ? श्रीविष्णुप्रियाको अभी बाह्यज्ञान है, वे यह सब सोचती हैं पर कुछ निश्चय नहीं कर पातीं। आड़में खड़ी होकर पतिमुख-दर्शनकी चेष्टा करने लगीं, पर नहीं कर सकीं। मनमें प्रबल इच्छा थी कि एक बार सदाके लिये जी भरकर देख लूँ, पर कैसे बाहर जायँ? फिर सोचा, 'स्त्रीके लिये जो स्वामी इस लोक और परलोकका एकमात्र आश्रय है, उसके चरणोंमें जाते लोक-लाज कैसी?' यों सोचते-सोचते उनका बाह्यज्ञान जाता रहा, उसी समय उसी मैली साड़ीसे सिरसे पैरतक सारा बदन ढककर श्रीविष्णुप्रिया दौड़ीं और घरसे बाहर राज्यपथमें खड़े हुए प्रभुके चरणोंमें—'हा प्रभु!' पुकारती हुई गिर पड़ीं। अश्रुधारासे सारा बदन भींग गया, प्रभुके चरणकमल प्रेमाश्रुधाराके पुनीत जलसे धुलने लगे!

प्रभुने किसी स्त्रीको पड़ी हुई देखा और 'तुम कौन हो?' कहकर पीछे हट गये। किसीने भी प्रभुके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया। इस दृश्यको देखकर लोगोंका हृदय भर आया। महाप्रभु चरणोंमें पड़ी हुई मलिनवस्त्रा युवतीकी ओर देखने लगे।

जब लोगोंने कोई जवाब नहीं दिया तब श्रीमतीने गद्‌गदकण्ठसे कहा—'नाथ! मैं तुम्हारी दासियोंकी दासी हूँ।' प्रभु समझ गये कि श्रीविष्णुप्रिया हैं। प्रभुके मुखपर भी क्षणभरके लिये उदासीकी रेखा झलकने लगी। प्रभुने कहा—'तुम क्या चाहती हो?' श्रीविष्णुप्रिया बोलीं, 'प्रभो! तुम सारे संसारका उद्धार कर रहे हो, तब क्या तुम्हारी यह दासी विष्णुप्रिया ही भवकूपमें पड़ी रहेगी?'

इतना सुनते ही चारों ओरसे क्रन्दनकी ध्वनि उठी, करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, छोटे-बड़े सभी पुकार-पुकारकर रोने लगे! उस समय आँसू नहीं थे केवल प्रभुकी और प्रभुकी योग्य पत्नी पतिपरायणा विष्णुप्रियाकी आँखोंमें! प्रभुने सिर नीचा करके धीरेसे कहा—'तुम विष्णुप्रिया हो, अपना नाम सार्थक करो, तुम श्रीकृष्णकी प्रिया बनो।'

श्रीविष्णुप्रिया बोलीं—'मैं तुम्हें छोड़कर श्रीकृष्णको नहीं देख सकती! प्रभु कुछ क्षणोंतक चुपचाप खड़े रहे; फिर दोनों चरणोंसे खड़ाऊँ निकालकर बोले—'साध्वी!

मैं संन्यासी हूँ, तुम्हें देनेको मेरे पास कुछ भी नहीं है। यह मेरी खड़ाऊँ लो और इन्हींसे अपने विरहको शान्त करो।' श्रीविष्णुप्रियाने खड़ाऊँको प्रणाम किया, उन्हें मस्तकपर रख लिया और फिर उन्हें चूमकर हृदयसे लगा लिया। लाखों लोग गद्‌गदकण्ठसे 'हरि-हरि' पुकार उठे!

भक्तको दुःख नहीं होता

नदियाके पण्डित श्रीवास श्रीगौरांगके बड़े भक्त थे, गौरांग महाप्रभु बीच-बीचमें श्रीवासके घरपर कीर्तन करने जाते। इसी तरह एक दिन कीर्तनके लिये गौरांग उनके घर गये। श्रीवासके आँगनमें सैकड़ों भक्त आनन्द-मत्त होकर कीर्तन कर रहे थे। गौरांगको देखकर भक्तोंके आनन्दकी मात्रा सीमाको पहुँच गयी, उनका बाह्यज्ञान जाता रहा। श्रीवासके आनन्दकी तो कोई सीमा नहीं है; क्योंकि उसीके आँगनमें हरिसंकीर्तन हो रहा है। इतनेमें ही भीतरसे एक दासी घबराती हुई आयी और श्रीवासको बुलाकर अंदर ले गयी।

श्रीवासका इकलौता बालक पुत्र बीमार है, बीमारी बढ़ गयी है, घरमें बालककी माता और अन्यान्य स्त्रियाँ बालककी सेवामें लगी हुई थीं और श्रीवास निश्चिन्त मनसे बाहर नाच रहे थे। उनको मरणासन्न पुत्रकी कोई चिन्ता नहीं है, वे जानते हैं कि प्रभु जो कुछ करते हैं हमारे मंगलके लिये करते हैं। जो सब जीवोंकी एकमात्र गति हैं, उन्हींका नाम-संकीर्तन हो रहा है और भक्तगण आनन्दमें डूबे हुए नृत्य कर रहे हैं, इस आनन्दमें चिन्ता कैसी?

दासीके साथ श्रीवासने अंदर पहुँचकर देखा बालकका अन्तसमय उपस्थित है। पिताने बड़े प्रेमसे भगवान्‌का तारकब्रह्म* मन्त्र उसे सुनाया। पुत्रको मृत्युमुखमें जाते देखकर उसकी माता तथा दूसरी स्त्रियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। श्रीवासने कहा—'जिसके नाम-श्रवणमात्रसे महापापी भी परम धामको चला जाता है, वही स्वयं भगवान् आज तुम्हारे आँगनमें नाच रहे हैं, तुम्हारे इस पुत्रके सौभाग्यके लिये ब्रह्मातक तरसते हैं, यदि पुत्रपर तुम्हारा वास्तविक स्नेह है तो उसकी ऐसी दुर्लभ मृत्युके लिये आनन्द मनाओ। यह बड़ी ही शुभ घड़ीमें जन्मा था, तभी तो आज भगवान्‌के सामने उनका नामकीर्तन सुनते-सुनते इसने प्राण त्याग किये हैं। मेरा मन तो आज आनन्दसे उछल रहा है। यदि तुमलोग किसी तरह भी अपने मनको शान्त कर सकती तो बड़ा लाभ होता। अब कम-से-कम जबतक कीर्तन होता है, तबतक तो चुपचाप रहो। कहीं बीचमें रो उठोगी तो कीर्तन भंग हो जायगा।'

ब्राह्मणीने पतिके वचन मानकर दुःसह पुत्रशोकके आँसुओंको किसी तरह रोक लिया और दूसरी स्त्रियोंके साथ वह पुत्रकी लाशके पास बैठकर हरिनाम-चिन्तन करने लगी। धन्य!

श्रीवास पुत्रशवको जमीनपर लिटाकर प्रफुल्लित मन और खिले हुए मुखकमलसे बाहर लौट आये और दोनों भुजा उठाकर 'हरि बोल, हरि बोल' की तुमुल ध्वनि करके नाचने लगे। किसीको भी इस घटनाका पता नहीं लगा। इस समय रातके आठ बजे थे।

नृत्य-कीर्तनमें ढाई पहर रात बीत गयी। किसी तरह एक भक्तको यह बात मालूम हो गयी, उसने दूसरेसे कहा, क्रमशः बात फैल गयी, जो सुनता वही नाचना छोड़कर श्रीवासकी ओर देखने लगता। श्रीवास उसी महानन्दमें नाच रहे हैं। श्रीवासने दिखला दिया कि भक्तको सांसारिक पदार्थोंके वियोगमें कोई दुःख नहीं होता। वह जिस आनन्द-सिन्धुमें निमग्न रहता है, उसके सामने जगत्‌का बड़े-से-बड़ा दुःख भी तुच्छ—नगण्य प्रतीत होता है **'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'**

भक्तोंकी दृष्टिमें जगत् भगवान्‌की लीलामात्र है, बाजीगरके नित्य साथी—उसकी प्रत्येक क्रीड़ाका मर्म समझनेवाले टहलुएकी भाँति वे भगवान्‌की सभी लीलाओंमें हर्षित होते हैं, मृत्यु उनकी दृष्टिमें कोई पदार्थ ही नहीं रहता। इसी सुखमें आज श्रीवासका नृत्य भी बंद नहीं हुआ। परंतु भक्तोंमें इस बातके फैल जानेसे उन्होंने कीर्तन रोक दिया, मृदंग और करतालकी

* हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
यही तारक-मन्त्र है।

ध्वनि बंद हो गयी। महाप्रभु गौरांगदेवको भी बाह्यज्ञान हो गया, वे भक्तोंकी ओर देखकर कहने लगे—'भाइयो! क्या हुआ? मेरे हृदयमें रोना क्यों आता है?' फिर श्रीवासकी ओर मुख फिराकर प्रभु बोले—'पण्डित! तुम्हारे घरमें कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी? मेरे प्राण क्यों रो रहे हैं?' श्रीवासने मुसकराते हुए कहा, 'प्रभो! जहाँ तुम उपस्थित हो, वहाँ दुर्घटना क्यों होने लगी?' प्रभुने इस बातपर विश्वास नहीं किया। वे भक्तोंसे पूछने लगे। पर किसीसे भी सहजमें यह दुःखद संवाद कहते नहीं बना। अन्तमें एक भक्तने कहा—'प्रभो! श्रीवासका पुत्र जाता रहा।' प्रभुने कहा—'कब? कितनी देर हुई?' भक्तोंने कहा—'रातको आठ बजे यह घटना हुई थी। इस समय करीब दो बज गये हैं।' यह सुनकर श्रीगौरांग श्रीवासकी ओर देखने लगे, श्रीवासका मुख महान् आनन्दसे उल्लसित हो रहा है। महाप्रभु श्रीवासका यह भाव देखकर बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा—

'धन्य, धन्य श्रीवास! आज तुमने श्रीकृष्णको खरीद लिया।'

महाप्रभुका हृदय द्रवित हो गया, नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। प्रभुकी आँखोंमें आँसू देखकर श्रीवासने कहा—'प्रभो! मैं पुत्रशोक सहन कर सकता हूँ; परंतु तुम्हारे नेत्रोंमें जल नहीं देख सकता, तुम शान्त होओ, मुझे कोई दुःख नहीं है—दुःखकी सम्भावना भी नहीं है।'

भक्तोंने मृत बालककी लाशको बाहर लाकर आँगनमें सुला दिया, महाप्रभु उसके पास जाकर उसे जीवितकी तरह पूछने लगे, प्रभुके प्रश्न करते ही मृतदेहमें प्राणोंका संचार हो गया। बालक बोलने लगा। इस आश्चर्य-घटनासे सभी लोग चकित हो गये। बालकने कहा—'प्रभो! इस जगत्‌में मेरा काम पूरा हो गया, अब मैं इससे बहुत अच्छी जगह जा रहा हूँ, आप कृपा करें, जिससे भगवत्-चरणोंमें मेरी मति हो।' इसके बाद ही शरीर पुनः निर्जीव हो गया। पुत्रकी बोली सुनकर माताका शोक कुछ कम हुआ, महाप्रभुके समझानेसे सभी शोक भूल गये। प्रभु कहने लगे—'श्रीवास! जब संसारमें आये हो, तब तुम्हें भी सांसारिक नियमोंके अधीन ही रहना होगा। परंतु दूसरे लोग इसके कठिन नियमोंको क्लेशसे सहते हैं, तुम क्लेशसे मुक्त हो। पर यह न समझो कि तुम्हारा पुत्र जाता रहा है, उस एकके बदलेमें श्रीनित्यानन्द और मुझको—दोनोंको तुम अपने पुत्र समझो!'

प्रभुके इन वचनोंसे श्रीवास और उनकी पत्नीका हृदय आनन्दसे भर गया। वे गद्‌गद होकर हरिध्वनि करने लगे। भक्तगण मृतदेहको संस्कारके लिये ले गये। सबका शोक-दुःख जाता रहा।

पुरुषोत्तम-मासके नियम

पुरुषोत्तम-मासका दूसरा नाम मलमास है। 'मल' कहते हैं पापको और 'पुरुषोत्तम' नाम है भगवान्‌का। इसलिये हमें इसका अर्थ यों लगाना चाहिये कि पापोंको छोड़कर भगवान् पुरुषोत्तममें प्रेम करें और वह ऐसा करें कि इस एक महीनेका प्रेम अनन्त कालके लिये चिरस्थायी हो जाय। भगवान्‌में प्रेम करना ही तो जीवनका परम पुरुषार्थ है, इसीके लिये तो हमें दुर्लभ मनुष्य-जीवन और सदसद्विवेक प्राप्त हुआ है। हमारे ऋषियोंने पर्वों और शुभ दिनोंकी रचना कर उस विवेकको निरन्तर जाग्रत् रखनेके लिये सुलभ साधन बना दिया है, इसपर भी यदि हम न चेतें तो हमारी बड़ी भूल है।

इस पुरुषोत्तम-मासमें परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिये यदि सभी नर-नारी निम्नलिखित नियमोंको महीनेभरतक सावधानीके साथ पालें तो उन्हें बहुत कुछ लाभ होनेकी सम्भावना है।

१-प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठें।

२-गीताके पुरुषोत्तम-योग नामक पंद्रहवें अध्यायका प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पाठ करें। श्रीमद्भागवतका पाठ करें, सुनें।

३-स्त्री-पुरुष दोनों एक मतसे महीनेभरतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करें। जमीनपर सोवें।

४-प्रतिदिन घंटेभर किसी भी नियत समयपर मौन रहकर अपनी-अपनी रुचि और विश्वासके अनुसार भगवान्‌का भजन करें।

५-जान-बूझकर झूठ न बोलें। किसीकी निन्दा न करें।

६-भोजन और वस्त्रोंमें जहाँतक बन सके, पूरी शुद्धि और सादगी बरतें। पत्तेपर भोजन करें, भोजनमें हविष्यान्न ही खायँ।

७-माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि बड़ोंके चरणोंमें प्रतिदिन प्रणाम करें। भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी पूजा करें।

पुरुषोत्तम-मासमें दान देनेका और त्याग करनेका बड़ा महत्त्व माना गया है, इसलिये जहाँतक बन सके, जिसके पास जो चीज हो, वही योग्य पात्रके प्रति दान देकर परमात्माकी सेवा करनी चाहिये। त्याग करनेमें तो पापोंका त्याग ही सबसे पहले करना है। जो भाई या बहिन हिम्मत करके कर सकें, वे जीवनभरके लिये झूठ, क्रोध और दूसरोंकी जान-बूझकर बुराई करना छोड़ दें।

जीवनभरका व्रत लेनेकी हिम्मत न हो सके तो जितने अधिक दिनोंका ले सकें, उतना ही लें। परंतु जो भाई-बहिन दिलकी कमजोरी, इन्द्रियोंकी आसक्ति, बुरी संगति अथवा बिगड़ी हुई आदतके कारण मांस, मद्य खाते-पीते हैं और पर-स्त्री और पर-पुरुषसे अनुचित सम्बन्ध रखते हैं, उनसे तो हम हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि वे इन बुराइयोंको सदाके लिये छोड़कर दयामय प्रभुसे अबतककी भूलके लिये क्षमा माँगें।

जो भाई-बहिन ऊपर लिखे सातों नियम जीवनभर पाल सकें, पालनेकी चेष्टा करें; कम-से-कम चातुर्मास, नहीं तो पुरुषोत्तम-महीनेभर तो जरूर ही पालें और भविष्यमें सदा पालनेके लिये अपनेको तैयार करें। अपनी कमजोरी देखकर निराश न हों, दयाके सागर परम सुहृद् भगवान्का आश्रय लेनेसे असम्भव ही सम्भव हो जाता है।*

श्रीरामनवमी

श्रीरामनवमी सारे जगत्के लिये सौभाग्यका दिन है; क्योंकि अखिल विश्वपति सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् इसी दिन दुर्दान्त रावणके अत्याचारसे पीडित पृथ्वीको सुखी करने और सनातन-धर्मकी मर्यादा-स्थापन करनेके लिये मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए थे। श्रीराम केवल हिंदुओंके ही 'राम' नहीं हैं, वे अखिल विश्वके प्राणाराम हैं। भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको केवल हिंदूजातिकी सम्पत्ति मानना उनके गुणोंको घटाना है, असीमको सीमाबद्ध करना है। विश्वचराचरमें आत्मरूपसे नित्य रमण करनेवाले और स्वयं ही विश्व-चराचरके रूपमें प्रतिभासित सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी सर्वरूप नारायण किसी एक देश या व्यक्तिकी ही वस्तु कैसे हो सकते हैं? वे सबके हैं, सबमें हैं, सबके साथ सदा संयुक्त हैं और सर्वमय हैं। जो कोई भी जीव उनकी आदर्श मर्यादा-लीला—उनके पुण्यचरित्रका श्रद्धापूर्वक गान, श्रवण और अनुकरण करता है, वही पवित्र-हृदय होकर परम सुखको प्राप्त कर सकता है। श्रीरामके समान आदर्श पुरुष, आदर्श धर्मात्मा, आदर्श नरपति, आदर्श मित्र, आदर्श भाई, आदर्श पुत्र, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श स्वामी, आदर्श सेवक, आदर्श वीर, आदर्श दयालु, आदर्श शरणागत-वत्सल, आदर्श तपस्वी, आदर्श सत्यवादी, आदर्श दृढ़प्रतिज्ञ और आदर्श संयमी और कौन हुआ? जगत्के इतिहासमें श्रीरामकी तुलनामें एक श्रीराम ही हैं। श्रीरामने साक्षात् परमपुरुष परमात्मा होनेपर भी जीवोंको सत्यपथपर आरूढ़ करानेके लिये ऐसी आदर्श लीलाएँ कीं, जिनका अनुकरण सभी लोग सुखपूर्वक कर सकते हैं। उन्हीं हमारे श्रीरामका पुण्य प्राकट्य-दिवस चैत्र शुक्ला नवमी है। इस सुअवसरपर सभी लोगोंको, खास करके उनको, जो श्रीरामको साक्षात् भगवान् और अपने आदर्श पूर्वपुरुषके रूपमें अवतरित मानते हैं, श्रीराम-जन्मका पुण्योत्सव मनाना चाहिये। इसलिये उत्सवका प्रधान उद्देश्य होना चाहिये श्रीरामको प्रसन्न करना और श्रीरामके आदर्श गुणोंका अपनेमें विकास कर श्रीराम-कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बनना। अतएव विशेष ध्यान श्रीरामके आदर्श चरित्रके अनुकरणपर ही रखना चाहिये। विधि इस प्रकार की जा सकती है—

१-चैत्र शुक्ल १ से चैत्र शुक्ल ९ तक नौ दिन उत्सव मनाया जाय।

* जिनसे जितने नियमोंका पालन हो सके वे उतने ही पालें।

२-प्रत्येक मनुष्य (स्त्री, पुरुष, बालक) प्रतिदिन अपनी रुचिके अनुसार श्रीरामके दो अक्षरी, पंचाक्षरी या चार अक्षरी* मन्त्रका नियमपूर्वक जप करे। पहले दिन नियम कर ले, उसीके अनुसार नौ दिनतक करते रहना चाहिये। कम-से-कम १०८ मन्त्रका जप प्रतिदिन हो जाना चाहिये। उत्साह और समय मिले तो नौ दिनमें नौ लाख नामका जप कर सकते हैं।

३-प्रतिदिन सुबह या शामको कुछ समयतक नियमितरूपसे श्रीराम-नामका कीर्तन हो।

४-श्रीरामायणका नौ दिनोंमें पूरा पाठ किया जाय। वाल्मीकि, अध्यात्म या श्रीगोसाईंजीकृत मानस इनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी भी रामायणका पाठ कर सकते हैं। जो ऐसा न कर सकें वे कुछ समयतक प्रतिदिन रामायण बाँचें या सुनें।

५-माता-पिताके चरणोंमें प्रतिदिन प्रात:काल प्रणाम करें।

६-यथासाध्य खूब सावधानीसे सत्य-भाषण करें (सच बोलें)।

७-घरमें माता, पिता, भाई, भौजाई, स्वामी, स्त्री, नौकर, मालिक सभी आपसमें प्रेम रखें, अपने अच्छे बर्तावसे सबको प्रसन्न रखें, किसीसे झगड़ा न करें।

८-ब्रह्मचर्यका पालन करें।

९-रामनवमीका व्रत करें।

१०-रामनवमीके दिन श्रीरामजन्मोत्सव मनाया जाय, श्रीराम-कथा हो, सभाएँ की जायँ, जिनमें रामायणका प्रवचन और रामायण-सम्बन्धी शिक्षाप्रद व्याख्यान हों। कहने और सुननेवाले अपने अंदर श्रीरामके-से गुण लावें, इसके लिये दृढ़ निश्चय करें और श्रीरामसे प्रार्थना करें।

११-आपसके मेलमें बाधा न आती हो तो श्रीरामकी सवारीका जुलूस नगर-कीर्तनके साथ निकाला जाय।

इन ग्यारह बातोंमेंसे जिनसे जितनी पालन हो सकें, उतनी ही करनेकी चेष्टा करें। श्रीरामनामका जप, कीर्तन, माता-पिता आदिके चरणोंमें प्रणाम, सबसे प्रेम, ब्रह्मचर्यका अधिक-से-अधिक पालन, सत्य भाषण आदि बातें तो जीवनभर पालन करनेयोग्य हैं। इनका अभ्यास अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहिये। श्रीरामकी भक्तिके लिये इन्हीं व्रतोंकी आवश्यकता है।

सर्वत्र भगवद्दर्शन और व्यवहार

अन्तिम अवस्थामें भीष्मपितामह जब शरशय्यापर पड़े हुए थे तो उन्होंने पास खड़े हुए लोगोंसे तकिया माँगा। लोग नाना प्रकारके उपधान लेकर दौड़े; परंतु उन्होंने एकको भी स्वीकार नहीं किया। अन्तमें अर्जुन बुलाये गये। उन्होंने तीन बाण भीष्मजीके मस्तकमें बेधकर जमीनपर टिका दिये। भीष्मपितामह बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया, 'बेटा! तुम्हारी विजय हो।'

जिस समय जैसा वेष होता है उसीके अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है। प्रश्न यह उठता है कि जब हम सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें और सबको भगवान्‌का शरीर ही मानें तो उनके साथ व्यवहार कैसे करें! सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला भगवान्‌से कड़ी बात कैसे कहेगा, क्रोध कैसे करेगा और उनसे कैसे लड़ेगा? अयोग्य बात भगवान्‌से कैसे करें? इसका सहज समाधान यही है कि क्रोधके वशमें होकर किसीको कड़वी जबान कहना या किसीसे लड़ना तो पाप ही है, वह तो कभी नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को पहचानकर भगवान्‌के आज्ञानुसार नाट्यकी तरह शास्त्रोक्त आचरण करना दूसरी बात है। जहाँ वैसे कड़े आचरणकी आवश्यकता हो वहाँ सावधान रहते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही भगवान्‌की आज्ञा समझकर ऐसा करना चाहिये। वेष ही हमें यह कहता है, उस वेषमें आये हुए भगवान् ही हमें आज्ञा देते हैं कि उनके योग्य जो कर्म है वही करो। पिताका वेष धारण करके जब वे आये हैं, स्वयं ही आज्ञा दे दी है कि इस रूपमें मेरी सेवा करो। ये भगवत्स्वरूप हैं ऐसा समझकर ही उनकी पूजा करनी चाहिये। यदि भगवान् पुत्रके रूपमें आवें या स्त्रीके वेषमें आवें तो उस रूपमें आये हुए भगवान्‌से प्यार करो और शास्त्रानुकूल उनकी सेवा भी स्वीकार करो। वहाँ प्यार और सेवा-स्वीकार ही उनकी उचित पूजा है। यदि हम उस वेषके प्रतिकूल व्यवहार करते हैं तो भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन करते हैं। **'स्वकर्मणा**

* 'राम', 'रामाय नम:' या सीताराम।

तमभ्यर्च्य' का भावार्थ यही है कि वे जिस वेषमें आते हैं, उस वेषके अनुरूप ही वैसे कर्मसे उनकी उपासना हो। आवश्यकता इस बातकी है कि एक क्षणके लिये भी उनको भिन्न-भिन्न रूपोंमें पहचाननेमें भूल न हो और भिन्न-भिन्न स्वाँगोंमें आये हुए अपने परम प्रियतमकी उन्हें भीतरसे पहचानते हुए ही हर समय उचित पूजा करते रहें। '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**' का भी यही अभिप्राय है कि उस परमप्रभु परमात्मासे सारी सृष्टिका स्फुरण—उद्भव हुआ। जो कुछ हम देख रहे हैं या अनुभव कर रहे हैं या कल्पना कर सकते हैं, वह सब भगवान्‌से पैदा हुए हैं और वही भगवान् सबमें सब जगह व्याप्त हैं। सृष्टि उन्हींमेंसे निकली और उन्होंने अपनेसे अलग कोई सृष्टि रची ऐसी बात भी नहीं। अतः माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र, बन्धु, सबमें वही समानरूपसे; अखण्डरूपसे व्याप्त हैं। उनके सिवा और उनके बाहर कुछ है ही नहीं। सबमें वही भरे हैं। वे ही हमारे सामने इन नाना रूपोंमें खड़े हैं। सबमें ओतप्रोत हैं, हममें भी वे ही हैं; वे मुझमें और मैं उनमें घुला-मिला हूँ।

भूल इसलिये होती है कि हम अपनेको भगवान्‌से अलग मानकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं और कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की कैसे अर्चा होती है इसे भूल जाते हैं। यह सब कुछ वासुदेव हैं, इस निश्चयको दृढ़ रखते हुए भी भक्त यह स्वीकार कर लेता है कि यह सारी सृष्टि वासुदेवमय और मैं उनका सेवक हूँ—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

जो कुछ भी है वह भगवान्‌का स्वरूप ही है। सारी सृष्टि—सारा चराचर 'सियाराममय' है और मैं उसका दास हूँ '**दासोऽहम्, दासोऽहम्**' की धुन लग जानेपर 'दा' छिन जाता है और '**सोऽहम्, सोऽहम्**' की अनुभूति होने लगती है, नर नारायणमें लय हो जाता है, परंतु भक्त ऐसा चाहता नहीं, वह तो अपने प्रियतमके साथ रसानुभूतिके लिये—लीलानन्दके लिये द्वैतको सहर्ष वरण कर लेता है, और वह इस अभिमानको एक क्षण भी नहीं छोड़ना चाहता कि मैं सारी सृष्टिमें व्याप्त प्रियतम प्रभुका सेवक हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

नौकर और मालिक दो न रहें तो खेलका आनन्द ही न रहे। जिस किसीसे व्यवहार होता है—जिस किसी रूपमें वे प्रकाशित हैं, वे हैं, केवल 'वे ही'। सब जगह हमारे साथ मन्दिर चलता है, सब जगह हम पुजारी रहते हैं और सर्वत्र हम उनकी पूजा करते हैं। रातके समय सोते हुए भी बिछौनेपर हम भगवान्‌के मन्दिरमें हैं। प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक व्यक्तिके साथ व्यवहार करते हुए हम भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। जैसा वेष वैसी ही पूजा—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

'भगवन्! मेरा आत्मा ही आपका स्वरूप है। मेरी बुद्धि ही गिरिराजकिशोरी उमा है, मेरे प्राण आपके सहचर—लीला-परिकर हैं, यह शरीर ही आपका मन्दिर है, विषय-भोगका साज-सामान ही आपकी पूजा-सामग्री है, मेरी निद्रा ही समाधि है—ध्याननिष्ठा है। मेरे दोनों चरणोंका चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है। अपने मुखसे जो कुछ भी मैं कहता हूँ वह सब आपका स्तवन है। अधिक क्या कहूँ, मैं जो-जो कार्य करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।'

व्यवहारमें यह अवश्य याद रहे कि व्यवहार केवल भगवत्-पूजाके लिये हो। वर्णाश्रम भगवान्‌के खेलका एक सुन्दर साधन है। जिसका जो कर्म नियत हो, उसी कर्मसे वह भगवान्‌की पूजा करे। सभी कर्मोंसे तो भगवान्‌की ही पूजा होती है। इस अवस्थामें मेहतरका कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ब्राह्मणका। अपने-अपने काममें सभी महत्तर हैं, अपने-अपने स्थानपर सभीकी आवश्यकता और सभीका महत्त्व है। व्यष्टिमें जो सत्य है और स्वाँगका महत्त्व है वही महत्त्व उसी प्रकार ही समष्टिमें भी है। सब सर्वत्र अपने-अपने समस्त कर्मोंसे भगवान्‌की ही पूजा करते हैं। अपराधीके प्रति यदि हम कड़ा व्यवहार करते हैं और उस व्यवहारमें यह स्मरण रखते हैं कि इस रूपमें हमारे प्रियतम आये हुए हैं और उन्हींकी यह आज्ञा है कि हम उन्हें इस खेलमें कड़ी बातें कहें तो वही क्रोधका नाट्य सात्त्विकरूप धारण करके भगवत्-प्रीतिका साधन जाता है। मुख्य बात तो पहचाननेकी ही है और न पहचानना ही सारी भूलोंकी जड़ है। चोररूपमें आये

हुए परमात्माकी चोरी न करने देनेकी आज्ञा है। डाकूरूपमें आये हुएको बलपूर्वक भगानेकी आज्ञा है और आततायीरूपमें आये हुएको दण्ड देनेकी।

भगवद्भाव जब इतना प्रगाढ़ हो जाय कि स्वाँग भी न दीखे और साक्षात् वे ही दीखने लगें तब तो दोषीको डाँटने या चोरको चोरी न करने देना भी असह्य हो उठेगा। गदाधर भट्टने अपने घरमें आये हुए चोरको हरिरूपमें देखा है तो उनके बोझको भारी देखकर अपने ही हाथों उनके सिरपर उठा दिया। यह भगवद्भावकी प्रगाढ़ अवस्थाका लक्षण है। हरिके सिवा कुछ दीखता ही नहीं और इसी हेतु जो कुछ भी व्यवहार होता है, वह उनकी उपासनाका मधुर रूप लेकर ही व्यक्त होता है। स्वाँगका पर्दा हट गया, वह सच्चे रूपमें आ गया।

पर भगवान्‌को पहचानकर किये जानेवाले विषम व्यवहारमें भी यदि हम सबको भगवान् समझें तो हमारे द्वारा वस्तुतः कोई अशुभ कर्म होगा ही नहीं। जैसी उनकी आज्ञा होगी वैसा ही करेंगे। जिसमें उनकी हाँ होगी वही हमारे द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि हम भगवदीय सत्ताके यन्त्रमात्र हो जायँगे और भगवान् ही यन्त्री बनकर अपना काम हमारे द्वारा करेंगे। उसमें हमारा कुछ मतलब नहीं होगा। उनकी आज्ञा ही हमारे लिये प्रेरक-शक्ति होगी। पापकी या बुरे कर्मोंकी प्रेरणा अथवा आज्ञा भगवान्‌की ओरसे हो ही कैसे सकती है? कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारका स्वयं नाश हो जायगा; क्योंकि ये सब भी तो भगवान्‌के अर्पित हो जायँगे। इससे व्यवहारमें कोई आपत्ति नहीं आयेगी। जिस रूपमें जो आवे उसका वैसा ही सत्कार, उस रूपमें आये हुए हरिकी वैसी ही पूजा। जहाँ जैसा स्वाँग, वहाँ वैसी ही पूजा। जहाँ यह भाव होगा वहाँ स्वार्थवश अत्याचार-अनाचार आदि हो नहीं सकते। नौकरके रूपमें भगवान् घरमें हैं। नौकरका अपमान न करे, उससे घृणा न करे पर व्यवहारमें तो मालिक ऊपर बैठेगा और नौकर नीचे ही। भगवान्‌की आज्ञा है कि हम अपने नौकरको आज्ञा दें, उससे काम लें। परंतु उसका किसी प्रकार अपमान न करें। उसको अपनेसे नीचा न मानें। उसे भगवान् समझकर यह न करें कि उसकी ही आज्ञाकी प्रतीक्षा करें और उसके कहे अनुसार चलें। ऐसा करना उसको काहिल, सुस्त और बेईमान बनाना होगा, नाटक बिगड़ेगा। नौकरके रूपमें आये भगवान्‌की यही आज्ञा है कि भीतरमें हम उन्हें ठीक-ठीक पहचानते हुए और पहचानमें जरा भी भूल न करते हुए बाहरसे स्वाँगरूपमें प्रेमपूर्वक उन्हें उचित आज्ञा दें और उनसे यथायोग्य काम लें। यदि हम इस स्वाँगकी अवहेलना करते हैं और भगवान्‌की आज्ञाको यथार्थरूपमें स्वीकार नहीं करते तो इससे खेल बिगड़ता है और भगवान्‌का यह अभिनय वास्तविकरूपमें नहीं चलता। जहाँ खेल ठीक-ठाक हुआ वहीं सांगोपांग पूजा होती है।

यदि सामाजिक व्यवस्था अथवा पारिवारिक बन्धनोंके नियमोंका उल्लंघन करके उनकी अवहेलना करते हैं तो भगवान्‌की आज्ञा नष्ट होती है और खेल बिगड़ता है। खेलको अपना न माने पर खेल बिगड़े नहीं। जहाँ ठीक खेल हुआ, वहाँ भगवान्‌की उपासना हुई। भगवान्‌का सर्वत्र दर्शन करनेवाला वस्तुतः किसी अन्य वस्तुकी कामना कैसे करेगा, किसीपर क्रोध क्यों करेगा और किसीपर आसक्त क्यों होगा—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

सब पूजाके पात्र हैं। सब पूजनीय हैं। लक्ष्मी-नारायणपर बिल्वपत्र नहीं चढ़ाया जाता और शिवपर तुलसीदल नहीं चढ़ाया जाता। जैसा देवता, वैसी ही पूजा। धतूरे और आकके फूलके बिना शिवजीकी पूजा कैसे पूरी होगी? इसका अभिप्राय यही है कि भिन्न-भिन्न वेषमें एक ही प्रभु आये हुए हैं और उनकी वैसी ही वेषके अनुरूप ही पूजा होनी चाहिये।

कुरुक्षेत्रमें भगवान् जब कालरूपमें प्रकट हुए और अर्जुनसे यह कहा, '**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः**' मैं कालरूप होकर यहाँ सबको निगलनेके लिये प्रकट हुआ हूँ; उस समय भगवान्‌की पूजा अर्जुन केवल एक ही प्रकारसे कर सकते थे और वह प्रकार था रणांगणमें सब लोगोंको वीरगतिपर पहुँचाना। सबको भगवान् खा जानेके लिये उस समय प्रकट हुए थे और उन्होंने कहा, इस समय मेरी पूजा यही है—तुम निमित्त बनकर इन सबको मेरे मुँहमें डाल दो। वहाँ यही स्वकर्म था। भगवत्पूजनका प्रकृष्ट—उत्कृष्ट प्रकार था।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'इसलिये अर्जुन! तू अध्यात्मनिष्ठ चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर। (यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्यकी इच्छा न हो तो भी) सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर तत्पश्चात् तू युद्धके लिये तैयार हो, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

अर्जुन तो भगवान्‌की इस सामयिक पूजासे हट रहे थे। वे अपने कर्तव्यसे च्युत होने जा रहे थे। वहाँ तो रक्त-दानसे ही पूजा होती थी। भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें अर्जुनको यह आज्ञा दी है कि 'मेरे लिये आसक्ति छोड़कर भलीभाँति कर्म करो।' यह कर्म ही यज्ञ है। इन सबका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक शास्त्रोक्त कर्मसे भगवान्‌की पूजा कर सकता है। यही महान् साधन है। इतनी याद रहे कि सर्वत्र-सर्वदा, सबमें—पशु, पक्षी, वृक्ष, पतंग आदि सबमें एकमात्र भगवान् ही हैं और उन्हें देखते हुए ही उनके साथ व्यवहार करे।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

जहाँ व्यवहार पड़े वहाँ याद कर ले कि सर्वत्र सीताराम ही हैं। मन-ही-मन उन्हें प्रणाम कर लिया, पहचान लिया और आज्ञाके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त हुए।

सबका कल्याण हो

हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे संसारके समस्त प्राणी एक भगवान्‌के स्वरूप हैं, भगवान्‌के निवासस्थान हैं या भगवान्‌के सनातन अंश—उनकी प्रिय संतान हैं। तीनों सिद्धान्त भिन्न-भिन्न-से प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः एक ही सत्यका प्रतिपादन करते हैं। यदि ज्ञानकी दृष्टिसे कहा जाय तो इसी तत्त्वको यों कहा जाता है कि एक ही अखण्ड आत्मा विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म जीवोंके रूपोंमें वैसे ही प्रकाशित है, जैसे एक ही अखण्ड महाकाश समस्त देशों, नगरों, गाँवों, मकानों और कोठरियोंके रूपमें प्रकट है। इसीलिये सर्वत्र भगवद्दर्शन अथवा सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाले पुरुष हिंदू-शास्त्रकी दृष्टिसे महात्मा माने जाते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें जो ज्ञानप्राप्त पुरुष सब वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको (भगवान्‌को) भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

भगवान्‌ने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण (जगत्) सूत्रमें (सूतके) मणियोंकी भाँति मुझमें ही पिरोया हुआ है।'

इस प्रकार जो सर्वत्र और सर्वदा श्रीभगवान्‌को देखता है, उसे सर्वत्र सबमें सब समय भगवान् ही मिलते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सर्वत्र मुझ भगवान्‌को देखता है और सबको मुझ भगवान्‌में देखता है, उसके लिये न मैं कभी परोक्ष होता हूँ और न वह मेरे लिये परोक्ष होता है।'

इस प्रकार सर्वभूतप्राणियोंमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सर्वभूतप्राणियोंको देखनेवाला, व्यावहारिक जगत्‌में अपने वर्णाश्रमके अनुसार—स्वाँगके अनुसार अभिनय करनेवाले नटकी भाँति—जो कुछ भी व्यवहार करे, उसके सारे भाव होते हैं भगवान्‌में ही; क्योंकि उसके अनुभवमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। इसीपर गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। ३१)

'जो पुरुष एकत्व (एकमात्र भगवद्भाव)-में स्थित होकर सब भूत-प्राणियोंमें स्थित मुझ भगवान्‌को भजता

है; वह योगी सब प्रकारसे व्यवहार-बर्तावमें लगा हुआ भी वस्तुतः मुझ भगवान्‌में ही लगा रहता है।'

ऐसा महापुरुष सर्वत्र-समस्त जीवोंमें समबुद्धि होकर सबके सुख-दुःखकी अनुभूति अपने-आपकी तुलनासे करता है। भगवान् फिर कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'जो पुरुष अपनी उपमासे सबमें सबके सुख अथवा दुःखको सम देखता है वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है।'

मतलब यह कि अपने एक ही शरीरके सभी अवयवोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण उनमें होनेवाले सुख-दुःखको मनुष्य समान देखता है। चोट चाहे गुदामें लगे चाहे सिरमें—दुःख मनमें समान होता है, इसी प्रकार आराम चाहे पैरको मिले चाहे मुखको—सुख भी समान ही होता है। बर्ताव-व्यवहारमें भले ही पूरा-पूरा भेद रहे और वह रहना अनिवार्य है। पैर और हाथके अथवा गुदा और मुँहके न तो काम एक-से होते हैं और न उनके साथ व्यवहार ही एक-सा हो सकता है; परंतु 'आत्मौपम्य समता' सबमें एक-सी है।

हिंदू-सिद्धान्तके अनुसार इस प्रकार जानने-माननेवाला पुरुष किसीके साथ कैसे वैर कर सकता है और कैसे किसीका अनिष्टचिन्तन कर सकता है? भगवान्‌ने 'उसीको विशिष्ट पुरुष बतलाया है जो सुहृद् , मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापकर्मियोंमें भी समबुद्धि है।' अर्थात् इन सभीके अंदर जो एक भगवान्‌को विराजित देखता है या इन सभीके रूपमें जो एक भगवान्‌के दर्शन करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।

असलमें उसकी बुद्धिमें न शत्रु है न मित्र है; न बुरा है न भला; सब श्रीभगवान्‌के ही रूप हैं। ऐसा माननेपर भी व्यवहारमें उसे स्वधर्मोचित कर्तव्यका पालन करना पड़ता है। इसलिये यह बात तो रहती ही नहीं कि हिंदू किसीको विधर्मी मानकर उससे द्वेष करे। हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई इत्यादि भेद वस्तुतः व्यवहारमें हैं, आत्मामें नहीं हैं। आत्मा न हिंदू है, न मुसलमान। वह तो नित्य शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें भेदकी कल्पना ही नहीं है। अतएव भेद स्वरूपतत्त्वमें नहीं है। भेद व्यवहारमें है। आजकल व्यवहारमें तो अभेदकी चेष्टा होती है और मनमें भेद बढ़ते रहते हैं; इसीलिये इतना कलह और विद्वेष है। नहीं तो मुसलमान अपने निर्दोष धर्मका पालन करें और हिंदू अपनेका करें, किसीको क्यों आपत्ति होनी चाहिये और क्यों किसीके हृदयमें वेदना पहुँचानेके लिये धर्मके नामपर कोई अनुचित क्रिया ही होनी चाहिये। यदि सबमें 'आत्मौपम्य एकता' का भाव रहे तो सभी परस्पर एक-दूसरेके सहायक और विश्वासपात्र रक्षक तथा सेवक होंगे। परस्पर एक-दूसरेको सुख पहुँचायेंगे। किसीको दुःख पहुँचानेकी इच्छा या चेष्टा तभी होती है, जब हम उसे पराया समझते हैं और उसके लाभमें अपनी हानि तथा उसके सुखमें अपना दुःख मानते हैं। आज भारतवर्षमें सच्ची धार्मिकताका अभाव होनेसे यही बात हो गयी है और इसीसे परस्पर वैर-विरोध और द्वेष-दुःखकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

लहसुनके बीजसे केसर नहीं उत्पन्न होती, इसी प्रकार बुराईसे भलाई नहीं पैदा होती। हम यदि किसीके साथ बुरा बर्ताव करेंगे तो बीज-फल-न्यायसे वही बुराई हमें अनन्तगुनी होकर मिल जायगी। आज भारतके हिंदू-मुसलमानोंमें अज्ञानवश जो परस्पर बुरा बर्ताव हो रहा है, उसका फल दोनोंके लिये ही बहुत बुरा होना चाहिये। तारतम्य इतना ही है कि जिसका पक्ष न्यायका होगा और जिसने बुराईकी शुरुआत नहीं की होगी, उसका बचाव (बहुत अंशोंतक) न्यायकारिणी भागवती शक्ति करेगी। वह चाहे हिंदू हो या मुसलमान। भगवान्‌के न्यायमें हमारे यहाँके भेदसे कोई भेद नहीं होगा। भगवान् जैसे हिंदूके हैं, वैसे ही मुसलमानके हैं। आत्माके रूपमें जो परमात्मा एक हिंदूमें है, ठीक वही मुसलमानमें है और सृष्टिकर्ता भगवान्‌के रूपमें हिंदू जिस भगवान्‌की संतान है, मुसलमान भी उसीकी है। इसी प्रकार यदि हिंदू भगवान्‌का स्वरूप है तो मुसलमान भी भगवान्‌का स्वरूप है। जो मनुष्य भगवान्‌की पूजा करे और भगवत्स्वरूप ही किसी जातिविशेषके व्यक्तिसे द्वेष करे, उसका बुरा चाहे, उसकी पूजा भगवान् कैसे ग्रहण करेंगे। जो व्यक्ति एक अंगको पूजे और दूसरेको काटे, उस अंगका अंगी वह पुरुष उससे कैसे प्रसन्न होगा। जो व्यक्ति माताके एक बच्चेसे प्यार करे और दूसरेके गलेपर छूरी फेरे, उससे माता कैसे प्रसन्न होगी। इसी

प्रकार जो हिंदू मुसलमानको दुःख देता या मारता है, अथवा जो मुसलमान हिंदूको दुःख देता या मारता है, वह अपने भगवान्‌को असंतुष्ट ही करता है। चाहे, उसके भगवान्‌का नाम अल्लाह हो या परमात्मा।

इस दृष्टिसे किसीको भी जान-बूझकर कष्ट पहुँचाने या किसीका अहित करनेकी इच्छा या चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये। मनुष्यकी तो बात ही क्या है—पशु-पक्षी, कीट-पतंगको भी कष्ट पहुँचाने या उनका अहित करनेकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। सबके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम दूसरोंसे अपने प्रति चाहते हैं। जो बातें अपनेको बुरी लगती हों, वे दूसरोंके साथ नहीं करनी चाहिये।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

सबमें और सब कुछ भगवान् ही है, इस तत्त्वसिद्धान्तको ध्यानमें रखनेवाला पुरुष तो ऐसा करेगा ही। जो लौकिक सुख-शान्ति चाहता है, उसे भी वस्तुतः पहले अपने बर्तावको सुधारना चाहिये। व्यवहारमें चार बातोंका सावधानीके साथ त्याग करना चाहिये— **१. किसीका असम्मान न हो, २. किसीके साथ कपटका व्यवहार न हो, ३. किसीके साथ द्वेषका बर्ताव न हो और ४. किसीका अहित करनेकी चेष्टा न हो। इसके विपरीत सम्मान, सत्य, प्रेम और हितका बर्ताव होना चाहिये। ऐसा बर्ताव होगा तो अपने-आप ही बदलेमें यहाँ चीजें प्राप्त होने लगेंगी, जिससे जीवनमें सुख-शान्ति आयेगी और पारमार्थिक लाभ भी निश्चय ही होगा।**

अब प्रश्न यह है कि 'आजके वातावरणमें ऐसे भावोंकी रक्षा कैसे हो और कैसे आचरणमें इनका प्रयोग हो, जब कि एक पक्ष उन्मत्त होकर दूसरेको हर तरहसे कष्ट पहुँचाने और उसका अहित करनेपर उतारू है?' इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें तो किसीका अहित किसी दूसरेके द्वारा हो ही नहीं सकता। दूसरा निमित्त भले ही बने। पर इस सिद्धान्तको मानते हुए भी व्यवहारके क्षेत्रमें प्रतिपक्षके हितकी भावनासे, मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव यथासाध्य न आने देकर ऐसी अवस्थाका निर्माण करना चाहिये—ऐसी स्थिति पैदा कर देनी चाहिये, जिनमें उक्त पक्षको अपने असत् प्रयत्नमें सफलताकी आशा न रहे और वह निराश होकर उस बुरे प्रयत्नसे अपनेको अलग कर दे और ऐसा करनेमें बाहरसे यदि कहीं कठोर उपाय काममें लाने पड़ें तो कोई आपत्ति नहीं है। अवश्य ही उस समय दो बातोंका ध्यान रहे—जो कुछ किया जाय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए और भगवान्‌की सेवाके लिये किया जाय। उसमें कहीं भी द्वेष या रोष नहीं होना चाहिये। कहीं भी बदला लेनेकी या किसीको कष्ट पहुँचाकर सुखी होनेकी भावना नहीं होनी चाहिये। अर्जुनका महान् भीषण संग्राम-कर्म गीताके इसी सिद्धान्तपर स्थिर था। संग्राम था, बड़ा भीषण कर्म था; परंतु भगवान्‌की आज्ञा थी और अर्जुन भगवान्‌के आज्ञानुसार '**करिष्ये वचनं तव**' की प्रतिज्ञा करके बड़ी सावधानीके साथ अपनेको भगवान्‌का आज्ञाकारी सेवक मानकर ही संग्रामरूप कर्म कर रहे थे। इसीसे उनका वह कर्म भी भगवत्पूजन ही था।

भगवान्‌की निर्भ्रान्त आज्ञाके दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुनको आज्ञा करते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'भगवान्‌में लगाये हुए चित्तसे सब कर्मोंको मुझ भगवान्‌में निक्षेप करके आशा और ममताको छोड़कर तथा मनकी जलनको मिटाकर युद्ध कर।'

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'अतएव सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवत्प्रीतिका यह भाव समझमें न आ सके तो समाज तथा देशकी—समाज तथा देशके धर्मकी, जिससे समाज सुखी रह सकता है; रक्षाके लिये त्यागकी भावनासे किसीका बुरा चाहे बिना ही वीरत्वका बाना धारण करके अन्याय, अधर्म तथा अत्याचारको मिटानेके लिये अत्याचारीका बलपूर्वक सामना करना चाहिये। अन्याय और अत्याचारका कायरतापूर्वक सहन करना भी अपराध है। समाजके अच्छे पुरुष यदि यह अपराध करने लगें तो सारा समाज अत्याचारमय हो जा सकता है। अतएव अत्याचारका विरोध भगवान्‌की कृपाशक्ति पर विश्वास रखकर अवश्य करना चाहिये।

असलमें पापकर्म करनेवालेका पतन किसीको करना नहीं पड़ता। उसका पापरूप कर्म ही उसे गिरा देता है। परंतु जबतक किसीको समाजमें रहना है, तबतक समाजसेवाका उसपर दायित्व है और उस दायित्वकी रक्षाके लिये ही उसे पापकर्मका बलपूर्वक विरोध करना चाहिये और शीघ्र-से-शीघ्र उस पापका नाश होकर पापकर्मी विशुद्ध बन जाय—इस भावनासे उसे समुचित शिक्षा भी देनी चाहिये। घृणा पापसे करनी चाहिये, पापीसे नहीं। नाश पापका करना चाहिये, पापीका नहीं। उसे तो निष्पाप और विशुद्ध बनाना है सावधानीके साथ कड़वी दवा देकर! सम्भव है इस दवाके देनेमें वह आपको शत्रु समझे। पागल मनुष्य अत्यन्त स्नेहीको भी मार बैठता है, ऐसे ही आपपर भी वह प्रहार कर बैठे। परंतु आपको तो शान्त तथा सावधानीके साथ ही—अपनेको बचाते हुए—उसके प्रति उसे नीरोग करनेकी क्रिया करनी है। इसमें हित और प्रेमकी भावना होनेके कारण इससे भी जीवनमें सुख-शान्ति और पारमार्थिक लाभकी प्राप्ति होगी। हमारी तो यही भावना रहनी चाहिये कि सभी सुखी हों, सभी तन-मनसे नीरोग हों, सभी सदा मंगलोंका साक्षात्कार करें और दुःखका भाग किसीको भी न मिले।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

पाँच प्रकारके पुत्र

१—न्यासानुबन्धी—किसीको बहुत ईमानदार और अपना सुहृद् समझकर कोई अपने रुपये-पैसे, गहने, जमीन अथवा दूसरी वस्तुएँ धरोहरके रूपमें उसके पास रखता है। परंतु कुछ दिनों बाद रखनेवाला जब वापस माँगता है, तब उसे वह वस्तु नहीं मिलती। जिसके यहाँ रखी गयी थी वह बेईमानीसे उसे हड़प जाता है और रखकर जानेवालेको अँगूठा दिखा देता है। वह न्यासापहारक—धरोहर हजम करनेवाला कहलाता है। उसे इस पापके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति तो होती ही है, धरोहर वापस न पानेवाला आसक्तिवश धरोहरका धन वसूल करनेके लिये उसके यहाँ जन्म लेता है और उसे दुःख दे-देकर मर जाता है।

वह बहुत सुन्दर, गुणवान् और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे युक्त होता है। दिनोदिन बड़ी भक्ति दिखलाता है, बहुत प्यारा बोलता है, मधुर स्वभावका होता है; बोलनेमें बहुत चतुर और स्नेह बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकारकी संतानको पाकर माँ-बाप प्रसन्न हो जाते हैं। परंतु वह स्नेह दिखला-दिखलाकर खेलकी सामग्रियों, अच्छे-अच्छे कपड़ों-गहनों, बीमारियोंके बहाने चिकित्सा और ओषधियों आदिके द्वारा अपनी धरोहर वसूल करता रहता है और दारुण दुःख देकर छोटी ही आयुमें मर जाता है। पिता जब 'हाय-हाय' करके रोता है तब वह मानो यों कहकर हँसता है कि—'इसने पूर्वजन्ममें मेरा रखा हुआ धन हड़प लिया था, इससे मुझे बड़े-बड़े दुःख उठाकर मरना पड़ा था। आज मैं अपना वही धन लेकर जा रहा हूँ। कौन मेरा पिता है, मैं किसका पुत्र हूँ। अब यह पिशाचकी भाँति रोता और भटकता रहेगा।' इस प्रकार कहकर वह बार-बार हँसता है और जबतक अपनी धरोहर मिल नहीं जाती—वासना, आसक्ति और प्रतिहिंसाकी वृत्तिसे बार-बार पुत्रके रूपमें जन्म ले-लेकर उसे दुःख दे-देकर मरता है—

'दुःखं दत्त्वा प्रयात्येवं भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः।'

२-ऋणानुबन्धी—जो मनुष्य किसीसे कर्ज लेकर बेईमानी कर जाता है और चुकानेमें समर्थ होनेपर भी उसे चुकाता नहीं, ऋण देनेवाला अगले जन्मोंमें उसके यहाँ संतान होकर जन्म लेता है। वह जन्मसे ही निठुर और निर्दयी होता है। सदा कड़ुआ बोलता है; घरमें छीन-छीन अच्छी-अच्छी चीजें खा जाता है। रोकनेपर खीझकर गालियाँ बकता है, माँ-बापकी निन्दा करता है, हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न करनेवाले और डरा देनेवाले कठोर वचन बोलता है। जूआ खेलता है, चोरी करता है, लूट-लूटकर खाता है, लड़कपनसे ही मौज-शौक, बीमारी, सगाई, विवाह आदिमें खूब खर्च करवाता है। वह कहता है सब कुछ 'मेरा' ही है। पिता-माताको बोलने भी नहीं देता। बोलते हैं तो लातों-घूसों तथा लाठी-डंडोंसे उनकी खबर लेता है। पिता मर जाता है तब माताको इसी प्रकार दुःख देता है। श्राद्ध-दान आदि सत्कर्म कभी नहीं करता और इस प्रकार अपना ऋण

वसूल करता है। संसारमें ऐसे ही पुत्र पैदा होते हैं—

'एवंविधाश्च वै पुत्राः प्रभवन्ति महीतले।'

३-वैरानुबन्धी—पूर्वजन्ममें वैरभावसे किसीको दुःख पहुँचाया हो तो वह अपना बदला चुकानेके लिये इस जन्ममें पुत्र होकर पैदा होता है। वह लड़कपनसे ही माँ-बापके साथ वैरीका-सा आचरण करता है। खेल-ही-खेलमें पिता-माताको बुरी तरह मारकर हँसता हुआ भाग जाता है। यों बार-बार मारता है, नित्य-निरन्तर गुस्सेमें भरा हुआ उन्हें जली-कटी सुना-सुनाकर जलाता रहता है। सुखकी नींद कभी नहीं सोने देता। जबतक वे जीते हैं, तबतक दुःख-ही-दुःख देता है, प्रत्यक्ष वैरीका-सा बर्ताव करता है और अन्तमें वह दुष्टात्मा अपने पिता-माताको मारकर अपना बदला चुकाकर चला जाता है—

पितरं मारयित्वा च मातरं च ततः पुनः।
प्रयात्येवं स दुष्टात्मा पूर्ववैरानुभावतः॥

४- उपकारानुबन्धी—जिसका पूर्वजन्ममें सकामभावसे उपकार किया हो, जिसे सुख पहुँचाया हो, वह सुख देनेके लिये पुत्ररूपमें जन्म लेता है। ऐसा पुत्र बड़ा ही सुशील, प्रिय और सुखदायी होता है। वह जन्मसे लेकर बहुत बड़ी आयुतक माँ-बापको सुख देता है, उनका प्रिय कार्य करता है। भक्ति और स्नेहभरे वचनों तथा कार्योंसे संतुष्ट करता है। उनकी सेवा करता है। उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कराता है और दान-पुण्य करवाता है। माता-पिताके मरनेपर दुःखी होकर स्नेहवश रोता है और श्राद्ध-पिण्ड-दानादि सब क्रियाओंको श्रद्धापूर्वक करता है और अपना सारा जीवन उनकी कीर्ति-विस्तारमें लगाता है। वह पुत्र होकर इस प्रकार पिता-माताके संतोषार्थ ही सब कुछ करता है—

'पुत्रो भूत्वा महाप्राज्ञ अनेन विधिना किल।'

५—उदासीन—जो किसी प्रकारका भला-बुरा बदला चुकानेके लिये जन्म नहीं लेता, वह उदासीन पुत्र कहलाता है। वह न कुछ देता है, न लेता है, न किसीपर क्रोधित होता है और न तो संतोष प्रकाश करता है। उसकी सभी क्रियाएँ उदासीनकी तरह होती हैं। उसका सारा जीवन उदासीन भावमें ही बीतता है—

'उदासीनेन भावेन सदैव परिवर्तते।'

जैसे पूर्वजन्मोंका बदला चुकानेके लिये ये पुत्र होते हैं, वैसे ही अन्य सम्बन्धी आदि भी होते हैं—

यथा पुत्रस्तथा भार्या पिता माताथ बान्धवाः॥
भृत्याश्चान्ये समाख्याताः पशवस्तुरगास्तथा।
राजा महिष्यो दासाश्च ....॥

पुत्रकी तरह पत्नी, पिता, माता, बन्धु-बान्धव, नौकर, गौ, घोड़े, हाथी, भैंस और दास आदि भी पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देने और बदला चुकानेके लिये होते हैं।*

सत्कर्म करो, परंतु अभिमान न करो

मनुष्यके लिये उत्तम लोकोंमें जानेके सात बड़े भारी सुन्दर दरवाजे सत्पुरुषोंने बतलाये हैं, वे ये हैं—

१. अपने धर्मपालनके लिये सुखपूर्वक नाना प्रकारके कष्टोंको स्वीकार करना। यह तप है।

२. देश, काल और पात्रको देखकर सत्कारपूर्वक निष्कामभावसे अपनी वस्तु दूसरेको देना। यह दान है।

३. विषाद, कठोरता, चंचलता, व्यर्थचिन्तन, राग-द्वेष और मोह, वैर आदि कुविचारोंको चित्तसे हटाकर उसे परमात्मामें लगाना। यह शम है।

४. विषयोंके समीप होनेपर भी इन्द्रियोंको उनकी ओर जानेसे रोक रखना। यह दम है।

५. तन, मन, वचनसे बुरे कर्म करनेमें संकोच होना। यह लज्जा है।

६. मनमें छल, कपट या दम्भका अभाव होना। यह सरलता है।

७. बिना किसी भेदभावसे प्राणिमात्रके दुःखको देखकर हृदयका द्रवित हो जाना और उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये चेष्टा करना। यह दया है।

इन सातोंके करनेवाला पुरुष यदि इनके कारण अभिमान करता है तो उसके ये तप आदि गुण मानरूपी तमसे निष्फल होकर नष्ट हो जाते हैं!

जो मनुष्य श्रेष्ठ विद्या पढ़कर अपनेको ही पण्डित मानता है और अपनी विद्यासे दूसरेके यशको घटाता है, उसको उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती और उसकी

* श्रीसोमशर्मा और उनकी धर्मपत्नी सुमनाका संवाद। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय ११। १२)

पढ़ी हुई वह उत्तम ब्रह्म-विद्या उसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं कराती।

अध्ययन, मौन, अग्निहोत्र और यज्ञ—ये चार कर्म मनुष्यको भव-भयसे छुड़ानेवाले हैं, परंतु यदि यही अभिमानके साथ या मानकी प्राप्तिके लिये किये जायँ तो उलटे भय देनेवाले हो जाते हैं।

इसलिये कहीं सम्मान मिले तो फूल नहीं जाना चाहिये और अपमान हो तो संताप नहीं मानना चाहिये; क्योंकि संतलोग सदा संतोंको पूजते ही हैं और असंतोंमें संतबुद्धि आती नहीं।

'मैंने दान दिया है, मैंने इतने यज्ञ किये हैं, मैंने इतना पढ़ा है, मैंने ऐसे-ऐसे व्रत किये हैं, इस प्रकार जो अभिमान-भरी डीगें मारता हुआ ये कर्म करता है उसको यही कर्म शुभ फल न देकर उलटा भय देनेवाले हो जाते हैं।' इसलिये अभिमानका बिलकुल त्याग करना चाहिये (महाभारत)।

कुछ प्रश्नोंका उत्तर

एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं—

(१) रोग-संकटादिसे ग्रस्त हरिनाम जपनेवाले असफल संसारी मनुष्यके मनमें 'हरि भगवान् मुझे सुख-शान्ति प्रदान करें।' ऐसी भावना स्वाभाविक ही उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। परंतु ऐसी भावनासे हरिनामकी महिमा घट क्यों जाती है?

(२) जब हरि सभी शरणागत मनुष्योंका कल्याण करेंगे, तब एक कठिन-तपधारी तपस्वी महात्मा और एक-खुदापरस्त मुसलमान कसाईमें क्या अन्तर रहा?

(३) 'कल्याण' तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें मैंने बहुत बार पढ़ा कि जबतक कोई भी कामना मनमें रहती है या जबतक भगवान्की प्राप्तिके लिये ही भगवान्को नहीं खोजा जाता तबतक भगवान् नहीं मिलते। परंतु महाभारतादि ग्रन्थोंमें सकामभावसे आराधना करनेवालोंके सामने भी भगवान्का प्रकट होकर उन्हें वरदान देना सिद्ध है। इसका क्या रहस्य है?

(४) भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है कि मैं हृदयमें बैठकर सब कुछ करवाता हूँ, फिर जीव पाप-पुण्यका भोक्ता क्यों होता है? तथा बुरे-भले कर्म या किसी जीवका सुधार-बिगाड़ होना क्या अर्थ रखता है?

(५) हम हिंदू जिस गोमाताके एक रोमपतनसे अपनेको भ्रष्ट हुआ मानते हैं, उसी गोमाताको दूसरे श्रद्धाभक्तिसे ईश्वरके नामपर तड़पा-तड़पाकर वध करते हैं। इसमें पुण्य-पापका क्या निर्णय है?

(६) जो पूर्णरूपेण आस्तिकताके साथ अचल होकर परमात्माके शरण हो चुका है उसे आसन, माला या जपकी गिनती करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है?

(७) यह सिद्धान्त है कि शुद्ध अन्त:करण हुए बिना सिद्धि नहीं मिलती, फिर बुरे भावसे किये हुए मन्त्र-जप या भूत-प्रेतकी उपासनाका सिद्ध होना क्या झूठी कहानियाँ हैं?

(८) 'भगवन्नामांक' में लिखा है कि सांसारिक क्लेशकी निवृत्ति या सांसारिक सुख-शान्तिके लिये भगवान्का नाम लेना मूढ़ता है। कौड़ीके बदले हीरा फेंकनेवाले या चींटी मारनेके लिये तोप दागनेके समान है। भगवान् तो सबसे उच्च हैं। उनकी महिमा तो अपारसे भी अपार और अवर्णनीय है। परंतु जिस शुद्ध आस्तिकका भगवान्की प्रतीक्षामें सारा जीवन बीत जाय और जो असाधारण जप, तप, व्रत आदि करके हार गया हो तथा महारोगों और आपदाओंमें पड़ गया हो उसका क्या कारण समझना चाहिये। उसकी आस्तिकता, निष्कपटता और श्रद्धा-भक्तिपर जरा भी संदेह नहीं करना चाहिये।

इन आठों प्रश्नोंका उत्तर क्रमश: इस प्रकार है—

(१) श्रीहरिनामकी महिमा नहीं घटती। इस प्रकारकी भावना करनेवालेने भजनके मूल्यको कम समझा। जैसे कोई बहुमूल्य हीरेको दो-चार पैसोंकी चीजके बदलेमें किसीको बेच देता है वैसे ही हरिनामके बदलेमें रोग-संकटादिसे निवृत्ति चाहना है।

(२) ईश्वरकी यथार्थ शरण होनेके बाद कसाईपनका कार्य जीविकाका साधन नहीं बन सकता। शरणागत मनुष्य स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकता। परम पिता ईश्वरको अपनी संतानकी हत्या अभीष्ट नहीं होती। इसलिये जहाँ ऐसा कार्य होता है वहाँ शरणागतिमें ही कुछ गड़बड़ है। प्रभुके अनुकूल होना ही सच्ची शरणागति है। शरण होनेपर ईश्वर तपस्वी और कसाई दोनोंका उद्धार करते हैं।

(३) यह सत्य है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण कई लोगोंसे मिले थे; परंतु उनका वह मिलना सामान्य रूपमें था। सकामभाववालेको भी भगवान् मिल सकते हैं, परंतु तत्त्वको बिना जाने वह तत्काल मुक्तिदायक नहीं हो सकता। वह मिलना जिस कामके लिये होता है उसकी सिद्धि तत्काल हो जाती है। परंतु जो पुरुष भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌को भजता है उसे जब भगवान् मिलते हैं उसका तभी उद्धार हो जाता है। यही असली मिलना है। परंतु भगवान्‌का मिलना किसी तरह भी हो, वह उत्तम है। जिससे भगवान्‌को पहचाननेकी योग्यता हो जाती है, तत्त्व जाना जाता है और तत्त्व जानते ही वह मिलन मुक्तिदायक हो जाता है। भगवान् आतुरको भी उसकी आर्त प्रार्थनाके भावसे मिल सकते हैं।

(४) इसका यह मतलब नहीं है कि भगवान् पाप-पुण्य या भले-बुरे कर्म करवाते हैं। भगवान् तो जीवोंके स्वभावानुसार कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं। दिनके समस्त कार्य सूर्यके प्रकाशमें होते हैं। परंतु सूर्य किसीके पाप-पुण्यमें हेतु नहीं है। कर्ताके बन्धनमें कर्म प्रधान नहीं है, उसमें प्रधान भाव है। अपने-अपने स्वभावानुसार न्याययुक्त शास्त्रनियत कर्म करता हुआ कोई भी पुरुष पापसे नहीं बँधता। ईश्वरकी प्रेरणा न्यायानुकूल कर्म करनेके लिये ही होती है, पाप करानेके लिये नहीं। स्वार्थवश राग-द्वेषसे की हुई चेष्टा पुण्य-पापवाली होती है। इसीसे भगवान् आज्ञा देते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके भोगोंमें राग-द्वेष स्थित हैं, अतएव उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् तो राग-द्वेषरहित होकर स्वभावके अनुसार कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं। उनकी आज्ञाके अनुकूल या प्रतिकूल कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। इसीलिये वह सुख-दुःखका भोक्ता होता है और इसी कारण उसके राग-द्वेषयुक्त कर्म भले-बुरे माने जाते हैं।

(५) जो किसीकी आत्माको कष्ट पहुँचानेमें सर्वव्यापी समदृष्टि ईश्वरका प्रसन्न होना मानते हैं, उनकी यह मान्यता भूल मालूम होती है। ईश्वरके नामपर किसीको मारनेसे ईश्वरकी प्रसन्नता मानना न्यायसंगत नहीं है। जो न्याययुक्त नहीं, सो भूल है।

(६) परमात्माके शरणागतके लिये आसनोंकी कोई आवश्यकता नहीं। सिद्धको लोकसंग्रहके लिये और साधकको आलस्य-नाशके लिये आसनकी, संख्यामें भूल न होनेके लिये मालाकी और धोखा न होनेके लिये गिनतीकी आवश्यकता है।

(७) भूत-प्रेतादिकी उपासनासे प्राप्त सिद्धि तामसी सिद्धि है। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेके बाद तो अनिष्टरूप भूत-प्रेतादिकी उपासनाको ही स्थान नहीं रह जाता।

(८) पूर्वप्रारब्धका सम्बन्ध समझना चाहिये। अचल डटे रहकर श्रद्धा-भक्तिसे परमात्माका भजन करते रहना चाहिये। कर्मोंका भोग हो रहा है सो अच्छा ही हो रहा है। कष्ट-सहन और भजनसे बुरे संचितका नाश और अच्छे संचितकी वृद्धि हो रही है।

अन्तर्याग और बहिर्याग

पूजन दो प्रकारसे होता है—आन्तर और बाह्य। आन्तरमें समस्त क्रियाएँ मानसिक होती हैं और बाह्यमें सामग्रियोंद्वारा। आन्तरपूजनको अन्तर्याग और बाह्यपूजनको बहिर्याग कहते हैं। बहिर्यागकी साधनाका अभ्यास किये बिना अन्तर्याग होना अत्यन्त कठिन है। बहिर्यागके मुख्यतः पाँच अंग हैं—(१) जप, (२) होम, (३) तर्पण, (४) मार्जन और (५) ब्रह्मभोजन। महाशक्तिके किसी एक स्वरूपके बोधक मन्त्रका विधिवत् पुरश्चरणादि नियमानुसार जप करना, मन्त्र, जपकी दशांश संख्याका हविर्द्रव्योंद्वारा अग्निमें हवन करना, पंचद्रव्योंके उपयोगोंद्वारा अपने-अपने अधिकारके अनुसार संतर्पण करना और न्याय तथा सत्यके द्वारा कमाये हुए धनसे देवीके प्रसन्नार्थ सुयोग्य ब्राह्मणोंको भोजन कराना। इन पाँच अंगोंके द्वारा शक्ति-साधक जब शरीर और वाणीसे पूजन कर चुकता है, तब वह मानस-पूजा अथवा अन्तर्यागका अधिकारी होता है। अन्तर्यागके भी पाँच पटल हैं—(१) पटल, (२) पद्धति, (३) कर्म, (४) स्तुति और (५) नमस्कार। देवीके स्वरूपबोधक मन्त्रके अक्षरोंसे

पिण्डके नाड़ी-व्यूहमें विस्तारसहित भावनाका पटल बनाना। यानी मन्त्राक्षरोंद्वारा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्र-दलचक्रमें देवीके स्वरूपकी भावना करके चित्तको शक्ति-सम्पन्न करना पटल कहलाता है। उस मन्त्रपटलके द्वारा पंच अथवा षोडश उपचारोंसे हृदयादि पीठमें देवीका पूजन करना पद्धति कहलाती है। इस तरह नाड़ियोंमें और हृदयादि पीठ-स्थानोंमें पटल और पद्धतिकी रचना करनेके बाद विद्याके अर्थात् इष्ट मन्त्रके अक्षरोंद्वारा स्थूल देहपर कवचकी रचना करके, देवीके अनेक नामोंद्वारा पिण्डकी रक्षण-भावना करना वर्म अथवा कवच कहलाता है। इसके बाद देवीके मन्त्रकी स्मृति जाग्रत् रहे, ऐसे लघुस्तवी आदि रहस्यस्तोत्रके द्वारा देवीके गुण-गानको स्तुति कहते हैं और अनेक गुणोंमेंसे विशेष ध्यानमें रखनेयोग्य हजार गुणोंके बोधक नामोंद्वारा आन्तर भूमिकामें देवीको नमस्कार करना—ये पाँच अंग अन्तर्यागके हैं।

श्रीशुकदेवजी

एक समय महर्षि वेदव्यासकी विवाह करके गृहस्थधर्म-पालनकी इच्छा हुई। बहुत सोच-विचारकर वे जाबालि मुनिके पास गये और उनकी कल्याणमयी कन्या वटिकाके लिये उनसे प्रार्थना की। जाबालिने बड़े हर्षसे व्यासजीके साथ अपनी कन्याका विवाह कर दिया। महर्षि व्यास वानप्रस्थाश्रममें मैथुनधर्मका आचरण करते हुए वनमें रहने लगे। समयपर व्यासपत्नी गर्भवती हुई, शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी तरह व्यास-भार्याका गर्भ बढ़ने लगा। गर्भ बढ़ते-बढ़ते बारह वर्ष बीत गये, परंतु प्रसव नहीं हुआ। व्यासजीकी कुटियामें सर्वदा हरि-चर्चा हुआ करती थी। अपने ज्ञानकी विशेषतासे गर्भस्थ बालक जो कुछ सुनता सो स्मरण कर रखता। इस तरह उस बालकने गर्भमें ही सांग वेद, स्मृति, पुराण और सम्पूर्ण मुक्तिशास्त्रोंका अध्ययन कर लिया। वह गर्भमें ही दिन-रात स्वाध्याय किया करता। गर्भसे निकलनेके बाद बढ़ना चाहिये, इस बातकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

गर्भस्थ बालकके बहुत बढ़ जाने और प्रसव न होनेसे माताको बड़ी पीड़ा होने लगी। एक दिन भगवान् व्यासदेवने आश्चर्यचकित होकर बालकसे पूछा—'तू मेरी पत्नीकी कोखमें घुसा बैठा है सो कौन है? किसलिये बाहर नहीं निकलता? क्या गर्भिणीकी हत्या करना चाहता है?' गर्भने कहा, 'मैं राक्षस, पिशाच, देव, मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बकरी, मुर्गा सब कुछ बन सकता हूँ, क्योंकि मैं चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण कर आया हूँ, इसलिये यह कैसे बतलाऊँ कि मैं कौन हूँ? हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इस समय मैं मनुष्य होकर उदरमें आया हूँ। मैं किसी तरह भी गर्भसे बाहर नहीं निकलना चाहता। इस दुःखपूर्ण संसारमें सदासे भटकता हुआ अब मैं भवबन्धनसे छूटनेके लिये गर्भमें योगाभ्यास कर रहा हूँ। मैं यहींसे निश्चयरूपसे कल्याणरूप मोक्षमार्गमें जाऊँगा। द्विजश्रेष्ठ! जबतक जीव गर्भमें रहता है तबतक उसे ज्ञान, वैराग्य और पूर्वजन्मोंकी स्मृति बनी रहती है। गर्भसे निकलते ही भगवान्की मायाके स्पर्शमात्रसे उसके समस्त ज्ञान, वैराग्य छिप जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है, इसलिये मैं गर्भमें ही रहकर यहींसे सीधा मोक्षकी प्राप्ति करूँगा, मैं बाहर नहीं निकलना चाहता।' व्यासजीने कहा—'तुझपर वैष्णवी मायाका असर नहीं होगा, तू इस गर्भवासरूप घोर नरकसे निकलकर योगका आश्रय करके कल्याणके मार्गमें प्रवृत्त हो। मुझे अपना मुखकमल दिखला, जिससे मैं पितृ-ऋणसे मुक्त हो सकूँ।' गर्भने कहा, 'मुझपर मायाका असर नहीं होगा, इस बातके लिये यदि आप भगवान् वासुदेवकी जमानत दिला सकें तो मैं बाहर निकल सकता हूँ, अन्यथा नहीं।'

गर्भकी यह बात सुनकर व्यासदेव उसी समय द्वारिका गये और वहाँ भगवान् चक्रपाणिको अपनी सारी कष्ट-कहानी सुनायी! भक्ताधीन भगवान् जमानत देनेके लिये तुरंत उनके साथ हो लिये और व्यासजीके आश्रममें आकर गर्भस्थ बालकसे बोले, 'बालक! गर्भसे बाहर निकलनेपर तेरी माया नाश करनेकी जिम्मेवारी मैं लेता हूँ, तू शीघ्र निकलकर सर्वश्रेष्ठ कल्याणमार्गमें गमन कर!!'

भगवान्के वचन सुनते ही बालक गर्भसे बाहर आकर माता-पिताको प्रणामकर तुरंत वनकी ओर जाने लगा। प्रसव होनेपर बालक बारह वर्षका प्रायः जवान-

सा दीख पड़ता था। पुत्रको वन-गमन करते देखकर व्यासजी बोले—'पुत्र! घरमें रह, जिससे मैं तेरा जातकर्मादि संस्कार करूँ!' बालकने कहा—'मुनिवर! अनेक जन्मोंमें मेरे हजारों संस्कार हो चुके हैं, इन बन्धनकारी संस्कारोंने ही मुझे संसारसागरमें डाल रखा है!' बालककी यह बात सुनकर भगवान्‌ने व्यासजीसे कहा—'मुनिवर! आपका पुत्र शुककी तरह मधुर बोल रहा है, अतएव इस योगविद्याविचक्षण पुत्रका नाम 'शुक' रखिये। यह मोह-मायारहित शुक आपके घरमें नहीं रहेगा, इसे इच्छानुसार जाने दीजिये। इसपर अब आप स्नेह न बढ़ाइये। पुत्रमुख देखते ही आप पितृ-ऋणसे छूट गये हैं, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ , अब मुझे आज्ञा हो।' इतना कहकर भगवान् तो गरुड़पर सवार होकर द्वारिकाकी तरफ चल दिये। भगवान् व्यास फिर पुत्रको समझाने लगे। दोनोंमें इस प्रकार बातचीत हुई—

व्यास—गृहस्थधर्म त्यागनेवाले लोगोंके पितृ-वचन नष्ट होते हैं, जो पुत्र पिताके वचनोंके अनुसार नहीं चलता, वह नरकगामी होता है इसलिये पुत्र! तू मेरी बात मानकर घरमें रह!

शुक—आज मैं जैसे आपसे उत्पन्न हुआ हूँ, इसी प्रकार दूसरे जन्ममें आप कभी मुझसे उत्पन्न हो चुके हैं। पिता-पुत्रका नाता यों ही बदला करता है, कृपया मुझे आप तपोवनमें जानेसे न रोकिये!'

व्यास—जहाँ वेदोक्त संस्कारोंको पाकर मनुष्य मोक्षकी प्राप्ति कर सकता है, ऐसे ब्राह्मणकुलमें बहुत पुण्यसे जन्म होता है!

शुक—शुभकर्म किये बिना यदि संस्कारोंसे ही मुक्ति मिलती होती तो व्रतधारी ढोंगियोंकी भी मुक्ति होनी चाहिये थी!

व्यास—संस्कार किये हुए मनुष्य ही पहले ब्रह्मचारी, फिर गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और उसके बाद संन्यासी होकर मुक्ति पाते हैं।

शुक—यदि केवल ब्रह्मचर्यसे ही मुक्ति होती तो नपुंसक जरूर ही मुक्त हो जाते! गृहस्थमें मुक्ति होती तो फिर सारा जगत् ही मुक्त है! वनवासियोंकी मुक्ति होती तो फिर सब पशु क्यों नहीं मुक्त हो जाते? और यदि धनके त्यागमें ही मुक्ति हो तो दरिद्रोंकी सबसे पहले होनी चाहिये!

व्यास—सत्यमार्गपर चलनेवाले गृहस्थीका यह लोक और परलोक दोनों सधते हैं, यह बात तो मनु महाराज ही कहते हैं।

शुक—जो लोग घरकी रक्षासे सुरक्षित और बन्धु-बान्धवोंके बन्धनसे बँधे हैं, उन मोह-रोगियोंका सत्यमार्गपर रहना ही असम्भव है।

व्यास—वनवासमें मनुष्यको बड़ा कष्ट होता है, वहाँ नित्य-कर्म ही नहीं हो सकते, सारे दैव-पितृ-कर्म रुक जाते हैं, इसलिये घरमें रहना ही सुखकर है।

शुक—वनवासी महातपस्वी भावभावित मुनियोंको समस्त तपोंका फल आप ही मिल जाता है, उनको बुरा संग तो कभी मिलता ही नहीं, यही उनके लिये बड़ा सुख है।

व्यास—गृहस्थी पुरुषोंको अनेक प्रकारकी इकट्ठी की हुई सामग्री उन्हें इस लोक और परलोकमें बड़ा सुख देती है। यहाँ भोगसे सुख होता है और दान करनेसे परलोकमें सुख मिलता है!

शुक—अग्निसे सर्दी या चन्द्रमासे चाहे गरमी मिल जाय पर संसारमें परिग्रहसे किसीको न तो आजतक कभी सुख हुआ, न है और न होगा!

व्यास—सुन्दर पुण्यबलसे मनुष्य-शरीर मिलता है और मनुष्य-शरीर पाकर गृहस्थ-धर्मको जाननेवाला पुरुष क्या नहीं प्राप्त कर सकता?

शुक—जन्मके समय मनुष्य यदि ज्ञानसम्पन्न भी होता है तो जन्म होनेके बाद अपनी अवस्था देखकर वह ज्ञान भूल जाता है!

व्यास—पुत्र! संसारमें राखसे लिपटा गदहेकी तरह चिल्लानेवाला पुत्र भी लोगोंको सुख देनेवाला होता है।

शुक—संसारमें जो मनुष्य अपवित्र बालकोंका धूलमें खेलना देखकर और उनकी मीठी बोली सुनकर प्रसन्न होते हैं वे मूर्ख हैं!

व्यास—यमराजके यहाँ एक पुत् नामक महान् नरक है। पुत्रहीन मनुष्यको उसी नरकमें जाना पड़ता है। अतएव संसारमें रहकर पुत्र उत्पन्न करना चाहिये!

शुक—महामुने! यदि पुत्रसे ही सबको मुक्ति मिलती हो तो सूअर, कुत्ते और पतंगोंकी मुक्ति तो अवश्य हो जानी चाहिये!

व्यास—इस लोकमें पुत्रसे पितृ-ऋण, पौत्र देखनेसे देव-ऋण और प्रपौत्रके दर्शनसे मनुष्य समस्त ऋणोंसे मुक्त होता है।

शुक—गृध्रकी तो बहुत बड़ी आयु होती है। वह तो न मालूम कितने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रोंका मुख देखता है; परंतु उसकी मुक्ति तो नहीं होती!

इतना कहकर शुकदेव उसी समय वनको चले गये।

(स्कन्दपुराण)

भक्तका महत्त्व

एक बार देवर्षि नारदजीके मनमें यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'जगत्‌में सबसे महान् कौन है?' इसलिये वे सीधे भगवान् विष्णुके पास पहुँचे। उन्होंने सोचा कि 'सच्ची बात वहींसे मालूम होगी। क्योंकि भगवान् ही नित्य सत्य सर्वज्ञ हैं और वे अभिमानी पुरुषोंकी भाँति अपनी बड़ाई भी नहीं करेंगे; क्योंकि अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करना तो आत्महत्याके समान महापाप है। नारदजीने वैकुण्ठमें जाकर भगवान्‌से पूछा—'भगवन्! जगत्‌में सबसे बड़ा कौन है? यह बतानेकी कृपा कीजिये।' भगवान् नारदजीका भाव समझ गये और बोले—

पृथ्वी तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधिः
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।
तद् व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन खं
तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्॥

'पृथ्वी अत्यन्त विस्तारवाली है, परंतु वह समुद्रसे घिरी है; अतः वह भी बड़ी नहीं है। समुद्रको अगस्त्य मुनि पी गये, अतः वह भी बड़ा नहीं है। अगस्त्यजी महान् आकाशमें एक क्षुद्र जुगनूकी तरह चमकते हैं इससे वे भी बड़े नहीं हैं। आकाशको दैत्यराज बलिके यज्ञमें भगवान् वामनजीने एक पैरसे नाप लिया था, इसलिये वह भी बड़ा नहीं है। और भगवान्‌के पैर निरन्तर तुम्हारे (भक्त)-के चित्तमें रहते हैं, इससे वे भी बड़े नहीं हैं। बड़े हो तुम जिसने उन चरणोंको हृदयमें धारण कर रखा है। तुमसे (भक्तसे) बड़ा और कोई नहीं है।'

इससे भक्तका महत्त्व भलीभाँति प्रकट है; परंतु यह महत्त्व है इसी कारण कि उसके हृदय-देशमें भगवान्‌के मधुर मनोहर चरणारविन्द नित्य-निरन्तर निवास करते हैं। ऐसे भक्त जगत्‌में विरले ही होते हैं। भक्त कहलानेवाले तो लाखों मिलेंगे, परंतु भक्त कोई एक ही मिलेंगे। *'राम ते अधिक राम कर दासा'* अथवा 'भगवान् स्वयं भक्तकी चरण-धूलिकी चाहमें निरन्तर उनके पीछे-पीछे चलते हैं, **'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः'** के शास्त्र-प्रमाण देकर अपनेको भगवान्‌से भी बढ़कर सिद्ध करने और मान-सम्मान-सेवा-पूजा प्राप्त करनेवाले भक्त-नामधारियोंमें कितने वास्तविक भक्त हैं, यह बतलाना बहुत कठिन है।

सचमुच भक्त तो अपनेको भक्त मानता ही नहीं। नम्रता और विनयके खयालसे नहीं, भक्तोचित व्यवहारकी दृष्टिसे नहीं, सचमुच ही उसके मनमें यह स्पष्ट अनुभव होता है कि 'मैं भक्त नहीं हूँ। दीन, मलीन साधनहीनपर भी करुणामय भगवान् कृपा करते हैं—यह उनका महत्त्व है। मुझमें तो भक्तिका लेश भी नहीं है।' इसी अनुभूतिके कारण 'सूर' और 'तुलसी'-सरीखे महान् भक्त अपनी दशापर करुणामय भगवान्‌के सामने रो पड़ते हैं* और सच्चे हृदयसे अपने दैन्यकी घोषणा करते हैं। वे इसलिये ऐसा नहीं करते कि लोग

* लाज न लागत दास कहावत।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत॥
सकल संग तजि भजत जाहि मुनि, जप तप जाग बनावत।
मो-सम मंद महाखल पाँवर, कौन जतन तेहि पावत॥
हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥
जाकी सरन जाइ कोबिद दारुन त्रयताप बुझावत।
तहूँ गये मद मोह लोभ अति, सरगहुँ मिटत न सावत॥
भव-सरिता कहँ नाउ संत, यह कहि औरनि समुझावत।
हौं तिनसों हरि! परम बैर करि, तुम सों भलो मनावत॥

उन्हें अधिक विनयी समझकर उनकी पूजा करें; बल्कि वे ऐसा ही अनुभव करते हैं। यह भक्तिका आभूषण है। और ऐसे ही सच्चे भक्तोंसे जगत्‌की वास्तविक सेवा और विश्वका यथार्थ कल्याण होता है; क्योंकि भगवान्‌की कृपाशक्ति ऐसे ही **'निर्मानमोह'** सच्चे भक्तोंपर उतरती है।

ऐसे भक्तोंका संग ही असली सत्संग है। इनसे अपने-आप ही भगवद्भावकी स्फूर्ति होती है। भगवद्भावका अणु-परमाणुमें भी बहुत दूरतक विस्तार होता है और उससे सहज ही जगत्‌का कल्याण होता रहता है और वह भाव इतना सुदृढ़ तथा शक्तिसम्पन्न होता है कि अनन्तकालतक उसका नाश नहीं होता।

ऐसे भक्तोंका सम्मान भगवान्‌को प्रिय और अपमान भगवान्‌को अप्रिय है। वे और सारे अपराध क्षमा कर देते हैं, परंतु भक्तापराध सहजमें क्षमा नहीं करते। स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान् नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥
पूजिते भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि।
प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चापमानिते॥

भक्तोंको मारना, उनकी निन्दा करना, उनसे द्वेष करना, उनका यथायोग्य सम्मान न करना, उनपर क्रोध करना और उन्हें देखकर हर्षित न होना—ये छः पतन हैं।'

'जो मनुष्य भक्तका अपमान करता है, वह यदि सौ जन्मोंतक भी भगवान्‌की पूजा करे तो भी विश्वात्मा भगवान् उसपर प्रसन्न नहीं होते।'

ऐसे भक्तों—महात्माओंका चरण-रज-सेवन ही भक्ति अथवा भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(५। १२। १२)

महात्मा जडभरतजी कहते हैं—'रहूगण! वे ज्ञानस्वरूप

नाहिंन और ठौर मो कहँ, ताते हठि नातो लावत।
राखु सरन उदार-चूड़ामनि तुलसिदास गुन गावत॥

(विनय-पत्रिका—तुलसीदासजी)

हरे! आपका दास कहानेमें मुझे लाज भी नहीं आती। जो आचरण आपको अच्छा लगता है, उसे मैं निश्चिन्त होकर छोड़ देता हूँ (मुझे पश्चात्तापतक नहीं होता)। मुनिगण जिसे सब प्रकारकी आसक्तियोंको छोड़कर भजा करते हैं, जिसके लिये जप, तप और यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उस प्रभुको मुझ-जैसा मूर्ख, महान् दुष्ट और पामर प्राणी कैसे पा सकता है। श्रीहरि! आप परम विशुद्ध हैं और मेरा हृदय मलसे भरा है, मुझे यही असमंजस जान पड़ता है। जिस तालाबमें कौए, गीध, बगुले और सूअर बसते हैं, वहाँ हंस क्यों आने लगे। (मेरे काम, क्रोध, लोभ और मोहभरे मलिन हृदयमें आप क्यों आने लगे।) जिन (पावन तीर्थों एवं महात्माओं)-की शरणमें जाकर विद्वान् पुरुष सांसारिक तीनों तापोंको—दुःखकी त्रिविध अग्निको बुझा लेते हैं, मैं वहाँ भी जाता हूँ तो मुझे घमंड, मोह तथा लोभ और भी अधिक सताते हैं। सौतियाडाह तो स्वर्गमें भी नहीं छूटता। 'संसाररूपी नदीको पार करनेके लिये संत ही नौका हैं', यह कहकर मैं दूसरोंको समझाता हूँ, परंतु स्वयं उनसे बड़ी भारी शत्रुता करके आपसे अपना भला मनाता हूँ। ऐसा नालायक होनेपर भी उदार-चूड़ामणि राघवेन्द्र! मुझे कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं है, इसलिये मैं जबर्दस्ती आपसे ही सम्बन्ध जोड़ता फिरता हूँ। प्रभो! (इस नीचकी ओर न देखकर अपने दयालु स्वभावसे ही) आप इसको अपना लीजिये। यह तुलसीदास आपका गुण गा रहा है।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जो तनु दियो, ताहि बिसरायो, ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर बिषय को धायो, जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि, हरि-बिमुखन की निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतित को ठौर कहाँ है, तुम बिनु श्रीपति स्वामी॥

(सूरसागर—सूरदासजी)

श्रीपति स्वामी! मेरे समान कुटिल, दुष्ट और कामी और कौन है। जिसने (अकारण कृपा करके यह दुर्लभ) मनुष्य-शरीर दिया, उसीको भूल गया हूँ। ऐसा नमकहरामी हूँ। खूब पेट भर-भरकर खाता हूँ और गाँवके सूअरकी भाँति विषय-भोगोंके लिये मारा-मारा फिरता हूँ। भक्तोंका संग त्यागकर भगवद्विमुख लोगोंकी गुलामीमें रात-दिन लगा रहता हूँ। इस जगत्‌में भला मुझसे बड़ा पापी और कौन होगा। मैं तो सारे पापियोंमें सरनाम हूँ। परंतु नाथ! इस 'सूर' पतितको तुम्हारे सिवा और कहाँ ठौर है।

भगवान् महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा—दीनसेवा आदि गृहस्थोचित कर्म, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि और सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकते।'

भक्तराज प्रह्लादजीने अपने सहपाठी दैत्य-बालकोंको विशुद्ध भागवत-धर्मका मर्म बतलाकर कहा—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ७। ६। २७)

'यह ज्ञान उन्हीं लोगोंको प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने भगवान्‌के अनन्य प्रेमी और अकिंचन भक्तोंकी चरणारविन्द-धूलिसे अपने देहको सराबोर कर दिया है।' महाराज युधिष्ठिरने भक्तप्रवर विदुरजीसे कहा है—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

'आप-जैसे भगवान्‌के भक्त स्वयं ही तीर्थरूप हैं। आपलोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्‌के द्वारा तीर्थोंको भी महान् तीर्थ बनाते हुए विचरा करते हैं।'

अपने साधुहृदय भक्तोंके संगकी महिमा वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

'जगत्‌की समस्त आसक्तियोंको नष्ट करनेवाले सत्संगसे मैं जैसा वशमें होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त कर्म और दक्षिणा आदिसे नहीं होता। यहाँतक कि व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संगके समान मुझको वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं।'

उपर्युक्त अवतरणोंसे भक्तोंका कुछ महत्त्व समझमें आया होगा, परंतु सचमुच ही ऐसे भक्त विरले ही होते हैं।

आजकल तो भक्तोंका बाजार लगा है। कौन कैसा है, जानना-पहचानना बड़ा ही कठिन है। असलमें कलियुगका प्रभाव ही ऐसा है कि लोग अपनी भोगेच्छाकी सिद्धिके लिये जिस क्षेत्रको और जिस वेषको सफल साधन समझते हैं, उसीको अपना लेते हैं। इसीसे आज ऐसा कोई भी आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र नहीं, जहाँ ऐसे लोगोंकी भरमार न हो। इस भक्तिके क्षेत्रमें भी आज ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है, जो किसी-न-किसी प्रकारसे अपनेको भक्त सिद्ध करके, भगवान्‌के पवित्र स्थानपर अपने विषय-विलासरत, भोग-विभ्रमपरायण व्यक्तित्वको लाकर बैठा देना चाहते हैं और भोले लोगोंकी श्रद्धा-भक्तिका दुरुपयोग कर भगवान्‌को धोखा देनेकी चेष्टा करके स्वयं धोखा खा रहे हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रहे हैं; परंतु ऐसे लोगोंसे भोले साधकोंका बड़ा नुकसान होता है।

यह सत्य है कि किसी साधकका अनन्य लक्ष्य यदि केवल भगवत्प्राप्ति हो और वह धोखेमें आकर किसी दम्भी अभक्तको भी भक्त मानकर उसका श्रद्धापूर्वक सेवन करे तो उसके निर्मल हृदय, निष्कपट श्रद्धा और परमश्रेष्ठ अनन्य उद्देश्यको देखकर अन्तर्यामी सर्वसमर्थ प्रभु उसे बचा लेते हैं। इतना ही नहीं, उसे सरलहृदय साधक मानकर सच्ची राह बतलाते और अपनी कृपाशक्तिसे ही अपनी ओर खींच ले जाते हैं। दम्भी अभक्तके संगसे उसका पतन नहीं होता। बल्कि कहीं-कहीं तो दम्भी गुरुका भी ऐसे निर्मल हृदय परम श्रद्धालु शिष्यके संगसे निस्तार हो जाता है; परंतु ऐसा बहुत कम हुआ करता है। परम श्रद्धालु और अनन्य लक्ष्यवाले साधक कोई-कोई ही होते हैं। अधिकांश तो ऐसे होते हैं, जो संसारका भी सुख चाहते हैं—साथ ही भगवत्प्राप्तिकी भी कुछ इच्छा रखते हैं। ऐसा मध्यम श्रेणीका पुरुष यदि दम्भी विषयासक्त पुरुषको सच्चा भक्त मानकर उसमें श्रद्धा करने लगता है तो उसकी विषयासक्तिका असर उसपर भी हो जाता है और वह भी धीरे-धीरे उस दम्भी विषयासक्त पुरुषके साथ विषय-सेवन करनेमें प्रवृत्त होकर पापजीवन बन जाता है। फिर उसके मनसे भगवत्प्राप्तिकी रही-सही इच्छा भी मिट जाती है और वह साधारण विषयी पुरुषसे भी अधिक भयानक भेड़के रूपमें भेड़िया बनकर जगत्‌में पाप-तापका विस्तार करता है और स्वयं भी अपने

दम्भी गुरुके साथ भीषण नरकयन्त्रणाको प्राप्त होता है।

ऐसी स्थितिमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छावाले सरलहृदय साधकोंको बड़ी सावधानीके साथ अपना मार्ग निश्चय करना चाहिये और एकमात्र श्रीभगवान्‌का ही सीधा आश्रय लेकर उन्हींसे करुण प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् सच्ची प्रार्थनाको सुनेंगे और उसके लिये किसी सच्चे पथप्रदर्शक भक्त या संत पुरुषकी सुन्दर व्यवस्था कर देंगे। यहाँतक कि आवश्यकता होनेपर स्वयं ही संत, भक्त या पथ-प्रदर्शकके रूपमें प्रकट होकर उसका जीवनसूत्र अपने हाथोंमें लेकर उसे अपनी भक्तिके मार्गपर ले चलेंगे। बस, होनी चाहिये सच्ची इच्छा और सच्ची प्रार्थना।

स्वाधीनता या स्वराज्य

स्वाधीनता आत्माका स्वभाव है, इसलिये सभी जीव परतन्त्रतासे घबराते हैं और स्वतन्त्रता चाहते हैं। परतन्त्रताको दुःख और स्वतन्त्रताको ही सुख बतलाया गया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

परंतु विचार इस बातका करना है कि वास्तविक पराधीनताका स्वरूप क्या है? शास्त्रके नियमोंकी, धर्मकी, राजाकी, माता-पिताकी, गुरुकी, स्वामीकी और सत्यादि सद्‌गुणोंकी परतन्त्रता यानी इनके वशमें रहकर इनके आज्ञानुसार जीवनयापन करना पराधीनता है या इनसे सर्वथा स्वतन्त्र होकर मन-इन्द्रियोंकी अधीनतामें यथेच्छ आचरण करना पराधीनता है। असलमें 'पर' क्या है, इसपर विचार करना है। अवश्य ही अत्याचारपरायण स्वेच्छाचारी राजा 'पर' है, संतान और शिष्यका अहित चाहनेवाले माता-पिता और गुरु भी 'पर' हैं, स्वार्थी स्वामी भी 'पर' है और अन्यायाचरणमें प्रवृत्त करानेवाला धर्म-नामधारी मत-विशेष भी 'पर' है। इनका विरोध करना और इनकी वशतासे मुक्त होना आवश्यक भी है और ऐसा होता भी आया है। 'वेन' और 'कंस' सरीखे राजाओंका विरोध और उनका विनाश धर्मसंगत माना गया। हिरण्यकशिपु-से पिता और कैकेयी-सी माता तथा शुक्राचार्य-से गुरुकी बात भी नहीं मानी गयी। अधर्मपरायण भगवद्विमुख स्वामियोंका भी त्याग किया गया और अधर्ममूलक मतोंका भी बहिष्कार करना पड़ा, तथा ऐसा करना उचित भी था। इसीसे तुलसीदासजीने गाया—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य, प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

यह सब सत्य होनेपर भी असलमें ये ही 'पर' नहीं हैं। 'पर' तो हैं हमारे अन्तःकरणकी मलिन वासनाएँ, भोगकामनाएँ और विविध प्रकारके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, वैर, हिंसा, दम्भ, द्रोह, अभिमान स्वार्थ, अधिकारलोलुपता, आसक्ति और ममता आदि मानसिक दोष। इन दोषोंकी उत्पत्ति अज्ञानसे है और अज्ञानका कारण है 'प्रकृति-परवशता।'

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३।२१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेका कारण है।'

यह ऐसी परवशता है, जिसके कारण बिना इच्छा भी भाँति-भाँतिकी योनियोंमें भटकना और प्रारब्धानुसार सुख-दुःखोंका भोग बाध्य होकर करना पड़ता है। मनुष्य जबतक इस प्रकृतिके दासत्वसे नहीं छूट जाता, तबतक उसकी आत्माको स्वराज्य नहीं मिल सकता, वह सच्ची स्वाधीनता नहीं प्राप्त कर सकता। हमारा मन, शरीर और इन्द्रियाँ—ये सभी, यदि हमारे वशमें नहीं हैं तो हमारे 'स्व' के प्रतिद्वन्द्वी हैं—विरोधी हैं। आजकल जो यह कहा जाता है कि 'हम किसीके भी अधीन नहीं रहेंगे, किसी भी नियमके बन्धनमें नहीं रहेंगे; केवल अपनी अबाध असंयत प्रवृत्तियोंके अधीन रहेंगे, अपने मन-इन्द्रियोंकी इच्छाका अनुसरण करेंगे।'

यही पराधीनता है और ऐसा माननेवाले ही वस्तुतः पूरे पराधीन हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाजबद्ध होकर रहनेमें सभीको कुछ-न-कुछ परतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ती है। परंतु मनुष्यके यथेच्छाचारी हो जानेपर समाजकी यह शृंखला टूट जाती है और फलतः दुःख-ही-दुःख आ जाते हैं। स्वाधीनताके इस विकृत स्वरूप यथेच्छाचारका ही यह फल है कि आज कहीं भी व्यवस्था या अनुशासनका सम्मान नहीं है। पिता-पुत्रमें, माँ-बेटीमें, गुरु-शिष्यमें, राजा-प्रजामें, मालिक-नौकरमें, पति-पत्नीमें, सास-पतोहूमें और भाई-भाईमें अनवरत मनोमालिन्य और असद्भाव पैदा हो गया है। इसीसे आज राष्ट्रगत, समाजगत, परिवारगत और व्यक्तिगत सब प्रकारकी सुख-शान्ति नष्ट होती जा रही है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६। २३)

'जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको छोड़कर मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न सुखको ही और न (मरनेके बाद) परम गतिको ही।'

शास्त्रके किसी भी नियन्त्रणको न माननेवाले मनुष्यकी मन-इन्द्रियाँ सर्वथा अनियन्त्रित और निरंकुश हो जाती हैं। उसका चित्त असंयत कामना-वासनाकी क्रीड़ास्थली बन जाता है और उनके वशमें होकर वह नाना प्रकारसे लोभ-मोह, वैर-विरोध, दम्भ-दर्प और द्वेष-हिंसाकी क्रियाएँ करता है। इससे उसको जीवनमें कभी भी निर्बाध और सत्य सिद्धि नहीं मिलती। वह प्राणपणसे चेष्टा करके जिस सिद्धिको प्राप्त करता है, वही असिद्धिके रूपमें परिणत हो जाती है; क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया ही होती है कामना-लोभ और क्रोध-वैरको लेकर। ऐसे 'काम-क्रोधपरायण' पुरुषके बाहरी शत्रुओंका कभी अभाव नहीं होता। वह किसी भी स्थितिको क्यों न प्राप्त कर ले, वहीं उसके प्रतिद्वन्द्वी, उसके वैरी, उसके मार्गमें विघ्न पैदा करनेवाले तैयार रहते हैं और साथ ही उसकी दुर्दमनीय लोभ-वृत्ति उसे किसी भी स्थितिमें संतुष्ट नहीं होने देती। फलतः वह निरन्तर मानसिक शत्रुओंके परवश होकर ऐसी क्रियाएँ करता रहता है, जिससे बाहरके शत्रु सदा ही बढ़ते रहते हैं। इससे उसको जीवनमें कभी सुख नहीं होता और जीवनभर उद्दाम कामनाके वशमें होकर न्यायान्याय—धर्माधर्म-विचारसे रहित यथेच्छाचरण करनेवालेको परम गति तो मिल ही कैसे सकती है? इसीसे भगवान् कहते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १८—२०)

'अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध आदिका आश्रय लिये हुए, दूसरोंके गुणोंमें दोषारोपण करनेवाले और अपने तथा दूसरोंके शरीरोंमें स्थित मुझ (भगवान्)-से द्वेष करनेवाले ऐसे उन द्वेषयुक्त पापकर्मा, निर्दयी नराधमोंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं। मुझको न पाकर उस (आसुरी योनि)-से भी और अति नीच गति (घोर नरकादि)-को प्राप्त होते हैं।'

आज शान्तिप्रिय सुकोमल-मति भारतीय तरुण-वर्गके मनमें स्वाधीनताके जिस उद्दाम-भावका उदय हुआ है, उसका भारतवासियोंको गर्व होना चाहिये। देशके युवकोंमें ऐसी लहरका बह जाना बड़े-से-बड़े त्याग-तपकी और उसके फलस्वरूप महान् सुफलकी पूर्वसूचना मानी जा सकती है, परंतु भयकी बात इतनी ही है कि दूसरोंकी देखा-देखी स्वाधीनताका अर्थ यदि अनुशासनशून्यता, उच्छृंखलता, स्वार्थपूर्ण अधिकारप्रियता, मनमाना आचरण या मन-इन्द्रियोंकी दासता हो गया तो उसका फल कभी शुभ नहीं होगा!

सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करनेका और उसके फलस्वरूप सब दुःखोंके नाश करनेवाले प्रसादको प्राप्त करनेका उपाय भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(२। ६४-६५)

'अन्तःकरणको जिसने अपने वशमें कर लिया है,

ऐसा पुरुष राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा जब विषयोंका सेवन करता है, तब वह प्रसादको प्राप्त होता है और उस प्रसादके प्राप्त होनेपर उसके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है।'

यही सच्ची स्वाधीनता है। सच्ची बात तो यह है कि हमलोग किसी दूसरेके दास नहीं हैं। शरीर परतन्त्र रहनेपर भी यदि हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ तथा मानसिक वासनाएँ हमारे अधीन हैं तो हम स्वाधीन ही हैं। ऐसी स्थितिमें शारीरिक पराधीनताका नाश करना बहुत सहज है। परंतु मन-इन्द्रियोंकी और कामना-वासनाओंकी गुलामी तो ऐसी चीज है कि इनके रहते शारीरिक और वैधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनेपर भी मनुष्य कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता और कभी सच्चे स्वराज्य-सुखका उपभोग नहीं कर सकता। अतएव आत्माकी अपार शक्ति और नित्य विशुद्धिको समझकर बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके मन-इन्द्रियोंमें रहनेवाले इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मारना चाहिये।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४३)

ऐसा करनेसे ही असली स्वाधीनता प्राप्त होगी। भारतवर्ष इस समय वैधानिक या शारीरिक स्वतन्त्रता—स्वराज्यकी गौरवमयी प्राप्ति कर चुका है। यह बड़े आनन्दकी बात है। परंतु यहाँ बहुत बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। हमारी यह स्वाधीनता केवल शरीरतक ही सीमित न रहे। भगवान्‌को आश्रय बनाकर हम यदि इस स्वाधीनताको—इस स्वराज्यको आत्माका स्वराज्य बना सकें, मन-इन्द्रियोंकी उद्दाम असंयम प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करके उनके दासत्वसे छूट सकें, तभी हमारा वह स्वराज्य परम आदर्श होगा और लोक-परलोक दोनोंमें कल्याणकारक होगा। भारतीय स्वराज्य या रामराज्यका यही स्वरूप है।

विनाशके पथपर

एक सज्जन बड़ी ही करुणापूर्ण भाषामें पढ़े-लिखे युवक-युवतियोंमें फैलते हुए व्यभिचारकी चर्चा करते हुए इस पापसे समाजके बचनेका उपाय पूछते हैं। आप लिखते हैं 'हमारा पतन हो गया। हमारे राम-लक्ष्मण और भीष्मार्जुनका आदर्श आज नष्ट हो गया। सीता-सावित्रीका नाम लेते जी काँपता है; हमारी जबान उनका नाम लेने लायक नहीं रही।....... दूसरे प्रान्तोंका तो मुझे पता नहीं; परंतु हमारे यहाँ जो कुछ हो रहा है, उसे देख-सुनकर दिलके टूक-टूक हुए जा रहे हैं। मेरी आँखोंसे आँसू कभी सूखते नहीं।....... धर्मका खयाल जाता रहा, विवाहका बखेड़ा क्यों किया जाय यह भाव बढ़ रहा है, जवान लड़कियोंमें भी यह भाव फैल रहा है। कॉलेज युवक-युवतियोंके परस्परके आकर्षणके केन्द्र हैं और सिनेमा या सिनेमाका बहाना मिलनका। उच्छृंखलता बढ़ रही है। अनेकों क्वाँरी लड़कियाँ गर्भवती हो रही हैं, भ्रूण-हत्याएँ भी होती हैं। आजकल संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके सहज हो जानेसे तो अनर्थ और भी बढ़ गया है। अब तो कोई डर ही नहीं रहा। चारों ओर स्वतन्त्रताके नामपर मर्यादाके नाशका नंगा नाच हो रहा है। अदूरदर्शी जवान लड़के और लड़कियाँ मनमानी कर रहे हैं, भागने-भगानेकी वारदातें भी बढ़ रही हैं। क्या-क्या लिखूँ, एक-एक घटनाके लिये हृदयमें आग सुलग रही है।...... ऐसा कोई उपाय बतलाइये, जिससे यह पापका प्रवाह रुके। समाजमें यह पाप घर कर गया है, ऊपरसे नहीं मालूम होता; परंतु अंदरकी हालत बहुत ही बुरी है।.......'।

पता नहीं पत्रलेखक महोदयका कथन कहाँतक सत्य है; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें आंशिक सत्यता तो अवश्य ही है। कुछ अतिशयोक्ति भले ही हो। ये भाई बहुत ही दुःखी मालूम होते हैं, सम्भव है किसी घटनाका इनपर असर पड़ा हो। मैं इस बारेमें कुछ लिखना नहीं चाहता था, परंतु इन्होंने बहुत ही आग्रहपूर्वक आज्ञा दी है, इसलिये लिखना पड़ता है। वास्तवमें आज हमारे नौजवानोंकी दशा बहुत ही शोचनीय हो रही है। विचार करनेपर इस बुराईमें मुख्यतया निम्नलिखित कारण जान पड़ते हैं—

१-स्कूल-कॉलेजोंकी धर्महीन पढ़ाई।

२-यूरोपीय सभ्यता-संस्कृतिका प्रभाव।

३-स्कूल-कॉलेजोंमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ाया जाना।

४-युवती-विवाह।
५-सिनेमाओंका बढ़ता हुआ प्रचार।
६-विलासिता, फैशन, आरामतलबी और आलस्य।
७-शारीरिक सौन्दर्यका महत्त्व और रूपप्रतियोगिताका प्रचार।
८-सभी बातोंमें स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता और समानताका दावा।
९-संतान-निरोधके कृत्रिम उपायोंका प्रचार।
१०-सुधारोन्मत्तता।

अब इनपर संक्षेपमें कुछ विचार करें।

भारतवर्षका प्राण धर्म है, धर्मज्ञान ही शिक्षाका मुख्य विषय है, धर्मज्ञानहीन मनुष्य आर्यसभ्यतामें पशु माना जाता है। परंतु आजकी शिक्षामें धर्मका कहीं नामनिशान भी नहीं है। केवल अर्थकरी विद्या वास्तविक विद्या नहीं है। फिर आज तो यह विद्या अर्थकरी भी नहीं रह गयी। विश्वविद्यालयोंसे प्रत्येक वर्ष लाखों विद्यार्थी डिग्रियाँ पाकर निकलते हैं और फिर उन्हें कहीं नौकरी भी नहीं मिलती। वर्तमान शिक्षाक्रम तो इस दृष्टिसे भी लाभदायक सिद्ध नहीं हो रहा है। धर्मको तो इस शिक्षाक्रमने उड़ा ही दिया है। इस शिक्षाका ही यह परिणाम है कि आज धर्मके नामसे भी पढ़े-लिखे होनेका अभिमान करनेवाले लोग-नाक-भौं सिकोड़ते हैं। जहाँ धर्मभाव लुप्त होगा, वहाँ संयम नहीं रहेगा और संयमके नाशसे व्यभिचार फैलेगा ही!

वर्तमान शिक्षाका एक बहुत बुरा परिणाम यह हुआ है कि भारतवासियोंकी अपने पूर्वपुरुष, अपने साहित्य, अपनी सभ्यता और संस्कृति एवं अपनी सारी त्यागमयी जीवन प्रणालीके प्रति अश्रद्धा हो गयी है। देशकी गुलामी इस मनकी गुलामीसे कहीं कम खतरनाक होती है। शारीरिक परतन्त्रता प्रयाससे सहज छूट सकती है, परंतु इस मानसिक परतन्त्रताका छूटना शारीरिक स्वतन्त्रताकी हालतमें भी बहुत कठिन है। भारतवासियोंने अपना मन पाश्चात्त्य संस्कृतिके हाथों बेच दिया। इसीसे आज बात-बातमें हमें उनकी सभ्यता अच्छी लगती है। उनके साहित्यपर हमारी श्रद्धा बढ़ रही है; उनके महात्माओंको ही हम वास्तविक महात्मा मानते हैं, हमारे धर्मग्रन्थोंकी बात भी यदि उनकी वाणीसे या कलमसे परिष्कृत होकर (बिगड़कर) हमें मिलती है तो हम उसे मान लेते हैं। अपना मस्तिष्क तो हमने उनकी गुलामीके लिये सौंप दिया। परिणाम यह हुआ रीति-नीति, वेश-भूषा, बोल-चाल, विवाह-शादी, व्यवहार-बर्ताव सभी बातोंमें आज हम उनकी नकल करनेमें ही अपनेको धन्य समझते हैं। पुरानी चालके मनुष्योंको तो अन्धविश्वासी बतलाया जाता है; परंतु आजकल पाश्चात्त्योंकी यह अन्ध-नकल इतनी बढ़ गयी है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं रही। महात्मा गाँधीजीके प्रभावसे वेश-भूषामें कुछ सादगी या भारतीयता आयी थी, परंतु मन तो अभी उसी ओर खिंचे चले जा रहे हैं। इस संस्कृतिका प्रभाव हमारे नौजवानोंपर सबसे अधिक पड़ा। कारण स्पष्ट है; होश सँभलते ही स्कूलोंमें गये और वहाँके नौजवान गुरु—मास्टरोंसे—जिनमेंसे अधिकांश अपना मन और मस्तिष्क बहुत अंशमें पाश्चात्त्य संस्कृतिको अर्पण कर चुके हैं—वैसी ही शिक्षा मिली। फिर कॉलेजमें भरती हुए; धर्मग्रन्थोंका कहीं अक्षर भी पढ़नेको नहीं मिला। यदि कहीं मिला तो वह पाश्चात्त्य और पाश्चात्त्य सभ्यताके भक्त, विद्वानोंके द्वारा विकृत किया हुआ। धर्मज्ञान प्राप्त ही नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि इन्हें पुराना सोना भी लोहा दीखने लगा। पुराने गुलाबमें भी नाबदानकी बदबू आने लगी, क्योंकि दृष्टि और नाक ही बदल गयी। इसीका परिणाम आज हमारी लड़कियोंपर भी पड़ रहा है और पढ़-लिखकर वे भी उसी साँचेमें ढल रही हैं। इस सभ्यताके प्रभावके कारण धर्म, लज्जा, शील-मर्यादा, भोगोंसे वैराग्य, परमार्थसाधन आदि बातें मनोंमेंसे निकल गयीं; व्यभिचारवृद्धिमें यह भी एक प्रधान कारण है!

बालविवाहसे समाजकी हानि हुई और होती है, परंतु उस बालविवाहका परिवर्तन जिस 'युवतीविवाह' और 'विवाहकी अनावश्यकता' के रूपमें हो रहा है, यह तो और भी भयंकर है। बालविवाहमें बुराई थी और है, बालविवाहकी प्रथाका बहुत दुरुपयोग हुआ और अब भी हो रहा है, इसलिये उसका निषेध आवश्यक था और अब भी है। परंतु उसमें एक बड़ा भारी लाभ अन्तर्हित था जो अब नष्ट हो रहा है। हिंदूधर्मके अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। दो आत्माओंका परस्पर सात्त्विक मिलन है। उसमें कामवासनाको स्थान नहीं है। वहाँ धर्म है, रूपपर मोह नहीं है। इसी उद्देश्यसे लड़के और लड़कियोंके माता-पिता और अभिभावक अपने कुल, धर्म और आचारके अनुकूल

घर ढूँढ़कर सम्बन्ध करते थे। उसमें लड़के और लड़कियोंकी उम्र, स्वभाव आदि तो अवश्य ही देखे जाते थे। यहाँतक कि बालकोंके माता-पितातकके स्वभावका पता लगाया जाता था और परीक्षा की जाती थी। दोनोंका जीवन सुखमय रहे, इस बातके लिये पूरा ध्यान रखा जाता था। अवश्य ही दहेजकी प्रथाका विकृत रूप हो जानेसे तथा अन्य कई कारणोंसे माता-पिताद्वारा वर-कन्याके चुनावमें दोष आ गये तथापि वह लाभ तो बहुत अंशमें था ही। जिस दिन सगाई हुई और लड़के-लड़कियोंको इस बातका जब पता लगा तभीसे उनका परस्पर स्नेहसूत्र बँध जाता था। ममत्व बढ़ता जाता था। यह निश्चय उन दोनोंके मनमें हो ही जाता था, हम दोनों पति-पत्नी हो गये। अतएव प्रेम बढ़ता था और किसी कारणसे दूसरी किसी ओर देखनेकी गुंजाइश बहुत ही कम हो जाती थी। कोर्टशिपकी कल्पना भी उनके मन नहीं आने पाती थी। इस प्रकार माता-पिताद्वारा किये जानेवाले निश्चित सम्बन्धमें उच्छृंखलता और रूपपर मोहको स्थान नहीं था। भूल वहाँ भी होती थी, परंतु बच्चोंके भावी हितकी चिन्तामें लगे हुए माता-पिता आदि अभिभावकगण किसी आवेगके वशमें न होकर शान्तचित्तसे निर्णय करते थे। उन्हें अपने कर्तव्यका खयाल रहता था। उनके अंदर सब तरहसे 'बराबरकी जोड़ी' ढूँढ़नेकी एक सुन्दर पवित्र भावना काम करती थी। इससे उनके निर्णयमें भूल कम होती थी। परंतु जवान उम्रमें पहुँचे हुए युवक-युवती भाँति-भाँतिके आवेगोंके वशमें होकर आवेशवश जो परस्पर चुनाव करते हैं, उसमें बड़ी भारी भूल हो जानेकी सम्भावना है। भूलें भी होती हैं, जिनके परिणाममें या तो उनका जीवन मृत्युकालपर्यन्त दु:खी रहता है अथवा उन्हें तलाकका मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है। मेरी समझमें 'कोर्टशिप' जाती पसंदगी' की प्रथाने ही तलाकके कानूनकी सृष्टि की है। यहाँ भी यही दशा रही तो तलाकका पाप-ताण्डव होगा ही। अस्तु, लड़कोंका बड़ी उम्रमें विवाह करनेकी चर्चाने ज्यों जोर पकड़ा, त्यों ही लड़कियोंके लिये भी ऐसा ही विचार आने लगा। लड़कियाँ भी युवती होनेतक कुमारी रहने लगीं। इसीका परिणाम यह हुआ जिससे हमारे पत्रलेखक भाई आज दु:खके आँसू बहा रहे हैं।

उच्च शिक्षा-प्रचारके लिये तो पुकार मची ही हुई थी। लड़कोंके साथ ही उदार महानुभावोंकी शुद्ध भावनाके दानसे और प्रचारकोंकी सदिच्छासे लड़कियोंको उच्च शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था हुई। उच्च शिक्षासे तात्पर्य बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियोंसे ही है। इसके लिये लड़कियाँ भी कॉलेज जाने लगीं। धर्महीन पढ़ाई, धर्ममें अश्रद्धा, युवावस्था और संयमकी शिक्षाका अभाव तो था ही, फिर जवान लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, काठ और आगके संयोगकी भाँति बुराई पैदा करनेमें बहुत ही सहायक हुआ। इसीके साथ एक बीमारी लड़कियोंमें फैशनकी बढ़ी; विलासिताने जोर पकड़ा। आरामतलबी तो इस शिक्षाका प्रत्यक्ष प्रमाण है। किसान या दूकानदारका लड़का अंग्रेजी पढ़कर खेती या दूकानदारी नहीं कर सकता। कई प्रकारके जूते, क्रीम, लोशन, स्नो, साबुन, पाउडर, चश्मा, फोटोग्राफी सामान आदि कई ऐसी चीजोंकी उसे आदत हो जाती है, जो उसके जीवनको आलसी, खर्चीला और आरामतलब बना देती हैं। यह रोग हमारी लड़कियोंमें तो और भी जोरसे बढ़ रहा है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ घरका काम न सीखती हैं, न करना चाहती हैं। उनसे उनको घृणा है। फैशन बनाना, सजना, अखबार पढ़ना, उपन्यास और काव्य पढ़ना, फोटो उतारना, लेख लिखना, सभाओं और जलसोंमें जाना आदि इतने काम उनके बढ़ गये हैं। अब घरके कामोंके लिये उन्हें फुरसत भी नहीं मिलती। सुना जाता है करोड़ों रुपये वार्षिक इस सौन्दर्यके सामानके लिये विदेश जाते हैं। फैशन और आरामतलबीसे कामुकता बढ़ती है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

इसके बाद सिनेमाने तो बड़ा ही अनर्थ किया। समाजमें दुराचार फैलानेका काम सिनेमाओंके द्वारा बड़े जोरोंसे हो रहा है। जबतक बोलनेवाले चित्रपट नहीं थे, तबतक कुछ खैर थी। परंतु सवाक् चित्रपटोंका प्रचार जबसे हुआ तबसे तो दिनोदिन खराबी बढ़ती ही जा रही है। यह सत्य है कि चित्रपट एक कला है और कलाका विस्तार देशकी उन्नतिका सूचक है। परंतु विचार यह करना है कि जिस कलाके विस्तारसे देशके हृदयमें क्षय रोगका उदय होता हो, जो कला देशके युवक-युवतियोंको शारीरिक और मानसिक संक्रामक व्याधियोंसे ग्रस्त कर परिणाममें कराल कालके ग्रास बनानेमें और उनके आदर्श पवित्र चरित्रको नाश

करनेमें सहायता करती हो, वह कला तो वस्तुतः काल ही है, फिर यह भी प्रश्न है कि कलाकी दृष्टिसे कहाँ कितना प्रचार हो रहा है? सिनेमा-कम्पनियोंके मालिकोंमें कितने ऐसे हैं जो कलाके लिये इस व्यवसायको करते हैं। मेरी समझमें शायद ही कुछके हृदयोंमें कलाकी उन्नतिका ध्यान होगा। अधिकांशका ध्यान तो धनकी ओर है। धन आता है उन्हीं चित्रपटोंसे, जिनको ज्यादा लोग देखना चाहें; और ज्यादा लोग उन्हीं चित्रपटोंको देखना चाहते हैं (कुछ तो ऐसी प्रवृत्ति स्वाभाविक है ही और कुछ सिनेमाओंद्वारा बढ़ रही है) जिनमें सुन्दरी युवती स्त्रियोंके अर्धनग्न अंगोंके प्रदर्शनयुक्त पार्ट और शृंगारके गायन हों। इसीलिये फिल्म-कम्पनियाँ बड़े-बड़े वेतनोंपर नयी-नयी सुन्दरी युवतियोंको ढूढ़-ढूँढ़कर लाती हैं। इनमें अधिकांश लज्जाशीलताको तिलांजलि दी हुई ही होती हैं। धार्मिक भावोंवाली युवती कुलकन्याएँ तो लाज-शर्मको तिलांजलि देकर परपुरुषोंके साथ मिलकर उनके अंगोंका स्पर्शतक होने देकर खुले अंगोंसे नाट्य दिखानेको क्यों आने लगीं? [दुःख है कि कुछ समयसे भले घरोंकी लड़कियोंमें भी फिल्म-कम्पनियोंमें नाचनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह और भी पतनका चिह्न है।] सनातनधर्मियोंको तो रोना चाहिये कि उनके आलस्य, अविवेक एवं धर्महीनताके कारण व्यर्थ ही कुमारी या मिस कहलानेवाली उच्छृंखल तरुणियोंके द्वारा प्रातःस्मरणीया जगज्जननी सीता, जो पर-पुरुषका अंग-स्पर्श होनेके डरसे श्रीहनुमान्जीके साथ लंकासे लौटनेको तैयार नहीं हुई थीं और भगवती योगमाया राधा, सती सावित्री, पार्वती, दमयन्ती और द्रौपदी आदिके निर्लज्ज पार्ट होते हैं!! निर्लज्ज इसीलिये कि उन्हें तो फिल्म-कम्पनियोंके मालिकोंकी नमकहलाली करनेके लिये अभिनयमें अपने अंग दिखलाकर और हाव-भाव बताकर दर्शकोंके चित्तको खींचना है और इसमें उन्हें कोई लज्जा है नहीं। बहुत बुरी बात तो यह है कि इससे दर्शकोंका चित्त केवल चित्रपट देखनेके लिये ही नहीं खिंचता, उन युवतियोंकी ओर भी बुरी वासना उनके मनमें उत्पन्न होती है। जिसका परिणाम पतनके सिवा और कुछ नहीं है। इसी प्रकार दर्शिकाओंके मनोंमें भी बुरी भावनाएँ आती हैं। लज्जा छूटती है और अमर्यादा तथा उच्छृंखलताकी भावनाएँ बढ़ती हैं। इसीका परिणाम व्यभिचार है और इसीसे भले घरोंकी लड़कियाँ भी आज धनके लोभसे या मानसिक विकारोंकी प्रेरणासे कुल-मर्यादाको मिटाकर कलाके नामपर और क्रान्तिका बहाना बताकर फिल्म-कम्पनियोंमें भर्ती होनेके लिये ललचा रही हैं। भगवान् ही जानें; इसका कितना बुरा फल होगा! [चित्रपटोंकी अधिकतासे गरीब देशकी जो आर्थिक हानि हो रही है वह भी बड़ी ही भीषण है।]

इसीके साथ पाश्चात्त्य जगत्की नकल करते हुए आजकल हमलोग भी शारीरिक सौन्दर्यको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देने लगे हैं। यूरोपमें रूपकी हाट लगती है। वहाँ सुन्दरी स्त्रियोंके सौन्दर्यकी प्रतियोगिता होती है। उसमें जो सबसे अधिक सुन्दरी साबित होती है उसको इनाम मिलता है और उसके सौन्दर्यकी ख्याति समाचारपत्रोंद्वारा देश-देशान्तरोंमें फैल जाती है। फल यह होता है कि उसका रूप बहुत-से लोगोंका मन बिगाड़नेमें कारण बनता है। कुछ लोगोंका कहना है कि इस रूपप्रतियोगिताके प्रचारका उद्देश्य स्त्रियोंके स्वास्थ्यको सुधारना है। चाहे यह उद्देश्य रहा हो परंतु आजकल जो कुछ हो रहा है वह तो बड़ा ही बीभत्स है। उससे तो समाजका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है। इनाम और नामके लोभसे युवतियाँ अपने शील-संकोचको छोड़कर कामुक पुरुषोंके सामने अपने रूप-यौवनको बड़े ही निर्लज्जभावसे कसौटीपर रखती हैं। वे ऐसा शृंगार और वेष-भूषा बनाती हैं कि जिससे उनके अंगोंका सौन्दर्य खुला दीख पड़े। स्त्रियोंके लिये शृंगार वर्जित नहीं है, परंतु वह है एक निर्दिष्ट सीमाके अंदर। स्त्री पतिकी प्रसन्नताके लिये ही, उसके प्रीति-उत्पादनके लिये ही शृंगार करती है और इस शृंगारमें भी सब अवस्थाओंमें अंग खुले नहीं रखे जाते। जो शृंगार राह चलते लोगोंको सौन्दर्य दिखानेके लिये होता है और जिसमें शरीरका अधिकांश अनावृत (खुला) रखना आवश्यक होता है, उसको पतनके सिवा और क्या कहा जाय? ऐसा तो रूपको बेचकर जीविका चलानेवाली वेश्याएँ भी नहीं करतीं। इस रूप-प्रतियोगितासे स्त्रियोंकी मर्यादा मिट्टीमें मिल रही है, वे अपने एक विशिष्ट स्थानसे नीचे—बहुत नीचे गिर रही हैं। यह पवित्र शीलवती नारी जातिका घोर पतन है। खेद है कि यह विष भारतवर्षमें भी फैल रहा है। यहाँ भी रूप-प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी है। इस अवस्थामें भी व्यभिचार नहीं बढ़ेगा तो कब बढ़ेगा?

इसके सिवा स्वतन्त्रता और समान अधिकार तथा सुधारके नामपर आज जो अनर्गल अनाचार हो रहा है, उससे तो सुधारकी जगह संहार ही हो रहा है। आजकल जड़को काट डालना ही सुधार समझा जाता है। इस सुधारोन्मत्तताने भी दुराचारके पथपर समाजके युवक-युवतियोंको अग्रसर करनेमें बड़ी भारी सहायता पहुँचायी है।

सुधारमें भी संयमकी आवश्यकता है। असंयमपूर्ण सुधारसे जितना नाश होता है उतना सुधार न होनेसे नहीं होता। आज असंयमपूर्ण सुधारकी भयावनी धारा सब ओर बह रही है। इसमें किसी भी पुरानी मर्यादा, सद्भावना और सात्त्विकताको स्थान नहीं है। बस, विध्वंस—केवल विध्वंस!! इस विध्वंसकी चिनगारीका यह दुष्ट फल है कि हमारी सती, सदाचारिणी, शील-संकोचवती, पुण्यचरित्रा और धर्मभीरु, देवपूजिता कुल-कन्याएँ मोहवश आँखें मूँदकर नारकीय अग्निकुण्डमें कूदनेको तैयार हो रही हैं और हम उन्मत्त इसे मान रहे हैं—उन्नति!!!

मेरे विचारसे इस पापसे बचनेके उपाय ये हैं—यद्यपि कालकी प्रतिकूलतासे कठिनता बहुत है, परंतु सावधानीके साथ उत्साहपूर्वक अनवरत चेष्टा की जाय तो बहुत अंशमें यह बढ़ता हुआ पाप कम हो सकता है।

१-यथासाध्य शिक्षाक्रममें धार्मिक और सदाचार-सम्बन्धी पुस्तकें रखवाना।

२-प्राचीन कथाओं, उपदेशों और युक्तियोंद्वारा भारतीय सभ्यताके महत्त्वका प्रचार करना

३-स्कूल-कॉलेजोंमें लड़के-लड़कियोंको एक साथ नहीं पढ़ाना।

४-कन्याओंको अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा दिलानेका मोह छोड़ देना।

५-ईश्वर और धर्ममें श्रद्धा बढ़े ऐसे साहित्य और विचारोंका प्रचार करना।

६-यथासाध्य सिनेमा आदि न देखना और उनकी बुराइयोंसे घरको तथा समाजको बचाये रखनेकी चेष्टा करना।

७-अपने जान-पहचानमें कोई लड़की चित्रपटमें नाट्य करना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर उसकी बुराइयाँ समझाकर रोकना।

८-माता-पिता या अभिभावकोंको यह ध्यान रखना; जिसमें युवती होनेके पहले ही लड़कीका विवाह कर दिया जाय।

९-यथासाध्य लड़कोंको भी बहुत बड़ी उम्रतक क्वाँरे न रखना।

मैंने विश्वस्त सूत्रसे सुना था कि भारतवर्षके एक प्रसिद्ध बड़े नगरकी सरकारी यूनिवर्सिटीके छात्रोंमें ६० प्रतिशत अविवाहित लड़के बुरी बीमारियोंसे ग्रसित हैं। यदि यह सत्य है तो बड़े ही दुःखकी बात है। अरण्यवासी विषयत्यागी पुरुषोंके हृदयमें भी जब दुःसंगवश विकार उत्पन्न हो जाता है; तब आजकलके विलासितापूर्ण अमर्यादित, धर्मभयशून्य वातावरणमें, फैशन और सजावटमें सने हुए श्रृंगारकी कविताएँ और नाटक-उपन्यास पढ़नेवाले, कृत्रिम उपायोंसे संतति-निरोधकी सुविधा रहते, साथ-साथ रहनेवाले युवक-युवतियोंसे सर्वथा पवित्र बने रहनेकी आशा रखना, उनकी शक्तिसे अधिक आशा करना है—दुराशामात्र है। अतएव योग्य वयमें उनका विवाह कर देना उत्तम है।

१०-पढ़नेवाली लड़कियोंमें भी फैशन न आवे और वे घरका काम-काज खुद कर सकें, ऐसी आदत माता-पिताको खुद आदर्श बनकर उनमें डालनी चाहिये। उन्हें घरका काम सिखाना और उनसे कराना चाहिये। फैशन, विलासिता, आलस्य, आरामतलबीके विषैले भावोंसे उन्हें बराबर बचाना चाहिये। याद रखना चाहिये कि गृहस्थ-संचालनमें निपुण, शील और चरित्रवती कर्तव्यपरायणा स्त्री ही वास्तवमें शिक्षिता है, कई भाषाओंको जाननेवाली नहीं।

११-रूपप्रतियोगिताके विचारोंका घोर विरोध करना चाहिये। कम-से-कम भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे तो यह बहुत ही बुरी बात है। बाजारमें बैठकर रूप बेचनेवाले वेश्याओंसे भी यह व्यवहार नीचा है, क्योंकि यह भले घरोंकी कुलललनाओंद्वारा किया जाता है। हमारी आदरणीया माता और बहिनोंको इसकी बुराइयाँ समझकर इससे दूर रहना चाहिये, इतना ही नहीं, ऐसे आयोजन इस देशमें न होने पावें, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये।

१२-जो वास्तवमें सुधार करना चाहते हैं, वे महानुभाव संयम और धीमी चालसे चलनेकी कृपा करें। डालियोंके सुधारके लिये पेड़की जड़ न उखाड़ें।

ऐसा उपदेश न करें जिसमें भोगोंकी प्रवृत्ति जोर पकड़े। इन्द्रिय-भोगोंके लिये संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंको काममें लानेकी कभी सलाह न दें। ये उपाय अप्राकृतिक हैं और दोषयुक्त हैं तथा व्यभिचारकी वृद्धिमें बड़े ही सहायक हैं। जनसंख्याकी वृद्धि, बीमारी, दरिद्रता आदि कारणोंसे संतति-निरोधकी आवश्यकता होती है; परंतु उसका भी असली इलाज संयम ही है।

इसी प्रकार सभी विधवा बहिनोंको भी भोगोंके अभावमें दु:खोंके चित्र दिखलाकर उनके मनको न बिगाड़ें, उन्हें संयमके मार्गसे च्युत न करें। विधवामात्र ही संयमसे नहीं रह सकती, ऐसा मानना उचित नहीं है। वातावरणके दोषसे ही विकार उत्पन्न होता है। आज भी सैकड़ों पवित्र विधवाएँ हैं, उनके पवित्र शीलव्रतपालनके आत्मविश्वास और उनकी प्रबल इच्छाशक्तिको कमजोर न करें।

ऐसे साहित्य और चित्रोंका प्रचार न करें, जिनसे स्त्री-पुरुषोंके विषय-भोगकी प्रवृत्तिको उत्तेजना मिलती हो। (खेद है कि आजकल बहुत-से साहित्यिक और चित्रपटसम्बन्धी पत्रोंमें युवती स्त्रियोंके छायाचित्र बहुत अधिक मात्रासे छपते हैं, जिनका परिणाम अच्छा नहीं हो रहा है। सम्मान्य सम्पादक महोदयोंकी सेवामें मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे एक बार इस विषयपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।) फैशनके दोष और सादगीके गुण उनके सामने रखें और पाश्चात्य संस्कृतिके पीछे—आँखें बंद करके बह जानेकी सलाह कृपया कभी न दें।

यह मेरी हाथ जोड़कर विनम्र प्रार्थना है; आज्ञा नहीं। मुझे इसीमें सच्चा सुधार दीख पड़ता है। ऐसा मेरे दृष्टिकोणके कारण ही हो सकता है। मैं किसीकी नीयत और ईमानदारीपर किसी प्रकारका संदेह या दोषारोपण नहीं करता हुआ नम्रतापूर्वक सबके सामने अपने ये विचार विचारार्थ रखता हूँ। इनमें जो अच्छे मालूम हों उनपर विचार करें, शेष तो मेरे विचार मेरे पास ही रहेंगे। कहीं कटूक्ति आ गयी हो तो क्षमा करें।

१३-जो सज्जन इन विचारोंके अनुकूल हों उनको चाहिये कि समाचारपत्रों तथा सामाजिक और साहित्यिक मासिक पत्रोंद्वारा इन भावोंका प्रचार करनेकी चेष्टा करें। धर्महीन शिक्षा, यूरोपकी सामाजिक संस्कृति, लड़के-लड़कियोंकी सहशिक्षा, लड़कियोंको अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा, युवतीविवाह, फैशन और विलासिता, वर्तमान चित्रपट, सौन्दर्यप्रतियोगिता, संतान-निरोधके कृत्रिम साधन और सुधारके नामपर होनेवाले संहारके दोष नम्रता और प्रेमके साथ युक्तिपूर्ण शब्दोंमें सबके सामने बार-बार रखें और इनके विपरीत गुणोंके युक्तिपूर्ण लाभ बतलावें।

ऐसा होगा तो आपलोग दुराचारके पथपर जाते हुए हमारे समाजके जीवनस्वरूप, हमारे हृदयके टुकड़े और हमारी आँखोंके तारे कोमलहृदय लड़के-लड़कियोंको विनाशके भड़कीले पथसे हटाकर सदाचारके सुहावने पथपर ला सकेंगे।

इसमें मैंने जो कुछ लिखा है, किसीका दिल दुखानेके लिये कुछ भी नहीं लिखा है। वस्तुस्थिति जैसी कुछ मेरे ध्यानमें आयी, उसीका दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें मेरी भूल भी हो सकती है। भूलोंके लिये मैं पहले ही क्षमा चाहता हूँ। वास्तवमें मैं ऐसा अनुभवी और दूरदर्शी मनुष्य नहीं हूँ जो समाजसुधारके लिये यथार्थ उपाय बता सकूँ! सम्भव है मेरा यह निरीक्षण और परीक्षण ही सदोष हो, परंतु मुझे अपने विचारोंमें इस समय कोई संदेह नहीं है।

साहित्यका सदुपयोग

मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य है भगवत्-साक्षात्कार या भगवत्प्रेम! इसीमें जीवनकी सार्थकता है अतएव जगत्की प्रत्येक वस्तु भी तभी सार्थक होती है जब उसका प्रयोग भगवान्के लिये हो। साहित्य एक बड़ी महत्त्वकी वस्तु है। उसमें मनुष्यके चित्तको खींचकर उसे चाहे जिस ओर लगा देनेकी शक्ति है। साहित्यका ही प्रभाव था कि एक दिन भारतकी गति सर्वथा भगवदभिमुखी थी। जिसकी जीवन-संस्कृतिमें सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रमकी संयममयी शिक्षा इसी उद्देश्यसे होती थी कि मानव भगवत्-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त कर ले। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** (कठोपनिषद् १।२।१५, गीता ८।११) और आज यह साहित्यका ही प्रभाव है कि भारतीय मानव भगवद्विमुख होकर भोगोंकी ओर दौड़ रहा है। परंतु इसमें साहित्यकी सार्थकता नहीं है।

यह उसका दुरुपयोग है। जो साहित्य भगवत्प्रीत्यर्थ प्रस्तुत होता है, जो मनुष्यकी अन्तरकी सुप्त पवित्र सात्त्विक वासनाओंको जगाकर उसे भगवदभिमुखी बना देता है, वही सत्-साहित्य है और उसीसे मानव-कल्याण होता है। इसके विपरीत जिस साहित्यसे भोगवासना बढ़ती है, जो अंदरकी असत्-वृत्तियोंको उभाड़कर मानवको भगवान्‌की ओरसे हटा देता है और भोगोंकी अदम्य लालसासे व्याकुल कर देता है, वह असत्-साहित्य है और उससे मानव-जगत्‌का सर्वतोमुखी पतन होता है।

आजकल 'कला' के नामपर ऐसे उच्छृंखलता बढ़ानेवाले साहित्यका बड़े जोरोंसे निर्माण हो रहा है और पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक-पुस्तिकाओं, स्कूल-कॉलेजों और नाटक-सिनेमाओंके द्वारा उसका बड़े चाव और उत्साहसे प्रचार किया जा रहा है। ऐसे साहित्यकारोंका कहना है कि 'कला ही साहित्यका प्राण है। जिसमें 'कला' नहीं वह साहित्य ही नहीं। किस साहित्यका समाज-जीवनपर क्या परिणाम होगा, वह उससे भोगोन्मुख बनेगा या भगवदभिमुख। इस विचारसे कोई मतलब नहीं। देखना तो यह है कि साहित्यमें 'कला' है या नहीं, वह अपने कला-सौन्दर्यसे जनसमाजके चित्तको आकर्षित करता है या नहीं, तत्काल उनके मन, इन्द्रियोंको प्रफुल्लित करता है या नहीं, फिर चाहे वह भला कहा जाय या बुरा। उसकी भलाई-बुराईका मापदण्ड कला है न कि समाजपर होनेवाला परिणाम!'

ऐसे आकर्षक साहित्यके प्रचारसे—जो 'ललित कला' की नकाब पहनकर समाजमें—खास करके नववयस्क और अपरिणतमति युवक-युवतियोंमें विशेष आदर पा रहा है—समाजका कितना अकल्याण हो रहा है, वह किस तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है, इसका विचार करते ही हृदय काँप उठता है। ऐसे साहित्यमें अनीति या बुराईको बड़ी चतुरता और शब्दच्छटाके साथ अत्यन्त चित्ताकर्षकरूपमें और त्यागको—धर्म तथा भगवद्भावको नितान्त हेयरूपमें अंकित किया जाता है, जिससे युवक-युवतियाँ बड़े आग्रहके साथ उसे पढ़ते हैं, परिणामस्वरूप उनमें भोगकामना बढ़ जाती है और वे उस कुत्सित भोगवासनाकी तृप्तिके लिये औपन्यासिक स्वप्नराज्यमें विचरण करते हुए कलुषितचित्त होकर और संयम-नियमके सारे बन्धनोंको तोड़कर उच्छृंखल अनीतिको अपना लेते हैं। कुछ वर्षों पूर्व साप्ताहिक 'हिंदू' में भाई परमानन्दजीका 'अपनी कन्याओंको बचाओ' शीर्षक एक लेख निकला था, जिसमें उन्होंने हिंदू-युवतियोंमें बढ़ती हुई उच्छृंखलताओंका उल्लेख करते हुए लिखा था—

'इन कॉलेजके चलानेवालोंको जरा खयाल नहीं कि इन कन्याओंका क्या बनेगा और इस नयी पश्चिमी शिक्षाका क्या प्रभाव हो रहा है। ये तो एक प्रकारसे हिंदू-समाजको नष्ट करनेवाले शिक्षणालय हैं। इस शिक्षाके फलपर विचार करना आवश्यक है। किसी दैनिक पत्रमें विवाहके विज्ञापन देखिये। अनेक लालच देकर वर तलाश करनेकी आवश्यकता होती है। इस शिक्षाकी प्रथा बहुत बढ़ रही है; इसलिये इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि इन कॉलेजोंको बंद कर दिया जाय। इस शिक्षामें बड़ी आपत्ति तो यह है कि इससे कन्याओंमें अनुचित बातोंकी आदत बढ़ती जा रही है। ×××× स्वतन्त्रता निस्संदेह अच्छी वस्तु है, किंतु बच्चों और निर्बलोंके लिये ऐसी आदतें भला करनेके बजाय पतन करनेवाली सिद्ध होती हैं। ××××× इन दिनों लाहौरके कांग्रेसी पत्रोंमें दो लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'कन्यादान' शब्दपर हँसी उड़ाते हुए बताया गया है कि 'कन्यादान' की प्रथा बहुत बुरी है। इसके अर्थ यह हैं कि कन्याएँ बड़ी होकर स्वयं अपने लिये वरकी खोज करें, जैसा कि इंग्लैंड और अमेरिकामें होता है। इनके लिखनेवालोंको यह ज्ञान नहीं कि पतिकी खोजकी इस विधिसे इंग्लैंड और अमेरिकाके समाजमें कितनी बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं……। अन्तमें आपने दो घटनाओंका उल्लेख किया था—लाहौरकी एक कन्या अपनी माँके सारे गहने लेकर शिक्षकके साथ चलती बनी। पकड़े जानेपर उसने बतलाया कि १५-१६ दूसरी कन्याएँ भी इसी तरह भागनेको तैयार हैं। दूसरी घटना इस प्रकार है कि एक कन्याकी किसी विवाहित नवयुवकसे मित्रता बढ़ गयी; जिससे उसको गर्भ रह गया। नवयुवककी पूर्वपत्नीको आठ-दस हजार रुपये देकर अलग कर उस कन्यासे विवाह ठीक कर दिया गया। जब वह विवाह करनेके लिये बारात लेकर आया, तो उसी दिन कन्याने बच्चेको जन्म दिया। इसपर लोग कहने लगे कि कन्याके विवाहमें न केवल दहेज मिला है किंतु वह बच्चा भी साथ लायी है!

यह सब इन्द्रियतृप्तिके लिये उन्मत्त बना देनेवाले असत् साहित्यका दुष्परिणाम है! भगवान्ने जिन सज्जनोंको साहित्यनिर्माणकी शक्ति दी है, उनपर एक बहुत बड़ा दायित्व है। उन्हें अपनी शक्तिका दुरुपयोग कर साहित्यको अनर्थोत्पादक कदापि नहीं बनाना चाहिये; परंतु कठिनता तो यह आ गयी है कि इस प्रकारके विचारोंका मनन करते-करते और इसी प्रकारके साहित्यको पढ़ते-पढ़ते ऐसे असत्-साहित्यमें और उसके द्वारा होनेवाले परिणाममें लोगोंकी 'सत्' बुद्धि हो गयी है और इसलिये वे जनकल्याणकारी समझकर विशेष लगनके साथ कलापूर्ण चित्ताकर्षकरूपसे उसका निर्माण करने लगे हैं। और इसी विपरीत बुद्धिके कारण नवीन विकासोन्मुख प्रतिभाशाली लेखक भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। असत्में यह श्रद्धा और रुचि बड़ी ही भयानक है। पता नहीं, इसका क्या परिणाम होगा!

परंतु जो लोग इस बातको समझते हैं कि भगवान्के कथनानुसार विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर जो सुख होता है, वह पहले अमृत-सा प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषका-सा काम करता है। (गीता १८। ३८) उन्हें चाहिये कि वे इस विनाशकारी बाढ़को रोकनेके लिये सत्-साहित्यका निर्माण और प्रसार करनेकी चेष्टा करें। आपातरमणीय असत् साहित्यकी ओर आकर्षित लोगोंको यह समझा दें कि साहित्यमें कलाका स्थान निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है, परंतु कला होनी चाहिये समाजको श्रेय-साधनपर सुप्रतिष्ठित करनेके लिये। नहीं तो, कोरी कला समाजके लिये काल बन जायगी।

वर्तमान समयमें, जहाँ बीमारी बढ़ चुकी है और बड़े-बड़े सम्मान्य विद्वान् तथा आदरणीय लोकनायकगण भी भोगोन्मुखी शिक्षा और साहित्यके प्रचारपर जोर दे रहे हैं, जहाँ समाजका आदर्श 'भगवान्के लिये त्याग' न रहकर केवल जागतिक ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये 'भोग'* हो चुका है और जहाँ जनताको शिक्षित बनानेके लिये प्रचुर धन लगाकर भोगोन्मुखी स्कूल-कॉलेजोंका निर्माण जोरोंसे हो रहा है, वहाँ लोगोंकी मनोवृत्तिको इस ओरसे मोड़कर भगवान्की ओर लगाना अवश्य ही बहुत कठिन है। तथापि भगवान्की कृपाके बलपर विश्वासी पुरुषोंको यथाशक्ति प्रयत्न तो करना ही चाहिये। लगन सच्ची और भगवत्कृपापर सच्चा विश्वास होनेपर ऐसा कौन-सा कार्य है जो न हो सके।

नारी-निन्दाकी सार्थकता

हिंदूशास्त्रोंमें—श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास आदिसे लेकर वर्तमान समयतकके संत-महात्माओंकी वाणीमें भी—जहाँ विविध सद्गुणोंकी प्रतिमा, ब्रह्मवादिनी, विदुषी, माता, पत्नी, सती, पतिव्रता, गृहिणी आदिके रूपमें नारीकी प्रचुर प्रशंसा की गयी है, उसकी महिमाके अमित गुण गाये गये हैं, वहाँ उन्हीं ग्रन्थोंमें नारीकी निन्दा भी की गयी है और नारीसे बचे रहनेका स्पष्ट आदेश दिया गया है, यद्यपि शास्त्रोंमें नारी-निन्दाकी अपेक्षा नारी-स्तुतिके प्रसंग कहीं अधिक हैं। संतोंकी वाणियोंमें भी 'कांचन' के साथ गिनी जानेवाली विषयरूपा 'कामिनी' की जितनी निन्दा की गयी है, उससे कहीं अधिक पतिव्रताकी प्रशंसाके पुल बाँधे गये हैं। तथापि शास्त्रके इस नारी-निन्दाके प्रसंगको लेकर आजतक ऐसा कहा जा रहा है कि 'शास्त्रोंकी रचना पुरुषोंके द्वारा हुई है, अतएव उन्होंने जान-बूझकर नारीके प्रति यह अन्याय किया है।' पर यदि ध्यानसे देखा जाय तो पता लगेगा कि शास्त्रकारोंने निष्पक्ष बुद्धिसे जहाँ प्रशंसाकी आवश्यकता समझी, वहाँ बड़ी प्रशंसा की है और जहाँ निन्दाकी, वहाँ निन्दा की है। साथ ही, नारी-निन्दा किस हेतुसे की गयी है, इसपर शुद्ध भावके साथ सूक्ष्म विचार करनेपर तथा दीर्घदृष्टिसे उसका परिणाम देखनेपर यह स्पष्ट दिखायी देता है कि शास्त्रोंने जो नारी-निन्दा की है, उसमें जरा भी अतिशयोक्ति या दूषित भाव नहीं है, बल्कि वह सर्वथा सार्थक, सत्य और परम आवश्यक भी है।

मानव-जीवनका मुख्य ध्येय है—भगवत्प्राप्ति। भगवत्प्राप्तिके लिये जीवनका संयमित, पवित्र तथा साधन-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। इस परमार्थ-

* यूरोपका ताजा उदाहरण सामने है। जिस समाजका आदर्श 'भोग' रह जाता है, उसका परिणाम ध्वंसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

साधनमें सर्वप्रधान विघ्न है—विषयसंग। मनुष्यका पूर्ण पतन—उसका सर्वनाश किस क्रमसे होता है, इस सम्बन्धमें श्रीभगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे सम्मोह—विवेकशून्यता होती है; अविवेकसे स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिका नाश होता है एवं बुद्धिके नाशसे वह आप नष्ट हो जाता है।'

विषयोंमें सर्वप्रधान आकर्षक विषय है—'पुरुषके लिये नारी और नारीके लिये पुरुष। कहना नहीं होगा कि इसमें नारीकी अपेक्षा पुरुष-प्राणीका चित्त अधिक दुर्बल है, अतः उसका पतन बहुत शीघ्र हो जाता है (और उसके पतनमें नारीका पतन तो है ही; क्योंकि उसीके आधारसे पुरुष गिरता है)। नारीका दर्शन-स्पर्श तो दूर रहा, उसका श्रवण-कथन भी पुरुषको गिरानेके लिये काफी है। इसलिये विवाह-बन्धनके द्वारा एक स्त्रीके साथ एक पुरुषका संसर्ग सीमित करके ऋषि-प्रणीत शास्त्रोंमें उसे ऐसा नियमबद्ध कर दिया गया है कि जिससे उसके जीवनमें कभी असंयम आ ही न सके; क्योंकि किसी एकके प्रति सतत आकर्षण दीर्घकालतक नहीं रहता। उसमें स्वाभाविकता आ जाती है और हिंदू-शास्त्रविधिके अनुसार एकके अतिरिक्त दूसरेका चिन्तन करना भी स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये व्यभिचार है। इसीलिये आठ प्रकारके मैथुन[1] बतलाकर उनका निषेध किया गया है।

हिंदू-विवाह-बन्धन इसीलिये संयमका सहायक और संवर्धक है, क्योंकि वह 'लौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस' की सिद्धिके लिये सम्पन्न होनेवाला एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। रूप-गुणके आकर्षणसे प्रभावित तथा प्रमत्त होकर विषय-वासनाकी चरितार्थताके लिये किया जानेवाला सौदा नहीं, जो रूप-गुणका अभाव दिखलायी देते ही तोड़ दिया जा सकता है। हिंदू-विवाहका उद्देश्य क्रमशः विषयासक्तिसे मुक्त होकर भगवान्‌की ओर बढ़ना ही है। पत्नीके लिये पति तथा पतिके लिये पत्नी परस्पर अच्छेद्य धर्मसूत्रमें आबद्ध होकर—एक-दूसरेके सुख-दुःखमें अभिन्न रहकर एक-दूसरेकी धार्मिक—आध्यात्मिक प्रगतिमें सहायक हैं, अतः दोनों परमार्थपथके पथिक हैं। इनमें विषय-विलास नहीं होता। वे संतानोत्पादनरूपी धर्मके लिये ही धर्मसंगत कामका[2] सेवन करते हैं। अतः स्वाभाविक ही वे विलास-सामग्रीके रूपमें एक-दूसरेका चिन्तन नहीं करते। पर-पुरुष तथा पर-नारीका चिन्तन सर्वथा निषिद्ध है और इस 'पर-निषेध' का विशदीकरण करनेके लिये ही नारी-निन्दा है।

प्रश्न हो सकता है कि 'फिर इस रूपमें 'नारी-निन्दा' ही क्यों? 'पुरुष-निन्दा' क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि नारी धर्मानुसार एकमात्र अपने स्वामीमें परमात्मबुद्धि रखती है और जीवनके समस्त कार्य स्वामीके प्रीत्यर्थ ही करती है। उसके लिये पर-पुरुषका कोई प्रश्न ही नहीं, जिसकी निन्दा करके उसके मनको उधरसे हटाना आवश्यक हो, क्योंकि उसके मन तो स्वामीके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका अस्तित्व ही नहीं है—*'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।'* परंतु पुरुषके लिये यह बात नहीं है। पुरुष अपनी पत्नीमें व्यवहारतः परमात्मभाव नहीं रखता। व्यवहारमें पत्नी उसके लिये पूजनीया नहीं है; उसे जगत्‌में सब प्रकारके यज्ञोंको यथाधिकार सम्पन्न करते हुए ही भगवान्‌को प्राप्त करना है, बहुतोंको पूजना है। (अवश्य ही उसे भी इस बहुपूजनमें पतिव्रताके आदर्शको सामने रखकर एक परमात्माकी पूजाके लिये ही सबकी पूजा करनी चाहिये। अपने मनमें एक स्त्री ही क्या, कीट-पतंगमात्रको ही भगवान्‌का स्वरूप समझकर मन-ही-मन सभीको पूजना और

१-श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीसम्बन्धी चर्चा सुनना, कहना, स्त्रियोंके साथ खेलना, उन्हें देखना, गुप्त बात करना, संकल्प करना, प्रयत्न करना और अंग-संग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन हैं।'

२-'धर्मसंगत काम' भगवान्‌का स्वरूप है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'अर्जुन! प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ'—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

प्रणाम करना चाहिये।*) इसीलिये वह व्यवहारमें नारीको नारी-भावसे देखता है, परंतु भगवत्प्राप्ति तो उसको भी होनी ही चाहिये। इसी कारण उसके लिये विविध साधनोंका विधान है; परंतु नारीको पतिसेवाके अतिरिक्त अन्य यम, नियम, जप, तप, व्रत, योग, यज्ञ, स्वाध्याय और तीर्थ-सेवनादि साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वह परमात्मभावसे किये हुए एकमात्र पतिसेवनरूपी महायज्ञके द्वारा ही अनायास भगवत्प्राप्ति लाभ करती है—परम गतिको प्राप्त होती है—*'बिनु श्रम नारि परम गति लहई।'* (इतना ही नहीं, वह अपने पातिव्रत्यके प्रतापसे पापी पतिका भी परित्राण कर देती है।) विष्णुपुराणमें मुनियोंकी शंकाका समाधान करते हुए भगवान् वेदव्यासजीने स्त्रियोंको 'साधु' और 'धन्य' बतलाया तथा फिर इस उक्तिका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम्॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजान् जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(६।२।२५—२९)

'पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल (वर्णाश्रमानुमोदित तथा सत्य एवं न्यायपूर्वक) प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। द्विजश्रेष्ठगण! ऐसे द्रव्यके उपार्जनमें तथा रक्षणमें बड़ा क्लेश होता है और कहीं वह धन अनुचित काममें लगा दिया गया तो उससे मनुष्योंको जो कष्ट भोगना पड़ता है, वह विदित ही है। इस प्रकार द्विजसत्तमो! पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य कष्टसाध्य उपायोंके द्वारा प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको क्रमशः प्राप्त करते हैं। परंतु स्त्रियाँ तो कर्म-मन-वचनद्वारा पतिकी सेवा करनेसे उनकी हितकारिणी बनकर पतिके समान शुभ लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, जो कि पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं। इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ साधु हैं।'

परंतु यह ऊपर कहा ही गया है कि पुरुषके विविध परमार्थ-साधनोंमें प्रधान विघ्न है विषय-वासना और उसमें प्रधान है—नारी। नारीके प्रति आसक्त चित्तवाला पुरुष परमार्थ-साधनमें कभी अग्रसर नहीं हो सकता। नारीमें इतना आकर्षण है कि साधनसंलग्न तपस्वी, वनवासी ऋषि, महर्षि, राजर्षि तथा देवर्षि भी नारी-संसर्गमें आकर अपनी साधनाकी रक्षा नहीं कर पाये हैं। विश्वामित्र, दुर्वासा, सौभरि, नारद आदि इसके उदाहरण हैं। इसीलिये विषयोंमें दुःखरूप दोषोंको देखकर या उनमें दुःख-दोष-बुद्धि करके वैराग्य प्राप्त करनेकी बात भगवान्ने गीतामें कही है—**'दुःखदोषानुदर्शनम्'** (१३।८)। नारीमें दुःख-दोष दिखलाकर उससे आसक्ति हटाने और चित्तवृत्तिको भगवान्की ओर लगानेके लिये ही शास्त्रकी नारी-निन्दामें प्रवृत्ति हुई है। 'नारी नरककी खानि है; अग्नि, साँप, विष, क्षुरधार आदिसे भी भयानक है; साक्षात् सिंहिनी और सर्पिणी है' इत्यादि वर्णन उसके प्रति पुरुषके हृदयमें जो रमणीयताका भाव है, उसे हटानेके लिये ही है। स्त्रीमें भोग्य-बुद्धिका नाश हो जाय, इसीलिये ये सारी बातें कही गयी हैं। वेदोंमें जहाँ स्त्रीकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ भी उसे निन्दनीय कहा है।

ऋग्वेदमें कहा है—

इन्द्रश्चिद् घा स्त्रिया अशास्यं मनः उतो अह क्रतुं रघुम्।

(८।३३।१७)

इन्द्रने कहा—'नारीके मनका दमन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसकी बुद्धि स्वल्प है।'

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।

(१०।१५।१५)

---

* सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥ (रामचरितमानस)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र—सभी भगवान्के शरीर हैं। ऐसा समझकर, कोई भी प्राणी हो, सबको अनन्यभावसे भगवद्भावसे प्रणाम करे।'

'स्त्रियोंसे मित्रता करना व्यर्थ है, क्योंकि उनका हृदय भेड़ियेके समान है।'

मनुमहाराज कहते हैं—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥
मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२।२१३—२१५)

'इस लोकमें पुरुषोंको विकारग्रस्त कर देना—यह नारियोंका स्वभाव है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष नारियोंकी ओरसे कभी प्रमाद नहीं करते—असावधान नहीं रहते। संसारमें कोई मूर्ख हो चाहे विद्वान्, काम-क्रोधके वशीभूत हुए पुरुषको स्त्रियाँ अनायास ही कुमार्गमें ले जा सकती हैं। (इसलिये) पुरुषको चाहिये कि वह माता, बहिन या पुत्रीके पास भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रिय-समूह इतना बलवान् है कि विद्वान्के चित्तको भी खींच लेता है।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमो द्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।

(५।५।२)

'महापुरुषोंकी सेवा मुक्तिका और स्त्री-संगियोंका संग नरकका द्वार है।'

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

(११।१४।३०)

'स्त्रियोंके संगसे और स्त्री-संगी—कामी पुरुषोंके संगसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना होता है, वैसा क्लेश और बन्धन किसी भी दूसरे संगसे नहीं होता।'

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा गया है—

यत्रेमे दोषनिवहाः काऽऽस्था तत्र पितामह।
का क्रीडा किं सुखं पुंसो विण्मूत्रमलवेश्मनि॥
तेजः प्रणष्टं सम्भोगे दिवालापे यशःक्षयः।
धनक्षयोऽतिप्रीतौ च अत्यासक्तौ वपुःक्षयः॥
साहित्ये पौरुषं नष्टं कलहे माननाशनम्।
सर्वनाशश्च विश्वासे ब्रह्मन्नारीषु किं सुखम्॥

(२३।३३—३५)

देवर्षि नारदजी पितामह ब्रह्माजीसे कहते हैं—

'जिस नारी-शरीरमें इतने दोषसमूह हैं, पितामह! उसपर कैसा भरोसा। इस मूत्र-पुरीष एवं मैलके कोठारमें पुरुषकी कैसी क्रीड़ा और कौन सुख है? स्त्रीके साथ सम्भोगमें तेजका नाश होता है, दिनमें बात करनेसे यशका नाश, अधिक प्रीति करनेसे धनका क्षय और अधिक आसक्तिसे शरीरका क्षय होता है। ब्रह्मन्! स्त्रियोंका संग करनेसे पौरुषका नाश, कलह करनेसे मानका नाश और विश्वास करनेसे सर्वनाश होता है। अतः स्त्रियोंमें कौन सुख है?'

महाभारतमें आया है—

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम्।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः॥

(अनुशा० ३८।२९)

'यम, वायु, मृत्यु, पाताल, वडवानल, छूरेकी धार, विष, साँप और अग्निके साथ नारीकी तुलना दी जा सकती है।'

महात्मा कबीरजीने कहा है—

नारी की झाँई परत अंधा होत भुजंग।
कबीर तिन की कौन गति नित नारी के संग॥
कामिनि सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तेहि खाय।
जे गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥
पर नारी पैनी छुरी, मति कोइ लावो अंग।
रावन के दस सिर गए पर नारी के संग॥
नारी निरखि न देखिये, निरखि न कीजै दौर।
देखे ही ते विष चढ़ै, मन आवै कछु और॥
नारी नाहीं जम अहै, तू मन राचै जाय।
मंजारी ज्यों बोलि के काढ़ि कलेजा खाय॥
नैनों काजर पाइ कै गाढ़े बाँधे केस।
हाथों मेहँदी लाइ कै बाघिन खाया देस॥

महात्मा सुन्दरदासजी कहते हैं—

कामिनी को अंग अति मलिन महा अशुद्ध,
रोम रोम मलिन, मलिन सब द्वार है।
हाड़, माँस, मज्जा, मेद, चर्म सू लपेट राखे,
ठौर ठौर रकत के भरेहू भंडार है॥
मूत्र हू पुरीष आँत एकमेक मिल रही,
और हू उदर माँहि बिबिध बिकार है।
सुन्दर कहत नारी नख सिख निन्दा रूप,
ताहि जो सराहै, सो तो बड़ोई गँवार है॥

इसी प्रकार अन्यान्य शास्त्रों और संतोंने नारीकी विविध प्रकारसे निन्दा की है और यह सत्य ही है कि जो पुरुष नारीके उच्चतम हृदय, उसके त्यागमय और स्नेहमय मातृत्व तथा उसके पवित्रतम देवी-भावकी ओर न देखकर उसके शरीरस्थ स्थूल मांसपिण्डों और मल-मूत्रके गह्वरोंकी ओर लालायित सतृष्ण दृष्टिसे देखेगा, उसे इसके बदलेमें पवित्र अमृत थोड़े ही मिलेगा? उसके लिये नारी वरदायिनी देवीके रूपमें थोड़े ही आत्मप्रकाश करेगी? उसके लिये तो वह निश्चय ही नरकका द्वार,* भीषण बाघिनि, विषधरी सर्पिणी और सर्वहरा मृत्यु ही होगी।

विचार करनेपर पता लगेगा कि इस नारी-निन्दामें नारी-रक्षा भी अन्तर्हित है। नारीके पतनमें कारण है पुरुषकी नीच प्रवृत्ति। पुरुषकी नीच प्रवृत्ति यदि किसी कारणसे मर जाय तो नारीका पतन हो ही नहीं सकता। एक तो उसके पास पातिव्रत्यका रक्षा-कवच है; दूसरे यदि वह कहीं गिरना भी चाहेगी तो शास्त्रके वचनानुसार नारीकी भीषणतासे डरा हुआ, उसे भयानक बाघिनि तथा नरककी खानि समझनेवाला, नीच प्रवृत्तिसे रहित पुरुष उससे स्वाभाविक ही दूर रहेगा। फलतः नारीका पतन भी नहीं होगा। इस प्रकार दोनों ही पतनसे बच जायँगे और दोनों ही धर्मपथपर आरूढ़ होकर मानव-जीवनके परम लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त कर सकेंगे।

अतएव शास्त्रों और संतोंके द्वारा की गयी नारी-निन्दा नारी और पुरुष दोनोंके लिये ही कल्याणकारिणी है और इसी सत्-उद्देश्यसे की गयी है। वस्तुतः सत्यस्थिति भी यही है।

दूसरी दृष्टिसे विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि यह निन्दा वस्तुतः साध्वी-सती नारीकी नहीं है। सती-साध्वी नारी तो अपने पवित्र पातिव्रत्यके प्रतापसे पापी पुरुषोंकी पाप-भावनाको या पापात्मा पुरुषोंके शरीरको अपने संकल्पमात्रसे नष्ट कर सकती है। यह निन्दा तो कुलटा स्त्रियोंकी है, जो अपनी दूषित आन्तरिक वृत्ति या बाह्य क्रियाओंसे पुरुषोंको कलंकित किया करती है।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें श्रीनारदजी कहते हैं—'स्त्रियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—साध्वी, भोग्या और कुलटा। जो परलोकके भयसे, यशकी इच्छासे तथा स्नेहवशतः स्वामीकी निरन्तर सेवा करती है वह 'साध्वी' है। जो मनोवांछित गहने-कपड़ोंकी चाहसे कामस्नेहयुक्त होकर पतिकी सेवा करती है, उसे 'भोग्या' कहते हैं और 'कुलटा' नारी तो वैसी ही होती है, जैसा 'कुलांगार' पुरुष होता है। यह कपटसे पतिसेवा करती है, इसमें पति-भक्ति नहीं होती। इसका हृदय छूरेकी धार-सा तेज होता है, पर इसकी वाणी अमृत-सी होती है। इसका काम पुरुषसे आठगुना, आहार दूना, निष्ठुरता चौगुनी और क्रोध छःगुना होता है। ऐसी पुंश्चली नारी जारके लिये पतितकको मार डालनेमें नहीं हिचकती (ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड, अध्याय २३)।'

इस प्रकारकी कुलटा नारीसे तो सभीको बचना चाहिये; परंतु वैराग्यकी साधना करनेवाले मुमुक्षु पुरुषके लिये तथा संन्यासी, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारियोंके लिये तो नारीमात्र ही साधन-पथका अवरोध करनेवाली होती है। इस दृष्टिसे भी नारीकी निन्दा करना सार्थक है। इस प्रकार नारीमें दोष देखकर गृहस्थ पर-स्त्रीका त्याग करे और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी नारीमात्रका। यही नारी-निन्दाका उद्देश्य है।

आजकल तो पुरुषजातिकी नीचता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। वे भाँति-भाँतिसे नारीका पतन करनेमें लगे हुए हैं। शास्त्रोंमें नारीकी जो निन्दा की गयी है, उससे सचमुच कहीं अधिक निन्दाका पात्र वर्तमान कालका पुरुषवर्ग है। वस्तुतः आज नारीको ही इस दुष्ट पुरुषसमाजसे बचना चाहिये। नारी इस बातको न समझकर जो पुरुष-संस्रवमें अधिक आने लगी है और इसीमें अपना अभ्युदय मान रही है, यह उसकी बहुत बड़ी भ्रान्ति है। आजके कुत्सितहृदय पुरुषसमाजने उसे बहकाकर भ्रममें डाल दिया है। नारी बाघिन-साँपिन हो या न हो; परंतु आजका नीच-स्वार्थके वशमें पड़ा हुआ यह पुरुष तो नारीके लिये साँप-बाघसे भी बढ़कर भयानक है, जो ऊपरसे साँप-बाघ-सा डरावना न दीखनेपर भी—वरं मित्र-सा प्रतीत होनेपर भी—वस्तुतः नारीके महान् पतनके सतत प्रयत्नमें लगा है।

* भगवान्‌ने काम, क्रोध, लोभको नरकका द्वार बतलाया है। क्रोध और लोभ वस्तुतः कामसे ही उद्भूत विकार हैं, अतः कामस्वरूप ही हैं। काम ही प्रतिहत होनेपर क्रोध और सफल होनेपर लोभके नामसे प्रसिद्ध होता है।

आजका भ्रष्टाचार और उससे बचनेका उपाय

भगवत्स्वरूप भक्तशिरोमणि भरतजी भगवान् राघवेन्द्र श्रीराम-चन्द्रजीसे संत-असंतके लक्षण पूछना चाहते हैं, परंतु संकोचवश निवेदन करनेमें हिचकते हैं। भरतजी आदि भ्रातागण सब श्रीहनूमान्जीकी ओर ताकते हैं—इसलिये कि श्रीहनूमान्जी भगवान्के अतिशय प्रिय भक्त हैं, वे हमारी ओरसे निवेदन कर दें। अन्तर्यामी प्रभु सब जानते ही थे, वे कहते हैं—'हनूमान्! कहो, क्या पूछना चाहते हो?' हनूमान्जी हाथ जोड़कर कहते हैं—'नाथ! भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, परंतु शीलवश प्रश्न करते सकुचाते हैं।' प्रेमसिन्धु भगवान् कहते हैं—'हनूमान्! तुम तो मेरा स्वभाव जानते हो, भरतजीमें और मुझमें क्या कोई अन्तर है?' भरतजीने भगवान्के वचन सुनकर उनके चरण पकड़ लिये और अपने अनुरूप ही निवेदन किया—

नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहुँ सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि कृपानंद संदोह॥

फिर उन्होंने संत-असंतके भेद और लक्षण पूछे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने पहले संतोंके अति सुन्दर लक्षण बतलाकर फिर असंतोंका स्वभाव बतलाते हुए कहा—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथ रत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥

यदि सच्चाईके साथ विचार करके देखा जाय तो न्यूनाधिक रूपमें ये सभी लक्षण आज हमारे मानव-समाजमें आ गये हैं। सारी दुनियाकी यही स्थिति है। सभी ओर मनुष्य आज काम-लोभपरायण होकर असुरभावापन्न हुआ जा रहा है। परंतु हमारे देशकी स्थिति देखकर तो और भी चिन्ता तथा वेदना होती है। जिस देशमें त्यागको ही जीवनका लक्ष्य माना गया था, जहाँपर स्त्रीमात्रको स्वाभाविक ही माता माना जाता था, जहाँ परधनकी ओर मानसिक दृष्टि डालना भी भयानक पाप माना जाता था—उसको भारी जहर माना जाता था—*'बिष तें बिष भारी'*, वहाँ आज कलाके नामपर पर-स्त्रियोंके साथ पर-पुरुषोंका अनैतिक सम्बन्ध बड़ी बुरी तरहसे बढ़ा जा रहा है और पर-धनकी तो कोई बात ही नहीं रही। दूसरेके स्वत्वका येन-केन प्रकारेण अपहरण करना ही बुद्धिमानी और चातुरी समझा जाता है। कुछ ही समय पूर्व ऐसा था कि मुँहसे जो कुछ कह दिया, लोग उसको प्राणपणसे निबाहते थे। आज कानूनी दस्तावेज भी बदले जानेकी नीयतसे बनाये जाते हैं। मिथ्याभाषण तो स्वभाव बन गया है। बड़े-से-बड़े पुरुष स्वार्थके लिये झूठ बोलते हैं। बड़े-बड़े धर्माचार्योंसे लेकर राष्ट्रोंके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अधिनायक, जनताके नेता, दलविशेषोंके संचालक, प्रख्यात संस्थाओंके पदाधिकारी, सरकारके ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी, बड़े-से-बड़े अफसर, छोटे-से-छोटे कर्मचारी, बड़े-बड़े व्यापारी, छोटे व्यापारी, दलाल, कमीशन-एजेंट, रेल और पोस्टके छोटे-बड़े कर्मचारी—सभी बेईमानीमें आज एक-से हो रहे हैं, मानो होड़ लगाकर एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी जी-तोड़ कोशिशमें लगे हुए हैं। चोर-बाजारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता लोगोंके स्वभावगत हो गयी है। सभी मानो बेईमानीका बाजार सजाये, एक-दूसरेको लूटने, ठगने और उसकी जड़ काटनेके लिये तैयार बैठे हैं। ऐसे बहुत थोड़े लोग होंगे, जिनकी ईमानदारीमें विश्वास किया जा सके। नये-नये कानून बनते हैं और बेईमानीके नये-नये रास्ते निकलते जाते हैं। इसका कारण यही है कि जिनको कानून मानना है और जिनके जिम्मे उसको मनवाना है, वे

दोनों ही ईमानदार नहीं हैं। दोनों ही मिले हुए हैं। ऊपरसे एक-दूसरेको बेईमान बतलाते हुए भी दोनों ही नये-नये तरीकोंसे बेईमानी बढ़ानेमें लगे हैं। अफसर एवं राजकर्मचारी कहते हैं व्यापारी चोर हैं, इनको दण्ड होना चाहिये; और व्यापारी अफसरों, अधिकारियों और राजकर्मचारियोंकी खुलेआम चोरी तथा बेईमानी देखते हैं। चोरी और बेईमानी कैसे बंद हो!

एक युग था, जिसमें लोगोंका यह विश्वास था कि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी भगवान् सदा-सर्वदा सर्वत्र हैं। वे हमारी प्रत्येक क्रियाको देखते हैं। हम एकान्तमें कोई पाप करते हैं, मनमें भी पापभावना करते हैं तो उसे भी भगवान् जानते-देखते हैं। इसलिये उनमें भगवान्से संकोच था। भगवान्के भयसे लोग बुरा कर्म करनेमें डरते थे।

इसके साथ ही चार बातें और हिंदू-संस्कृतिमें छोटे-बड़े सबके स्वभावगत-सी हो गयी थीं—

(१) मनुष्य-जीवनका चरम और परम उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये मानव-जीवनमें साधन करना है।

(२) पुनर्जन्म अवश्य होगा और उसमें हमें अपने अच्छे-बुरे कर्मोंका फल निश्चितरूपसे भोगना पड़ेगा।

(३) शास्त्र सत्य हैं और उनके कथनानुसार सुख-दुःख हमारे कर्मोंका फल है।

(४) कर्तव्य पालन करना ही हमारा धर्म है, केवल अधिकार पाना धर्म नहीं।

इन चारों बातोंके कारण स्वभावसे ही भोगोंके त्यागका महत्त्व था, उसीमें जीवनकी महत्ता मानी जाती थी। चोरी-जारी आदि पापोंका फल विविध योनियोंमें एवं नरकादिमें अवश्य भोगना पड़ेगा, यह विश्वास था। दूसरेकी किसी भी वस्तुपर मन चलाना भी पाप है और उसे छल-बल-कौशलसे ले लेना तो महान् अपराध है—यह मान्यता थी। सुख-दुःख हमारे कर्मके अनिवार्य फल हैं। बुरे कर्म करनेपर उसका अच्छा फल हो ही नहीं सकता; फिर बुरा कर्म क्यों करें—यह दृढ़ भावना थी। और हमें शास्त्रानुसार अपना कर्तव्य पालन करते जाना है, कर्मका फल तो भगवान्के हाथ है, हमारा फलमें अधिकार नहीं, कर्ममें ही अधिकार है—यह दृढ़ आस्था थी। इससे लोग स्वभावसे ही पापाचरणसे बचना चाहते थे।

आज ईश्वरका कोई भय नहीं। लोग व्याख्यान-मंचोंपर सहस्रों नर-नारियोंके सामने छाती फुलाकर और गला फाड़कर कहते हैं कि 'ईश्वर तो कभीका मर गया। मनुष्यकी कल्पनामें ही ईश्वर था, आजका ज्ञानी और बुद्धिमान् मनुष्य इस कल्पनासे छुटकारा पाकर स्वतन्त्र हो गया है।' और जनता ऐसे भाषणोंका स्वागत करती है। धर्मको अवनतिका कारण बताया जाता है। शास्त्रोंमें तथा कर्मोंके फल और पुनर्जन्ममें विश्वास उठता जा रहा है, सभी अधिकार चाहते हैं। कर्तव्यपर किसीका ध्यान नहीं है। शक्तिमत्ता, अधिकार और धनका लोभ इतना बढ़ गया है कि उसने मनुष्यको असुर नहीं, पिशाच बना दिया है। इसीसे आजका मानव एक-दूसरेपर खून चूसनेका दोष लगाता है और स्वयं मानो छल-बल-कौशलसे दिन-रात खून चूसनेका ही विशद व्यापार कर रहा है। उसने केवल इसी सिद्धान्तको मान लिया है कि किसी भी उपायसे हो, धनकी—भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति होनी चाहिये; बस यह कामोपभोग ही सब कुछ है—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

(गीता १६। ११)

यह कहा जा सकता है कि धनसे सुख मिलता है; क्योंकि उससे प्रायः सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। यह आंशिक सत्य भी है; परंतु यह सुख वस्तुतः धनका नहीं है, हमारी आत्म-भावनाका है। धनमें तो सुख है ही नहीं। सुख है आत्माकी शान्तिमें। जो अशान्त है—दिन-रात उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कामनाकी आगसे जलता है, उसको सुख कहाँ—'**अशान्तस्य कुतः सुखम्।**' यह नियम है कि जैसे आगमें ईंधन तथा घी डालते रहनेसे आग बुझती नहीं—प्रत्युत बढ़ती है, वैसे ही भोग-कामनाकी पूर्तिसे कामना घटती नहीं, बल्कि बढ़ती है। सौवाला हजारों-लाखोंकी चाह करता है तो लाखवाला करोड़ों-अरबोंकी चाह करता है। एक नियम यह भी है कि एक अभावकी पूर्ति अनेकों नये अभावोंकी सृष्टि करनेवाली होती है और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता रहते चित्त सर्वथा अशान्त रहेगा और अशान्त चित्तमें सुख हो ही नहीं सकता। लोग भूलसे मानते हैं कि पैसेवाले बड़े सुखी हैं; पर यह बात वस्तुतः नहीं है। उनके हृदयमें जैसी आग धधकती है, वैसी

गरीबोंके शायद नहीं धधकती! इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं।

उस दिन एक सज्जनने बहुत ठीक कहा कि पहले यद्यपि कुछ लोग ऐसे भी थे, जो भगवान् या धर्मका भय नहीं मानते थे और पाप करते थे, तथापि उनमें यह साहस नहीं था कि वे अपनेको निर्दोष ही नहीं, जनताका और समाजका सेवक बतायें और उलटे पाप न करनेवालोंको डरायें-धमकायें और उन्हें पापी सिद्ध करें। आज तो हमारी यह दशा हो गयी है कि हम स्वयं धर्म-सेवा और देश-सेवातकके नामपर अनवरत पाप करते हैं और अपने पापी गिरोहके बलपर निष्पाप लोगोंको डराते-धमकाते हैं एवं उन्हें पापी सिद्ध करना चाहते हैं। जनसेवक बतलाकर डाकूका काम करना, भाई बनकर किसीका सतीत्वापहरण करना, धार्मिक बनकर लोगोंको ठगना, गुरु बनकर धन-धर्मको लूटना, रक्षक नियुक्त होकर भक्षक बन जाना और पहरेदार बनकर चोरी करना आज बुद्धिमानी और गौरवका कार्य बन गया है। सभी क्षेत्रोंमें लोग अपने-अपने चरित्रोंपर ध्यान देकर देखें तो उन्हें उपर्युक्त कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं मालूम होगी। यह हमारे नैतिक पतनका एक बड़ा दुःखद स्वरूप है।

चारों ओर दलबंदी है। हम मानो अपनेको ही छलते हुए कहते हैं कि 'राष्ट्रीयता बढ़ रही है; पर वस्तुतः प्रान्तीयता, वर्गवाद और व्यक्तित्व ही बढ़ा जा रहा है। दूसरोंको फासिस्ट बताना और स्वयं वैसा ही काम करना स्वभाव-सा हो गया है, इसका प्रतीकार कैसे हो?'

हमारी समझसे इसका एक ही उपाय है और वह उपाय है अध्यात्मप्रधान प्राचीन हिंदू-संस्कृतिकी पुनः प्रतिष्ठा। जबतक मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भगवान् नहीं होंगे, जबतक पुनर्जन्म और कर्मफलमें सुदृढ़ विश्वास नहीं होगा, जबतक शास्त्रोंके अनुसार पवित्र जीवन बनाना हमारे जीवनकी अनिवार्य साधना नहीं होगी और ऐसा बनकर जबतक किसी भी लोभ, भय या स्वार्थसे धर्मच्युत न होनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा नहीं होगी, तबतक किसी भी आन्दोलनसे, प्रचारसे और कानूनसे भ्रष्टाचार, असदाचार और दुष्कर्म नहीं रुकेंगे। और जबतक यह पापका प्रवाह नहीं रुकेगा, इसका उद्गमस्थल नहीं सूखेगा, तबतक दुःखका प्रवाह भी नहीं रुक सकेगा। यह ध्रुव सत्य है।

तमाखूसे हानि

आजकल जगत्में तमाखूका बड़ा प्रचार है। जगत्के आधेसे अधिक मनुष्य तमाखूके व्यसनी कहे जाते हैं। घर-घरमें इसका प्रवेश है। धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, पण्डित-मूर्ख, स्त्री-पुरुष, साधु-गृहस्थ कोई इससे नहीं बचता। कोई पीता है, कोई सूँघता है तो कोई चबाता है। इस महान् हानिकारक पदार्थका अधिक प्रचार तो देखा-देखी हुआ है। सिगरेट, बीड़ीका आविष्कार होनेके बाद तो जरा-जरासे बच्चोंमें यह व्यसन फैल गया है!

कहा जाता है कि भारतमें पहले तमाखूका पौधा नहीं था। सबसे पहले अमेरिकन लोगोंने वहाँकी जंगली जातिसे इसको जाना। उनसे यूरोपने सीखा और मुगलसाम्राज्यके समय यूरोपियनोंके संगसे भारतवासियोंमें यह व्यसन आ गया। कुछ लोग लगभग सात सौ सालसे इसका भारतमें आना मानते हैं। जो कुछ भी हो यह विष जबसे भारतमें आया, तभीसे इसने बरबादी शुरू कर दी है। अमेरिका, यूरोपमें तो इसका दोष अब लोग समझने लगे हैं और इसका प्रचार रोकनेके लिये पूरी चेष्टा कर रहे हैं। तमाखूके कुछ दोष संक्षेपमें बताये जाते हैं—

तमाखूसे बदबू निकलती है, जो चारों ओर फैल जाती है और आस-पासकी हवाको बिगाड़ देती है। चिलम पीनेवालोंके हाथोंमें पीले दाग पड़ जाते हैं। हाथ-मुँहसे दुर्गन्ध निकलती है। समय नष्ट होता है, बीड़ी-सिगरेटसे कई जगह आग लग जाती है। व्यसनके वश होनेसे शरीर और मनको बड़ा नुकसान पहुँचता है। घरके काममें हानि होती है। तमाखूके साथ ही गाँजे-सुलफेकी भी आदत पड़ जाती है। जो लोग कभी तमाखू नहीं पीते हैं, वे गाँजा-सुलफा भी नहीं पीते। चिलमचट्टुओंकी बेहयाई तो लोगोंने देखी ही होगी। जहाँ चिलम देखी कि हाथ बढ़ाया। ऐसे लोगोंका बड़ा अपमान होते देखा गया है। पैसेकी बरबादीका तो ठिकाना ही क्या है?

भारतकी बत्तीस करोड़ जनसंख्यामें (सं २०१० में) यदि कम-से-कम बारह करोड़ मनुष्य तमाखू-सेवन करनेवाले समझे जायँ और प्रत्येक मनुष्य औसत एक पैसेकी तमाखू रोज सेवन करता हो तो सालमें (६७,५०,०००,००) साढ़े सड़सठ करोड़ रुपये इस जहरके धूएँमें फूँके जाते हैं। कहना नहीं होगा कि इस गरीब देशमें इतने रुपयोंसे बहुत बड़े लाभदायक काम हो सकते हैं। परंतु तमाखूके व्यवसायी इस बातपर क्यों ध्यान देने लगे? मैंने गरीबोंको देखा है—चार पैसेकी पसीनेकी कमाईमें भी वे एक पैसा बीड़ी-सिगरेटमें खर्च कर देते हैं, इतना धन खर्च करनेके बदलेमें मिलता क्या है? जहर। तमाखूमें जहर है, इस विषयमें संसारके बड़े-बड़े विद्वान् रासायनिक और डॉक्टर सभी एकमत हैं। एक बार हिंदुस्थान नामक एक पत्रमें निकला था—

तमाखूमें एक तैली पदार्थ है, जिसमें प्रधानत: तमाखूकी गन्ध रहती है। इसका नाम है (Nicotine) 'निकोटीन'। यह तमाखूमें एकसे आठ प्रतिशत होता है। जितनी तेज तमाखू होती है उसमें उतना अधिक निकोटीन होता है। आध सेर अच्छी तमाखूमें जितना निकोटीन निकलता है, कहा जाता है कि उतने निकोटीनसे तीन मिनटमें ढाई हजार (२५००) कुत्ते मर सकते हैं। निकोटीन ऐसा भारी विष है। यह निकोटीन मनुष्यके शरीरमें जाकर श्वासनलीके आस-पासकी महीन चमड़ीको बड़ा नुकसान पहुँचाता है और उससे तरह-तरहकी बीमारियाँ पैदा होती हैं।

एक दूसरा इससे भी भारी जहर तमाखूमें कोलोडाइन है, इससे भी तमाखूमें गन्ध आती है। कोलोडाइनके एक बूँदका बीसवाँ हिस्सा जैसे बिजलीके धक्केसे मनुष्य तुरंत मर जाता है, वैसे ही मेंढकको मार डालता है।

तमाखूके धूएँमें 'प्रसिक एसिड' भी रहता है। जो शौकीन बाबू धूएँको पेटमें ले जाकर नाकसे निकालते हुए उसके गोटकी मौज लेते हैं, उनके लिये यह प्रसिक एसिड बुरे-से-बुरा जहर है। इस प्रसिक एसिडके शरीरमें जानेसे सिरमें चक्कर आते हैं, सिर दुखता है और घूमने लगता है। बीड़ी न पीनेवाले मनुष्यपर बीड़ी पीते ही जो बुरा असर पड़ता है वह इसीसे होता है।

इसके सिवा तमाखूमें 'फरफरोल' है। यह उससे भी अधिक हानिकारक है। एक सिगरेटमें पाँच रुपयेभर ह्विस्की-शराबके बराबर 'फरफरोल' निकलता है।

तमाखूके धूएँमें कारबोनिक एसिड गैस भी है। यह गैस बहुत नुकसान करनेवाला है। यह हवा फेफड़ेको बहुत निर्बल करती है। बीड़ी पीनेवाले इसी कारणसे क्षयरोगके शीघ्र ही शिकार हो जाते हैं।

एक सज्जन कहते थे कि तमाखूकी गीली पत्तियाँ पीसकर कलेजेपर लेप दो तो तुरंत संनिपातके-से लक्षण हो जायँगे। पेटपर लेप करनेसे जी घबराकर वमन होने लगेगा, बिछौनोंपर रखकर सो जानेसे ज्वर आ जायगा। कितनी भयानक चीज है। धीरे-धीरे अभ्यास होनेके कारण तमाखू सेवन करनेवाले मनुष्य एक साथ नहीं मरते, परंतु यह विष उन्हें मृत्युकी ओर बहुत जल्दी ले जाता है, इसमें संशय नहीं।

इस विवरणको पढ़ने-सुनने और समझनेके बाद भी जो भाई इस नाशकारी बुरी आदतको नहीं छोड़ना चाहेंगे उनकी बुद्धिके लिये क्या कहा जाय? हमारा पाठकोंसे अनुरोध है कि उनमेंसे जिनको तमाखूका व्यसन हो, वे स्वयं छोड़ें और दूसरे भाइयोंको प्रेमसे समझाकर छुड़वानेकी कृपा करें।

भारतकी बत्तीस करोड़ जनसंख्यामें (सं २०१० में) यदि कम-से-कम बारह करोड़ मनुष्य तमाखू-सेवन करनेवाले समझे जायँ और प्रत्येक मनुष्य औसत एक पैसेकी तमाखू रोज सेवन करता हो तो सालमें (६७,५०,०००,००) साढ़े सड़सठ करोड़ रुपये इस जहरके धूएँमें फूँके जाते हैं। कहना नहीं होगा कि इस गरीब देशमें इतने रुपयोंसे बहुत बड़े लाभदायक काम हो सकते हैं। परंतु तमाखूके व्यवसायी इस बातपर क्यों ध्यान देने लगे? मैंने गरीबोंको देखा है—चार पैसेकी पसीनेकी कमाईमें भी वे एक पैसा बीड़ी-सिगरेटमें खर्च कर देते हैं, इतना धन खर्च करनेके बदलेमें मिलता क्या है? जहर। तमाखूमें जहर है, इस विषयमें संसारके बड़े-बड़े विद्वान् रासायनिक और डॉक्टर सभी एकमत हैं। एक बार हिंदुस्थान नामक एक पत्रमें निकला था—

तमाखूमें एक तैली पदार्थ है, जिसमें प्रधानतः तमाखूकी गन्ध रहती है। इसका नाम है (Nicotine) 'निकोटीन'। यह तमाखूमें एकसे आठ प्रतिशत होता है। जितनी तेज तमाखू होती है उसमें उतना अधिक निकोटीन होता है। आध सेर अच्छी तमाखूमें जितना निकोटीन निकलता है, कहा जाता है कि उतने निकोटीनसे तीन मिनटमें ढाई हजार (२५००) कुत्ते मर सकते हैं। निकोटीन ऐसा भारी विष है। यह निकोटीन मनुष्यके शरीरमें जाकर श्वासनलीके आस-पासकी महीन चमड़ीको बड़ा नुकसान पहुँचाता है और उससे तरह-तरहकी बीमारियाँ पैदा होती हैं।

एक दूसरा इससे भी भारी जहर तमाखूमें कोलोडाइन है, इससे भी तमाखूमें गन्ध आती है। कोलोडाइनके एक बूँदका बीसवाँ हिस्सा जैसे बिजलीके धक्केसे मनुष्य तुरंत मर जाता है, वैसे ही मेंढकको मार डालता है।

तमाखूके धूएँमें 'प्रसिक एसिड' भी रहता है। जो शौकीन बाबू धूएँको पेटमें ले जाकर नाकसे निकालते हुए उसके गोटकी मौज लेते हैं, उनके लिये यह प्रसिक एसिड बुरे-से-बुरा जहर है। इस प्रसिक एसिडके शरीरमें जानेसे सिरमें चक्कर आते हैं, सिर दुखता है और घूमने लगता है। बीड़ी न पीनेवाले मनुष्यपर बीड़ी पीते ही जो बुरा असर पड़ता है वह इसीसे होता है।

इसके सिवा तमाखूमें 'फरफरोल' है। यह उससे भी अधिक हानिकारक है। एक सिगरेटमें पाँच रुपयेभर ह्विस्की-शराबके बराबर 'फरफरोल' निकलता है।

तमाखूके धूएँमें कारबोनिक एसिड गैस भी है। यह गैस बहुत नुकसान करनेवाला है। यह हवा फेफड़ेको बहुत निर्बल करती है। बीड़ी पीनेवाले इसी कारणसे क्षयरोगके शीघ्र ही शिकार हो जाते हैं।

एक सज्जन कहते थे कि तमाखूकी गीली पत्तियाँ पीसकर कलेजेपर लेप दो तो तुरंत संनिपातके-से लक्षण हो जायँगे। पेटपर लेप करनेसे जी घबराकर वमन होने लगेगा, बिछौनोंपर रखकर सो जानेसे ज्वर आ जायगा। कितनी भयानक चीज है। धीरे-धीरे अभ्यास होनेके कारण तमाखू सेवन करनेवाले मनुष्य एक साथ नहीं मरते, परंतु यह विष उन्हें मृत्युकी ओर बहुत जल्दी ले जाता है, इसमें संशय नहीं।

इस विवरणको पढ़ने-सुनने और समझनेके बाद भी जो भाई इस नाशकारी बुरी आदतको नहीं छोड़ना चाहेंगे उनकी बुद्धिके लिये क्या कहा जाय? हमारा पाठकोंसे अनुरोध है कि उनमेंसे जिनको तमाखूका व्यसन हो, वे स्वयं छोड़ें और दूसरे भाइयोंको प्रेमसे समझाकर छुड़वानेकी कृपा करें।

होलीपर कर्तव्य

क्या करना चाहिये—

१-प्रेमसे हलका रंग डालकर होली खेलनेमें हर्ज नहीं है।

२-निर्दोष गायन-वाद्य करनेमें हानि नहीं है। भगवान्‌के नामका कीर्तन खूब करना चाहिये।

३-वासंती नवसस्येष्टि (वसंतमें पैदा होनेवाले नये धान्यका यज्ञ) करना चाहिये। हवन करना चाहिये।

४-भक्त प्रह्लादकी कथाएँ तथा लीलाएँ होनी चाहिये।

५-भगवन्नामके महत्त्वका प्रचार करना चाहिये।

६-सब प्रकारके वैरको त्यागकर परस्पर प्रेमपूर्वक मिलना चाहिये।

७-फाल्गुन सुदी ११ से १५ तक किसी दिन भगवान्‌की सवारी निकालनी चाहिये—जिसमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नामकीर्तनकी व्यवस्था करनी चाहिये।

८-श्रीश्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका उत्सव मनाना चाहिये। महाप्रभुका प्राकट्य होलीके दिन ही हुआ था। इस उपलक्ष्यमें हरिनामकी खूब ध्वनि करनी चाहिये।

९-भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाने चाहिये।

१०-भगवान्‌का दोलोत्सव—झूलनोत्सव मनाना चाहिये।

११-निम्नांकित न करने लायक कार्योंको लोग न करें, इसके लिये जगह-जगह सभा करके सबको इनके दोष समझाने चाहिये।

क्या नहीं करना चाहिये—

१-गाली नहीं बकनी चाहिये।

२-राख, धूल, कीचड़ नहीं उछालना चाहिये।

३-गंदे पानीको किसीपर नहीं डालना चाहिये।

४-रंग डालनेसे जिनका मन दुखता हो, उनपर रंग नहीं डालना चाहिये।

५-स्त्रियोंकी ओर गंदे इशारे नहीं करने तथा उन्हें गंदी जबान नहीं बोलनी चाहिये।

६-किसीके भी मुँहपर स्याही, कालिख या नीला रंग आदि नहीं पोतना चाहिये।

७-शराब, भाँग, गाँजा, चरस, नशीला माजून आदि खाना-पीना नहीं चाहिये।

८-वेश्यानृत्य नहीं कराना चाहिये।

९-गंदे-अश्लील धमाल, रसिया, कबीर या फाग नहीं गाने चाहिये।

१०-टोपियाँ या पगड़ियाँ नहीं उछालनी चाहिये।

११-जूतोंकी माला पहनकर या पहनाकर, शव बनाकर गंदे गाने गाते-बजाते हुए जुलूस नहीं निकालना चाहिये।

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित गीताकी विभिन्न टीकाएँ एवं संस्करण

कोड **श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वविवेचनी**—(टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गीताविषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तररूपमें विवेचनात्मक हिंदी-टीका—

1 **गीता-तत्त्वविवेचनी, बृहदाकार**—मोटे टाइपमें, सचित्र, सजिल्द।

2 **गीता-तत्त्वविवेचनी, बृहदाकार**—ग्रन्थाकार, विशिष्ट संस्करण, सचित्र, सजिल्द—मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ, तमिल दो खण्डोंमें, कन्नड़ दो खण्डोंमें एवं अंग्रेजी पुस्तकाकार दो खण्डोंमें उपलब्ध।

3 **गीता-तत्त्वविवेचनी, ग्रन्थाकार**—साधारण संस्करण, सचित्र सजिल्द।

गीता-साधक-संजीवनी—(टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) गीताके मर्मको उद्घाटित करनेवाली एवं तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाली व्याख्यात्मक शैलीमें सुबोध हिन्दी-टीका—

5 **गीता-साधक-संजीवनी, बृहदाकार**—परिशिष्टसहित, मोटे टाइपमें सचित्र, सजिल्द।

6 **गीता-साधक-संजीवनी, ग्रन्थाकार**—परिशिष्टसहित, सचित्र, सजिल्द, मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ, तमिल दो खण्डोंमें कन्नड़ दो खण्डोंमें एवं अंग्रेजी, पुस्तकाकार दो खण्डोंमें उपलब्ध।

8 **गीता-दर्पण, ग्रन्थाकार** (टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा)—गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, गीता-व्याख्या एवं छन्द-सम्बन्धी गूढ़ विवेचन, सचित्र सजिल्द। मराठी, बँगला, गुजराती एवं ओड़िआमें भी उपलब्ध।

1562 **गीता-प्रबोधनी, पुस्तकाकार**—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजकृत गीताकी संक्षिप्त टीका, गीताके श्लोकार्थ एवं कुछ श्लोकोंकी संक्षिप्त व्याख्या। मराठी, बँगला, ओड़िआ, पंजाबी एवं पॉकेट साइज वि०सं० हिन्दीमें उपलब्ध।

784 **ज्ञानेश्वरी-गूढ़ार्थ-दीपिका, ग्रन्थाकार,** मराठी—संत ज्ञानेश्वरके द्वारा प्रणीत गीता-टीकाकी गुलाबरावकृत विशद व्याख्या। ज्ञानेश्वरी मूल, मझला एवं ज्ञानेश्वरी मूल, गुटका आकारमें भी उपलब्ध।

10 **गीता-शांकरभाष्य, पुस्तकाकार**—गीताके मूल श्लोक, शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद, टिप्पणी तथा अन्तमें श्लोकोंके आकारादि क्रमकी सूचीसहित।

501 **गीता-रामानुजभाष्य, पुस्तकाकार**—गीताके मूल श्लोक, रामानुजभाष्य हिन्दी-अनुवादसहित।

गीता-माधुर्य, पुस्तकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा प्रश्नोत्तर शैलीमें गीताका सरल विवेचन। तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला, असमिया, कन्नड़, ओड़िआ, अंग्रेजी एवं संस्कृतमें भी उपलब्ध।

11 **गीता-चिन्तन, पुस्तकाकार**—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीताविषयके लेखों एवं पत्रोंका संग्रह।

17 **गीता, पुस्तकाकार**—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी प्रधान विषय। गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड़ तेलुगु एवं तमिलमें भी उपलब्ध।

16 **गीता, पुस्तकाकार**—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सचित्र, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें। मराठीमें भी उपलब्ध।

1555 **गीता-माहात्म्य (वि०सं०), पुस्तकाकार**—पद्मपुराणसे उद्धृत गीता-पाठके माहात्म्यकी चमत्कारिक कथाएँ।

19 **गीता-केवल भाषा, पुस्तकाकार**—संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ पाठकोंके लिये। तेलुगु और तमिलमें भी।

18 **गीता-भाषा-टीका, पुस्तकाकार**—मूल, टिप्पणी प्रधान विषय, मोटा टाइप। ओड़िआ, गुजराती और मराठीमें भी।

502 **गीता-भाषा-टीका, पुस्तकाकार**—मूल, टिप्पणी प्रधान विषय, मोटा टाइप, सजिल्द। तेलुगु, ओड़िआ, गुजराती, कन्नड़, तमिलमें भी।

20 **गीता-भाषा टीका, पॉकेट साइज**—अंग्रेजी, मराठी, बँगला, असमिया, ओड़िआ, गुजराती, कन्नड़ तथा तेलगुमें भी।

1566 **गीता-भाषा टीका, पॉकेट साइज**—सजिल्द, यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य। गुजराती, बँगला, अंग्रेजीमें भी।

21 **श्रीपञ्चरत्नगीता, पुस्तकाकार**—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति एवं गजेन्द्रमोक्ष, मोटे अक्षरोंमें। ओड़िआमें भी उपलब्ध।

1628 **गीता-नित्यस्तुति एवं गजलगीतासहित, पॉकेट साइज।**

22 **गीता-मूल, पुस्तकाकार**—मोटे अक्षरोंमें। तेलुगु एवं गुजरातीमें भी उपलब्ध।

23 **गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित पॉकेट साइज**—यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य। कन्नड़, तमिल, मलयालम, तेलुगु एवं ओड़िआमें भी।

1556 **गीता-श्लोकार्थसहित, लघु आकार**—यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य।

1602 **गीता-सजिल्द, वि०सं०, लघु आकार**—नित्यपाठके लिये उपयोगी।

700 **गीता-मूल, लघु आकार**—यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य। ओड़िआ, बँगला, तेलुगुमें भी।

1392 **गीता-ताबीजी-सजिल्द**—माचिस आकारमें सम्पूर्ण गीता। गुजराती, बँगला, तेलुगु, ओड़िआमें भी।

566 **गीता-ताबीजी**—एक पन्ने सम्पूर्ण गीता।

464 **गीता-ज्ञान-प्रवेशिका-पुस्तकाकार**—गीता शिक्षार्थियोंके लिये उपयोगी।

1431 **गीता-दैनन्दिनी-वि०सं०, पुस्तकाकार**—बँगला, तेलुगु, ओड़िआमें। पुस्तकाकार एवं पॉकेट साइजमें भी उपलब्ध।